प्रकाशकीय निवेदन

जे पुण्यनामधेय सकलागमरहस्यवेदी परमगीतार्थ स्वर्गस्थ आचार्यदेव श्रीमद् विजयदानसूरीश्वरजीना अनहद गुणो अने उपकारनी प्रेरणाने पामीने मारा उपर्युक्त श्रम अदा करवा मात्र तरफथी पूज्यश्रीना पुण्यनामथी आशरे लगभग वीस वर्ष पूर्वे आ ग्रन्थमाला शरु करवामां आवी हती अने मारा कार्यने पूज्यश्रीना समुदायना मुनिपुंगवोना ज्ञानभक्तिना उपदेश तथा ग्रन्थना संशोधन तथा सम्पादनमां पोताना अमूल्य समयनो भोग आपवा द्वारा घणो वेग मळ्यो अने अत्यार सुधीमां आ ग्रन्थमाला तरफथी केटलाक अमुद्रित अने अलभ्य ग्रन्थो तथा पत्राकार ग्रन्थो ज्ञानप्रिय बनवाना हाथमां मूकवामां आव्या छे अने आजे छप्पनमा ग्रन्थांक तरीके श्री ओघनिर्युक्ति नामनो आगमीय ग्रन्थ प्रगट करवामां आवे छे

सदरहु ग्रन्थ श्री आगमोदय समिति तरफथी सं १९७५ मां छपावीने बहार पाडवामां आवेलो हतो, परंतु ते ग्रन्थ अत्यारे अलभ्य होवाथी तेमज ते ग्रन्थ चारित्रपालनना ज्ञानमां अत्यन्त उपयोगी होवाथी पू पंन्यासजी महाराज श्री तिलकविजयजी गणिवरे ते छपाववा माटे उपदेशद्वारा सारी सहायता मेळवी आप्या, तेओनी शुभनामावली आ साथे दाखल करवामां आवी छे, तथा पू पन्यासजी महाराज श्री मानविजयजी गणिवरे आ ग्रन्थ पांच हस्तलिखित प्रतिओ साथे मेळवी संशोधन करी आ ग्रन्थनु सम्पादन करी आपेल छे

सदरहु ग्रन्थना प्रकाशनमां उपदेश द्वारा सहायको मेळवी आपनार तथा संशोधन करी सम्पादन करी आपनार बन्ने पूज्य पंन्यासजी महाराजोनो तथा सहाय आपनार सघो तथा साधर्मीबन्धुओ विगेरेनो आ सस्था तरफथी अत्यंत आभार मानवामां आवे छे.

सदरहु ग्रन्थनी उपयोगिता तथा तेना टीकाकार विगेरे माटे सम्पादकीय निवेदनमां दर्शाववामां आवेल छे एटले ते संबंधी अत्रे लखवामां आवेल नथी.

लि०

विजयदानसूरीश्वरजी जैन ग्रन्थमाला

व्यवस्थापकः—मास्तर हीरालाल रणछोडभाई

गोपीपुरा—सुरत

वि. सं. २०१४ मागसर सुद ११

सम्पादकीय निवेदन



प्र यनु पुनर्मुद्रणोत्थान-सिद्धान्तमहोदधि आचार्य श्रीमद्विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराजानी आज्ञाथी सं २०१०नु माह चातुर्मास वापीमां हतु ते वखते मेसाणा चातुर्मास बिराजमान मारा वडील गुरुबन्धु पू. पन्यासजी महाराज श्री तिलकविजयजी गणिवरे पत्रद्वारा मने पूछाव्युं के कोई अप्राप्य अने उपयोगी आगमीय ग्रन्थ छपाववा जेवो होय तो तेनु नाम तथा छपाववा माटे केटली रकमनी जरुर पडे ते वगेरे जणावो तेना उत्तरमां साधुओना चारित्रपालनमां प्राथमिक सामाचारीज्ञान माटे अत्यंत उपयोगी अने अलभ्य एवा श्रीओघनिर्युक्ति ग्रन्थनु नाम तथा ते छपाववा माटे जरुरी रकम वगेरेनो निर्देश करवामां आव्यो तेमणे पण मारी वातनो स्वीकार करी जरुरी सहायनी व्यवस्था करी ते ग्रन्थनु सम्पादन करी छपाववा मने जणाव्यु मैं पण ज्ञानभक्तिनो लाभ मेळववाना हेतुथी तेनो स्वीकार करी ते ग्रन्थना सम्पादन माटे जुदा जुदा भण्डारोमांथी हस्तलिखित प्रतिओ मेळववा माटे प्रयत्न करतां पांच हस्तलिखित प्रतिओ मळी सदरहु ग्रन्थ आगमोदय समिति तरफथी वि सं १९७५ मां प्रकाशित थयेल छे तेना संशोधक तरीके कोईनु पण नाम ते ग्रन्थमां आपवामां आवेल नथी छतां आगमोदय समिति द्वारा भारे परिश्रम लईने आगमो छपाववानु पुण्य कार्य आगमोद्धारक आचार्यदेव श्रीमद् सागरानन्दसूरीश्वरजीए करेल छे तेओश्रीनो ते भारे परिश्रम धन्यवादने पात्र छे एटले आ ग्रन्थनु संशोधन पण तेओश्रीए करेल होय तेम लागे छे आ ग्रन्थना संशोधनमां तेओश्रीना परिश्रमनी ओछाश नहि होवा छतां पण अमारे आ छपायेल ग्रन्थनी साथे अने मळेली पांच हस्तलिखित

प्रतिओ मेळववामां आवी त्यारे स्थळे स्थळे नवा वधारे पाठो तथा पाठान्तरो जोवामां आव्या. आ पाठो वगेरे रही जवानुं कारण तेओश्रीने बीजी हस्तलिखित प्रतिओ नहि मळवा वगेरेनुं संभवे छे. में नवा पाठो तथा पाठान्तरो वगेरेनी नोंध करी प्रेस-भोग्य नवी प्रेसकोपी तैयार करी अने आ ग्रन्थ सुन्दर तथा शुद्ध छपाय ते माटे आचार्य विजयदानसूरीश्वरजी जैन ग्रन्थमाला—सुरत तरफथी एनुं मुद्रणकार्य महोदय प्रेस—भावनगरमां करावावामां आव्युं छे.

पुनः संस्करणनी आवश्यकता—आ ग्रन्थना पुनः संस्करणमां उपर जणावाइ गयेल हेतु सिवाय ए पण एक बीजो हेतु छे के आ ग्रन्थनुं स्थान दृष्टिवादनामना बारमा अंगनी अंदर आवता चौद पूर्वोमांना नवमा पूर्वनी त्रीजी आचार नामनी वस्तुना वीसमा ओघप्राभृतमां हतुं. आ दृष्टिवादनुं ज्ञान तो वीसवर्षना चारित्रपर्यायवाळाने प्राप्त थतुं हतु. दिवसे दिवसे जीवोना आयुष्यनी हानि तथा श्रुतज्ञानना क्षयोपशमनो ह्रास जोइने वर्तमानकाळना साधुओने आ ग्रंथनुं ज्ञान जल्दीथी मळे ते हेतुथी युगप्रधान श्री भद्रबाहुस्वामि महाराजाए पूर्वमाथी उद्धार करीने ओघनिर्युक्तिरूपे आ ग्रन्थनी रचना करी. त्यारथी ते ग्रन्थ पहेलां जे वीस वरसे साधुओने लभ्य हतो ते हवे दीक्षित थनारने दीक्षाना पहेले ज दिवसे मळवानी शरुआत थइ. आ उपरथी आ ग्रन्थनी केटली बधी आवश्यकता छे ते सहेजे जाणी शकाय तेम छे. आवो संयमीजीवन माटे उपयोगी ग्रन्थ जो शुद्ध होय अने छूटथी मळी शके तेम होय तो साधुओ तेना पठन अने मनन द्वारा पोताना संयमीजीवनने उंच बनावी शके एज हेतुए आ ग्रन्थनुं सशोधन करी फरी मुद्रित करावावामां आवे छे.

सम्पादन सम्बन्धी—आ ग्रन्थनुं सम्पादन करवामा उपर जणाव्या मुजब पांच हस्तलिखित प्रतिओनो उपयोग करवामां

आव्यो छे सम्पादकनी ए फरज छे के मुद्रित थता ग्रन्थनुं एवी चोकसाईपूर्वक सम्पादन थवुं जोईए के जे ग्रन्थ तेना अभ्यासी ओने तेना वांचन माटे आकर्षण करी शके उपर जणावेल बाबतोने ध्यानमां राखी, रही गयेल नवा पाठो उमेरी अने पाठान्तरोने फुटनोटमां आपी आकर्षक बनाववा यथाशक्य प्रयत्न कर्यो छे जे जे स्थळोए पांचे प्रतिनो तथा छपायेल प्रतिनो पाठ असम्बद्ध लाग्यो छे त्यां त्यां अर्थनी संकलनाओ विचार करी सुधारेल पाठ आप्या (   ) कोष्टकमां मूक्यो छे गाथाना स्थळो जाणवा माटे गाथाओनी अनुक्रमणिका पण जुदी आपवामां आवी छे अने विषयसूचि पण दरेक पेज पर मथाळुमां छपाववामां आवी छे, जेथी वांचनारने क्यां कई गाथा छे अने क्यां कयो कयो विषय छे ते जाणवानी अनुकूळता थई पडे

ग्रन्थकारपरिचय—प्रस्तुत ग्रन्थना प्रणेता पंचमश्रुतकेवली चौदपूर्वधर श्री भद्रबाहुस्वामिमहाराज छे तेमणे आ ग्रन्थ उपरांत दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, निशीथ, व्यवहार पंचकल्पादिसूत्रोनी तथा आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांगादिनी दश निर्युक्तिओनी रचना करेल छे एओश्रीना जीवन माटे अत्रे लखवानी कांई खास आवश्यकता नथी, कारण तेओश्री जैन शासनमां अत्यंत प्रसिद्ध छे अने दरवर्षे एमना जीवननी झरमर कल्पसूत्र द्वारा चतुर्विध संघने सांभळवा मळे छे

टीकाकार परिचय—आ ग्रन्थना टीकाकार प्रखर पंडित श्री द्रोणाचार्य महाराज छे, तेओश्रीना जीवन संबंधी तपास करता ज्यां कांई विशेष उल्लेख जड शक्युं नथी, परंतु जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास तथा जैन धर्मनो प्राचीन इतिहास विगेरे द्वारा, एटलुं जाणवा मळे छे के तेओ संसारीपणे गुजरातना राजा भीमदेवना मामा हता तेमनो सत्ताकाळ बारमा सैकाना पूर्वार्धनो हतो अने निर्वृतिकुळमां थयेल जैनाचार्य हता नवांगीटीकाकार श्री अभयदेवसूरिमहाराजना समकालीन हता अने तेमणे नवां

गनी टीकाओनुं संशोधन करेल छे एवो प्रघोष छे, परंतु दरेक अंगनी टीकाना अंते तेवुं जणाववामां आवेल नथी. फक्त स्थानांग, भगवती, ज्ञाताधर्म अने प्रश्नव्याकरणनी टीकाओना अन्ते सशोधन कर्यानुं जणाववामा आवेल छे. तेमना ससारी भत्रीजाए तेमनी पासे दीक्षा अंगीकार करी हती जेओ श्रीसूराचार्यना नामथी प्रसिद्ध प्रखर विद्वान् अने शब्दशास्त्र प्रमाणशास्त्र तथा साहित्यशास्त्रादिकमां पारंगत हता.

प्रतिओनो परिचय—प्रस्तुत संस्करणमां पांच हाथ पोथीओनो तथा छापेली एक प्रतिनो उपयोग करवामां आवेल छे.

१–२ लींबडी जैन संघना भंडारनी, जेनी ल. १ ल. २ सज्ञा राखेली छे.

३–४ पाटण–श्री हेमचन्द्राचार्य ज्ञानमंदिरनी, जेनी पा. १ पा. २ संज्ञा राखेली छे.

५ विद्वद्वर्य मुनिराज श्री पुण्यविजयजी महाराजनी, जेनी पु. संज्ञा राखेली छे.

६ आगमोदय समिति तरफथी छपायेल प्रत, जेनी आ. सज्ञा राखेली छे.

आ पांचे हस्तलिखित प्रतिओनो परिचय आपतां पहेलां एक वात जणाववामां आवे छे के–आ संस्करणमां ल. १ नी प्रतिने ज मुख्यस्थान आपेल छे, कारण ते बीजीप्रतिओ करतां विशेष शुद्ध छे. आम छतां बीजीप्रतिओनी साथे तेमां ज्यां भिन्नता जोवामां आवी त्यां त्यां अर्थने दृष्टिपथमां राखी सगतपाठवाळी बीजीप्रतिना पाठने मुख्यस्थान आपेल छे अने ल. १ ना पाठने नीचे फुटनोटमां मुकेल छे. बीजी प्रतिओ तथा मुद्रित प्रतना पाठान्तरो पण नीचे आपवामां आवेल छे.

१ ल. १ प्रतिनो नंबर ४६ पाना १२४ छे ते चारे करतां विशेष शुद्ध छे तेथी तेने मुख्यस्थान आपवामां आवेल छे.

तेना अंतमां कोई खास पुष्पिका नथी तथा लख्यानो संवत पण नथी

२ ल २ प्रतिनो नंबर ११७ पाना १८१ छे त्रिपाठ छे अशुद्धि वधारे छे तेना अंतमां पण पुष्पिका तथा तेमज लख्यानो संवत पण नथी

३ पा १ प्रतिनो डाबडा नं २११ प्रति नंबर १००६९ अने पत्र ११४ छे आ प्रति जोइए तेवी शुद्ध नथी अंतमां पुष्पिका तथा लख्या संवत नथी

४ पा २ प्रतिनो डाबडा न ११६ प्रति नंबर ६५५१ अने पत्र १२० छे आ प्रतिमां पण अशुद्धिओ रहेली छे तेमां पुष्पिका नीचे मुजब छे

निर्म्मलसम्यग्दर्शनसम्पोषितमध्यङ्गुदनगहनाहृद्दुःसमयान्धतमसा श्रुताधिपा देवता जयति । यदक्षरपरिभ्रष्ट मात्राहीन च यद्भवेत् । क्षन्तव्य तद्बुधैर्नाम्यं कस्य न स्खलते मनः ॥१॥ नमोऽस्तु श्रुतदेवतां भगवती ॥ ठरेअतो ग्रन्थपरिमाण सहस्र ७००० । छ । मंगल महाश्री शुभ भवतु । छ छ छ श्री संवत १४८२ वर्षे दीपोत्सवीदिने मा गूर्जरपुत्र सा पदम सीहमार्यया पदमलदे श्राविकया श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरीणां पट्टे श्रीजिनभद्रसूरिगुरूणामुपदेशेन श्रीओघनिर्युक्ति पुस्तकमिद लेखयांचक्रिरे वाच्यमाना साधुभनेभिर नन्यात् ॥ छ ॥

आ पांचे प्रतिओ तथा छापेल प्रतिना आधारे प्रेसकोपी तैयार थई गया पछी प्रेसमां मुद्रण कार्य शरु थई केटलाक फरमा छपाई गया पछी आगमप्रभाकर विद्वर्य मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराज तरफथी केटलीक हस्तलिखित प्रतिओ तथा ताड

पत्रीय प्रति उपर सुधारेली तेमनी पासेनी छापेली प्रत मळी, तेमांथी ताडपत्रीय प्रतिना पाठो साथे मेळववानुं कार्य बनी शके तेम नहि होवाथी नवा फरमा छपाता पहेलां तेनी प्रेसकोपी साथे मेळवी खास जरुरी सुधारो करवा योग्य लाग्यो त्यां सुधारो करी लीधेल छे. आ ताडपत्रीय प्रति ल. १ प्रतिनी साथे प्रायः मळती आवती हती. आ ताडपत्रीय प्रतिना अंतमां नीचे मुजब पुष्पिका छे.

उदकानलचौरेभ्यो मूषकेभ्यस्तथैव च। रक्षणीया प्रयत्नेन यतः कष्टेन लिख्यते ॥ १ ॥ यदक्षरपरिभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्। क्षन्तव्यं तद्बुधैस्सर्वं कस्य न स्खलते मनः ॥ २ ॥ व्यासतुल्योऽपि यो वक्ता नानाशास्त्रविशारदः। मुह्यते लिखमानस्तु किं पुनः स्वल्पबुद्धयः ॥ ३ ॥ विक्रमसंवदतिक्रांतसंवत्सरशतेष्वेकादशसु एकपञ्चाशत्समधिकेषु ज्येष्ठमासीय-शुक्लद्वितीयां भौमे लिखितमिदं पुस्तकमिति ॥ छ ॥

आ पुष्पिका उपरथी जोइ शकाय छे के आ ताडपत्रीय प्रति आ ग्रन्थरचनानी सदीमां ज लखायेली छे अने शुद्ध प्रायः छे. पा. २ नी प्रति पंदरमी सदीमां लखायेली छे ज्यारे बीजी चारे प्रतिओ क्यारे लखायेल छे ते जाणी शकाय तेम नथी, परंतु जूनी छे एटले चारेक सदी पहेलां लखायेली होवानुं अनुमान थइ शके तेम छे.

ऋणस्वीकार—आ ग्रन्थना सम्पादन कार्य माटे प्रतिओ आपनार लींबडी जैन संघनो तथा पाटण श्री हेमचन्द्राचार्य ज्ञान-मंदिरना कार्यवाहकोनो तथा आगमप्रभाकर विद्वद्वर्य मुनिराज श्री पुण्यविजयजी महाराजनो तथा संशोधनकार्यमां काळजीपूर्वक बीजी वारनुं प्रूफ तपासी आपी सहाय करनार मारा लघु गुरुबन्धु पंन्यासजी श्री कान्तिविजयजी गणिनो तथा शुद्धिपत्रक करी आपनार पू. आगमप्रज्ञ आचार्यदेव श्रीमद्विजयजंबूसूरीश्वरजी महाराजना विद्वान् शिष्य मुनिराज श्री नित्यानंदविजयजीनो आ

तेना अंतमां कोई खास पुष्पिका नथी तथा लख्यानो संवत पण नथी

२ ल २ प्रतिनो नंबर ११७ पाना १८१ छे त्रिपाठ छे अशुद्धि वधारे छे तेना अंतमां पण पुष्पिका तथा तेमज लख्यानो संवत पण नथी

१ पा १ प्रतिनो डाबडा नं २१६ प्रति नंबर १००६९ अने पत्र १२४ छे आ प्रति जोइए तेवी शुद्ध नथी अंतमां पुष्पिका तथा लख्या संवत नथी

४ पा २ प्रतिनो डाबडा न ११६ प्रति नंबर ६५५१ अने पत्र १२० छे आ प्रतिमां पण अशुद्धिओ रहेली छे तेमां पुष्पिका नीचे मुजब छे

निर्म्मलसम्यग्दर्शनसम्बोधितसम्यक्श्रुतवनगहनादस्तु:समयान्धतमसा श्रुताधिपा देवता जयति । यदक्षरपरिभ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् । तत्सर्वं क्षम्यतां देवि कस्य न स्खलते मनः ॥१॥ नमोऽस्तु श्रुतदेवतां भगवती ॥ उद्देशतो ग्रन्थपरिमाण सहस्र ७००० । छ । मंगल महाश्री शुभ भवतु । छ छ छ श्री संवत १४८२ वर्षे दीपोत्सवीदिने सा गूर्जरपुत्र सा पदम श्रीहमार्यया पउमलदे श्राविकया श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनराजसूरीणां पट्टे श्रीजिनभद्रसूरिगुरूणामुपदेशेन श्रीओघनिर्युक्ति सवृत्ति लेखयांचक्रिरे वाच्यमाना साधुभिर्नैर्न्यात् ॥ छ ॥

आ पांचे प्रतिओ तथा छापेल प्रतिना आधारे प्रेसकोपी तैयार थई गया पछी प्रेसमां मुद्रण कार्य शरु थइ केटलाक फरमा छपाइ गया पछी आगमप्रभाकर विद्वद्वर्य मुनिराजश्री पुण्यविजयजी महाराज तरफथी केटलीक हस्तलिखित प्रतिओ तथा ताड

सहायकोनी शुभनामावली

नकलो — ज्ञानखाते

	१०० श्री जैनश्वेताम्बर संघ	मेसाणा
रु. १००१	,,	डीसाकेम्प
,, ३००	,,	सीनोर
,, १५०	,,	झींझुवाडा
,, १५०	,,	डीसाराजपुर
,, ११०	,,	आमोद
,, ६७-१२	हस्ते शा. चीनुभाई शनालाल	अमदावाद

शुभखाते

रु. १०१	हस्ते शेठ मफतलाल शान्तिलाल	डीसाकेम्प
,, १०१	,, शेठ पोपटलाल जेवतलाल	डीसाकेम्प
,, ७१-४	एक श्रावक	,,

खर्चखाते

रु. ३००	स्व० शेठ उजमसीभाई ठाकरसीभाई अमरचन्दना सुपुत्रो	खंभात
,, २५१	शेठ राजाराम दलीचन्द	घाणेरा
,, २००	संघवी वर्धमानभाई इच्छाचन्द	आदरीयाणा
,, २००	सीनोरपंच	सीनोर
,, १०१	शेठ मफतलाल मोहनलाल	डीसा
,, १०१	शेठ मंगुभाई अमथालाल	,,
,, १०१	नागरदास जेठालाल	,,
,, १००	शा. जेसींगभाई परसोतमदासना स्मरणार्थे तेमना धर्मपत्नी मणीबेन भुदरभाई	झींझुवाडा
,, १००	शा. छगनलाल शंकरलाल	सीनोर

रु.	७१	सेठ	छोगाजी मयाजी	डीसा
,,	७१	सौ	मणीबेन वाडीलाल हा मीठाभाई मगीभभाई	,,
,,	७१	सेठ	रमणलाल सोभागमल	,,
,,	५५	,,	नटवरलाल मणीलाल	,,
,,	५१	,,	छोगालाल मोरारलाल	,,

रु	५१	सेठ	वाडीलाल गुलचन्द	डीसा
,,	५१	,,	सुखराम गुलाबजी	,,
,,	५१	,,	मणीलाल परसोतमदास	,,
,,	५१	,,	शान्तिलाल वरधीचन्द	,,
,,	५१	,,	मणीलाल नन्दलाल	सीनोर



निर्युक्तिभाष्यगाथानामकाराद्यनुक्रमः

दकारः

सकारः

शुद्धिपत्रकम् ।

पत्रम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्	पत्रम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५	२	साधारकर्तव्यो	आधारकर्तव्यो	३३	१	अस्म०	–'अस्म०
१२	१	पूर्वगृहीत०	पूर्वगृहीत०	४१	४	१०–१०	१०–११
१७	१	मा० ६–१०	मा० ५	५२	११	पुरुषद्वय	पुरुषद्वयं
१८	१	"	मा० ६–७	५८	१६	'तरुणतनु'	तरुणतनुं०
१९	१	"	मा० ७–८	६०	१४	'माक्षिकमहिका	महिका
२०	१	"	मा० ८–९	६६	५	मेघाभ	मेघाभ्र
"	६	आकरो, यथा,	आकरो यथा,	६८	२	मेघा	मेघा
२१	४	मा. ११–१२	मा. १०–११	"	१	११–११	१२–१३
२२	४	मा. ११–१२	मा १२–१३	७४	१	अपिता०	अर्पिता०
२३	५	मा ११–१४	मा ११	७५	२	'सन्निभस्य	'निभस्य०
२४	३	नि० ३	मा १४ नि ३	७६	१०	चत्वारि	चत्वारि
२६	४	मा ११	मा १८	८१	११	सेव्यमानं	सेव्यमान

८३	१२	•प्रतिघाता०	॰प्रतिघाता०	१९१	३	वसहि	वसंहि
८९	७	वैद्य०	वैद्य०	१९३	११	खुड्डल०	खुड्डल०
९५	५	पढभ०	पढम०	१९५	४	बालवुाणड्डं	बालवुड्डाणं
१००	४	भा. ४१	भा. ४२	"	९	वहिग्रोम	वहिर्गामे
१०५	७	भरणं	मरणं	"	११	खुड्डलिआ	खुड्डलिआ
१४१	१	हंन्तुं'	हन्तुं'	२०३	९	बिस्तीर्णं०	विस्तीर्णं०
"	३	१३७–१३८	१३८–१४०	२०४	२	कुर्वन्यत	कुर्वन्त्यत
१५७	४	नि. १६१–१६३	नि. १६३–१६४	२०८	१२	'चोयए'ति	'चोयए'त्ति
१६०	१	शय्यातस्य	शय्यातरस्य	२११	३	१३७	२३८
१६२	९	पस्परतः	परस्परतः	२१२		नि. १२६	१२६
१६६	११	'वणिय'ति	'वणिय'त्ति	२२०	३	परिमित०	परिमित०
१६९	४	भा. ९२	भा. ९३	२२३	१	'पइरिक्क'ति	'पइरिक्कं'ति
१७२	९	षडअसंय०	वडसंथ०	२२५	३	ग्रामगमने	ग्रामगमने
१८२	६	मण्डल्याः	मण्डल्या	२२६	१	वसति-	वसति-

शुद्धिपत्रकम् ।

पत्रम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५	२	वाचस्ककर्तव्यो	वाचस्कर्तव्यो
१२	९	पूर्वगृहीत०	पूर्वगृहीत०
१७	३	मा० ६–१०	मा० ५
१८	३	,,	मा० १–७
१९	३	,,	मा० ७–८
२०	३	,,	मा० ८–९
,,	६	आकरो, इणा,	आकरो इणा,
२१	४	मा ११–१२	मा १०–११
२२	४	मा ११–१२	मा १२–१३
२३	५	मा ११–१४	मा १३
२४	३	नि० १	मा १४ नि १
२५	४	मा १६	मा १८

पत्रम्	पङ्क्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३६	१	अक्ष्म०	–'क्ष्म०
४९	४	१०–१०	१०–११
५१	११	पुरुपहूत	पुरुषहूत
५८	१३	'वरुणननपु'	वरुणनपुं०
६०	१२	॰अक्षितममहिला	महिला
६५	५	मेवाश्च	मेवाश्च
६८	२	मेवाः	मेवाः
,,	३	३१–३३	३२–३३
७४	९	अपिवा०	अपिवा०
७५	९	॰सनिष्पस्य	॰निष्पस्य०
७९	१०	चस्वारि	चत्वारि
८१	१२	॰सेव्यमान	॰सेव्यमानं

३३१	११	प्रत्यूपसि	प्रत्यूषसि	४०२	२	कार्यात्सर्गस्थो	कायोत्सर्गस्थो
३३४	५	'आवस्सए'ति	'आवस्सए'त्ति	४१३	३	५५५	५५४–५५५
३३९	३	व्यख्यायते	व्याख्यायते	४१८	३	भा० १८१-	भा. २८१-
३५४	९	एणसम०	एसणम०	४५१	१०	क्षुरुरागतः	द्रुरुरागतः
३६०	९	४०९	४५९	४५४	१	एत्रमेभि०	एवमेभि०
३७२	१०	विक्खिणणो०	विक्खिवणो०	४६०	३	६५६	६५३
३७३-७४	१	दाऱ्यागम	दाऱ्यागमन	४६७	५	यद्यूद्धर्वं०	यद्यूर्द्ध्वं०
३७४	५	एतेषामे०	एताषामे०	,,	२	ऊद्धर्वं०	ऊर्द्ध्वं०
३७६	२	नीचद्वारे-	नीचद्वारो-	४७९	८	द्वेऽपि	द्वेऽपि
३७६	४	पाटाद्दानि	पाटादीनि	,,	,,	खोम्मिया	खोमिया
,,	६	२५६	२५५	,,	९	°षामेव	°पामेव
३७७	३–४	द्घाटघाटकपटानादि	द्घाटकपाटादीनि	५०६	१३	कुशी °लसं	कुशीलसं०
३८४	८	एकैकशु–	एकैक–	५०८	९	७८६-	७८५-
४००	२	यश्चात्कर्म	पश्चात्कर्म	५०९	१३	०णा ए॰ आ. पा.	°णा ए° आ.

२२८	१४	वाक्ये०	वाक्ये०	२९३	७	विश्रामण्यीयनि	विश्रामणीयानि
२१०-११	२	प्रथम	प्रथमा	२९७	१	अग्निवायु-	अग्निवायु
२११	१०	क्षेत्र	क्षेत्रे	२९८	५	'प्रारम्भे	'प्रारम्भे
२१२	१०	केवलिवी	केवलिनो	२९९	१०	वरिषणा	वरिषणा
२१३	११	'असंसत्त'ति	'असंसत्त'त्ति ।	३००	१	वनस्पति	वनस्पति
२१४	११	अनाहिंडिये	अन्नाहिंडिये	३०१	५	तिपञ्चः	तिर्यञ्चः
२१९	७	वर्ष	वश	३०२	४	मिश्रो०	मिश्रो०
"	१२	ऊर्ध्वस्य	ऊर्द्धस्य	३०८	११	भवति	भवति
"	"	कायोर्ध्व	कायोर्द्ध	३११	१२	विविस्वं	विविस्व
२४१	११	मयेन	मयेण	३१९	१	३३८	३८८
२४५	५	२२९	२११	३१९	१४	'समापात्	'समावात्
१७४	११	विराधन्वे	विराधम्ने	३१८	७	येव च	येव च
२८४	११	पेषणाविधि	'पेषणाविधि०	३२४	७	सत्त्वमेव	सत्त्वमेव
२८७	१	शरीरस्यपशरीरस्य०	शरीरस्य०	३२५	५	'अमीक्ष्णं'	'अभीक्ष्ण'

॥ अर्हम् ॥

चतुर्दशपूर्वधरश्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुस्वामिभिरुद्धृता
अखण्डपाण्डित्ययुतश्रीद्रोणाचार्यकृतविवृतियुता

श्रीओघनिर्युक्तिः

नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो [१]उवज्झायाणं, णमो लोए सवसाहूणं । एसो पंच [२]नमुक्कारो, सवपावप्पणासणो, मंगलाणं च सवेसिं, पढमं हवइ मंगलं ॥ १ ॥

अर्हद्भ्यस्त्रिभुवनराजपूजितेभ्यः, सिद्धेभ्यः [३]सितघनकर्मबन्धनेभ्यः । आचार्यश्रुतधरसर्वसंयतेभ्यः, सिद्ध्यर्थी सततमहं नमस्करोमि ॥ १ ॥ प्रक्रान्तोऽयमावश्यकानुयोगः, तत्र च सामायिकाध्ययनमनुवर्त्तते, तस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति महापुरस्येव, तद्यथा–उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नय इति, एतेषां चाध्ययनादौ उपन्यासे इत्थं च क्रमोपन्यासे प्रयोजनमभिहितम्, तत्रोपक्रमनिक्षेपावुक्तौ, अधुनाऽनुगमावसरः, स च द्वेधा–निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्च, तत्र निर्युक्त्यनुगमस्त्रिधा–निक्षेपोपोद्घातसूत्र[४]स्पर्शिनिर्युक्त्यनुगमभेदात्, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमोऽनुगतो वक्ष्यमाणश्च, उपोद्घातनिर्यु-

१ अव° पा. १ । २ नमो° पा. १ ल. १–२ पु । ३ सूत° ल. १ पा. १–२ । ४ °स्पर्श° ल. १–२ ।

र्नमस्कारः कर्तव्यः, किं दशपूर्व्यादिनमस्कारेणेति, चतुर्दशपूर्विनमस्कारेणैव शेषाणां नमस्कारो भविष्यतीति । अथ भेदेन क्रियते, एवं तर्हि त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकपूर्वहान्या तावत्ककर्त्तव्यो यावत्पूर्वैकदेशधराणामिति, अत्रोच्यते, यदित्थं चोद्यं क्रियते तदविज्ञायैव परमार्थं, कथम् ?, यदुक्तं तावत् संक्षेपग्रन्थोऽयं तदत्र नमस्कारोऽपि संक्षेपेण कर्तव्य इति । अत्र ताव-त्प्रतिविधीयते–येनैव संक्षेपग्रन्थोऽयं तेनैव लक्षणेनेत्थं नमस्कारः कृतः, तथाहि–सामान्येनार्हतां नमस्कारोऽभिहितः न विशेषेण एकैकस्य तीर्थकरस्य, तथाहि भगवतामुपकारकत्वान्नमस्कारः क्रियते, येऽप्यमी चतुर्दशपूर्वधरास्तेऽप्युपकारका एव, कथमिति चेत्, अर्थद्वारेण तीर्थकरा उपकारकाः, सूत्रतस्तु चतुर्दशपूर्वधरा गणधराः, यत उक्तम्–"अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गण-हरा निउणं" मित्यादि, अत उपकारकास्त इति । अथवा द्विधोपकारः–व्यवहितोपकारोऽनन्तरोपकारश्च । तत्र भगवन्तोऽर्हन्तः व्यवहितोपकारकत्वेन व्यवस्थिताः, चतुर्दशपूर्वधरास्त्वस्याचार्यस्यानन्तरोपकारकत्वेन, तेन चतुर्दशपूर्वधरनमस्कारः कृतः, सर्वाश्चतुर्दशपूर्वधरव्यक्तय आगृहीता अनेन नमस्कारेणेति । यच्चोक्तम्–चतुर्दशपूर्विनमस्कारेणैव शेषाणां दशपूर्व्यादीनां नमस्कारो भविष्यति किं दशपूर्व्यादिनमस्कारेणेति ? अथ भेदेन क्रियते एवं तर्हि त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकपूर्वहान्या ताव-त्कर्त्तव्यो यावत्पूर्वैकदेशधराणामिति, एतदप्यसाधु, कथम् ?, यतो दशपूर्वधरा अपि शासनस्योपकारका उपाङ्गादीनां संग्रह-ण्युपरचनेन हेतुना, अथवाऽस्यामवसर्पिण्यां चतुर्दशपूर्व्यनन्तरं दशपूर्वधरा एव संजाता न त्रयोदशपूर्वधरा द्वादशपूर्वधरा एका-

१ °देशधारिणा° ल २ । २ °मुपकारित्वा° आ । ३ निउणा इत्यादि आ. । ४ व्यवहितोऽव्यवहितश्च आ. ल. २ पु पा १–२ । ५ °त्वस्यान्त° आ. ल. २ । ६ अतश्चतु° आ. ल १–२ पा. १–२ ।

ध्यन्ते-ओघेन तु निर्युक्तिं वक्ष्ये चरणकरणानुयोगात् अल्पाक्षरां महार्थां अनुग्रहार्थं सुविहितानाम्, एतावन्ति पदानि। अधुना पदार्थः-'अरहते' इत्यादि, अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तान् अर्हतः। 'वंदित्ता' इति 'वदि अभिवादनस्तुत्योः' स्तुत्वेत्यर्थः, समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वाप्रत्ययो भवतीति वन्दित्वा, किम्?-'ओघनिर्युक्तिं वक्ष्ये' इति द्वितीयगाथाक्रियया सह योगः। किमर्हत एव वन्दित्वा? नेत्याह-'चतुर्दशपूर्विणः' चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते येषां ते चतुर्दशपूर्विणस्तान्, वन्दित्वेति सर्वत्र क्रिया मीलनीया। किं एतानेव? नेत्याह-'तथैव दशपूर्विणः' 'तथे'ति आगमोक्तेन प्रकारेण 'एव'इति क्रमनियमप्रतिपादनार्थम् अनेनैव क्रमेण दशपूर्विण इति, दश पूर्वाणि विद्यन्ते येषां ते दशपूर्विणः। न केवल तानेव, 'एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान्' एकादश च तान्यङ्गानि च एकादशाङ्गानि एकादशाङ्गानां सूत्रार्थौ एकादशाङ्गसूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये तान् एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान्। 'सर्वसाधूंश्च' इति सर्वं साधयन्तीति सर्वसाधवः अथवा सर्वे च ते साधवश्च सर्वसाधवः तान् सर्वसाधूंश्च वन्दित्वा। चशब्दः समुच्चये, अथवाऽनुक्तसमुच्चये, यच्च प्रक्षेपित तत्प्रतिपादयिष्यामः। पदविग्रहस्तु यानि समाससाञ्जि पदानि तेषां समासः प्रतिपादितः। अधुना चालनाया अवसरः सा प्रतिपाद्यते, एवं व्याख्याते तस्याह परः-सर्वमेवेदं गाथासूत्रं न घटते, कथम्? इह 'ओघनिर्युक्तिं वक्ष्ये' इति प्रतिज्ञा, सा च प्रथममेव नमस्कारसूत्रे प्रतिपादिता, एतच्च नमस्कारोऽपि संक्षेपेणैवाभिधातव्यः, न चासौ संक्षेपेण प्रतिपादितः, अपि तु विस्तरेण, यत्राईन्नमस्कार एव केवलः संक्षेपनमस्कारो भवति, स एव कर्तव्यो न चतुर्दशपूर्वधरादिनमस्कारः। अथ क्रियते, एवं तर्हि एकैकस्या व्यक्ते

1 सूत्रेण पा. २ पु.। २ न ढंपाविता पा. १ न प्रतिपादिता क. २.। ३ तर्हत्यम जा।

र्नमस्कारः कर्तव्यः, किं दशपूर्व्यादिनमस्कारेणेति, चतुर्दशपूर्विनमस्कारेणैव शेषाणां नमस्कारो भविष्यतीति । अथ भेदेन क्रियते, एवं तर्हि त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकपूर्वहान्या तावत्ककर्त्तव्यो यावत्पूर्वैकदेशधराणामिति, अत्रोच्यते, यदित्थं चोद्यं क्रियते तदविज्ञायैव परमार्थं, कथम् ?, यदुक्तं तावत् संक्षेपग्रन्थोऽयं तदत्र नमस्कारोऽपि संक्षेपेण कर्तव्य इति । अत्र ताव-त्प्रतिविधीयते–येनैव संक्षेपग्रन्थोऽयं तेनैव लक्षणेनेत्थं नमस्कारः कृतः, तथाहि–सामान्येनार्हतां नमस्कारोऽभिहितः न विशेषेण एकैकस्य तीर्थकरस्य, तथाहि भगवतामुपकारकत्वान्नमस्कारः क्रियते, येऽप्यमी चतुर्दशपूर्वधरास्तेऽप्युपकारका एव, कथमिति चेत्, अर्थद्वारेण तीर्थकरा उपकारकाः, सूत्रतस्तु चतुर्दशपूर्वधरा गणधराः, यत उक्तम्–"अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गंथंति गण-हरा निउण" मित्यादि, अत उपकारकास्त इति । अथवा द्विधोपकारः–व्यवहितोपकारोऽनन्तरोपकारश्च । तत्र भगवन्तोऽर्हन्तः व्यवहितोपकारकत्वेन व्यवस्थिताः, चतुर्दशपूर्वधरास्त्वस्याचार्यस्यानन्तरोपकारकत्वेन, तेन चतुर्दशपूर्वधरनमस्कारः कृतः, सर्वाश्चतुर्दशपूर्वधरव्यक्तय आगृहीता अनेन नमस्कारेणेति । यच्चोक्तम्–चतुर्दशपूर्विनमस्कारेणैव शेषाणां दशपूर्व्यादीनां नमस्कारो भविष्यति किं दशपूर्व्यादिनमस्कारेणेति ? अथ भेदेन क्रियते एवं तर्हि त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकपूर्वहान्या ताव-त्कर्त्तव्यो यावत्पूर्वैकदेशधराणामिति, एतदप्यसाधु, कथम् ?, यतो दशपूर्वधरा अपि शासनस्योपकारका उपाङ्गादीनां संग्रह-प्युपरचनेन हेतुना, अथवाऽस्यामवसर्पिण्यां चतुर्दशपूर्व्यनन्तरं दशपूर्वधरा एव संजाता न त्रयोदशपूर्वधरा द्वादशपूर्वधरा एका-

१ °देशधारिणा° ल २ । २ °मुपकारित्वा° आ । ३ निउणा इत्यादि आ. । ४ व्यवहितोऽव्यवहितश्च आ. ल. २ पु पा १–२ । ५ °त्वस्यान्त° आ ल. २ । ६ अतश्चतु° आ. ल १–२ पा. १–२ ।

दशपूर्वधरा येऽस्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं चतुर्दशपूर्वधरानन्तरं दशपूर्विनमस्कारोऽभिहितः, अथवाऽन्यत् प्रयोजनम्—अर्थतस्ती-र्थकरप्रणीत सूत्रतो गणधरोपनिबद्धं चतुर्दशपूर्वधरोपनिबद्ध च दशपूर्वधरोपनिबद्ध च प्रत्येकबुद्धोपनिबद्ध च प्रमाणभूत सूत्रं भवतीत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं दशपूर्विनमस्कारः कृतः, तथा चोक्तम्—"अर्हत्प्रोक्त गणधरदृब्ध प्रत्येकबुद्धदृब्ध च । स्थविर ग्रथितं च तथा प्रमाणभूतं त्रिधा सूत्रम् ॥ १ ॥" इति, अथवाऽन्यत्प्रयोजनम्—चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणश्च नियमेनैव सम्य ग्दृष्ट्य इति प्रदर्शनार्थं तन्नमस्कारः । अथवा यदुक्तं 'त्रयोदशपूर्वधरादीनामेकैकहान्या तावन्नमस्कारो वाच्यो यावदेकदेश धराणा'मिति, सेव हानिरित्युक्ता चतुर्दशपूर्वधरा एव प्रभृत्यान्या हानिर्वाच्या, सा च ग्रन्थान्तरे प्रतिपादिता भवति, अतः पूर्वत्रपश्चक्रकस्य दशपूर्विणां ग्रहणम्, एव नवादिष्वपि योज्यम्, एव व्याख्याते सत्याह परः—गुणाधिकस्य वन्दन कर्तव्य, न त्वेवमस्य, यत उक्तम्—"गुणाहिए वदणय" भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वात् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात्कि तेषां नमस्कारमसौ करोति ? इति, अत्रोच्यते, गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्तिगुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति । एव व्याख्याते सत्याह परः—एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकाणां किमर्थं क्रियते ? इति, उच्यते, इह चरणकरणात्मिका ओघनिर्युक्तिः, एकादशाङ्गसूत्रार्थधारिणश्च चरणकरणवन्त एव, एकादशाङ्गानां चरणकरणानुयोगत्वात्, उपयोगित्वेनांशेन तेषां नमस्कार इति । साधूनां किमर्थमिति चेत्, ते तु चरणकरणनिष्पादकाः, तदर्थं चाय सर्व एव प्रयास इति । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते इद गाथाद्वयम्—अनेन गाथासूत्रेण पञ्चनमस्कारः प्रतिपाद्यते, न च पञ्चनमस्काराद्व्यतिरिक्तोऽन्योऽस्ति नमस्कार इत्यतो भद्रबाहुस्वामिना स एव कृत

१ नावदेकदेश' ग १-२ पु. नावदेकदेशपूर्वधरा० भा ७ २ । २ सूत्रान्तरे च २ । ३ स्तवमस्त भा ७ १-२ च २ ।

इति, कथम् ? 'अरहंते वंदित्ता' इत्यनेनार्हन्नमस्कारः, 'चोद्दसपुव्वी तहेव दसपुव्वी एक्कारसंगसुत्तत्थधारए' इत्यनेनाचार्योपाध्यायनमस्कारः, यतः सूत्रप्रदा उपाध्याया अर्थप्रदा आचार्या इति। एवं व्याख्याते सत्याह–एवं तर्हि 'अर्थसूत्रधारकान्' इत्येव वक्तव्यम्, आचार्योपाध्यायपदयोरेवमेव[2] क्रमेण व्यवस्थितत्वात्, तत्कथमेतत् ? इति, अत्रोच्यते, नावश्यमाचार्योपाध्यायैर्भिन्नैर्भवितव्यम्, अपि तु कश्चिदसावेव सूत्रं शिष्येभ्यः प्रयच्छत्यसावेव चार्थमतः 'सूत्रार्थधारकान्' इत्येवमुपन्यस्तम्। 'सर्वसाधूंश्च' इत्यनेन तु साधुनमस्कारः प्रतिपादितः। सर्वशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, ततोऽयमर्थो भवति–सर्वानर्हतः, एवं चतुर्दशपूर्वधरादीनामपि मीलनीयं, चशब्दात्सिद्धनमस्कारः। एवं व्याख्याते स[3]त्याह–किमर्थं सिद्धनमस्कारः पश्चादभिधीयते ?, अपित्वर्हन्नमस्कारानन्तरं वाच्य इति, अत्रोच्यते, यानि ह्यर्हदादीनि पदानि तेषां सर्वेषामेव सिद्धाः फलभूताः, अतः फलप्रतिपादनार्थं पश्चादुपन्यास इति। अथवाऽर्हन्नमस्कारेणैव सिद्धनमस्कारोऽप्यभिहितः, कारणे कार्योपचारमङ्गीकृत्य, सिद्धत्वस्य कारणभूतत्वादर्हतामित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥ १ ॥ अधुना कृतमङ्गलः सन् संबन्धाभिधेयप्रयोजनत्रयप्रदर्शनार्थं द्वितीयं गाथासूत्रमाह–'ओहेण उ' इति, ओघः संक्षेपः समासः सामान्यमित्येकोऽर्थः, तेन ओघेन निर्युक्तिं वक्ष्ये इति योगः। तदनेन गाथाखण्डकेन संबन्धः प्रतिपादितः क्रियाऽऽनन्तर्यलक्षणः, तथा च व्यासक्रियायाः समासक्रिया अनन्तरभूता वर्तते, अतः क्रियाऽऽनन्तर्यलक्षणः संबन्धः। एवं कार्यकारणलक्षणोऽपि द्रष्टव्यः–कार्यम्–ओघनिर्युक्त्यर्थपरिज्ञानमनुष्ठानं च, कारणं तु वचनरूपापन्ना ओघनिर्युक्तिरेव, एवं च साध्यसाधनादयोऽपि द्रष्टव्या इति। तुशब्दो विशेषणे, किं विशिनष्टि ? ओघेन वक्ष्ये,

१ चउदस° आ. पा १। २ °पयोरेव क्रमेण आ. ल.२ पा. १–२। ३ सत्याह पर पा. १।

तदन्वयातिशयर्द्धिस्तवोऽपि, "छप्पुरिसा" [नि २९९] इत्यादि । निर्युक्तिं वक्ष्ये इति-निः-आधिक्ये योजनं युक्तिः, सूत्रार्थयोर्योगो नित्यव्यवस्थित एवास्ते वाच्यवाचकतयेत्यर्थः, अधिका योजना निर्युक्तिरुच्यते, नियता निश्चिता वा योजनेति, ततश्च निर्युक्तयुक्तिरित्येवं वक्तव्ये युक्तशब्दस्य लोपं कृत्वा एवमुपन्यासः, यथोष्ट्रमुखी कन्येति । 'वुच्छं' इति वक्ष्ये अभिधास्ये इति यदुक्तं भवति, कुतो वक्ष्ये ? इत्यत आह-'चरणकरणानुयोगात्' चर्यते इति चरणं-वक्ष्यमाणलक्षणं व्रतादि, क्रियत इति करणं-पिण्डविशुद्ध्यादि, चरणं च करणं च चरणकरणे तयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः, अनुयोजनमनुयोगः अनुरूपो वा योगोऽनुयोगः अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः, अथवाऽणु-सूत्रं महान्-अर्थः, ततो महतोऽर्थस्याणुना सूत्रेण योगोऽनुयोगः, तस्माच्चरणकरणानुयोगात् निर्युक्तिं वक्ष्ये, चरणकरणात्मिकामेवेति गम्यते, यथा मृदो घटं करोति मृदात्मकमेव, तथाऽत्रापीति । अथवा चरणं च तत्करणं च चरणकरणं तस्यानुयोगस्तस्माच्चरणकरणानुयोगात् निर्युक्तिं वक्ष्ये इति, तदने नाद्यपदेनाभिधेयमुक्तं, चरणकरणनिर्युक्तिरभिधेयेति । किंस्वरूपां निर्युक्तिं वक्ष्ये ? इत्यत आह-'अल्पाक्षरां' अल्पान्यक्षराणि यस्यां साऽल्पाक्षरा तामल्पाक्षराम्, अथवा क्रियाविशेषणमेतत्, कथं वक्ष्ये ? इत्यत आह-'अल्पाक्षरं' स्तोकाक्षरं वक्ष्ये, न प्रभूताक्षरमित्यर्थः । किमल्पाक्षरमेव ? नेत्याह-'महार्थं' महार्थं वक्ष्ये, अथवा महानर्थो यस्याः सा महार्था तां महार्थां वक्ष्ये, तदनेनाभिधेयविशेषणं प्रतिपादितं भवति । 'अल्पाक्षरां महार्थां' इत्यनेन चतुर्भङ्गिका प्रतिपादिता भवति, एकमल्पाक्षरं प्रभूतार्थं भवति १, तथा अन्यत् प्रभूताक्षरमल्पार्थं २, तथा प्रभूताक्षरं प्रभूतार्थं ३, अल्पाक्षरमल्पार्थं ४ चेति । किंनिमित्त

१ योगः अनुकूलो वा. क. १ । २ तथाऽत्रापीति वा पु. पा. १ ।

वक्ष्ये ? इत्यत आह–'अनुग्रहार्थं' अनुग्रहः–उपकारोऽभिधीयते, अर्थशब्दः प्रयोजनवचनः, तत उपकारः प्रयोजनं वक्ष्ये, तदनेन प्रयोजनं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् । केषां वक्ष्ये ? इत्यत आह–'सुविहितानां' शोभनं विहितम्–अनुष्ठानं येषामिति ते सुविहिताः–साधवस्तेषां सुविहितानामनुग्रहार्थमोघनिर्युक्तिं वक्ष्य इति योगः । तदनेन गाथासूत्रेण परोपन्यस्ता हेतवो निराकृता भवन्ति । के च ते हेतवः ?, निःसंबन्धत्वादय इति । यश्चायं क्त्वाप्रत्यय उपन्यस्तस्तेन नित्यानित्यैकान्तवादयोरसारता प्रतिपादिता भवति, कथम् ? न नित्यवादे क्त्वाप्रत्ययो युज्यते न वाऽनित्यवादे, किन्तु नित्यानित्यवाद एवायं घटत इति, नित्यवादे तावन्न घटते, एकं कृत्वा ह्यपरकरणं क्रमः, क्त्वाप्रत्ययश्च विशिष्ट[1] एवार्थेऽभिधीयते, 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वे' (पा० ३-४-२१) ति वचनात्, नित्यवादे चाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं वस्तु, तच्च किं तावत् पूर्वस्वभावत्यागेन द्वितीयां क्रियां करोति आहोस्वित्पूर्वस्वभावात्यागेनेति वाच्यम्[2] ?, यदि पूर्वस्वभावत्यागेन ततोऽनित्यत्वप्रसङ्गः, अतादव[3]स्थ्यम[4]नित्यत्वं ब्रूमः, अथ पूर्वस्वभावात्यागेन एवं तर्हि न कदाचिदपि तेन द्वितीया क्रिया कर्त्तव्येति । एवं प्रतिपादितेऽनित्यतावाद्याह–अत एवास्माकं दर्शने क्त्वाप्रत्ययो घटत इति, एतदप्यचारु, यस्य क्षणिकं वस्तु तस्य कथं क्त्वाप्रत्ययो युज्यते ?, उत्पत्त्यनन्तरं ध्वंसात्, कथमेक एव कर्त्ता क्रियाद्वयं करोति ?, येन हि प्राक्तनी क्रिया निष्पादिता सोऽन्य एव, योऽपि चोत्तरां क्रियां करोति सोऽपि चान्य एव, तत एकान्तानित्यवादेऽपि न घटते क्त्वाप्रत्यय इति । अयं तावत्समुदायार्थः, अधुना भाष्यकृदेकैकमवयवं व्याख्यानयति–तत्र 'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये' ति पर्यायतो व्याख्यां कुर्वन्निदं

1 विशिष्टपूर्वार्थोऽभिधी॰ आ. । 2 वाच्यम् ? किं चातो यदि ल. १–२ पा. १–२ पु. । 3 ॰वस्थ॰ पु. । 4 ॰मनित्यता ब्रूम आ. पा. १ पु. ।

गाथाद्वयमाह—

ओहे पिंड समासे सखेवे चेव होंति एगट्ठा। निज्जुत्तत्ति य अत्था ज बद्धा तेण निज्जुत्ती ॥१॥ (भा)

ओघः पिण्डो भवतीति योगः। पिण्डन पिण्डः संघातरूप इत्यर्थः। 'समासे'त्ति समसन समासः। 'असु क्षेपणे' सम्–एकीभावेनासन क्षेपणमित्यर्थः, तथा च समासेन सर्व एव विशेषा गृह्यन्ते, ओघः समासो भवतीति योगः, एव भवतीति क्रिया सर्वत्र मीलनीया। 'संखेवे'त्ति संक्षेपण संक्षेपः सम्–एकीभावेन प्रेरणमित्यर्थः, चशब्द उक्तसमुच्चये, एवशब्दः प्रकारवाचकः, एवमेतेषामपि पिण्डादीनां ये पर्यायास्ते मीलनीया इति। निर्युक्तिपदव्याख्यानार्थमाह–'निज्जुत्तत्ति य' इत्यादि, निः–आधिक्ये योजन युक्तिः, आधिक्येन युक्ता निर्युक्ताः, अर्यन्त इत्यर्थाः गम्यन्त इत्यर्थ, ततो निर्युक्ता इति चार्थाः यद् यस्मात्तदास्तेन निर्युक्तिरभिधीयते। अथवाऽन्यथा–निश्चयेन युक्ता निर्युक्तिरिति चार्थाः यद्बद्धास्तेन निर्युक्तिरभिधीयते, इत्यय भावार्थः। एकार्थिकप्रतिपादनेन च एकान्तभेदाभेदवादौ व्युदस्येते, नैकान्तभेदपक्षे एकार्थिकानि युज्यन्ते, कथम्?, यस्य एकान्तेनैव सर्वे भावाः सर्वथा भिन्ना वर्तन्ते तस्य हि यथा घटशब्दात्पटशब्दो भिन्नः एव कुट शब्दोऽपि भिन्न एव, ततश्च घटशब्दस्य कुटशब्द एकार्थिको युज्यते? एकार्थिकत्व हि कथञ्चिद्भेदे भवतीति, एवमेकान्ता भेदवादिनोऽपि न युज्यन्ते एकार्थिकानि, कथम्? यस्य अभेदेन सर्वे एव भावा व्यवस्थितास्तस्य यथा घटशब्दस्य घट शब्दोऽभिन्न एकार्थिको न भवति एव कुटादयोऽपि न युज्यन्ते, अभिन्नत्वात्, इत्यल प्रसङ्गेनेति ॥ १ ॥

१ समासे इति खा.। २ संखेवे' इति खा संखेवि ति ख १। ३ युक्ता निर्युक्ता निर्युक्ति ख १ पा १–२। ४ घर्षे भाव्य खा.।

अधुना चरणपदव्याख्यानार्थमिदं गाथासूत्रमाह—

वय[5]समणधम्म[10]संजम[17]वेयावच्चं[1] [10]च बंभगुत्तीओ[2]। नाणाइतियं[3] तव[12] कोहनिग्गहाई[4] चरणमेयं ॥ २॥ (भा०)

व्याख्या–भवतीति क्रियाऽनुवर्तते, व्रतादि चरणं भवतीति योगः। व्रतानि–प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणि, 'समणधम्म'त्ति श्रमणाः–साधवो धारयतीति धर्मः श्रमणानां धर्मः–क्षान्त्यादिकश्चरणं भवतीति सर्वत्र मीलनीयम्। 'संजमे'ति सम्–एकीभावेन यमः संयमः, उपरम इत्यर्थः, स च प्रेक्षोत्प्रेक्षादिरूपः सप्तदशप्रकारः। 'वेयावच्चं'ति व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्यं, आचार्यादिभेदाद्दशप्रकारं, चशब्दः समुच्चये, किं समुच्चिनोति? विनयश्च। 'बंभगुत्तीओ'त्ति ब्रह्म इति–ब्रह्मचर्यं तस्य गुप्तयो ब्रह्मचर्यगुप्तयः, चर्यशब्दलोपादेवमुपन्यासः कृतः, ताश्च वसत्यादिका नव ब्रह्मचर्यगुप्तयः। 'नाणाइतियं'ति ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्–आभिनिबोधिकादि तदादिर्यस्य ज्ञानादित्रयस्य तत् ज्ञानादि, आदिशब्दात् सम्यग्दर्शनचारित्रपरिग्रहः, ज्ञानादि च तत्त्रिकं च ज्ञानादित्रिकम्। 'तव' इति तापयतीति तपो–द्वादशप्रकारमनशनादि। 'कोहनिग्गहाइ' इति 'क्रुध कोपे' क्रोधनं क्रोधः, निग्रहणं निग्रहः, क्रोधस्य निग्रहः क्रोधनिग्रहः स आदिर्यस्य मानादिनिग्रहकदम्बकस्य तत्क्रोधनिग्रहादि, चरणमेतत्। एवं व्याख्याते सत्याह परः–ननु व्रतान्तर्गतत्वाद् गुप्तयो न पृथक् कर्त्तव्याः। अथ परिकरभूताश्चतुर्थव्रतस्य ब्रह्मचर्यगुप्तयोऽभिधीयन्ते, एवं तर्ह्येकैकस्य परिकरभूता भावना अपि वाच्याः, न च ज्ञानादित्रयस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, अपि तु सम्यग्दर्शनज्ञानयोरेवोपन्यासः[4] कर्त्तव्य इति, चारित्रस्य व्रतग्रहणेनैव ग्रहणात्। तथा श्रमणधर्मग्रहणेन संयमग्रहणं तपोग्रहणं

१ वेयावच्च' इति आ. ल. १–२। २ °गुत्तीओ° इति पा. १। ३ 'निग्गहादि'त्ति पा. १–२. पु। ४ ज्ञानसम्यग्दर्शन° आ. पा. १ पु.।

चातिरिच्यते, संयमतपसी चोक्तस्य श्रमणधर्मस्योपन्यासः कर्तव्यः। तथा तपोग्रहणे च सति वैयावृत्त्यस्योपन्यासो वृथा, यद्वत्स्वाध्यायस्य च विनयस्य, वैयावृत्त्यविनययोस्तपोऽन्तर्गतत्वात्। तथा क्षान्त्यादिधर्मग्रहणे च सति क्रोधादिनिग्रहग्रहणमनर्थकम्। तदियं सर्वैव गाथा आकुलविशीर्णेति तत्कथमेतत्? इति, अत्रोच्यते, अभिप्रायमेव परमार्थमेव चोदयते, यदुक्तं-व्रतग्रहणे ब्रह्मचर्यगुप्तिज्ञानादित्रयोपन्यासो न कर्तव्यः तथाचत्यारिरियते—यदेतद्व्रतचारित्रं स एकांशो वर्तते चारित्रस्य, सामायिकादि च चारित्रं चतुर्विधमगृहीतमास्ते तद्ग्रहणार्थं ज्ञानादित्रयमुपन्यस्तं, व्रतग्रहणे ब्रह्मचर्यगुप्तयो यदभिधीयन्ते तद् ब्रह्मचर्यस्य निरपवादत्वं दर्शयति, तथा चोक्तम्—A"नवि किंचिवि पडिसिद्धं नाणुन्नायं च जिणवरिंदेहिं। मुत्तु मेहुणभावं न विणा त रागदोसेहिं ॥ १ ॥" अथवा पूर्वपश्चिमतीर्थकरतीर्थयोर्भेदेनेतद् महाव्रतं भवति, अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं भेदेनोपन्यासः कृत इति। यच्चोक्त—श्रमणधर्मग्रहणे संयमतपसोर्न ग्रहणं कर्तव्यम्, श्रमणधर्मग्रहणेनैव गृहीतत्वात्तयोः, तदप्यसाधु, संयमतपसोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वात्, कथं प्रधानत्वम्? इति चेत् अपूर्वकर्माश्रवसंवरहेतुः संयमो वर्तते, पूर्वगृहीतकर्मक्षयहेतुश्च तपः, [redacted] प्रधानत्वमनयोः, अतो गृहीतयोरप्यनयोर्भेदेनोपन्यासः कृतः, दृष्टश्चायं न्यायो यथा—ब्राह्मणा आयाता वशिष्ठोऽप्यायातः, अत्र हि ब्राह्मणग्रहणेन वशिष्ठस्यापि ग्रहणं कृतमेव, तथाऽपि प्राधान्यात्तस्य भेदेनोपन्यासः क्रियत इति। तथा यच्चोक्त—तपोग्रहणे वैयावृत्त्यविनययोर्न ग्रहणं कर्तव्यं, तदप्ययुक्त, वैयावृत्त्यविनययोर्यथा स्वपरोपकारकत्वात्प्राधान्य

---

1 समग्रमिदं ख च 1–2, पु। 2 °कर्मनिर्जराहेतुश्च ख. 1।

A. नापि किञ्चिदपि प्रतिषिद्धं नानुज्ञातं च जिनवरेन्द्रैः। मुक्त्वा मैथुनभावं न विना तद्रागद्वेषाभ्याम् ॥

नैवमनशनादीनां तपोभेदानामिति। यच्चोक्तं–श्रमणधर्मग्रहणे क्रोधादिनिग्रहस्य नोपन्यासः कर्त्तव्यः, तदप्यचारु, इह द्विरूपः क्रोधः–उदयगत उदीरणावलिकागतश्च, तत्रोदयगतनिग्रहः क्रोधनिग्रहः, एवं मानादिष्वपि वाच्यं, यस्तु उदीरणावलिकाप्राप्तस्तस्योदय एव न कर्त्तव्यः क्षान्त्यादिभिर्हेतुभिरिति। अथवा त्रिविधं वस्तु–ग्राह्यं हेयमुपेक्षणीयं च, तत्र क्षान्त्यादयो ग्राह्याः, क्रोधादयो हेयाः, अतो निग्रहीतव्यास्त इत्येवमर्थमित्थमुपन्यस्तमिति तस्मात् साधु सर्वमेवैतद् गाथासूत्रमिति। अधुना करणावयवप्रतिपादनार्थमिदं गाथासूत्रमाह—

पिं[4]डविसोही [5]समिई भाव[12]णा पडि[12]मा य इंदि[5]यनिरोहो। पडिलेह[25]ण[3]गुत्तीओ अभिग्ग[4]हा चेव करणं तु ॥३॥भा.

अस्य व्याख्या—'पिंड'त्ति पिण्डनं पिण्डस्तस्य विविधम्–अनेकैः प्रकारैः शुद्धिः आधाकर्मादिपरिहारप्रकारैः पिण्डविशुद्धिः, सा किम्?, करणं भवतीति योगः। 'समिति'त्ति सम्यगितिः–सम्यग्गमनं प्राणातिपातवर्जनेनेत्यर्थः, जातावेकवचनं, ताश्चेर्यासमित्यादयः समितयः। 'भावण'त्ति भाव्यन्त इति भावनाः–अनित्यत्वादिकाः। 'पडिम'त्ति प्रतिमाः–अभिग्रहप्रकारा मासाद्या द्वादश भिक्षुप्रतिमाः, चशब्दाद्भद्रादयश्च प्रतिमा गृह्यन्ते। 'इंदियनिरोहो'त्ति इन्द्रियाणि–स्पर्शनादीनि तेषां निरोधः इन्द्रियनिरोधः आत्मीयात्मीयेष्टानिष्टविषयरागद्वेषाभाव इत्यर्थः। 'पडिलेहण'त्ति प्रतिलेखनं प्रतिलेखना 'लिख अक्षरविन्यासे' अस्य प्रतिपूर्वस्य ल्युडन्तस्यानादेशे डाँपि च विहिते प्रतिलेखनेति भवति, एतदुक्तं भवति–अक्षरानुसारेण प्रतिनिरीक्षण-

1 °न्यस्ता इति स्यात्साधु आ, °न्यस्ता इति तस्मात् पा १, °न्यास इति तस्मात् पा २। २ शोधि. ल २ पा १–२। ३ विशोधि. ल.२। ४ निरोधः आत्मी° आ.। ५ आत्मीयेष्टा° आ। ६ टापि आ. पा.२।

२

मनुष्ठानं च यस्ता प्रतिलेखना, सा च चोलपट्टादेरुपकरणस्येति । 'गुत्तीओ'त्ति गुप्तीनि गुप्तयो-मनोवाक्कायरूपास्तिस्रः । 'अभिग्गह'त्ति अभिग्रहा द्रव्यादिभिरनेकप्रकाराः, चशब्दो चसत्यादिसमुच्चयार्थो, एवकारः क्रमप्रतिपादनार्थः । 'करणं तु'त्ति क्रियते इति करणं, मोक्षार्थिभिः साधुभिर्निष्पाद्यत इत्यर्थः । तुशब्दो विशेषणे, मूलगुणसद्भावे करणस्यास्य, नान्यथेति । आह-ननु समितिग्रहणेनैव पिण्डविशुद्धेर्गृहीतत्वाच्च पिण्डविशुद्धिग्रहणं कर्तव्यं, यत एषणासमितौ सर्वैषणा गृहीताः, पिण्डविशुद्धिरप्येषणैव, तत्किं भेदेनोपन्यासः? इति, अत्रोच्यते, पिण्डव्यतिरेकेणान्याप्येषणा विद्यते वस्त्रादिरूपा तस्या ग्रहणं मा भूदिति, तत्र पिण्डविशुद्धेस्तु भेदेनोपन्यासः कारणे ग्रहणं कर्तव्यं नाकारणे इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थः । अथवाऽऽहारमन्तरेण न शक्यते पिण्डविशुद्ध्यादि करणं सर्वमेव कर्तुमतो भेदेनोपन्यास इति । अत्राह-चरणकरणयोः कः प्रतिविशेषः? इति, अत्रोच्यते, नित्यानुष्ठानं चरणं, यत्तु प्रयोजन आपन्ने क्रियते तत्करणमिति, तथा च व्रतादि सर्वकालमेव चर्यते न पुनर्व्रतशून्यः कश्चित्काल इति । पिण्डविशुद्ध्यादि तु प्रयोजने समापन्ने क्रियत इति । एवं व्याख्याते सत्याह परः-"ओहेण उ निज्जुत्ति वुच्छं चरणकरणाणुओगस्स" इत्येवं वक्तव्यं, तत्किमर्थं षष्ठ्युल्लङ्घनं कृत्वा पञ्चम्यभिधीयते, इत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमिदं गाथासूत्रमाह-

चोदगवयणं छट्ठी संबंधे कीस न भवति विभत्ती?।तो पञ्चमी उ भणिया,किमत्थि अन्नेऽवि अणुओगा?॥४॥

व्याख्या-'चोदग' त्ति चोदकोक्तिः चोदकवचनं, किंभूतम्?, तदाह-षष्ठी संबन्धे किमिति न भवति विभक्तिः?, संब

---

१ चेषणानि च क.१-२ पा २ पु. । २ °आप्येषणा खा पा १-२ । ३ आपन्ने खा. क १-२ । ४ चोदकवचनं किंभूतम्? खा क १-२ ।

न्यनं संबन्धस्तस्मिन् संबन्धे षष्ठी किमिति न भवति ? एतदुक्तं भवति–चरणकरणानुयोगसंबन्धिनीमोघनिर्युक्तिं वक्ष्य इति वाच्यं, तदुल्लङ्घनं कृत्वा पञ्चम्युच्यते तत्र प्रयोजनं वाच्यं, अथ न किञ्चित्प्रयोजनं ततः पञ्चमी भणिता किं केन कारणेन ?, निष्प्रयोजनैवेत्यर्थः, एवं चोदिते सत्याहाचार्यः–अस्त्यत्र प्रयोजनं षष्ठ्युल्लङ्घनं कृत्वा यत् पञ्चम्युपन्यस्ता, किम् ? इत्यत आह–'अत्थि अण्णेवि अणुओगा' सन्ति–विद्यन्ते अन्येऽप्यनुयोगाः–अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमेवमुपन्यासः कृत इति। पुनरप्याह–यद्यन्येऽप्यनुयोगाः सन्ति पञ्चम्याः किमायातम् ? इति, अत्रोच्यते, अस्याचार्यस्येयं शैली–[1]यदुत यत्र कचित् संबन्धस्तत्र षष्ठ्याः सप्तम्या वा निर्देशं करोति, तथा च–[A] "आवस्सगस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे। इत्येवमादि। अत्र तु शैलीं त्यक्त्वा पञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्नाचार्य एतद् ज्ञापयति–सन्त्यन्येऽप्यनुयोगा इति, तदत्राहं चरणकरणानुयोगाद्वक्ष्ये नान्यानुयोगेभ्य इति। तथा षष्ठी द्विविधा दृष्टा–भेदषष्ठी अभेदषष्ठी च, तत्र भेदषष्ठी यथा–देवदत्तस्य गृहम्, अभेदषष्ठी यथा तैलस्य धारा शिलापुत्रकस्य शरीरकमिति। तद्यदि षष्ठ्या उपन्यासः क्रियते ततो न ज्ञायते–किं चरणकरणानुयोगस्य भिन्नामोघनिर्युक्तिं वक्ष्ये यथा देवदत्तस्य गृहमिति, आहोस्विदभिन्नां वक्ष्ये यथा तैलस्य धारेत्यस्य सम्मोहस्य निवृत्त्यर्थं पञ्चम्या उपन्यासः कृत इति। एवं व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह–अस्तीत्येकवचनमनुयोगाश्च बहवस्तत्कथं बहुत्वं प्रतिपादयति ?

---

१ यदुभयत्र क्वचित्तत्र आ।

A. आवस्सगस्स दसकालियस्स, तह उत्तरज्झमायारे। सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च ॥ १ ॥ कप्पस्स य निज्जूत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स। सूरपण्णत्तीए वोच्छं इसिभासियाणं च ॥ २ ॥ (आव० नि० पत्रे ६१ गाथा ८४–८५)

उच्यते, भवतीति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्, अव्ययं च "सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥" ततो बहुत्वं प्रतिपाद्यस्येवेत्यदोषः । अथवा व्यवहितः संबन्धोऽस्तिशब्दस्य, कथम् ?, इद मौदकवचनम्–षष्ठी संबन्धे किमिति न भवति विभक्तिः ?, आचार्य आह–अस्ति षष्ठी विभक्तिः, पुनरप्याह–यद्यस्ति ततः पञ्चमी भविता किम् ?, आचार्य आह–अन्येऽप्यनुयोगाश्चत्वारः, अतः षष्ठी विद्यमानाऽपि नोक्तेति, भावना पूर्ववत् । अन्येऽप्यनुयोगाः सन्तीत्युक्त, न च ज्ञायन्ते कियन्तोऽपि ते ? इत्यतः प्रतिपादयन्नाह—

चत्तारि उ अणुओगा चरणे धम्मगणियाणुओगे य । दवियणुओगे य तहा अहक्कम ते महिड्ढीया ॥५ भा

व्याख्या—चत्वार इति संख्यावाचकः शब्दः, अनुकूला अनुरूपा वा योगाः अनुयोगाः, तुशब्द एवकारार्थः, चत्वार एवैते । अन्ये तु तुशब्दं विशेषणार्थं व्याख्यानयन्ति, किं विशेषयन्तीति–चत्वारोऽनुयोगाः, तुशब्दात् द्वौ च–पृथक्त्वापृथ क्त्वभेदात् । कथ चत्वारोऽनुयोगाः ? इत्याह–'चरणे धम्मगणियाणुओगे य' चर्यत इति चरणं, तद्विषयोऽनुयोगश्चरणानुयो गस्तस्मिन् चरणानुयोगे, अत्र चोत्तरपदलोपादिरयमुपन्यासः, अन्यथा चरणकरणानुयोग इत्येव वक्तव्य, स चैकादशाङ्गरूपः । 'धम्मे'त्ति धारयतीति धर्मः, दुर्गतौ प्रपतन्त सत्त्वमिति, तस्मिन् धर्मे–धर्मविषये द्वितीयोऽनुयोगो भवति, स चोत्तराध्ययन प्रकीर्णकरूपः । 'गणियाणुओगे य'त्ति गण्यते इति गणित तस्यानुयोगो गणितानुयोगः, तस्मिन् गणितानुयोगे–गणितानुयोग विषये तृतीयो भवति, स च सूर्यप्रज्ञप्त्यादिरूपः । चशब्दः प्रत्येकमनुयोगपदसमुच्चायकः । 'दवियणुओगे'त्ति द्रवतीति द्रव्य

१ विशेषयतीति पु विशेष्यति पा २-१ । २ 'धम्म इति वा क.१-२ । ३ विषयस्तृतीयो क१-२ पा१-२ पु. ।

तस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः–सदसत्पर्यालोचनारूपः, स च दृष्टिवादः चशब्दादनार्षः सम्मत्यादिरूपश्च, तथेति क्रमप्रतिपादकः, आगमोक्तेन प्रकारेण 'यथाक्रमं' यथापरिपाटयेति, चरणरकणानुयोगाद्या 'महर्द्धिकाः' प्रधाना इति यदुक्तं भवति। एवं व्याख्याते सत्याह-परः–'चरणे धम्मगणियाणुओगे य दवियणुओगे य'त्ति यद्येतेषां भेदेनोपन्यासः क्रियते तत्किमथ चत्वारः ? इत्युच्यते, विशिष्टपदोपन्यासादेवायमर्थोऽवगम्यत इति, तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तं ? धर्मगणितानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या, पुनर्द्रव्यानुयोगो भिन्नया विभक्त्येति, तथानुयोगशब्दश्चैक एवोपन्यसनीयः, किमर्थं द्रव्यानुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ?, अत्रोच्यते, यत्तावदुक्तं–चतुर्ग्रहणं न कर्त्तव्यं विशिष्टपदोपन्यासात्, तदसत्, यतो न विशिष्टसङ्ख्यावगमो भवति विशिष्टपदोपन्यासेऽपि, कुतः ?, चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्ति, अन्यान्यपि सन्तीति संशयोऽत्र माभूत्कस्यचिदित्यतश्चतुर्ग्रहणं क्रियत इति। तथा यच्चोक्तं–भिन्नया विभक्त्या चरणपदं केन कारणेनोपन्यस्तम् ?, तत्रैतत्प्रयोजनं, चरणकरणानुयोग एवात्राधिकृतः, प्राधान्यख्यापनार्थं भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति। तथा धर्मगणितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ अत्र प्रक्रमेऽप्रधानावेताविति। तथा द्रव्यानुयोगे च भिन्नविभक्त्युपन्यासे प्रयोजनं, अयं हि एकैकानुयोगे मीलनीयः, न पुनर्लौकिकशास्त्रवद्युक्तिभिर्न विचारणीय इति। तथाऽनुयोगशब्दद्वयोपन्यासे प्रयोजनमुच्यते यत्त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं तदपृथकत्वानुयोगप्रतिपादनार्थं, यच्च द्रव्यानुयोग इति तत् पृथक्त्वानुयोगप्रतिपादनार्थमिति। एवं व्याख्याते सत्याह परः–इह गाथासूत्रपर्यन्त इदमुक्तं–'यथाक्रमं ते महर्द्धिका' इति, एवं तर्हि चरणकरणानुयोगस्य लघुत्वं, तत्किमर्थं तस्य

१ तु क्रमे आ.।

निर्युक्तिः क्रियते ?, अपि तु द्रव्यानुयोगस्य युज्यते कर्तुं, सर्वेषामेव प्रधानत्वात्, एवं चोदकेनाक्षेपे कृते सत्युच्यते—

सविसयबलवत्त पुण जुज्जइ तहवि अ महिड्ढिअं चरणं। चारित्तरक्खणट्ठा जेणिअरे तिन्नि अणुओगा॥६॥भा

व्याख्या—स्वश्चासौ विषयश्च स्वविषयस्तस्मिन् स्वविषये बलवत्त्वं पुनर्युज्यते—घटते, एतदुक्तं भवति—आत्मीयात्मीयविषये सर्वं एव बलवन्तो वर्तन्त इति। एवं व्याख्याते सत्यपरस्त्वाह—यद्येवं सर्वेषामेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तं, आत्मीयात्मीयविषये सर्वेषामेव बलवत्त्वात्, तथाऽपि चरणकरणानुयोगस्य न कर्तव्येति, एवं चोदकेनाशङ्किते सत्याह गुरुः—'तहवि अ महिड्ढिअं चरणं' तथापि एवमपि स्वविषयबलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिकं चरणमेव, शेषानुयोगानां चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानात्, पूर्वोत्पन्नसंरक्षणार्थमपूर्वप्रतिपत्त्यर्थं च शेषानुयोगा अस्यैव वृतिभूताः, यथा हि कर्पूरवनखण्डरक्षार्थं वृतिरुपादीयते, तत्र हि कर्पूरवनखण्डमेव प्रधानं न पुनर्वृतिः। एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोगानामुपन्यासात्, तथा चाह—'चारित्तरक्खणट्ठा जेणिअरे तिन्नि अणुओगा' चयरिक्तीकरणाच्चारित्रं तस्य रक्षणं तदर्थं चारित्ररक्षणार्थं येन कारणेन 'इतरे' इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगा इति। एवं व्याख्याते सत्याह—कथं चारित्ररक्षणार्थमिति चेत्तदाह—

चरणपडिवत्तिहेउ धम्मकहा कालदिक्खमाईआ। दविए दंसणसुद्धी दंसणसुद्धस्स चरणं तु॥७॥(भा०)

व्याख्या—चर्यत इति चरणं—व्रतादि तस्य प्रतिपत्तिश्चरणप्रतिपत्तिश्चरणप्रतिपत्तेः हेतुः कारणं निमित्तमिति पर्यायाः, किम्?

[1] व्यक्ति क.१–२।

तदाह–'धर्मकथा' दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसङ्घातं धारयतीति धर्मस्तस्य कथा–कथनं धर्मकथा चरणप्रतिपत्तेर्हेतुर्धर्मकथा, तथाहि–आक्षेपण्यादिधर्मकथाऽऽक्षिप्ताः सन्तो भव्यप्राणिनश्चारित्रं प्राप्नुवंन्ति। 'कालदिक्खमाईय'त्ति कलनं कालः कलासमूहो वा कालस्तस्मिन् काले दीक्षादयः–दीक्षणं दीक्षा–प्रव्रज्याप्रदानम् आदिशब्दादुपस्थापनादिपरिग्रहः, तथा च शोभनतिथिनक्षत्रमुहूर्त्तयोगादौ प्रव्रज्याप्रदानं कर्त्तव्यम्, अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव परिकरभूत इति। 'दविए'त्ति द्रव्ये द्रव्यानुयोगे, किं भवति?, इत्यत आह–'दर्शनशुद्धिः' दर्शनं–सम्यग्दर्शनमभिधीयते तस्य शुद्धिः–निर्मलता दर्शनशुद्धिः, एतदुक्तं भवति–द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुद्धिर्भवति, युक्तिभिर्यथाऽवस्थितार्थपरिच्छेदात्, तदत्र चरणमपि युक्त्यनुगतमेव ग्रहीतव्यं, न पुनरागमादेव केवलादिति। आह–दर्शनशुद्ध्यैव किम्?, तदाह–'दर्शनशुद्धस्य' दर्शनं शुद्धं यस्यासौ दर्शनशुद्धस्तस्य 'चरणं' चारित्रं भवतीत्यर्थः, तुशब्दो विशेषणे, चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति॥ अथवा प्रकारान्तरेण चरणकरणानुयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपाद्यते आदिभूतस्यापीति, तच्च दृष्टान्तबलेनाचलं भवति नान्यथेत्यतो दृष्टान्तद्वारेणाह—

जह रण्णो विसएसुं वयरे कणगे अ रययलोहे अ। चत्तारि आगरा खलु चउण्ह पुत्ताण ते दिन्ना ॥८भा.

'यथे'त्युदाहरणोपन्यासे राज्ञो 'विषयेषु' जनपदेषु 'वज्र' इति वज्राकरो भवति, वज्राणि–रत्नानि तेषामाकरः–खानिर्वज्राकरः। 'चिता लोहागरिए'त्ति इत्यतः सिंहावलोकनन्यायेनाकरग्रहणं संबध्यते, एतेन कारणेन 'होति उ'त्ति इत्यस्माद्भवति क्रिया सर्वत्र मीलनीयेति। 'कनकं' सुवर्णं तस्याकरो भवति द्वितीयः। 'रजतं'रूप्यं तद्विषयश्च तृतीय आकरो

१ 'कालि° ल.१–२। २ सिंहावलोकितन्याये° आ. ल १–२ पा.१ पु.।

भवति, चशब्दः समुच्चये, अनेकभेदमिभ रूप्याकरं समुच्चिनोति । 'लोहे चे'ति लोहमयस्तस्मिन् लोहे—लोहविषयश्चतुर्थ आकरो भवति, चशब्दो मृदुकठिनमध्यलोहमेदसमुच्चायकः । 'चत्वारः' इति सङ्ख्या । आक्रियन्त एतेभ्यित्याकराः, तथा च मर्यादयाऽभिविधिना वा क्रियन्ते वज्रादीनि तेष्विति । सतुशब्दो विशेषणे, किं विशिनष्टि ? सविषयाः सहस्त्यादिभिश्च ते पुत्रेभ्यो दत्ताः, चतुर्णां 'पुत्राणां' सुतानां 'ति' इत्याकरा 'दत्ताः' विभक्ता इत्यर्थः ॥ अधुना प्रदानोत्तरकाल यथेषां संजात तदुच्यते—

चिंता लोहागरिए पडिसेह सो उ कुणइ लोहस्स । वयराईहि अ गहणं करिंति लोहस्स तिन्नियरे ॥९ भा

लोहाकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकस्तस्मिन् लोहाकरिके चिन्ता भवति, राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाप्रधान आकरो, दत्तः, एवं चिन्तायां सत्यां सुबुद्धसमिधानेन मन्त्रिणाऽभिहितः—देव ! मा चिन्तां कुरु, भवदीय एव प्रधान आकरो न शेषा आकरा इति, कथं एतदवसीयते ?, यदि भवत्संबन्धी लोहाकरो न भवति तदानीं शेषाकराऽप्रवृत्तिः लोहोपकरणाभावात्, ततोऽनिर्वाहं भवान् कारयतु कतिचिद्दिनानि यावदुपक्षयं प्रतिपद्यते तेषूपकरणजातं, ततः सुमहार्घमपि ते लोहं ग्रहीष्यन्तीत्यत आह—'पडिसेह' इत्यादि, प्रतिषेधो—नाश्या त प्रतिषेध करोत्यसौ लोह प्रतीतमेव तस्य लोहस्य, तुशब्दो विशेषणे, न केवलमनिर्वाहं करोत्यपूर्वस्यादनिरोधं च, ततश्चैव कृते शेषाकरेषूपस्कराः क्षयं प्रतिपन्नाः, ततस्ते वज्रादिभिर्ग्रहणं कुर्वन्ति, कस्य ? इत्यत आह लोहस्य, के कुर्वन्ति ? इतरे वज्राकरिकादयः । चशब्दाच केवलं वज्रादिभिर्हस्त्यादिभिश्च । अत्र कथानकं स्पष्टत्वान्न लिखितम्, अथ दृष्टान्तः, साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजना क्रियते—यथाऽसौ लोहाकर आधारभूतः शेषाकराणां, तत्प्रभुर्यो

१ कुर्वन्ति इतरे वा. ।

शेषाणामपि प्रवृत्तिः[1], एवमत्रापि चरणकरणानुयोगे सति शेषानुयोगसद्भावः, तथाहि–चरणे व्यवस्थितः शेषानुयोगग्रहणे समर्थो भवति नान्यथेति । अस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं गाथासूत्रमाह—

एवं चरणंमि ठिओ करेइ गहणं विहीइ इयरेसिं । एएण कारणेणं हवइ उ चरणं महिड्ढीअं ॥१०॥ (भा.)

व्याख्या–'एव' मित्युपनयग्रन्थः, 'चरणंमि' त्ति चर्यत इति चरणं तस्मिन् व्यवस्थितः करोति विधिना ग्रहणमितरेषाम्, इतरेषामिति द्रव्यानुयोगादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महर्द्धिकम् । तुशब्दादन्येषां च गुणानां समर्थो भवतीति ॥ अधुना 'अल्पाक्षरां महार्थां' मिति यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह—

अप्पक्खरं महत्थं १ महक्खरऽप्पत्थ २ दोसुऽवि महत्थं ३ ।
दोसु वि अप्पं च ४ तहा भणिअं सत्थं चउविगप्पं ॥ ११ ॥ (भा०)

व्याख्या–अत्र चतुर्भङ्गिका–अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षरं, स्तोकाक्षरमित्यर्थः, 'महत्थं'[2]ति महानर्थो यस्मिन् तन्महार्थं प्रभूतार्थमित्यर्थः । तत्रैकं शास्त्रमल्पाक्षरं भवति महार्थं च प्रथमो भङ्गः १ । तथान्यत् किंभूतं भवति ?–'महक्खरऽप्पत्थं'[3] महाक्षरं, प्रभूताक्षरमिति हृदयं, अल्पार्थं स्वल्पार्थमिति हृदयं, द्वितीयो भङ्गः२ । तथाऽन्यत् किंभूतं भवति ?–'दोसुऽवि महत्थं, द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः, अन्यस्याश्रुतत्वादक्षरार्थोभयं[4] परिगृह्यते, एतदुक्तं भवति-प्रभूताक्षरं–प्रभूतार्थं च तृतीयो भङ्गः३ । तथाऽ-

१ प्रवृत्ते. आ पु. । २ 'महत्थं' इति आ., 'महत्थं' त्ति पा २ । ३ 'महक्खरमप्पत्थ' आ. । ४ श्रुत° आ ।

न्यन् किंभूतं भवति ? इत्याह–'दोसु वि अप्प च तहा' द्वयोरप्यल्पमक्षरार्थयोः, एतदुक्तं भवति–अल्पाक्षरं अल्पार्थं चेति ४। 'तधे' त्ति तेनागमोक्तप्रकारेण 'भणितं' उक्तं श्रावं 'चतुर्विकल्पं' चतुर्विधमित्यर्थः ॥ अधुना चतुर्णामपि भङ्गकानामुदाहरणप्रदर्शनार्थमिदं गाथाद्वयमाह–

सामायारी ओहे नायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य। लोइयकप्पासाई अणुक्कमा कारगा चउरो ॥१२॥ (भा०)

व्याख्या–ओघसामाचारी प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति, पूर्वापरनिपातादेवमुपन्यासः कृतः १, ज्ञाताध्ययनानि षष्ठाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धे तेषु कथानकान्युच्यन्ते तत प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थता चेति द्वितीयभङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणं, चशब्दादन्यच यदस्यां कोटौ व्यवस्थितं २, दृष्टिवादश्च तृतीयभङ्गक उदाहरणं, यतोऽसौ प्रभूताक्षरः प्रभूतार्थश्च, चशब्दाद्यदेकदेशोऽपि ३, चतुर्थभङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह–'लोइयकप्पासादी' इति लौकिकं चतुर्थभङ्गोदाहरणं, किम्भूतम् ? कार्पासादि, आदिशब्दाच्छिन्नमंत्रादिग्रहः। 'अणुकम'त्ति अनुक्रमादिति अनुक्रमेणैव–परिपाट्यैव, तृतीयार्थे पञ्चमी। 'कारकाणि' कुर्वन्तीति कारकाणि–उदाहरणान्युच्यन्ते चत्वारीति यथासङ्ख्येनैवेति ॥ 'अनुग्रहार्थं प्रविरितानाम्' इति यदुक्तं तद्व्याख्यानायोदाहरणगाथा–

वालाईणणुकंपा सखडिकरणमि होअगारीण। ओमे य पीयभत्त रणणा दिन्न जणवयस्स ॥१३॥ (भा०)

१ 'कप्पासादी'त्ति क १–२। २ 'कप्पासि' भा., 'कप्पासि' क २। ३ परिपाट्या भा।

'एव'मित्युपन्यासाद्यथेति गम्यते, ततोऽयमर्थो भवति—यथा ह्यगारिणामनुकम्पा भवति बालादीनामुपरि संखडिकरणे, एवं स्थविरैः साधूनामनुकम्पार्थमुपदिष्टौघनिर्युक्तिरिति संबन्धः। अधुनाऽक्षरगमनिका—बालाः शिशवोऽभिधीयन्ते, ते आदि-र्येषां ते बालादयः, आदिशब्दात्कर्मकरादिपरिग्रहः, तेषां बालादीनामुपर्यनुकम्पा कृपेत्यर्थः। 'संखडिकरणे' संखड्यन्ते प्राणिनो यस्यां सा संखडिः, अनेकसत्त्वव्यापत्तिहेतुरित्यर्थः, कृतिः करणं, संखड्याः करणं संखडिकरणं तस्मिन् संखडिकरणे यथाऽनुकम्पा भवति, केषाम्? इत्याह—'अगारिणां' अगारं विद्यते येषां ते अगारिणस्तेषामगारिणां, तथाहि—यद्भोजनं प्रहरत्रयोद्देशे भवति तस्मिन् यदि बालादीनां प्रथमालिका न दीयते ततोऽतिबुभुक्षाक्रान्तानां केषाञ्चिन्मूर्छागमनं भवति केचित्पुनः कर्मादि कर्त्तुं न शक्नुवन्ति ततोऽनुकम्पार्थं प्रथमालिकामसौ[2] गृहपतिः प्रयच्छति, अस्यैव दर्शनार्थं दृष्टान्ता-न्तरमाह—'ओम' इत्यादि, अवमं दुर्भिक्षं तस्मिन्नवमे बीजानि—शाल्यादीनि भक्तम्—अन्नं बीजानि च भक्तं च बीजभक्तमेक-वद्भावः 'राज्ञा' नरपतिना दत्तं[3] कस्य? तदाह—जनपदस्य॥

कस्यचिद्राज्ञो विषये दुर्भिक्षं प्रभूतवार्षिकं संजातं, ततस्तेन दुर्भिक्षेण सर्वमेव धान्यं क्षयं नीतं, लोकश्च विषण्णः, तस्मि-न्नवसरे राज्ञा चिन्तितम् सर्वमेव राज्यं मम जनपदायत्तं, यदि जनपदो भवति ततः कोष्ठागारादीनां प्रभवः, जनपदाभावे तु सर्वाभावः, ततस्तत्संरक्षणार्थं बीजनिमित्तं भक्तनिमित्तं च कोष्ठागारादिधान्यं ददामीति, एवमनुचिन्त्य दापितं तस्य जन-पदस्य, लोकश्च स्वस्थः संजातः, पुनर्द्विगुणं त्रिगुणं च प्रेषितं राज्ञ इति॥ अयं दृष्टान्तः, अधुना दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमाह—

१ °र्येषाम्, आदि° आ. पा १-२। २ °कायसौ आ. ल १ पा १ पु। ३ दत्त स्वीकृतं कस्य? ल.१-२।

एव थेरेहिं इमा अपावमाणाण पयविभाग तु । साहूणणुकंपट्ठा उवइट्ठा ओहनिज्जुत्ती ॥ १४ ॥ (भा०)

'एव' मित्युपनयग्रन्थः, यथा गृहपतिना शालादीनामनुकम्पार्थं भक्तं दत्तं, राज्ञा च मौलभक्तमनुग्रहार्थमेव दत्तं, एवं स्थविरैरोघनिर्युक्तिः साधूनामनुग्रहार्थं निर्यूढेति, स्थविराः-भद्रबाहुस्वामिनस्तैः, 'आत्मनि गुरुषु च बहुवचन' मिति बहुवचनेन निर्देशः कृतः । 'इमे' ति इयं वक्ष्यमाणलक्षणा प्रतिलेखनादिरूपा । किमर्थं निर्यूढा ?, तदाह-'अपावमाणाण' इत्यादि, 'अप्राप्नुवतां' अनासादयतां, किमप्राप्नुवतामित्याह-'पदविभागं' वर्तमानकालापेक्षया कल्परूपं चिरन्तनकालापेक्षया तु दृष्टिवादस्थस्थितां पदविभागसामाचारीमित्यर्थः । तुच्छत्वाद्वा पदविभागसामाचारीं चाप्राप्नुवतां, केषामनुग्रहार्थं निर्यूढा ?, तदाह-'साधूनां' ज्ञानादिरूपाभिः पौरुषेयीभिः क्रियाभिर्मोक्षं साधयन्तीति साधवस्तेषां साधूनां, किम् ?-'अनुकम्पार्थं' अनुकम्पा कृपा दया इत्येकोऽर्थः, तया अर्थो-प्रयोजनम् । 'उपदिष्टा' कथिता 'ओघनिर्युक्तिः' सामान्यार्थप्रतिपादिकेत्यर्थः ॥ आह-अथ केयमोघनिर्युक्तिः या स्थविरैः प्रतिपादिता ?, तत्प्रतिपादनायाह-दारगाहा—

पडिलेहण १ च पिंड २ उवहिपमाणं ३ अणाययणवज्जं ४ ।
पडिसेवण ५ मालोअण ६ जह य विसोही ७ सुविहिआण ॥ २ ॥

एवं संबन्धे कृते सत्याह परः-ननु पूर्वमभिहितम्, अर्हतो वन्दित्वौघनिर्युक्तिं वक्ष्ये, तत्किमर्थं वन्दनादिक्रियामकृत्वे-

१ 'इमं'ति पा.१ इमा' इति वा ।

वौघनिर्युक्तिं प्रतीपादयतीति, अत्रोच्यते, अविज्ञायैव परमार्थं भवतैतन्नोद्यते, इह हि वन्दनादिक्रिया प्रतिपादितैवासाधारणनामोद्घट्टनादेव, तथाहि–अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तदनेनैव स्तवोऽभिहितः । एवं चतुर्दशपूर्वधरादिष्वपि योजनीयं, अलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः–'पडिलेहणं' इति, 'लिख–अक्षरविन्यासे' प्रतिलेखनं प्रतिलेखना तां वक्ष्ये इति, एतदुक्तं भवति–आगमानुसारेण या निरूपणा क्षेत्रादेः सा प्रतिलेखनेति । चशब्दात्प्रतिलेखकं प्रतिलेखनीयं च वक्ष्ये । अथवाऽनेकाकारां प्रतिलेखनां वक्ष्ये, उपाधिभेदात् । 'पिंडं' ति पिण्डनं पिण्डः–सङ्घातरूपस्तं पिण्डं, वक्ष्य इति प्रत्येकं मीलनीयं, भिक्षाशोधिमित्यर्थः । 'उपाधिप्रमाणं' इति उपदधातीत्युपधिः, उप–सामीप्येन संयमं धारयति पोषयति चेत्यर्थः । स च पात्रादिरूपस्तस्य प्रमाणं द्विधा तच्च गणनाप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च । 'अणाययणवज्जं' इति नायतनमनायतनं तद्वर्ज्यं त्याज्यमित्येतच्च वक्ष्ये । अथवा अनायतनवर्ज्यमायतनं[2], तदायतनं वक्ष्ये । तच्चानायतनं स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तं यद्वर्त्तते, तद्विपरीतमायतनम् । 'पडिसेवणं'[3] इति प्रतीपा सेवना प्रतिसेवना, एतदुक्तं भवति–संयमानुष्ठानात्प्रतीपमसंयमानुष्ठानं तदासेवना ताम् । 'आलोयण'[4]त्ति आलोचनमालोचना अपराधमर्यादया लोचनं–दर्शनमाचार्यादेरालोचनेत्यभिधीयते, किमालोचनामेव ?, नेत्याह–'जह य' इत्यादि, 'यथा' येन प्रकारेण 'विशोधिः' विशेषेण शोधिर्विशोधिः, एतदुक्तं भवति–शिष्येणालोचितेऽपराधे सति तद्योग्यं यत्प्रायश्चित्तप्रदानं सा विशोधिरभिधीयते, तां विशोधिम् । केषां संबन्धिनीं विशोधिं ?,

---

१ इत्यनेनैव पा २ । २ °वर्जमा° ल.१-२ पा.१ पु. । ३ 'पडिसेवण' त्ति ल.१-२ पा.१-२ पु । ४ 'आलोयण' इति आ. ल.१ ।

३

तदाह–'सुविहितानां' शोभनं विहितम्–अनुष्ठानं येषां ते सुविहितास्तेषां संबन्धिनी यथा विशोधिस्तथा वक्ष्ये। पश्चार्द्धं समुच्चये, किं समुच्चिनोति?–कारणप्रतिसेवने अकारणप्रतिसेवने च यथा विशोधिस्तथा वक्ष्य इति। अथाह–अथैषां द्वाराणामित्थं क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनमिति, अत्रोच्यते, यत्प्रतिलेखनाद्वारस्य पूर्वमुपन्यासः कृतस्तत्रैतत्प्रयोजन–सर्वैव क्रिया प्रतिलेखनापूर्विका कर्त्तव्येत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थं पूर्वं प्रतिलेखनाद्वारमुपन्यस्तम्। प्रतिलेखनोत्तरकालं पिण्डग्रहणं भवति अतः पिण्डस्योपन्यासः, अशेषदोषविशुद्धः पिण्डो ग्राह्य इति। तदनन्तरमुपधिद्वारस्योपन्यासः क्रियते, किमर्थमिति चेत्, स हि पिण्डो न पात्रपात्रबन्धादिकमन्तरेण ग्रहीतुं शक्यते अत उपधिप्रमाणं तदनन्तरमभिधीयते। स च गृहीतः पिण्ड उपधिश्च न वसतिमन्तरेणोपयोक्तुं शक्यते, अतः 'अनायतनवर्ज्ये' इत्यस्य द्वारस्योपन्यासः क्रियते। प्रतिलेखनां कुर्वत पिण्डग्रहणमुपधिप्रमाणं अनायतनवर्जनं चेच्छतः कदाचित्कथंचित्कश्चिदतिचारो भवतीत्यतोऽतिचारद्वारं क्रियते। स चातिचारोऽवश्यमालोचनीयो भवत्यस्तदनन्तरं आलोचनाद्वारमभिधीयते। आलोचनोत्तरकालं प्रायश्चित्तं यथायोग्यं यतो दीयतेऽतो विशोधिद्वारस्योपन्यासः क्रियत इत्यलमतिविस्तरेण॥ अधुनैकैकं द्वारं व्याख्यते, तत्र पर्यायतः प्रतिलेखनाद्वारव्याख्यानायाह–

आभोगमग्गण गवेसणा य ईहा अपोह पडिलेहा। पेक्खणनिरिक्खणाविअ आलोयणपलोयणेगट्ठा॥४॥

व्याख्या—आभोगनमाभोगः, 'भुज–पालनाभ्यवहारयोः' मर्यादयाऽभिविधिना वा भोगन–पालनमाभोगः प्रतिलेखना भवति। मार्गणं मार्गणा 'मृग–अन्वेषणे' अस्योपसन्धाऽपीतधा यदन्वेषणं सा मार्गणेत्युच्यते। गवेषणं गवेषणा 'गवेष–

1 सुविहितानां अथा प १। २ सर्वे आ पा १–२ पु.। ३ विहादि आ पा १। ४ छत प १–२. पु.।

मार्गणे' अशेषदोषरहितवस्तुमार्गणं गवेषणेत्युच्यते। ईहनमीहा 'ईह-चेष्टायां' शुद्धवस्त्वन्वेषणरूपा चेष्टेहेत्युच्यते, सा च प्रतिलेखना भवति। अपोहनमपोहः-पृथग्भाव उच्यते, तथा च चक्षुषा निरूप्य यदि तत्र सत्त्वसम्भवो भवति तत उद्धारं करोति सत्त्वानां अन्यालाभे सति, स चापोहः प्रतिलेखना भवति, प्रतिलेखनं प्रतिलेखना, प्रति प्रत्यागमानुसारेण निरूपणमित्यर्थः, सा च प्रतिलेखना। प्रेक्षणं प्रेक्षणा, प्रकर्षेणेक्षणं दर्शनं प्रेक्षणेत्युच्यते, सा च प्रतिलेखना। निरीक्षणं निरीक्षणा, 'निः-आधिक्ये 'ईक्ष-दर्शने' अधिकं दर्शनं निरीक्षणेत्युच्यते, अपिशब्दादन्योपसर्गयोगे चैकार्थिकसंभवो यथा-उपेक्षणेति, चशब्दादाभोगादीनां च शब्दानां ये पर्यायशब्दास्तेऽपि प्रतिलेखनाद्वारस्य पर्यायशब्दाः। आलोकनमालोकः, मर्यादयाऽभिविधिना वा लोकनमित्यर्थः। प्रलोकनं प्रलोकना, प्रकर्षेणालोकनमित्यर्थः। 'एगट्ठा' इति एकार्थिकान्यमूनि अनन्तरोद्दिष्टानि भवन्ति। पुँल्लिङ्गता च प्राकृतलक्षणवशाद्भवत्येव, यथा-जसो तवो सल्लो, नपुंसकलिङ्गा अपि शब्दाः पुँल्लिङ्गाः प्रयुज्यन्ते एवमत्रापीति, एवं व्याख्याते सत्याह परः-प्रतिलेखनं नपुंसकं, अत्र तु कानिचिन्नपुंसकानि कानिचित्स्त्रीलिङ्गानि कानिचित्पुँल्लिङ्गानि। तत्र नपुंसकस्य नपुंसकान्येव वाच्यानि तत्कथमिति, अत्रोच्यते, एकं तावत्प्राकृतशैलीमङ्गीकृत्य नपुंसकस्यापि स्त्रीलिङ्गपुँल्लिङ्गैः पर्यायाभिधानमदुष्टं, तथाऽन्यत्प्रयोजनं, संस्कृतेऽप्येकस्यैव शब्दस्य त्रयमपि भवति, यथा तटस्तटी तटमिति, तदत्र भिन्नलिङ्गाः शब्दाः केन कारणेन पर्यायशब्दा न भवन्तीति॥ आह-प्रतिलेखनाग्रहणेन किं सैव केवला गृह्यते? किमन्यदपि?, अन्यदपि, किं तत्?, 'पडिलेहओ य' इत्यादि। अथवा का पुनरत्र प्ररूपणा? इति तदर्थं ब्रवीति—

१ 'एगट्ठ' त्ति पा.१-२ ल.२, 'एगट्ठे' त्ति ल.१। २ पुँल्लिङ्गे ल १-२ पु। ३ तत्कथमेतदिति ल.२। ४ अथ का ल.२.।

पडिलेहओ य पडिलेहणा य पडिलेहियव्वय चेव । कुंभाईसु अह तिय परूवणा एवमिहय पि ॥५॥

प्रतिलिखतीति प्रतिलेखक:–प्रवचनानुसारेण स्थानादिनिरीक्षक: साधुरित्यर्थ: । चशब्द: सकारणादिस्वगतभेदानां समुच्चायक: । प्रतिलेखनं प्रतिलेखना "दुविहा खलु पडिलेहा" (नि २५७) इत्यादिना ग्रन्थेन वक्ष्यमाणलक्षणा, चशब्दो भेदसूचक: । प्रतिलेख्यते इति प्रतिलेखितव्यं "ठाणे उवकरणे" (नि २६४) इत्यादिना वक्ष्यमाणं, चशब्द: पूर्ववत्, एवकारोऽवधारणे, नातस्त्रिकादतिरिक्तमस्ति । आह–कथ पुन: प्रतिलेखकप्रतिलेखितव्ययोरनुक्तयोर्ग्रहणमिति ?, दण्डमध्यग्रहणन्यायात्, अथवा ग्रन्थेनैवोच्यते–'कुंभादीसु' कुम्भो घट:, आदिशब्दात्कटपटशकटादिग्रह: 'यथा' येन प्रकारेण 'त्रिकं' त्रितयं, त्रीणीत्यर्थ:, प्ररूपणा निरूपणा:, 'एव' त्ति तथा तेन प्रकारेण, 'इहं' ति प्रतिलेखनायां, अपिशब्द: साधर्म्यदृष्टान्तप्रतिपादनार्थ:, यथा कर्त्ता कुलाल: करणं मृत्पिण्डदण्डादि कार्यं घट:, परस्परापेक्षतया नैकमेकेनापि विनेति, तथा प्रतिलेखना क्रिया, सा च कर्त्तारं प्रतिलेखकमपेक्षते, प्रतिलेखितव्याभावे चोभयोरभावस्तस्मात्त्रीण्येतानि–प्रतिलेखक: प्रतिलेखना प्रतिलेखितव्यं चेति ॥ इह च 'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायमङ्गीकृत्य प्रतिलेखक आद्य: कर्तृत्वात्प्रधानश्चेत्यतस्तत्स्वरूपनिरूपणार्थमाह–पडिदारगाहा

एगो व अणेगो वा, दुविहा पडिलेहगा समासेण । ते दुविहा नायव्वा निक्कारणिआ य कारणिआ ॥६॥

द्युमना, नवरं 'निक्कारणिआ य'त्ति चशब्दाद्दण्डकादिविशेषणे चात्र ग्रहणे ॥ सकारणाकारणनिरूपणार्थमाह—

१ मिहर पि क १ पा.२ पु. । २ प्रकल्पानि प्ररूपणा आ । ३ एपच्छीसिद्यनि आ क २. पा.१–२ ।

असिवाई कारणिआ निक्कारणिआ य चक्कथूभाई। तत्थेगं कारणिअं वोच्छं ठप्पा उ तिन्नियरे ॥७॥

सुगमा, नवरं–'तत्थेगं'इति 'तत्र' तेष्वेकानेकसकारणनिष्कारणगच्छत्तिष्ठत्प्रतिलेखकेषु य एकः सकारणो गच्छन् तं वक्ष्ये। तावत्तिष्ठन्तु त्रयः–सकारणानेकनिष्कारणैकानेकभेदाः, तुशब्दात्स्थानस्थितश्च, 'इतरे' अन्य इत्यर्थः॥ कियन्ति पुनस्तान्यशिवादीनि? येष्वसावेकाकी भवतीत्याह–

असिवे ओमोयरिए रायभए खुहिअ उत्तमट्ठे अ। फिडिआगि[2]लाणे अइसेस देवया चेव आयरिए ॥८॥

न शिवमशिवं–देवतादिजनितो ज्वराद्युपद्रवः, अवमोदरिकं–दुर्भिक्षं, राज्ञो भयं राजभयं, क्षुभितं क्षोभः, संत्रास इत्यर्थः, उत्तमार्थः–अनशनं, 'फिडित' इति भ्रष्टो मार्गात्, 'ग्लानो' मन्दः, अ[3]तिशयः–अतिशययुक्तः देवताऽऽचार्यौ प्रतीतौ, अयं तावदक्षरार्थः। भा[4]वार्थं तु भाष्यकार एकैकं द्वारमङ्गीकृत्य प्र[5]तिपादयन्नाह–'यथोद्देशं निर्देश' इति न्यायादत्राद्यद्वारमाश्रित्य यो विधिरसावभिधीयते–इहाशिवमेकाकित्वस्य हेतुत्वे वर्त्तते, तस्मात्तथा कर्त्तव्यं यथा तन्न भवत्येव॥ केन पुनः प्रकारेण तन्न भवतीति चे[6]त्तदुच्यते–दारगाहा

संवच्छरबारसएण होही असिवंति ते (तइ)तओ णिंति। सुत्तत्थं कुव्वंता अइसयमाईहिं नाऊणं॥१५॥भा.

---

१ 'तत्थेग'ति ल १–२। २ °गिलाणाइसये आ पा १। ३ अतिशेष ल १–२ पु। ४ भावार्थस्य आ ल.१, भावार्थस्तु ल २। ५ पतिपादकः आ. ल.१, प्रतिपाद्यते पा २ पु। ६ चेत्स उच्यते आ. पा.१ पु.।

व्याख्या—उपसर्गो द्वादशक संवत्सरप्रमाणक, द्वौ च दश च द्वादश, तेन भविष्यदशिवमिति ज्ञात्वा 'त' इति (तइत्ति) तदैव हि 'तत' इति तस्मात् क्षेत्रात् 'पिति' निर्गच्छन्ति । सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च 'कुर्वन्तः' निष्पादयन्तोऽन्यदेशम भविष्यदशिव विषयस्थाः सङ्क्रामन्ति । कथं पुनर्ज्ञायते ?—अतिशय आदिर्येषां तेऽतिशयादयो ज्ञानहेतवस्तैः । अतिशयादि प्रतिपादनायाह—

अइसेस देवया वा निमित्तगहण सय व सीसो वा। परिहाणि जाव पत्त निग्गमणि गिलाणपडिवधो॥१६ भा

अतिशयः-अवध्यादिस्तदभावे सपकादिगुणाकृष्टा देवता कथयति, Aअहवा आयरिएण सुयत्थेसु निम्माएण सयमेव निमित्त घेत्तव्वं, अहवा सीसो गहणधारणासंपन्नो निविकारी जो सो गेण्हाविज्जइ । जया आयरिओ वुड्ढो भवइ तया अविगारिस्स सीसस्स दइ, जाहे सो न होज्जा ताहे अण्णो कोइ पुच्छिज्जइ ताहे बारसहिं निग्गतव्व । अह बारसहिं य जायं ताहे एक्कारसहिं जाव जाहे एक्केण वि न जाय होज्जा ताहिं छहिं मासेहिं सुय ताहे निग्गच्छन्तु, अहवा न चेव जाय असिव जाय ताहे निग्गच्छन्तु । भद्रबाहुव्याख्या—अतिशयनमतिशयः-प्रत्यक्ष ज्ञानमवधिमनःपर्यायकेवलाख्य, तेन ज्ञात्वा,

A अथवा आचार्येण सूत्रार्थयोर्निर्मापितेन (कुशलेन) स्वयमेव निमित्त ग्रहीतव्य, अथवा शिष्यो ग्रहणधारणासंपन्नो निर्विकारी यः स ग्राह्यते, यदा आचार्यो वृद्धो भवति तदाऽविकारिणे शिष्याय ददाति, यदा स न भवेत् तदा अन्यः कश्चित्पृच्छ्यते, तदा द्वादश-भ्योऽर्वाग् निर्गन्तव्य, अथ द्वादशभ्यो न जात तदैकादशभ्यो यावदेकस्मादपि न जात अथवा षड्भ्यो मासेभ्यः श्रुतं तदा निर्गच्छ-न्तु, अथवा नैव जातमशिव जात(तर्हि) तदैव निर्गच्छन्तु ।

देवता वा कथयति, भविष्यत्यशिवमिति, निमित्तम्–अनागतार्थपरिज्ञानहेतुर्ग्रन्थस्तस्य ग्रहणं स्वयमेव करोत्याचार्यः शिष्यो वा योग्यो ग्राह्यते निमित्तं, 'परिहाणि जाव पत्तं'ति द्वादशकेन यदा न ज्ञातं तदा एकादशकेनेत्येकैकहान्या परिहाणिंरिति तावत्स्थिताः कथञ्चिद्यावत्प्राप्तम्–आगतमशिवं, तत्र किमिति ?, निर्गमनं निर्गमः कार्यः सर्वैरेवेति । कथं तर्ह्यशिवमाश्रित्यैकाकित्वमिति चेत्तदाह–'गिलाणपडिबंधो' ग्लानो–मन्दस्तयैवाशिवकारिण्या देवतया कृतः पूर्वभूतो वा, तेन प्रतिबन्धः–न निर्गमः सर्वेषां ।/तस्याश्चाशिवकारिण्याः स्वरूपप्रतिपादनायाह—

संजयगिहितदुभय भद्दिआ य तह तदुभयस्स वि अ पंता। चउवज्जण वीसु उवस्सए य तिपरंपराभत्तं॥१७॥
असिवे सदसं वत्थं लोहं लोणं च तहय विगईओ। एयाइं वज्जिज्जा चउवज्जणयंति जं भणिअं ॥१८॥

व्याख्या—संयताः–साधवस्तेषां भद्रिका न गृहिणामिति प्रथमो भङ्गः, गृहिणां भद्रिका न संयतानामिति द्वितीयः, तथोभयभद्रिकेति तृतीयः, उभयप्रान्ता[2] अभद्रिका अशोभनेति चतुर्थः । [A]सा पुण चउप्पयारा संजयभद्दिगा गिहत्थपंता १ गिहत्थभद्दिगा संजयपंता २ उभयपंता ३ उभयभद्दिआ ४ । कहं पुण संजयभद्दिगा होज्जा ?, गिहत्थे उद्दवेइ, संजए भणति–निरुवसग्गा अच्छह, ताहेवि गंतव्वं को[3] जाणति पमत्ता पलोएज्जा वा गिण्हिज्जा वा । गिहिभद्दिगा संजयपंता

१ °णिरिति यावत्प्राप्तमिति तावत् आ पा २ । २ °प्रान्तेति चतुर्थ° भा । ३ कोहा जा° आ. ।

A. सा पुनश्चतुष्प्रकारा–संयतभद्रिका गृहस्थप्रान्ता १ गृहस्थभद्रिका संयतप्रान्ता २ उभयप्रान्ता ३ उभयभद्रिका ४ । कथं

संजए चेव पढम गेण्हति जहा एते महातवस्सी एते चेव पढम पेल्लेयव्वा, एतेसु णिग्गिएसु अवसेसा णिग्गिया चेव भवंति, एत्थं जा होउ सा होउ निग्गतं। जाहे न निग्गया केणइ वाघाएण, को वाघाओ ?, पुण गिलाणो वा होज्जा, ताए वा उदाहभाए कोइ संजओ गहितो होज्जा, पत्ता वा न महति, ताहे तस्स वयणाए अच्छियव्व, का जयणा ? इमाणि चत्तारि परिहरिअव्वाणि-विगई दससिहा वि ठोण ठोई च सवसं वत्थ च, जाणि अ कुलाणि असिवेण गहिआणि तेसु आहाराईणि न गेण्हति, जाहे सव्वाणि वि गहियाणि होज्जा ताहे दिट्ठिं दिट्ठीए न पाडिंति, ओमंथिया गेण्हति, दिट्ठिं च न संकमइ।[1] 'चउवज्जणयति' चतुर्णां वर्जना-परिहारचतुर्वर्जना विकृत्यादीनां, चतुर्णां वा वर्जना क्षेत्रस्य-संयतभद्रिका गृहिप्रान्ता इत्यादिषु

---

१ नि० भा उ १-२ पा.१-२। २ निशीथ चूर्णि भा निशीथ चू० ,उ २ पा १-२।

पुन संयतभद्रिका भवेत् ? गृहस्थानुपालयति, संयतान् भणति निरुपसर्गोऽस्तिवत्, तथापि गन्धर्व को जानाति प्रमत्तान् मा छलयेत् गृहीयाक। गृहिभद्रिका संयतप्रान्ता संयतानेव प्रथमं गृह्णाति यथैते महातपस्विनः एत एव प्रथम प्रेरणीयाः, एतेषु निर्गतेषु अवशेषा निर्गता एव भवन्ति, अत्र या भवतु सा भवतु निर्गन्तव्यं, यदा न निर्गताः केनचिद्व्याघातेन, को व्याघात ? पूर्वं ग्लानो वा भवेत्, तया चोपद्रोतया कश्चित्संयतो गृहीतो भवेत्, पन्थानो वा न वहन्ति, तदा तत्र यतनया स्थातव्यं, का यतना ?, इमानि चत्वारि परिहर्तव्यानि-विकृतिर्दससिकाऽपि सवर्णं ठोई च सवसं वस्त्रं च, यानि च कुलानि अशिवेन गृहीतानि तेभ्यो दायादीनि न गृह्णन्ति, यदा सर्वाण्यपि गृहीतानि भवन्ति तदा दृष्टिं दृष्टौ न पातयन्ति, अधोमुखा गृह्णन्ति दृष्टिम न संक्रामयेत।

भङ्गकेषु 'वीसु उवस्सए य'त्ति ग्लानविधिः, विष्वग्–भेदेनोपाश्रयः–आश्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः। [A]जो संजतो असिवेण गहिओ होज्जा, तस्स दूरट्ठियस्स भत्तं तिपरंपरेण दिज्जइ। 'तिपरंपराभत्त'ति, त्रयाणां परम्परा त्रिपरम्परा, भक्तं आहारः, तद् एको गृह्णाति द्वितीयश्चानयति तृतीयोऽवज्ञया ददातीत्यर्थः। अवधूतम्–अवज्ञातं, [B]जहा अवधूता नासति। ग्लानोद्वर्त्तनादिविधिप्रदर्शनायाह—

उव्वत्तणनिल्लेवण बीहंते अणभिओगऽभीरू य। अगहिअकुलेसु भत्तं गहिए दिट्ठिं परिहरिज्जा ॥१९॥भा.

ऊर्ध्वं वर्त्तनं–उद्वर्त्तनं यदसावुद्वर्त्यते, निर्लेपनं यदसौ निर्लेपः क्रियते उपलक्षणं चैतत्, तस्य संकाशे न स्थातव्यं दिवा रात्रौ वा। अथ कीदृशेन साधुना कर्त्तव्यमित्याह–'बीहंते अणभिओग'त्ति बिभ्यत्यनभियोगः, बिभ्यतीति भयं गच्छति, भीरावित्यर्थः, नाभियोगोऽनभियोगः यो भीरुः स तत्र न नियोक्तव्यः। कस्तर्हि करोति ? इत्याह–'अभीरू य' अभीरुश्च न भीरुरभीरुः, स तत्र स्वयं करोति नियुज्यते वा, चशब्दो वस्त्रान्तरितादिप्रयत्नप्रदर्शनार्थः। अगृहीतेषु कुलेषु अशिवेन भक्तं ग्राह्यं, तदभावे दृष्टि–दृष्टिसंपातपरिहारः। आह–चतुर्वर्जनेत्युक्तं तत्र भङ्गका अपि गृह्यन्त इति। [C]जोऽवि तं उवत्तेइ वा परियत्तेइ वा सो हत्थस्स अंतरे वत्थं दाऊण ताहे उवत्तेति वा परियत्तेइ वा। उवत्तेऊण हत्थे मट्टियाए धोवइ। जो न

१ यदाऽसावु° पा.१। २ यदाऽसौ पा १। ३ सकाशे स्था° ल १–२।

A. यः संयतोऽशिवेन गृहीतो भवेत् तस्मै दूरस्थिताय त्रिपरम्परेण भक्तं दीयते। B. यथाऽवज्ञाता नश्यति। C. योऽपि तमुद्वर्त्तयति वा परिवर्त्तयति वा स हस्तस्यान्तरे वस्त्रं दत्त्वा तमुद्वर्त्तयति वा परिवर्त्तयति वा। उद्वर्त्त्य हस्तौ मृत्तिकया प्रक्षालयति।

भीइिआ सो तत्थापरिएण भणियव्वो जहा अज्जो तुम वसाहि त्ति । जो धम्मसद्धिओ साहू सो अप्पणा चेव भणइ–अह वसामि ।

प्रतिष घस्याने सति कर्त्तव्यान्तरप्रदर्शनायाह—

पुव्वाभिग्गहवुड्ढी विवेग समोश्पएसु निक्खिवण । तेऽविअ पडियचठिमा इयरेसु बला सगारदुग ॥२०॥भा.

पूर्वमिति–क्षिपकाले येऽभिग्रहाः–तपःप्रसूतयस्तेषां वृद्धिः कार्या । चतुर्थाभिग्रहः षष्ठं करोति, मृते तस्मिन्को विधि रित्याह–'विवेग' विवेचन विवेकः, 'विचिर्–पृथग्भावे' परित्याग इति यावत्, कस्यासाविति–तदुपकरणस्य, अमृते तस्मिन् गमनावसरे च प्राप्ते किं कर्त्तव्यमित्याह–'समोश्पएसु निक्खिवणं' अपेक्षसमानसामाचारिकेषु विमुच्य गम्यते । ते तत्राविधे कथ स्थिता इत्याह–'तेऽवि अ पडिबंधठिमा' न तेषां गमनावसरः कृतभिक्षाप्रतिबन्धात्, तदभावे किं कर्त्तव्यमित्याह 'इतरेसु'त्ति अथान्योभिकेष्वित्यर्थः तदभावे देवकुलिकेषु, अनिच्छत्सु बलात्कारेण । तदभावे क्व ? इत्याह–'सगारदुग' सह अगारेण वर्त्तते इति सागारो गृहस्थो इत्यर्थः, तयोर्द्वय, तावेव द्वावित्यर्थः । कौ पुनस्ताविति ?–श्रत्यव्रती (विनौ) वा सम्यग्दृष्टी, तदभावे अन्यातरः, यथाभद्रकमिथ्यादृष्टिः । ^सो य गिलाणो यदि अत्थि अण्णा वसही तहिं ठविज्जइ, असईए अ ताए चेव वसहीए एगपासे चिलिमिली किज्जइ, दारं दुहा किज्जइ, जेण गिलाणो निक्खमति वा पविसति वा तेण अण्णे साहुणो ण निगच्छति,

१ संमोइयण पा१ । २ कुव इत्याह वा ।

भो न भिज्जति स तत्राचार्येण भणितव्यः, यथाऽऽर्य ! त्वं वसेति । यो धर्मश्रद्धिकः साधुः स आत्मनैव भणति–अह वसामि ।

^. स च ग्लानो यदि अस्त्यन्या वसतिस्तत्र स्थाप्यते, असत्यां च तस्यामेव वसत्यामेकपार्श्वे चिलिमिलिः क्रियते, द्वारं द्विधा येन ग्लानो

पडिआरगवज्जं, ताव अ तहिं अच्छंति जाव सत्थो न लब्भइ ताव जोगवुड्ढि करेंति, जो नमोकारं करेंतओ सो पोरिसिं करेति एवं वड्ढंति, जइ पउणो सो साहू जो गहिओ ताहे वच्चंति, अह कालं करेइ ताहे जं तस्स उवगरणं तं सव्वं छड्डिज्जइ, ते छड्डित्ता ताहे वच्चंति, अह सो न चेव मुत्तो ताहे अन्नेसिं संभोइआणं सकज्जपडिबंधट्ठिआणं मूले निक्खिप्पइ। जाहे संभोइआ न होज्जा ताहे अण्णसंभोइयाणं। जाहे तेऽवि न होज्जा ताहे पासत्थोसन्नकुसीलाईणं, तेसिं बलावि ओवेडिज्जइ, तेसिं देवकुलाणि भुज्जंति, सारूविअसिद्धपुत्ताणं, तेसिं असति सावगाणं उवणिक्खिप्पति, पच्छा सेज्जायरेसु अहाभद्दगेसु वा एवं ठविज्जइ, ताहे वच्चंति॥ यदि पुनरसौ मुच्यमान आक्रोशति ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

कूयंते अब्भत्थण समत्थभिक्खुस्स णिच्छ तद्दिवसं। जइ विंद्घाइ भेओ तिदुवेगो जाव लाउवमा॥२१॥

निष्क्रामति वा प्रविशति वा तेनान्ये साधवो न निर्गच्छन्ति, प्रतीचारकवर्जं, तावच्च तत्र तिष्ठन्ति यावत्सार्थो न लभ्यते तावद्योगवृद्धिं कुर्वन्ति, यो नमस्कारस्य कारकः स पौरुषीं करोति, एवं वर्धयन्ति, यदि प्रगुणः स साधुर्यो गृहीतस्तदा व्रजन्ति, अथ कालं करोति तदा यत्तस्योपकरणं तत्सर्वं त्यज्यते, ते तदा त्यक्त्वा व्रजन्ति, अथ स नैव मुक्तः तदाऽन्येषां साम्भोगिकानां स्वकार्यप्रतिबन्धस्थितानां मूले निक्षिप्यते, यदा साम्भोगिका न भवेयुस्तदाऽन्यसाम्भोगिकानां, यदा तेऽपि न भवेयुस्तदा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादीनां, तेषा बलादपि निक्षिप्यते, तेषां देवकुलानि भुज्यन्ते, सारूपिकसिद्धपुत्राणां, तेषामसति श्रावकाणामुपनिक्षिप्यते, पश्चात् शय्यातरेषु यथाभद्रकेषु वैवं स्थाप्यते, तदा व्रजन्ति।

'कुम-अम्मक्के धम्मे' कुंचति-अम्भकधम्म कुर्वाणे किं कार्यमित्याह अब्भत्थण समत्थमिक्खुस्स' समर्थ -शक्तोऽभ्य र्थ्यते, त्वं तिष्ठ यावदहं निर्गच्छाम इति । निर्गतेषु पक्कम्मम्-गच्छतु भवान् अहमपि गच्छामि, यदीच्छति क्षिप्र निर्गमः । अथासौ धर्मनिरपेक्षतया नेच्छति ततः किमित्याह-'अनिच्छ तद्दिवसं' अनिच्छति तस्मिंस्तस्य साधोर्गमन तद्दिवस स्थित्वा छिद्रं लब्ध्वा नष्टव्य, तेषु किं संहतैर्गन्तव्यमाहोस्विदन्यथेत्याह-'जइ भिंदयाइ भेओ विदुसेगो जाव' त्ति यद्यसौ वृन्दघातिनी ततो द्विधा भेदः, तथापि न तिष्ठति त्रिधा, अथवा द्वौ द्वौ एकैको यावत्तथा न घातयति । कः पुनरत्र दृष्टान्तः ? इत्याह-'जहा अलाउवमा' अलातम्-उल्मुकं तेनोपमानं-उपमा दृष्टांतः अलातोपमा, यथा हि तानि संहतानि ज्वलन्ति नान्यथा, एवं तेऽपि संहता हन्यन्ते नान्यथति, तदर्थं भेदः एवमशिवादेकाकी भवति । △यदि सो कुव्वति ताहे एक्को भण्णति-जो(जइ) समत्थो तुम ताहे अच्छ छिद्द नाऊण बितियदिवसे एज्जासि । तस्स पुण मज्जाया-ते बिसज्जेयव्वा, मा मम कज्जे मरंतु । जाहे सोऽवि मिलियो ताहे सव्वे एगतो वच्चति, जाहे तेसिं एगतो वच्चमाण कोइ विघाओ होज्जा । एस विंदयाई जत्थ बहुगा तत्थ पडति, दिट्ठंतो कट्ठसघाओ पलित्तो, सो दुहा कओ पच्छा एक्केक दारुग कयं न जलति । एवं तेऽपि जइ गहिआ ताहे दुहा

¹ हवति ला. पु । ² ताहे छिद् ला. क २ । ³ वाहणे प ला ।

△ यदि स कुरुते तदा एको भण्यते-यदि समर्थस्त्वं तदा छिद्रं ज्ञात्वा द्वितीयदिवसे आयायाः । तस्य पुनर्मर्यादा-ते विसर्जयितव्याः, मा मम कार्येण मार्षुः । यदा सोऽपि मिलितस्तदा सर्वे एकतो प्रव्रजन्ति, यदा तेषामेकतो व्रजतां कश्चिद्व्याघातो भवेत्, एष वृन्दघाती यत्र बहवस्तत्र पतति, दृष्टान्तः काष्ठसंघातः प्रदीप्तः, स द्विधाकृतः पश्चादेकैकं दारुकं कृतं न ज्वलति । एवं तेऽपि यदि

कज्जंति, एवं तिहा जाव तिण्णि तिण्णि जणा, एगो पडिस्सयवालो संघाडओ हिंडइ। अह तहवि न मुयति ताहे दो दो होंति। अह दोवि जणा न मुयइ ताहे एगागी भवंति। तेसिं उवगरणं न उवहम्मति। एवं ताव एकल्लओ दिट्ठो असिवेण॥ केन पुनरुपायेन ते एकत्वविशेषणजुष्टा नष्टाः सन्त एकत्र प्रदेशे संह्रियन्ते ? इत्याह—

संगारो रायणिए आलोयणपुव्वपत्तपच्छा वा। सोममुहिकालरत्तच्छऽणंतरे एक्क दो तिसए॥२२॥ (भा०)

संगारः—संकेतः पृथग्भावकाले कर्त्तव्यः, यथाऽमुकत्रप्रदेशे सर्वैः संहर्त्तव्यमित्युपायः। तं च प्रदेशं प्राप्तानां को विधिरित्याह—'रायणिए आलोयणपुव्वपत्तपच्छा वा' रत्नाधिकस्य—गीतार्थस्य पूर्वप्राप्तस्य पश्चात्प्राप्तस्य वा आलोचना देया, तदभावे लघोरपि गीतार्थस्य दातव्या। कियत्पुनः क्षेत्रमतिक्रमणीयमित्याह—'सोममुही'त्यादि, अशिवकारिण्या विशेषणानि, सौम्यं मुखं यस्याः सा तथा, कथमुपद्रवकारिण्याः सौम्यमुखीत्वम् ?, अनन्तरविषयं प्रत्युपद्रवाकरणात्। कृष्णमुखी द्वितीयविषयेऽपि न मुञ्चति। रक्ताक्षी तृतीयेऽपि न मुञ्चति, यथासङ्घमनन्तर एव स्थीयते सौम्यमुख्याम्। 'एक' इति एकमन्तरे[2] कृत्वा तृतीये स्थीयते कृष्णमुख्याम्। 'दो' इति द्वावन्तरे कृत्वा चतुर्थे स्थीयते रक्ताक्ष्यां। ^तेसिं सिंगारो दिण्णेल्लवो भवति

१ सहन्तव्य° आ.। २ °मन्तरेण कृत्वा क १–२

गृहीतास्तदा द्विधा क्रियन्ते। एवं त्रिधा, यावत्त्रयस्त्रयो जनाः, एकः प्रतिश्रयपालः सघाटको हिण्डते, अथ तथाऽपि न मुञ्चति तदा द्वौ द्वावपि भवतः। अथ द्वावपि जनौ न मुञ्चति तदैकाकिनो भवन्ति, तेषामुपकरणं नोपहन्यते, एवं तावदेकाकी दृष्टोऽशिवेन।

^ तेभ्यः सकेतो दत्तो भवति यथा अमुकत्र मीलयितव्यं, यदा मीलितो भवति तदा तत्र यो रात्निकः पूर्वप्राप्तो वा पश्चात्प्राप्तो

जहा असुगस्स मेसाइयं, जाहे भिक्खियो भवति ताहे तस्स जो राइणिओ पुव्वण्हो वा पच्छावण्हो वा तस्स आलोयणा दायव्वा। अह मीयस्थो ओमो ताहे तस्स आलोइज्जइ। सा पुण तिविहा उवासगा–सोमसुही कालमुही रत्तच्छी य, जा सा सोममुही तीसे एक्क विसयं गम्मइ। कालमुहीए एगो विसयो अंतरिज्जइ। रत्तच्छीए दो विसए अंतरेऊण चउत्थे विसए ठाति। अवि ये वि दारं समत्तं॥ अवियेत्ति यथैकाकी भवति तथा व्याख्यात, साम्प्रत 'ओमोयरिए' इति यदुक्त तद्व्याख्यानायाह–दारगाहदम्

एमेव य ओमम्मि वि भेओ उ अलभि गोणिदिट्ठतो।

'एवमेवे'ति अनेनैव प्रकारेणावमद्वारमपि व्याख्येय, यथाऽशिवद्वारं व्याख्यात, यो विधिरशिवद्वारे सोऽत्रापीत्यर्थः। चशब्दो बहुसादृश्यप्रतिपादनार्थः। अवमे–दुर्भिक्षे, अपिशब्दः साऽऽशङ्कासम्भावने, तदुक्तं–"संवच्छरबारसएण होहिति ओमति ते तओ निंति" इत्यादि। भेदन–भेदः पृथक्ता, तुशब्द एवकारार्थः, कस्मि पुनरसौ भवतीत्याह–अलाभे भवति, अभक्तलाभस्येत्यर्थः। यदेको लभते तदाऽपि, यो वा लब्धा न किञ्चिद्ददाति, एकैक एव लभते इत्यवमादेरेकाकिता। अत्र दृष्टान्तमाह–'गोणिदिट्ठतो' गोदृष्टान्तः, यथा संहतानां गवां स्वल्पे तृणोदके न तृप्तिः, पृथग्भूतानां स्यात्, तथेहापीति।

१ त भा। २ तस्स ते का। ३ तृतीयक्रमे ग क १–२।

या तस्मै आलोचना दातव्या। अथ गीतार्थोऽवमरत्नः (अपि) तस्मै आलोचयेत्। सा पुनस्त्रिविधा उपश्रोत्री (उपद्राविका) सौम्यमुखी कृष्णमुखी रक्ताक्षी च, या सा सौम्यमुखी तस्यामेको विषयो गम्यते, कृष्णमुख्यामेको विषयोऽवरुध्यते, रक्ताक्ष्यां द्वौ विषयौ अन्तरयित्वा चतुर्थे विषये तिष्ठन्ति। अशिवमितिद्वारं समाप्तम्।

[A]ओमोयरियाएवि एसेव कमो, बारसहिं संवच्छरेहिं आरद्धं जाहे पारं न पाविंति ताहे गणभेयं करेंति, नाणत्तं-गिलाणो न तहा परिहरिज्जइ । एत्थ गोणिदिट्ठंतो कायव्वो, अल्पं गोब्राह्मणं नंदति, एवं ओमेणवि एगागिओ दिट्ठो ॥ दारं ॥

साम्प्रतं राजभयद्वारप्रतिपादनायाह—

रायभयं च चउद्धा चरिमदुगे होइ गणभेओ ॥ २३ ॥ (भा०)

व्याख्या—राज्ञो भयं राजभयं, चशब्द एवमेवेत्यस्यानुकर्षणार्थः "संवच्छर बारस" इत्यादि ॥ कियन्तः पुनस्तस्य भेदा इत्याह-चतुर्धा, सङ्ख्यायाः प्रकारवचने धा, चतुष्प्रकारमित्यर्थः । के पुनस्ते इति ?, मा त्वरिष्ठा अनन्तरमेवोच्यन्ते । किं चतुर्ष्वपि भेदेषु भेदः ?, नेत्याह-' चरिमदुए ' इत्यादि, ' चरिमे ' पश्चिमे ' द्वये ' द्वितये ' भवति ' जायते 'गणभेदः' गच्छपृथग्भावः, एकैक इत्यर्थः । ' रायदुट्ठमवि तहेव बारससंवच्छरेहिं होहिति ' । भेदचतुष्टयस्वरूपप्रदर्शनायाह—

निव्विसउ त्ति य पढमो बिइओ मा देह भत्तपाणं से । तइओ उवगरणहरो जीअचरित्तस्स वा भेओ ॥ २४ भा.

सुगमा, णवरं-'जीअ'त्ति जीवितभेदकारी चतुर्थो भेदश्चारित्रभेदकारी वा चतुर्थो राजा, उपकरणहारिजीवितचारित्रहारिणोर्गणभेदः कार्य इति । 'तं चउव्विहं, निव्विसउ त्ति य पढमो बिइओ मा देह भत्तपाणं तु । तइओ उवगरणहरो जीव-

१ करेइ आ ल.१-२ पा १ । २ इय गाथा पा १ प्रतौ नास्ति ।

A अवमौदर्यतायामपि एष एव क्रमः, द्वादशभ्यो वर्षेभ्य आरभ्य यदा पारं न प्राप्नुवन्ति तदा गणभेदं कुर्वन्ति, नानात्वं—ग्लानो न तथा परिह्रियते, अत्र गोदृष्टान्तः कर्त्तव्यः । गोब्राह्मणौ अल्पौ नन्दतः, एवमवमेनाप्येकाकी दृष्टः ।

मारयन्त वा मेथो' ॥ आह—कथं पुन साधूनां स्वकापराधानां राजभयं भवति ?, " यस्य हस्तौ च पादौ च, जिह्वाग्र च सुयन्त्रितम् । इन्द्रियाणि च गुप्तानि तस्य राजा करोति किम् ? ॥ १ ॥" सत्यमेतत्, किं तर्हि ?—

अहिमर अणिट्ठदरिसणवुग्गाहणया तहा अणायारे। अवहरणादिक्खणाए आणालोए व कुप्पिज्जा॥२५भा
अंतेउरप्पवेसो घायनिमित्त च सो पओसिज्जा ।

व्याख्या—'अभिमराः' अभिमुखमाकार्य मारयन्ति म्रियन्ते वेत्यभिमराः, कुतश्चित्कोपाद्राजकुलं प्रविश्यापरं व्यापादयन्तीति, साधूनां किमायातमिति चेत्, उच्यते, अन्यथा प्रवेशमलभमानैः कैश्चित्साधुवेषेण प्रविश्य तत्कृतं, ततश्च निर्विवेकस्तस्य राजा साधुभ्यः कुप्येत्, कुप्येदिति चैतत्क्रियापदं प्रतिपदं योजनीयं, अमङ्गल्यत्वात् अनिष्टान्—अप्रशस्तान् मन्यमानो दर्शनं नेच्छति, प्रस्थानादौ च दृष्ट्वा इति कुप्येत् । 'व्युद्ग्राहणता' विप्रलम्भः—कुसाधुप्रवृत्—प्राबल्ये, केनचित्प्रत्यनीकेन व्युद्ग्राहितः, यथैते तथानीष्ट व्यापन्तीति कुप्येत् । लोक प्रत्यनाचार सेवमानादौ दृष्ट्वा कुप्येत्, अपहरणं कृत्वा तत्प्रतिपद्यो दीक्षित इति कुप्येत्, आज्ञालोपे वा आज्ञा काचित्कोपिता—न कृता ततश्च कुप्येत् ?, अन्तःपुरे प्रवेशं कृत्वा केनचिल्लिङ्गचारिणा विकर्म कृतं ततः प्रद्वेषं यायात्, घातिना वा केनचिद्भिक्षुणा परिभूत इति, ततो निमित्तत् स इति—राजा प्रद्विष्यात् प्रदुष्येद्वा । द्वारं । 'Δत पुण रायदुट्ठ कह होज्जा ?, केण्णति लिंगत्थेणंमतेउरे अवरद्ध होज्जा । अहवा जहा वा वैदिणा पादे

१ पओसेज्जावीर वा । २ प्रविष्यति वा । ३ जमितिउरमपरद्धं वा । ४ वाकुप्या स.१-२ पा २
▲ यसुना राजद्विष्ट कथं भवेत् ? केनचित् लिङ्गस्थेनान्तःपुरमपराद्धं भवेत, अथवा यथा वा घातिना पादे—'तस्य पण्डितमन्यस्य

"तस्स पंडियमाणस्स बुद्धिल्लस्स दुरप्पणो । मुद्धं पाएण अक्कम्म वाई वाउरिवागओ ॥ १ ॥" एवं रायदुट्ठं हविज्जा, निव्विसए भत्तपाणपडिसेहे उवगरणहरे अ एत्थ गच्छेण चेव वच्चंति, जत्थ जीवियचरित्तभेओ तत्थ एगाणिओ होज्जा । दारं । क्षुभितद्वारं व्याचिख्यासुराह–द्वारगाथार्द्धम्

खुभिए मालुज्जेणी पलायणं जो जओ तुरिअं ॥ २६ ॥ (भा०)

क्षोभे एकाकी भवति । क्षोभः–आकस्मिकः संत्रासः । तत्र 'मालुज्जेणि'त्ति माला अरहट्टस्य पतिता, उज्जयनी नगरी, उज्जयिन्यां बहुशो मालवा आगत्यागत्य मानुषादीन् हरन्ति । अन्यदा तत्र कूपेऽरघट्टमाला पतिता । तत्र केनचिदुक्तं–माला पतिता, अन्येन सहसा प्रतिपन्नं मालवाः पतिताः, ततश्च संक्षोभः, तत्र किं भवतीत्याह–'पलायणं जो जओ तुरियं,' 'पलायनं' नाशनं यः कश्चिद्यत्र व्यवस्थितस्तच्छ्रुतवान् स तत एव नष्ट इति । 'मालुज्जेणि'त्ति दृष्टान्तसूचकं वचनम् । [A]खुभिए वा एगागी होज्जा, जहा उज्जेणीए अरहट्टमाला पडिआ, लोगो सव्वो पलाओ मालवा पडिय त्ति, एरिसे खुभिए

---

१ जीवचरित्त° आ ल २ । २ प्रतीता ल १ पा १–२ पु ।

बुद्धिमत्ताभिमानिनो दुरात्मनः । मूर्धानं पादेनाक्रम्य वादी वायुरिवागतः ॥ १ ॥' एवं राजद्विष्टो भवेत्, निर्विषये भक्तपानप्रतिषेधे उपकरणहरे वात्र गच्छेनैव व्रजन्ति, यत्र जीवितचारित्रभेदस्तत्रैकाकी भवेत् । द्वारं ।

A क्षोभे वा एकाकी भवेत्, यथा उज्जयिन्यां अरहट्टघटीमाला पतिता, लोकः सर्वः पलायितः–मालवा पतिता इति, ईदृशे

एगागी होज्ञा,जो जओ सो तओ नासति।चूर्णि। अधुना यदुक्तं राजभयद्वारे 'वायनिमित्तं च सो पओसिज्ज'त्ति तद्व्याचिख्यासुराह–

तस्स पडियमाणस्स ढुव्विड्ढस्स दुरप्पणो। मुद्धं पाएण अक्कम्म, वाई वाउरिवागओ ॥२७॥ (भा)

आह चोदकः–शोभन स्थान एतद् व्याख्यायाः, ननु क्षुभितद्वारेमान्तरित्वात्कोऽयं प्रकारः? इति, अत्रोच्यते निर्युक्ति ग्रन्थपश्चाद्दोषः। यतोऽत्रैकगाथया 'अंतेउर' इत्यादिरूपा राजभयक्षुभितद्वारे उक्ते ततस्तत्रानवसरत्वादिहैव युक्ता व्याख्या, 'तस्स'त्ति तस्य राज्ञो भयहेतोः, कथंभूतस्य?–'पण्डितमानिनः' पण्डितमन्यस्य पण्डितमात्मानं मन्यते स एवंमन्यो, ज्ञान लवदुर्विदग्धत्वात्। दुर्विदग्धं लातीति दुर्विद्ग्धो दुर्विलस्य, 'दुरात्मनः' मिथ्यादृष्टित्वादभद्रत्वाच्छासनप्रत्यनीकत्वेनादुष्ट आत्मा यस्य स तथा तस्य। किमित्याह–'मूर्धानं' उत्तमाङ्गं पादेनाक्रम्य 'वादी' वादलब्धिसंपन्नः साधुर्वायुरिवागतः–अभीष्टं स्थानं प्राप्त इत्यक्षरार्थः। सम्प्रदायार्थस्तु–स राजा पण्डितंमन्यतया दर्शनं निन्दति, तद्वादी वा कश्चित्, तत्र च साधुर्वादी, तेन सभां प्रविश्य न्यायेन पराजितः, तथाऽपि न साधुकारं ददाति प्रमत्तत्वात्तथाऽपि निन्दति पुनश्चासौ साधुर्वादी विद्यादिबलेन सभा मध्ये तस्य शिरसि पादं कृत्वाऽदर्शनीभूतः। ततश्चासौ परं परिभवं मन्यमानः प्रकर्षेण द्वेषं यायात्, इति श्लोकार्थः ॥ उत्तमार्थद्वारप्रतिपादनायाह–

निज्जवगस्स सगासे असई एगाणिओ वि गच्छिज्जा। सुत्तत्थपुच्छगो वा गच्छे अहयावि पडिअरिउ२८भा

[1] एष गाथा पा.२-१ पु । [2] त्यागस्य तथा का । [3] निर्यामकस्य का सू.२ । शोभे एकाकी भवेत्, यो यत्र स तओ नश्यति । चूर्णि ।

व्याख्या—निर्यापयति–आराधयति निर्यापकः–आराधकस्तस्य 'सकाशं' मूलम् असति–द्वितीयाभावे एकाक्यपि कालं कर्तुकामो गच्छेत्, सूत्रार्थपृच्छको वा गच्छेत्। उत्तमार्थस्थितस्यैकाक्यपि मा भूद् व्यवच्छेदः 'अहवावि पडियरिउं' अथवाऽपि 'प्रतिचरितुं' प्रतिचरणाकरणार्थम्। A'उत्तिमट्ठे वा' सो साहू उत्तिमट्ठं पडिवज्जिउकामो, आयरियसगासे य नत्थि निज्जवओ ताहे अन्नत्थ वच्चिज्जा, तो ससंघाडओ वच्चउ, असति ताहे एगो एगाणिओ वच्चिज्जा, अहवा उत्तिमट्ठपडिवण्णओ साहू सुओ, तस्स सुत्तत्थतदुभयाणि अपुव्वाणि, इमस्स य संकिआणि, अण्णस्स य नत्थि, ताहे तत्थ पडिपुच्छणनिमित्तं[1] वच्चिज्जा। अथवा उत्तिमट्ठपडिअरएहिं गम्मति[2] ॥ उक्तमुत्त(त्ति)मट्ठद्वारमिदानीं फिडिअद्वारं व्याचिख्यासुराह—

फिडिओ[3] वें[4] परिरएणं मंदगई वावि जाव न मिलिज्जा।

B 'फिँडिउ' त्ति ते पंथेण वच्चंति, तत्थ कोइ पंथाओ उत्तिण्णो, अण्णेण वच्चिज्जा, अहवा थेरो, तस्स य अंतरा गड्डा वा डोंगरा वा, जे समत्था ते उज्जुएण वच्चंति, जो असमत्थो सो परिरएणं–भमाडेण वच्चइ, ततो जाव ताणं न मिलइ ताव

१ °पुच्छगनि° आ पा. १। २ गम्मति ॥ फिडिअ° आ ल २ पा १। ३ य ल १। ४ 'फिडिए' आ ल २ पा १।

▲ उत्तमार्थे वा स साधुरुत्तमार्थं प्रतिपत्तुकामः, आचार्यसकाशे च नास्ति निर्यापकः, तदाऽन्यत्र व्रजेत्, तदा ससंघाटको व्रजतु असति तदैकः एकाकी व्रजेत्, अथवोत्तमार्थप्रतिपन्नकः साधुः श्रुतः, तस्य सूत्रार्थतदुभयान्यपूर्वाणि, अस्य च शङ्कितानि, अन्यस्य च न सन्ति, तदा तत्र प्रतिपृच्छानिमित्तं व्रजेत्। अथवा उत्तमार्थप्रतिचरकैः गम्यते। B 'स्फिटित' इति, ते पथा व्रजन्ति, तत्र कश्चित् पथ उत्तीर्णः, अन्येन व्रजेत्, अथवा स्थविरः, तस्य चान्तराले गर्त्ता वा पर्वता वा, ये समर्थास्त ऋजुकेन

एगागी होज्जा ॥ इदानीं गाथार्थः–'फिडिता' भ्रष्टः, किमुक्तं भवति ? सो गच्छवासेण सर्वेषां पेयश्यपदर्शनासंसातमोहोऽन्येनैव पथा प्रयातस्तत एकाकी भवति । 'परिरएण वा' परिरयो–सियरिः परिहरण तेन वा एकाकी कश्चिदसहिष्णुर्मन्दगतिर्वा कश्चित्साधुः यावत्र मिलति तावदेकाकी भवति । उक्तं फिडितद्वारम्, इदानीं ग्लानद्वारमुच्यते—

सोऊण य गिलाणं ओसहकज्जे असइ एगो ॥ २९ ॥ (भा०)

^A गिलाणनिमित्तेण वा एगागी हुज्जा, तस्स ओसहं वा भेसयं वा आणियव्वं । असइ संघाडयस्स ताहे एगागी वच्चेज्जा, अहवा गिलाणो हुओ ताहे सव्वेहिं गंतव्वं । जइ अप्पणो आयरिया थेरा ताहे तेसिंपि पासे अच्छियव्वं, ताहे संघाडयस्स असइ एगागी वच्चेज्जा । इदानीमक्षरगमनिका–श्रुत्वाऽन्यत्र ग्लानं संघाटकाभावे एकाकी व्रजति, यदिवा स्वगच्छ एव ग्लानः कश्चिदस्ति, तदर्थमौषधानयनार्थं व्रजत्येकाकी द्वितीयाभावे सति ॥ उक्तं ग्लानद्वारम् । इदानीमतिशयद्वारम्—

अइसेसिओव सेहं असई एगाणियं पठावेज्जा ।

---

१ प्रमाद: [illegible] खा. क २ । २ परिरयमार्गे खा । ३ वा आणि खा क १-२ । ४ तेसिं पासे खा क १-२ । ५ भिक्षो वि गच्छेज्ज [illegible] पि पक्खिज्जा क १ ।

व्रजन्ति, सोऽसमर्थः स परिरयेण–भ्रमणेन व्रजति ततो यावत्तेषां न मीलति तावदेकाकी भवेत् ।

^A ग्लाननिमित्तेन एकाकी भवेत्, तस्यौषधं वा भेषजं वा आनेतव्यं, असति संघाटकस्य तदैकाकी व्रजेत् । अथवा ग्लानः भूयस्तदा सर्वैर्गन्तव्यं । यद्यात्मन आचार्याः स्थविरास्तदा तेषामपि पार्श्वे स्थातव्यं, तदा संघाटकस्यासति एकाकी व्रजेत्।

A कोइ अतिसयसंपण्णो सो जाणइ, जहा एयस्स सेहस्स सयणिज्जगा आगया, ताहे सो भणति-एयं सेहं अवणेह, जइ न अवणेह ताहे एस न करेति पव्वज्जं, ततो सो असइ संघाडयस्स एगाणिओवि पट्ठविज्जइ ॥ इदानीमक्षरार्थः-अतिशयी वा कश्चिदभिनवप्रव्रजितं द्वितीयेऽसत्येकाकिनमपि प्रवर्त्तयेत् । उक्तमतिशयिद्वारम् । इदानीं देवताद्वारम्—

देवय कलिंगरुयणा पारणए खीररुहिरं च ॥ ३० ॥ (भा०)

B इह कलिंगेसु जणवएसु कंचणपुरं नगरं, तत्थायरिया बहुस्सुआ बहवागमा[1] बहुसिस्सपरिवारा, ते अण्णया सिस्साणं सुत्तत्थे दाऊण सन्नाभूमिं वच्चंति, तस्स य गच्छंतस्स पंथे महति महालओ रुक्खो । तस्स हिट्ठा देवया महिलारूवं विउव्वित्ता कलुणकलुणाणि रोवति । सा तेण दिट्ठा । एवं बितिअदिवसेवि[2] तइयदिवसेवि । तओ आयरियस्स संका जाया-अहो !

1 पहाणागमा आ पा.१ । २ °दिवसेवि । तओ आ पु. ।

A कश्चित् अतिशयसंपन्नः स जानाति-यथैतस्य शैक्षकस्य स्वजना आगताः, तदा स भणति-एनं शैक्षकमपनयत, यदि नापनयत तदेष न करोति प्रव्रज्यां, ततः सोऽसति सघाटकस्य एकाक्यपि प्रस्थाप्यते ।

B इह कलिङ्गेषु जनपदेषु काञ्चनपुरं नगरं, तत्राचार्या बहुश्रुताः बह्वागमा बहुशिष्यपरिवाराः, तेऽन्यदा शिष्येभ्यः सूत्रार्थौ दत्त्वा सञ्ज्ञाभूमिं व्रजन्ति, तस्य च गच्छतः पथि महातिमहान् वृक्षः, तस्याधो देवता महिलारूपं विकुर्व्य करुणकरुणानि रोदिति, सा तेन दृष्टा, एवं द्वितीयदिवसेऽपि तृतीयदिवसेऽपि, तत आचार्यस्य शङ्का जाता-अहो ! कुत इयमेवं रोदिति ? इति, तदा अपवर्त्त्य पृष्टा-किं त्वं धर्मशीले ! रोदिषि ? सा ।

कीस इमा एव रोयइ ? त्ति, ताहे ओहसिऊण पुच्छिया किं तुमं धम्मसीले ! रुयसि ?, सा A भणइ–भगवं ! किं मम चेव रोइयव्वं ?, आयरिओ भणइ–किं कहं वा ?, सा भणइ–अहमेयस्स कंचणपुरस्स देवया । एयं च नयरं सव्वं महाजलप्पवाहेण पेल्लाविज्जिहित्ति तेण रुयामि त्ति, एते य साहुणो एत्थ सज्झायंति गुणेंति य, ते य अन्नत्थ गमिस्संति त्ति अओ रुयामि । आयरिएण भणियं–कह पुण एतयं जाणिज्जइ ? सा भणति जओ तुब्भं खमओ पारणए दुद्धं लभिस्सइ, तं से रुहिरं भविस्सइ त्ति, जइ एवं होज्जा तो पत्तिएज्जाह, तं च घेत्तूण सव्वसाहूण पाएसु थेवं थेवं देज्जाह, जत्थ देसे तं सोभावियं जाहिति तत्थ य जलप्पवाहो पभविस्सइ त्ति भणियाइ, ततो एवंति आयरिएण पडिवन्नं । ताहे बितिअदिवसे तहेव लैद्धं त

---

१ पुन थ° वा । २ पव्वाविज्जहिति क १ । ३ सज्झावेंति वे ज. ला. । ४ पुन जाणि वा पा. १ । ५ सहोवं मा. क २ । ६ क्खद एव थु° ला. पा २. पु. ।

A भणति–भगवन् ! किं मम स्तोकं रोदितव्यम् ? आचार्यो भणति–किं कथं वा ?, सा भणति–अहमेतस्य काञ्चनपुरस्य देवता, एतच्चाचिरात् सर्वं महाजलप्रवाहेन प्लावयिष्यते तेन रोदिमि इति । एते च साधवोऽत्र स्वाध्यायन्ति गुणयन्ति च ते चान्यत्र गमिष्यन्तीति अतो रोदिमि, आचार्येण भणितं–कथं पुनरेतत् ज्ञायते ?, सा भणति–यतो युष्माकं क्षपकः पारणके दुग्धं लप्स्यते, तत्तस्य रुधिरं भविष्यतीति, यद्येव भवेत् तदा प्रतीयाः, तच्च गृहीत्वा सर्वसाधूनां पात्रेषु स्तोकं स्तोकं दद्या । यत्र देशे तत् स्वाभाविकं यास्यति तत्र न जलप्रवाहः प्रभविष्यतीति भाणीया इति, तत एवमिति आचार्येण प्रतिपन्नं । तदा द्वितीयदिवसे तथैव लब्धं तथैव संजातं, तत आचार्यैः सर्वेषां मात्रके प्रत्येकं २ दत्तं, ततो यथाशक्ति पतायन्ते, यत्र तत्पाण्डुरं जातं तत्र मीलिताः, एवमेकाकी भवेत् ।

तहा य संजायं। ततो आयरिएहिं सव्वेसिं मत्तए पत्तेअं पत्तेअं तं दिन्नं। ततो जहासत्तीए पलायंति। जत्थ तं पंडुरं जायं तत्थ मिलिआ। एवं एगागी होज्जा ॥ उक्तं देवताद्वारम्, अथाचार्यद्वारम्—

चरिमाए संदिट्ठो उग्गाहेऊण मत्तए गंठिं। इहरा कयउस्सग्गो परिच्छ आमंतए[1] सगणं ॥३१॥ (भा०)

चरिमा–चतुर्थपौरुषी तस्यां 'संदिष्टः' उक्तः यदुत–त्वयाऽमुकत्र गन्तव्यं, स चाभिग्रहिकः साधुः, ततश्चासावेवमाचार्येणोक्तः किं करोति ?–सकलमुपकरणं पात्रकपटलादि वोद्ग्राहयति[2], मात्रकं च तेन गच्छता ग्राह्यं, अतस्तस्मिन् ग्रन्थिं ददाति, मा भूद् भूयः प्रत्युपेक्षणीयं स्यात्, एवमसावाभिग्रहिकः संयन्त्र्य तिष्ठतीति। 'इहर'त्ति आभिग्रहिकाभावे विकालवेलायां वा गमनप्रयोजनमापतितं ततः 'कृतोत्सर्गः' कृतावश्यकः किं करोतीत्याह–परीक्षार्थमिति–पश्यामः कोऽत्र मद्वचनानन्तरं प्रवर्त्तते को वा न प्रवर्त्तते इति स्वगणमामन्त्रयते। ते च प्रतिक्रमणानन्तरं तत्रैवान्तर्मुहूर्तमात्रं कालमासते, कदाचिदाचार्याः खल्वपूर्वां सामाचारीं प्ररूपयेयुः, अपूर्वं वार्थपदं, तत्रस्थांश्च तानामन्त्रयतेऽसौ–भो भिक्षवः! अमुकं मे गमनकार्यमुपस्थितं तत्र—

गच्छिज्ज को णु सव्वेवऽणुग्गहो कारणाणि दीविंता(वेत्ता)।
अमुओ एत्थ समत्थो अणुग्गहो उभयकिइकम्मं ॥ ३२ ॥ (भा.)

कतमः साधुस्तत्र गमनक्षमः? तत्रा[3]चार्यवाक्श्रवणानन्तरं सर्वेऽपि साधव एवं ब्रुवन्ति–अहं गच्छाम्यहं गच्छामीत्यनुग्रहो-

१ आमतिआ भा. पा १। २ वोद्वाहयति भा. ल.२। ३ तत आचार्य° पा २।

ऽयमस्माकम् । तत आचार्यो वैयावृत्त्यकरयोगवाहिदुर्बलादीनि कारणानि 'दीपयित्वा' स्वयं प्रदर्श्येदं भणति—अमुकोऽत्र कार्ये 'समर्थः' क्षमः । ततश्च योऽसावाचार्येणोक्तोऽयं क्षम इति स भणति—अनुग्रहो मेऽयं, ततः को विधिः ?, ततः स क्षिगमिषुः माधुराचार्यस्य चैत्यसाधुवन्दनां करोति, यदि पर्यायेण लघुस्ततः शेषाणामपि साधूनां चैत्यसाधुवन्दनां करोति । अथाऽसौ गन्ता साधू रत्नाधिकस्ततस्ते साधवस्तस्य चैत्यसाधुवन्दनां विदधति, एतदुभयकृतिकर्म—वन्दनम् । ततः स गन्ता साधुः किं करोति क्षिगमिषुः सन् ?—

पोरिसिकरण अहवावि अकरण दोसऽपुच्छणे दोसा । सरण सुय साहु सण्णी अतो बहिं अन्नमावेण ॥९

यदसौ सूर्योद्गमे यास्यति ततः प्रादोषिकीं सूत्रपौरुषीं करोति । अथवा रात्रिशेषे यास्यति प्रयोजनवशात्तत सूत्रपौरुषीमकृत्वैव स्वपिति, एतत्पौरुषीकरणमकरणं चेति । पुनरपि च तेन गच्छताऽऽचार्यः प्रष्टव्यः प्रत्यूषसि—यास्याम्यहमिति । अथ न पृच्छत्यतः 'दोसऽपुच्छणे दोस'त्ति द्वितीयवारामपृच्छतः दोषाः—वक्ष्यमाणाः, के च ते ? इत्याह 'सरण'त्ति गाहद, स्मरणमाचार्यस्यैव संजातं, एवंविधमन्यथा व्यवस्थितं कार्यमन्यथा कथंचित्संवित्तं, 'सुय'त्ति श्रुतमाचार्यैर्यथा ते तत्राचार्या न त्रियन्त यन्निमित्तं चासौ प्रेष्यते, तदा कार्यं तत्र नास्ति । 'साहु'त्ति अथवा विकाले साधुः कश्चित्तस्मात्स्थानादागतस्तेन कथितं यथा स आचार्यस्तत्र नास्तीति । 'सण्णि'त्ति अथवा सञ्ज्ञी—श्रावक आयातस्तेनाख्यातम् । 'अंतो'त्ति अभ्यन्तरतः, कस्य ?, प्रतिश्रयस्य, केनचित्साधुनोक्तं यथा—अस्माकमप्येवंविधाः साधव आसन्, ते च ततो गता मृता वा । 'बहि'त्ति

१ तत्राचार्यो भा क.१-२ । २ चैत्यसाधूनां वन्दनां भा । ३ कथंचित् क.१-२ ।

वाह्यतः प्रतिश्रयस्य श्रुतमन्यस्मै कथ्यमानं केनचित् । 'अन्नभावेणं'ति योऽसौ गन्ता सोऽन्यभावः–उन्निष्क्रमितुकामः, एतच्चाचार्याय तत्सङ्घाटकेनाख्यातं, ततश्चासौ ध्रियते केनचिद्व्याजेन । यदि पुनरसौ गन्ता न प्रबोधं यायात्ततः—

बोहण अप्पडिबुद्धे गुरुवंदण घट्टणा अपडिबुद्धे । निच्चलणिसण्णझाई दट्ठुं चिट्ठे चलं पुच्छे ॥ १० ॥

अचेतयति सति तस्मिन् गन्तरि बोधनं जाग्रापनं गीतार्थः करोति । ततोऽसौ[1] साधुरुत्थायाचार्याभ्यासमेति, गत्वा च यद्याचार्यो विबुद्धस्ततोऽसौ गुरवे वन्दनं करोति । अथाद्यापि स्वपिति ततः संघट्टना चाचार्यपादयोः शिरसा घट्टना–चलनं क्रियते अथासौ प्रतिबुद्ध एव किन्तु निश्चलो निषण्णः–उपविष्टो ध्यायी[2] चास्ते, ततस्तमेवंभूतं निश्चलनिषण्णध्यायिनं दृष्ट्वा किं कर्त्तव्यमित्याह–'चिट्ठे' स्थातव्यं, तेन गुरुध्यानव्याघातेन महाहानिसंभवात् । 'चलं पुच्छे'त्ति अथ चलोऽसौ ततः प्रष्टव्यः–भगवन् ! स एषोऽहं गच्छामीति । ततश्चासावाचार्येण संदिष्टः–इदमेवं त्वया कर्त्तव्यमिति व्रजति । स चेदानीं गन्तुं प्रवृत्त इत्येतदेवाह—

अप्पाहि अणुन्नाओ ससहाओ नीइ जा पहायं ति । उवओगं आसण्णे करेइ गामस्स सो उभए ॥ ११ ॥

सन्दिष्टः प्राक् पश्चादनुज्ञातो वेति ततो गच्छति, कथम् ?–ससहायः, कियन्तं कालं यावत्ससहायो व्रजति ?–'यावत्प्रभातं' संजातसूर्योदय इत्यर्थः, ससहायश्च प्रभातं यावद् व्रजति श्वापदादिभयात् । एवमसौ साधुर्व्रजन् ग्रामसमीपं प्राप्तः सन् किं करोतीत्याह–उपयोगं करोति, किंविषयम् ?–'उभए'त्ति उभयविषयं, मूत्रपुरीषपरित्याग इत्यर्थः, कस्मादेवं चेत् ग्रामसन्निधान एव

१ ततोऽसावुत्था° ल.१, ततः साधुरु° आ. । २ ध्यायतीति, आ. पा १. ।

स्थण्डिलसद्भावात् मकारदिसंस्थानात् । अथ रात्रौ गच्छतः कश्चिदपायः सम्भाव्यते ततः प्रभात यावत्स्थातव्यं, तथा चाह—

हिमतेणसावयभया दारा पिहिया पहू अयाणतो । अच्छइ जाव पभाय मासियभत्त च से वसभा ॥१२॥

हिम–शीतं, स्तेनाः–चौराः, श्वापदानि–सिंहादीनि, एतद्भयात्प्रभात यावदास्ते । यदि वा पुरस्य द्वाराणि पिहितानि ग्रामस्य वा फलिहकं पन्थान वाऽजानन्स्तिष्ठति यावत्प्रभातमिति । एवं च प्रभात यावत् स्थिते सन्तरि 'मासिकभक्तं' दोषाश्च 'से' तस्य 'वसभा' गीतार्था आनयन्ति । अथ कैरुपस्तदानीयते ?—

ठवणकुल सखडीए अणहिंडते सिणेहपयवज्ज । भत्तट्ठिअस्स गमण अपरिणए गाउय वहइ ॥१३॥

स्थापनाकुलेभ्यः, तथा 'संखडीए'त्ति सामयिकीभाषा भोजनप्रकरणार्थे तस्या वा, के पुनस्तदानयन्त्यत आह–'अण हिंडते' ये भिक्षां न पर्यटितवन्तः । कस्मात्पुनस्ते भक्तमानयन्ति ?, उच्यते, तेषामहिण्डकानां गृहस्था गौरवेण प्रयच्छन्ति । कीदृक् पुनस्तैर्भक्तमानयनीयम् ?–'सिणेहपयवज्ज'त्ति स्नेहेन घृतादिना पयसा–क्षीरेण वर्जित भक्त गृह्णन्ति, न तैलं प्रासम मङ्गलत्वात्, न घृत परितापहेतुत्वात्, न दुग्ध मेरकत्वात् काञ्जिकविरोधित्वाच्च, काञ्जिकस्थायपायित्वाच्च संयतानाम् । किं पुनस्ते गृह्णन्ति ?–दधिसक्तुकादि, तदसौ भुक्त्वा व्रजति । तथा चाह–'भत्तट्ठिअस्स गमण' भुक्तवतस्ततो गमनं भवति । अथ न तस्य भक्तपरिणतिर्जातिस्ततोऽपरिणते भक्ते सति गव्यूतिमात्र पाथ मार्गे वहति । क्रोशद्वय गव्यूतिः । इदानीं तस्य गच्छतो विधिरुच्यते—

१ सम्भाव्येत वा पा.१-२ पु. । १ अत्रान्तरे क १-२ ।

अत्थंडिलसंकमणे चलवक्खित्तणुवउत्तसागारिए। पडिपक्खेसु उ भयणा इयरेणं विलंबणालोयं ॥१४॥

स्थण्डिलादस्थण्डिलं च संक्रामता सता साधुना पादौ रजोहरणेन प्रमार्जनीयाविति विधिः, मा भूत् सचित्तपृथिव्या अचित्तपृथिव्या व्यापत्तिः स्यात्तदा[1] च पादयोरसौ रजोहरणेन प्रमार्जनं करोति । यदा कश्चित्सागारिकः पथि व्रजतश्चलो भवति व्याक्षिप्तोऽनुपयुक्तश्चेति । तत्र चलो–गन्तुं पथि प्रवृत्तः, व्याक्षिप्तो–हलकुलिशवृक्षच्छेदादिव्यग्रः, अनुपयुक्तः–साधुं प्रत्यदत्तावधानः । यदैवंविधः सागारिको भवति तदा रजोहरणेन प्रमृज्य पादौ याति । 'पडिपक्खेसु उ'त्ति विसदृशाः पक्षाः प्रतिपक्षाः, असदृशा इत्यर्थः, तेषु प्रतिपक्षेषु 'भजना' विकल्पना कर्त्तव्या । एतदुक्तं भवति–केषुचित्प्रतिपक्षेषु प्रमार्जनं क्रियते केषुचित्तु नैव । तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशेषयति ?, प्रतिपक्षेष्वेव समुदायरूपेषु भजना कर्त्तव्या, न त्वेकैकस्मिन् भङ्गक इति । यदा तु सागारिकः स्थिरोऽव्याक्षिप्त उपयुक्तश्च साधुं प्रति भवति तदा 'इतरेणं'ति इतरशब्देन रजोहरणनिषद्योच्यते तया पादौ प्रमार्ष्टि, न रजोहरणेन । 'विलंबण'त्ति तां च निषद्यां हस्तेन विलम्बमानां नयति, न तु शरीरे संस्पर्शनं करोति । कियतीं भुवं यावदित्याह–'आलोयं'ति आलोकनमालोको यावत्तद्दृष्टिप्रसर इत्यर्थः । अथवा 'इतरेणं'ति केनचिदौपग्रहिकेण कार्पासिकेन और्णिकेन वा चीरेण, शेषं प्राग्वत्, पश्चात्तं गोपायति । अथवा 'इतरेण विलंबणालोयं'ति प्राक् तावदेकाकिनो विधिरुक्तः, यदा तु इतरेण–इतरशब्देन सार्थो गृह्यते, तेनेतरेण सार्थेन सह प्रव्रजता स्थाण्डिल्याच्चास्थाण्डिल्यं संक्रामता किं कर्त्तव्यं सार्थपुरतः ? इत्याह–'विलम्बणे'ति विलम्बना कार्या, मन्दगतिना सता स्थण्डिलस्थेन तावत्प्रतिपालनीयं । कियन्तं

१ स्यात्तया च आ. पु ।

काल प्रतिपालनीय? यावदालोको–दर्शनं तस्य सार्थस्य, अदर्शनीभूते तु श्रोत्रान्तरिते सार्थे पादयोः प्रमार्जन कृत्वा प्रव्रतीत्ययं विधिः। उक्तो गाथाऽक्षरार्थः, इदानीमष्टभङ्गिका प्ररूप्यते, सा चेयम्–चलो चक्खिसचो अणुवउत्तो य सागारियो, एत्थ पमज्जणं, तस्मानुपयुक्तत्वादप्रमार्जनेऽसामाचारीप्रसङ्गात् १, चलचक्खिसु उवउत्तु एत्थ नत्थि पमज्जण सागारियपमज्जो २, च० अच० अणु० एत्थवि पमज्जण ३, चल अच० उव० एत्थवि णत्थि पमज्जणं ४, अच० च० अणु० एत्थ पमज्जण ५, अच० च० उ० णत्थि पमज्जणं ६, अच० अच० अणु० अत्थि पमज्जण ७, अच० अच० उ० एत्थ नत्थि पमज्जण ८। तत्थ पढम भंगे नियमेण पमज्जणा सेसेसु उ भयणा, एतदुक्तं भवति–केषुचित्प्रमार्जनं केषुचित्तु न प्रमार्जन। स्थापना त्वियम्। स इदानीं साधुर्मार्गमजानानः पृच्छति तत्र को विधिरित्याह–

।।।	ऽ।।	।ऽ।	ऽऽ।	।।ऽ	ऽ।ऽ	।ऽऽ	ऽऽऽ

पुच्छाए तिण्णि तिआ छक्के पढमजयणा तिपचविहा। आउम्मि दुविहतिविहा तिविहा सेसेसु काएसु॥१५॥

पृच्छायां तस्यां 'तिण्णि तिय'त्ति त्रयस्त्रिका भवन्ति। तत्र पुरुषः स्त्री नपुंसकं च। तत्रैतेषामेकैकस्त्रिप्रकारः–बालस्तरुणो वृद्धश्चेति। एवमेते त्रयस्त्रिकाः, नवेत्यर्थः। तथा 'तेनैव साधुना गच्छता 'छक्के पढमजयण'त्ति षट्के पृथिव्यादिलक्षणे यतना कर्त्तव्या। तत्र 'पढमजयणा तिपचविह'त्ति प्रथमो यः पृथ्वीकायः तस्य यतना त्रिपञ्चविधा। तत्र त्रिविधा सचित्तस्य अचित्तस्य मिश्रस्य च पञ्चविधा पृथिवीकाययतना कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लस्येति। अथवा त्रिपञ्चविधेति–त्रयः पञ्चकाः पञ्चदशप्रकारे त्यर्थः। तथाहि–सचित्तः पृथिवीकायः शुक्लादि पञ्चधा, एवमचित्तो मिश्रश्च। तथाऽप्काये 'दुविहतिविहा' तत्र द्विविधा अन्त

१ प्पान्यम्तरिते भा प.२। २ तेनैव प्रकारेण साधुना पा २।

रिक्षाप्काययतना भौमाप्काययतना च, त्रिविधा तु सचित्ताप्कायतना, अचित्ता० मिश्रा० । त्रिविधा तु शेषेषु कायेषु तेजोवायुवनस्पतित्रसाख्येषु यतना, कथं ?, सचित्तादि, महाद्वारगाथायाः समुदायार्थः । अथाद्यद्वारावयवार्थप्रतिपादनार्थमाह—

पुरिसो इत्थिनपुंसग इक्केक्को थेर मज्झिमो तरुणो । साहम्मि अन्नधम्मिअगिहत्थदुगअप्पणो तइओ ।१६।

यदुक्तं अनन्तरगाथायां 'पुच्छाए'त्ति पृच्छायां त्रितयं सम्भवति, तदाह पुरुषः स्त्री नपुंसकं चेति । यदुक्तं त्रयस्त्रिकाः तद्दर्शयन्नाह-एकैकः स्थविरो मध्यमस्तरुण इत्ययं नवभेदः । स चैकैको नवविधोऽपि कदाचित्साधर्मिकः स्यात्कदाचित्तु नवविधोऽप्यन्यधार्मिकः स्यादिति । समाने धर्मे वर्त्तत इति साधर्मिकः-श्रावकः श्राविका नपुंसकं श्रावकं च । अन्यधार्मिको मिथ्यादृष्टिः । कियन्तः पुनस्तेन गच्छता पन्थानं प्रष्टव्या इत्यत आह-'गिहत्थदुग'त्ति, साधर्मिकगृहस्थद्वयं [2]प्रच्छनीयं, अन्यधार्मिकगृहस्थद्वयं वा । 'अप्पणो [3]तैतिउ'त्ति आत्मना तृतीयो युक्त्याऽन्वेषणं विदधाति । एष तावत्सामान्योपन्यासः । अथ प्रथमं यः प्रष्टव्यः स उच्यते-तत्र यदि साधर्मिकद्वयमस्ति ततस्तदेवोत्सर्गेण पृच्छ्यते, तस्य प्रत्ययिकत्वात्, अथ नास्ति ततः

साहम्मिअपुरिसासइ मज्झिमपुरिसं अणुण्णविअ पुच्छे । सेसेसु होंति दोसा सविसेसा संजईवग्गे ।१७।

साधर्मिकपुरुषद्वयाभावेऽन्यधार्मिकमध्यमपुरुषद्वयं [4]प्रच्छनीयं, कथं ?-'अणुण्णविअ' अनुज्ञां कृत्वा धर्मलाभपुरस्सरं, ततः प्रियपूर्वकं पृच्छति, अन्यधार्मिकमध्यमग्रहणं त्विह साधर्मिकविपक्षत्वादवसीयत एव । 'सेसेसु'त्ति अन्यधार्मिकमध्यमपुरुष-

१ प्रतन्वन्नाह ल २, °वार्थं पुनस्तेदवाह आ ल २ पा १-२ पु. । २ पृच्छनीयं आ. ल १ पु । ३ ततिउ त्ति आ, तत्तिओ' त्ति ल १ । ४ पृच्छनीय आ. ।

द्वयव्यतिरिक्तेषु अष्टसु भेदेषु दोषा भवन्ति पृच्छतस्ते एव दोषाः सविशेषाः—समधिकाः संयतीवर्गे—संयतीवर्गविषये पृच्छतः मताः। के च ते दोषा इत्याह—

थेरो पह न याणइ बालो पवचे न याणई वावि। पलिस्थिमज्झिमसका इयरे न याणाति सका य॥१८॥

स्थविरः—वृद्धः स मार्गं न जानाति प्रभ्रष्टस्मृतिस्वात्। बालस्तु प्रपञ्चयति केलीकिलत्वात् न वा जानाति क्षुल्लकत्वात्, बालस्तत्र अटवर्षादारभ्य यावत्षोडशवर्षिक इति, असावपि बाल इव बालः, अपरिणतत्वेन रागासत्त्वात्। मध्यमवयाः च तरुणमध्यमवयःस्त्रीपृच्छायां शङ्कोपजायते नूनमस्य आर्यां कामितवर्णोऽस्ति। 'इयरे न याणंति' इतरशब्देन स्थविरनपुंसकं बालनपुंसक स्थविरस्त्री बालस्त्री वाऽभिगृह्यते, एते मार्गानभिज्ञाः शङ्का च स्यात्। क तर्हि व्यवस्थितेन प्रच्छनीयमित्याह—

पासट्ठिओ पुच्छिज्जा वदमाण अवदमाण वा। अणुवईऊण व पुच्छे तुण्हिक्क मा य पुच्छिज्जा॥१९॥

'पार्श्वस्थितः' समीपे व्यवस्थितः पृच्छेत्। किंविशिष्टं तं पृच्छेत्? वन्दन कुर्वाणमकुर्वाणं वा। कम्प पार्श्वेन ततः 'अणुवईऊण य' अनुव्रजन वा कृत्वा कतिचित्पदानि गत्वा प्रष्टव्यः। अथासौ समीपमति किञ्चिद्वदति तूष्णीं व्रजति, ततो नैव प्रच्छनीय इति॥

पयठभासे य ठिओ गोवाई मा य दूरि पुच्छिज्जा। सकाईया दोसा विराहणा होइ दुविहाओ॥२०॥

१ मग्गुम्मग्गम° क.२। २ पृच्छनीय क.२।

तथा पन्थाभ्यासे-समीपे स्थितः कश्चिद्गोपालादिः, आदिशब्दात्कर्षकपरिग्रहः, स च [1]प्रच्छनीयः, मा च दूरे व्यवस्थितं गोपालादि पृच्छेत्, शंकादिदोषसद्भावात्, नूनमस्य द्रविणमस्ति बलीवर्दादि[2]शृङ्गिणं[3] वा करोतीत्येवमादयः। दूरे च गच्छतो द्विविधा विराधना-आत्मसंयमविषया, आद्या कण्टकादिभिरितराऽनाक्रान्तपृथिव्याद्याक्रमणेन ॥ यदा तु पुनरन्यधार्मिको मध्यमवयाः पुरुषो नास्ति यः पन्थानं पृच्छ्यते तदा कः प्रष्टव्य इत्याह—

असई मज्झिम थेरो दढस्सई भद्दओ य जो तरुणो। एमेव इत्थिवग्गे नपुंसवग्गे य संजोगा॥ २१ ॥

असति मध्यमपुरुषे स्थविरः पन्थानं [4]प्रच्छनीयः, किंविशिष्टः? दृढस्मृतिः। अथ स्थविरो न भवति ततस्तरुणः प्रष्टव्यः, कीदृशः? यः-स्वभावेनैव भद्रकः स्त्रीवर्गेऽप्येवमेव पृच्छा कर्त्तव्या, एतदुक्तं भवति प्रथमं मध्यमवयाः स्त्री मार्गं प्रष्टव्या तदभावे स्थविरा दृढस्मृतिः[5], तदभावे भद्रिका तरुणी, एवं मध्यमवयो नपुंसकं, तस्याभावे स्थविरनपुंसकं दृढस्मृति तदभावे बालनपुंसकं भद्रकम्। आह च-'नपुंसवग्गे य संजोगा' नपुंसकवर्गे-नपुंसकसमुदाये एवमेव संयोगा ज्ञातव्याः। यथैतेऽनन्तर-मुक्ताः न केवलमेतावन्त एव संयोगाः किन्त्वन्येऽपि बहवः सन्ति, आह च—

एत्थं पुण संजोगा होंति अणेगा विहाणसंगुणिआ। पुरिसित्थिनपुंसेसुं मज्झिम तह थेर तरुणेसुं॥२२॥

अत्र पुनः पृच्छाप्रक्रमे संयोगा भवन्त्यनेके, कथं?-'विहाणसंगुणिय'त्ति विधानेन भेदप्रकारेण संगुणिताः, चारणिक-

---

१ पृच्छनीय आ ल.१। २ °वर्दादि (कवा) शृङ्गिणं आ। ३ शृङ्गणां ल १२.। ४ पृच्छनीय आ. ल १। ५ °स्मृतिः, अथ स्थविरा न भवति ततस्तरुणी प्रष्टव्या तदभावे आ.।

या मनेकशो भिक्षा इत्यर्थः। कथं ते भवन्ति ?–'पुरिसित्थिनपुंसेसु' पुरुषस्त्रीनपुंसकेषु, किंविशिष्टेषु ?–मध्यमस्थविरतरुण भेदभिन्नेषु, इत्येको गाथाऽक्षरार्थः। इदानीं भङ्गकाः प्रदर्श्यन्ते, तत्थ साहम्मिअचारणिआए ताव–दो मज्झिमवयसाहम्मिअ पुरिसे पुच्छिअ एस पढमो भेओ उ १, तदभावे दो थेरे साहम्मिए चेव पुच्छिआ २, तदभावे दो तरुणे साहम्मिए चेव एस तइओ ३, तदभावे दो साहम्मिणीओ मज्झिमवयमहिलाओ ४, तओ दो थेरीओ साहम्मिणीओ चेव पंचमो एसो ५, तओ साहम्मिणीओ चिअ दो तरुणीओ छट्ठो एसो ६, तदभावे दो साहम्मिआ उ मज्झिमनपुंसया पुच्छे ७, तओ दो साहम्मि-थेरनपुंसाओ अट्ठमओ ८, दो साहम्मिअतरुणे नपुंसया चेव ते उ पुच्छिआ ९, अहवा मज्झिमपुरिसो थेरो य दु चेव साहम्मी १०, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ य तरुणसाहम्मिओ य पुच्छिआ ११, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिआ १२, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरी य साहम्मिणी १३, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणी य साहम्मिणी १४, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ य मज्झिमसाहम्मिअनपुंसो अ १५, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ थेरसाहम्मिओ नपुंसो अ १६, मज्झिमपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य १७, अहवा थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणसाहम्मिओ य १८, थेरपुरिससाहम्मिओ मज्झिममहिला साहम्मिणी य १९, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरी साहम्मिणी अ २०, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी य २१, थेरपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसओ साहम्मिओ य २२, थेरपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसो साहम्मिओ अ २३, थेरपुरिसो साहम्मिओ तरुणनपुंसओ साहम्मिओ य २४, तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिम

[1] मज्झिममहिलाओ भा पा १ पु.।

महिला साहम्मिणी अ, २५ तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरमहिला साहम्मिणी अ २६, तरुणपुरिसो साहम्मिओ तरुणी साहम्मिणी अ २७, तरुणपुरिसो साहम्मिओ मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ २८, तरुणपुरिसो साहम्मिओ थेरनपुंसयसाहम्मिओ अ २९, तरुणपुरिससाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३०, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरीसाहम्मिणी अ ३१, मज्झिममहिला साहम्मिणी अ तरुणीसाहम्मिणी अ ३२, मज्झिममहिला साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ अ ३३, मज्झिममहिला साहम्मिणी थेरनपुंसओ साहम्मिओ य ३४ मज्झिममहिला साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ अ ३५, थेरी साहम्मिणी तरुणी साहम्मिणी य ३६, थेरी साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ य ३७, थेरी साहम्मिणी थेरनपुंसयसाहम्मिओ अ ३८, थेरी साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ उ ३९, तरुणी साहम्मिणी मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ य ४०, तरुणी साहम्मिणी थेरनपुंसयसाहम्मिओ य ४१, तरुणी साहम्मिणी तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य ४२, मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ थेरनपुंसयसाहम्मिओ अ ४३, मज्झिमनपुंसयसाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य ४४, थेरनपुंसयसाहम्मिओ तरुणनपुंसयसाहम्मिओ य ४५, एते ताव साहम्मिअचारणिआए लद्धा ॥ इदार्णी अन्नधम्मियचारणिआए[1] दंसिज्जंति[2]–अन्नधम्मिआ दो मज्झिमपुरिसा पुच्छिज्जंति एसेको १, अन्नधम्मिआ दो थेरपुरिसा २, अन्नधम्मिआ दो तरुणपुरिसा ३, अन्नधम्मिआउ दो मज्झिममहिलाउ ४, अण्णधम्मिअथेरीओ दो ५, अण्णधम्मिअतरुणीओ दो ६, अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसया दो ७, अण्णधम्मिआ थेरनपुंसया दो ८, अण्णधम्मिअतरुणनपुंसया दो ९, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो य

१ अन्नधम्मचार° आ. । २ एय सिज्जइ आ, पदंसिज्जति ल २ ।

१०, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ११, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ १२, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ अण्णधम्मिअथेरी य १३, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ १४, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुसओ अ १५, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुसगो य १६, अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुसगो अ १७, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ १८, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य १९, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी अ २०, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ २१, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुसओ अ २२, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुसगो य २३, अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुसगो य २४, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य २५, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी य २६, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ २७, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ २८, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुसगो अ २९, अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुसगो अ ३०, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरी अ ३१, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणी अ ३२, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिमनपुसगो अ ३३, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरनपुसगो य ३४, अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणनपुसगो अ ३५, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणी य ३६, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो य ३७, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ३८, अण्णधम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणनपुसगो अ ३९,

अतरुणी अण्णधम्मियमज्झिमनपुंसगो अ ४०, अण्णधम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो य ४१, अण्णधम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो य ४२, अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसओ अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ४३, अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसओ अ ४४, अण्णधम्मिअथेरनपुंसओ अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ४५ । एते अन्नधम्मिअचारणियाए लद्धा । एते सवे य नवती ॥ इदाणिं साहम्मिअअन्नधम्मिओभयचारणिआ किज्जइ-साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मियमज्झिमपुरिसो य पुच्छिज्जइ १, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो य अण्णधम्मियथेरपुरिसो य २, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो य ७, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिमपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो य ९, एते नव साहम्मियमज्झिमपुरिसममुंचमाणेहिं लद्धा ॥ साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो य २, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणो अ ३, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअथेरपुरिसो अन्नधम्मिअमहिला थेरी अ ५, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मियनपुंसगथेरो अ ८, साहम्मिअथेरपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअथेरपुरिसममुंचमाणेहिं लद्धा ॥ साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मियथेरपुरिसो अ २, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिय-

तरुणपुरिसो अण्णधम्मियमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरमहिला य ५, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मियतरुणी य ६, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एतेवि नव साहम्मिअतरुणपुरिसमणुषमाणेहिं लद्धा ॥ साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरमहिला अ ५, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणमहिला अ ६, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअमज्झिममहिलाए लद्धा ॥ साहम्मिआ थेरी अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियथेरी अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअथेरीए अणुसमाणीए लद्धा ॥ साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ३, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअमज्झिममहिला य ४, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअतरुणी अ ६,

साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअतरुणी अन्नधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणीए अमुच्चमाणीए लद्धा ॥ साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअमज्झिमनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअमज्झिममहिला य ४, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अण्णधम्मियतरुणी य ६, साहम्मियमज्झिमनसपुंओ अन्नधम्मियमज्झिमनपुंसओ अ ७, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मियथेरनपुंसओ अ ८, साहम्मिअमज्झिमनपुंसओ अन्नधम्मिअतरुणनपुंसओ अ ९, एते नव साहम्मिअमज्झिमनपुंसगेण अमुच्चमाणेण लद्धा ॥ साहम्मिअथेरनपुंसओ अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअथेरनपुंसगो अन्नधम्मिअथेरी य ५, साहम्मिअथेरनपुंसओ अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअथेरनपुंसगो य अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअथेरनपुंसगेण अमुच्चमाणेण लद्धा ॥ साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो अ ३, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअमज्झि-

तरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरमहिला प ५, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मियतरुणी य ६, साहम्मियतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअतरुणपुरिसो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एतेहि नव साहम्मिअतरुणपुरिसमणुयमाणेहिं लद्धा ॥ साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ३, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरमहिला अ ५, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणमहिला अ ६, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअमज्झिममहिला अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअमज्झिममहिलाए लद्धा ॥ साहम्मिआ थेरी अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो अ १, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणपुरिसो य ३, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअमज्झिममहिला अ ४, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरी अ ५, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणी अ ६, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअमज्झिमनपुंसगो अ ७, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअथेरी अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअथेरीए अणुगमाणीए लद्धा ॥ साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअमज्झिमपुरिसो य १, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअथेरपुरिसो अ २, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मियतरुणपुरिसो य ३, साहम्मियतरुणी अण्णधम्मिअमज्झिममज्झिममहिला य ४, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मियथेरी अ ५, साहम्मिअतरुणी अण्णधम्मिअतरुणी अ ६,

दोषाः । के च ते ?, संयमविराधना आत्मविराधना च । तत्रात्मविराधना अक्ष्णोर्धूलिः प्रविशति, निमज्जन् श्रान्तश्च भवति, उपकरणं च मलिनीभवति, तत्र यद्युपकरणप्रक्षालनं करोत्यसामाचारी, अथ न क्षालयति प्रवचनहीलना स्यात् । अत उच्यते 'भट्ठिए गमणं'ति, भ्राष्ट्रा भुवा गन्तव्यं–रजोरहितया तु गन्तव्यमिति । इदानीं भाष्यकार आर्द्रस्य पृथिवीकायस्य भेदान् प्रदर्शयन्नाह—

तिविहो य होइ उल्लो महुसित्थो पिंडओ य चिक्खल्लो । लत्तपहलित्तउंडअ खुप्पिज्जइ जत्थ चिक्खल्लो ॥२३॥

यस्तावदार्द्रः स च त्रिविधः–'मधुसित्थो पिंडओ य चिक्खल्लो' एतेषां यथासङ्ख्येन स्वरूपमाह 'लत्तपहलित्तउंडअ खुप्पिज्जति जत्थ चिक्खल्लो' 'लत्त'त्ति अलक्तकोऽलक्तकपथः[1] येन प्रदेशेनालक्तकः कामिन्याः पात्यते तावन्मात्रं पादौ यो लिम्पति कर्दमः स मधुसिक्थकोऽभिधीयते । उंडकाः–पिण्डोलकास्तद्रूपो[2] यो भवति, पादयोर्यः पिण्डरूपतया लगति स पिण्डक इत्यर्थः । यत्र तु निमज्जनं[3] स्यात्स चिक्खल्ल इति । शुष्कमार्गश्च भाष्यकृता न व्याख्यातः, प्रसिद्धत्वाद्भेदरहितत्वाच्चेति । अथ स मार्गः शुष्कचिक्खल्लरूपोऽपि सप्रत्यपायो निष्प्रत्यपायश्चेति, ते चामी प्रत्यपायाः—

पच्चवाया[4] वालाइसावया तेणकंटगा मिच्छा । अक्कंतमणक्कंते सपच्चवाएयरे चेव ॥ २५ ॥

इह हि प्रत्यपाया नाम दोषाः, के ते ?, व्यालादिश्वापदाः स्तेनकण्टका म्लेच्छा इति । तत्थ पढमं सुक्केणं भट्ठीए

---

१ अलत्तोऽलक्तक पथ. आ. पा १ । २ पिण्डकास्तद्रूपो आ. पु । ३ निमज्जति स ल २ । ४ पच्चावाया ल १,२ ।

मनपुंसगो अ ७, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअथेरनपुंसगो अ ८, साहम्मिअतरुणनपुंसगो अण्णधम्मिअतरुणनपुंसगो अ ९, एते नव साहम्मिअतरुणनपुंसगमग्गुमापेण लद्धा ॥ एते नव नवगा साहम्मिअअण्णधम्मिअचारणिआए होंति । एगत्थ मिलिआ एक्कासीति ॥ उक्तं पृच्छाद्वारम् । (अथ) "छक्के पढमजयणा" (यदुक्त) तां विवृण्वन्नाह—

तिविहो पुढविक्काओ सच्चित्तो मीसओ अ अच्चित्तो । एक्किक्को पंचविहो अच्चित्तेण तु गंतव्वं ॥ २३ ॥

त्रिविधः पृथिवीकायः–सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्चेति । इदानीं स त्रिविधोऽप्येकैकः पञ्चप्रकारः । कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लभेदेन पञ्चधा, एवं मिश्राचित्तावपि । तत्र कतरेण गन्तव्यमित्याह–'अचित्तेण तु गंतव्व'ति, तत्र योऽसावचेतनस्तेन गन्तव्यमित्युत्सर्गविधिः । तत्र स एव पृथिवीकायः शुष्क आर्द्रो वा स्यात्, आह च—

सुक्कोल्ल उल्लगमणे विराहणा दुविह सिग्गखुप्पंते । सुक्खेणवि धूलीए ते दोसा मट्टिए गमणे ॥ २४ ॥

शुष्कः–विस्रसा आर्द्रश्चेति । तत्रानयोः शुष्कार्द्रयोः शुष्केन गन्तव्यम्, किं कारणं ?, यत आर्द्रगमने विराधना द्विविधा भवति, आत्मसंयमयोः, तत्रात्मविराधना कण्टकादिवेधात्, इतरा तु त्रसादिपीडनात् । इदानीं विराधनाऽधिकृदोषदर्शनायाह 'सिग्गखुप्पंते' 'सिग्गउ'त्ति श्रमो भवति, 'खुप्पते'त्ति कर्दम एव निमज्जति । तत्र शुष्केन पथा गमनमभ्यनुज्ञातमासीत्, तेनापि न गन्तव्यं यद्यसौ धूलीबहुलो भवति मार्गः । किं कारणं ?, यतो धूलीबहुलेनापि पथा गच्छतस्त एव

१ इमोत्ति म. प्र. २ इमोत्ति पा १ । २ तत्र इयोः शु° आ पा.१ तत्र तयोः शु° पा २ पु. । ३ पति तत्र आ पा १ २ पु ।

गमो'त्ति 'अकंताणकंतसेपच्चवायनिपच्चवायमेयभिन्नो जोएयव्वो सव्वत्थ सपच्चवाओ परिहरणीओ त्ति' एष विधिः । इदानीं[2] साधुः स्थण्डिलादस्थण्डिलं संक्रामन् कस्मिन् काले केन प्रमार्जनं करोतीत्यत आह—

उडुबद्धे रयहरणं वासावासासु पायलेहणिआ । वडउंबरे पिलंखू तस्स अलंभंमि चिंचिणिआ ॥२७॥

'ऋतुबद्धे' शीतोष्णकाले 'रयहरणं'ति रजोहरणेन प्रमार्जनं कृत्वा प्रयाति । तथा 'वासावासासु पायलेहणिआ' वर्षासु[3]—वर्षाकाले वर्षति सति पादलेखनिकया प्रमार्जनं कर्त्तव्यं, सा च किंमयी भवत्यत उच्यते—'वडे' त्यादि, वटमयी उदुम्बरमयी प्लक्षमयी, 'तस्यालाभे'[4] प्लक्षस्याप्राप्तौ चिञ्चिणिकामयी अम्लिकामयीति[5] । सा च कियत्प्रमाणा भवतीत्याह—

बारसअंगुलदीहा अंगुलमेगं तु होइ विच्छिन्ना । घणमसिणनिव्वणावि अ पुरिसे पुरिसे अ पत्तेअं ॥२८॥

द्वादशाङ्गुलानि दीर्घा भवति, येन मध्ये हस्तग्रहो भवति, विस्तारस्त्वेकमङ्गुलं स्यात् । सा च 'घना' निबिडा कार्या, मसृणा निर्व्रणा च निर्ग्रन्थिः भवति । सा च किमेकैव भवति ? नेत्याह—पुरुषे पुरुषे च प्रत्येकम्—एकैकस्य पृथगसौ भवति ।

उभओ नहसंठाणा सचित्ताचित्तकारणा मसिणा । आउक्काओ दुविहो भोमो तह अंतलिक्खो य ॥२९॥

'उभयोः' पार्श्वयोः 'नखसंस्थाना' नखवत्तीक्ष्णा । किमर्थमसौ उभयपार्श्वयोस्तीक्ष्णा क्रियते ?, सचित्ताचित्तकारणात्, तस्या एकेन पार्श्वेन सचित्तपृथिवीकायः संछिख्यते, अन्येन पार्श्वेनाचित्तपृथिवीकाय इति । किंविशिष्टा सा ?—'मसिण'त्ति

1 °सपच्चवायभेयभिन्नो ल १–२ । २ स इदानीं आ पा. १ । ३ यावद्वर्षा वर्षाकाले आ पा. १–२ । ४ तस्याभावे ल. १ । ५ अम्चिलिका° आ. पा. १–२–पु. ।

गम्मइ, सो दुविहो–अक्कंतो अणक्कंतो य, अक्कंतेण गम्मइ, सोऽवि अक्कंतो सो दुविहो–सपच्चवाओ निपच्चवाओ य । पच्चवाया य तेणादओ मणिआ, णिपच्चवाएणं गम्मइ । अहवा अणक्कंता मट्टी सपच्चवाया य होज्जा ताहे धूलीपहेण अक्कंतेण गम्मइ, तस्स असति अणक्कंतेणवि गेम्मति । अहव न होज्जा धूलीपहो सपच्चवाओ वा होज्जा ताहे उल्लेणं गम्मइ । सो अ तिविहो–महुसित्थो पिंडओ चिक्खल्लो य, तरियव्विओ दुहा–अक्कंतो अणक्कंतो य, अक्कंतेण गम्मइ प्रासुकत्वात्, सो दुविहो सपच्चवाओ निपच्चवाओ य, निपच्चवाएण गेम्मइ, तस्स असइ अणक्कंतेण आत्मविराधनाहेतुत्वात् । एवं सर्वत्र निष्प्रत्यपायेन मन्तव्यम् । स्थापना– = ३ ञ ४ 'अक्कंतो अपच्चवाओ' 'अक्कंतमणक्कंतो सपच्चवाएतरे चेव'त्ति कहियं ॥ अत्र आख्याः तत्त्वसावे धूलीरयेन यायात्, आह च–

तस्सासइ धूलीए अक्कंत निरच्चएण गंतव्व । मीसगसच्चित्तेसुऽवि एस गमो सुक्कउल्लादी ॥ २६ ॥

'तस्याः' आख्याः 'वसति' अभावे सति धूलीपथेन गन्तव्य, कीदृशेन ? आक्रान्तेन निरत्ययेन चेति । एष तावदचित्त पृथिवीकायमार्गगमने विधिरुक्तः । तदभावे मिश्रेण पृथिवीकायेन गन्तव्य, तत्राप्येष एवाधस्त्यो विधिर्द्रष्टव्यः । तदभावे सचित्तेन गन्तव्यम् । तथा चाह 'मीसगसचित्तेसु वि एस गमो' मिश्रसचेतनेष्वपि पृथिवीकायेषु एष गमः–शुष्कार्द्रादिः । एतदुक्तं भवति–प्रथम मिश्रशुष्केन गम्यते, तदभावे मिश्रार्द्रेण, तदभावे सचित्तशुष्केन, तदभावे सचित्तार्द्रेण । अथवा 'एस

१ गम्मइ, अहव आ । २ गम्मइ आत्मादि क १.२ पा १ २. पु. । ३ विपच्चएण आ. ।

गमो'त्ति 'अकंताणकंतसेपच्चवायनिपच्चवायभेयभिन्नो जोएयवो सवत्थ सपच्चवाओ परिहरणीओ त्ति' एष विधिः। इदानीं साधुः स्थण्डिलादस्थण्डिलं संक्रामन् कस्मिन् काले केन प्रमार्जनं करोतीत्यत आह—

उडुबद्धे रयहरणं वासावासासु पायलेहणिआ। वडउंबरे पिलंखू तस्स अलंभंमि चिंचिणिआ ॥२७॥

'ऋतुबद्धे' शीतोष्णकाले 'रयहरणं'ति रजोहरणेन प्रमार्जनं कृत्वा प्रयाति। तथा 'वासावासासु पायलेहणिआ' वर्षासु—वर्षाकाले वर्षति सति पादलेखनिकया प्रमार्जनं कर्त्तव्यं, सा च किंमयी भवत्यत उच्यते—'वडे' त्यादि, वटमयी उदुम्बरमयी प्लक्षमयी, 'तस्यालाभे' प्लक्षस्याप्राप्तौ चिञ्चिणिकामयी अम्लिकामयीति। सा च कियत्प्रमाणा भवतीत्याह—

बारसअंगुलदीहा अंगुलमेगं तु होइ विच्छिन्ना। घणमसिणनिव्वणावि अ पुरिसे पुरिसे अ पत्तेअं ॥२८॥

द्वादशाङ्गुलानि दीर्घा भवति, येन मध्ये हस्तग्रहो भवति, विस्तारस्त्वेकमङ्गुलं स्यात्। सा च 'घना' निविडा कार्या, मसृणा निर्व्रणा च निर्ग्रन्थिः भवति। सा च किमेकैव भवति ? नेत्याह—पुरुषे पुरुषे च प्रत्येकम्—एकैकस्य पृथगसौ भवति।

उभओ नहसंठाणा सचित्ताचित्तकारणा मसिणा। आउक्काओ दुविहो भोमो तह अंतलिक्खो य ॥२९॥

'उभयोः' पार्श्वयोः 'नखसंस्थाना' नखवत्तीक्ष्णा। किमर्थमसौ उभयपार्श्वयोस्तीक्ष्णा क्रियते ?, सचित्ताचित्तकारणात्, तस्या एकेन पार्श्वेन सचित्तपृथिवीकायः संलिख्यते, अन्येन पार्श्वेनाचित्तपृथिवीकाय इति। किंविशिष्टा सा ?—'मसिण'त्ति

---

१ °सपच्चवायभेयभिन्नो ल १–२। २ स इदानीं आ पा.१। ३ यावद्वर्षा वर्षाकाले आ पा.१–२.। ४ तस्याभावे ल.१। ५ अम्बिलिका° आ पा.१–२–पु.।

गम्मइ, सो दुविहो–अक्कंतो अणक्कंतो य, अक्कंतेण गम्मइ, सोऽवि अक्कंतो सो दुविहो–सपच्चवाओ निपच्चवाओ य । पच्चवाया य तेणादओ भणिआ, निपच्चवाएणं गम्मइ । अहवा अणक्कंता मट्टी सपच्चवाया य होज्जा ताहे धूलीपहेण अक्कंतेण गेम्मइ, तस्स असति अणक्कंतेणवि गेम्मति । अहव न होज्जा धूलीपहो सपच्चवाओ वा होज्जा ताहे उल्लेणं गम्मइ । सो य तिविहो–महुसित्थो पिंडओ चिक्खल्लो य, तत्थिक्किक्को दुहा–अक्कंतो अणक्कंतो य, अक्कंतेण गम्मइ प्रासुकत्वात्, सो दुविहो सपच्चवाओ निपच्चवाओ य, निपच्चवाएणं गेम्मइ, तस्स असइ अणक्कंतेण आत्माविराधनाहेतुत्वात् । एवं सर्वत्र निष्प्रत्यपायेन मन्तव्यम् । स्थापना–[= ꣳ ꣴ ꣵ] 'अक्कंतो अपच्चवाओ' 'अक्कंतमणक्कंतो सपच्चवाएतरे चेव'त्ति कहिय ॥ अत्र श्लाघ्याः सत्त्वभावे धूलीपथेन यायात्, आह च—

तस्सासइ धूलीए अक्कंत निरच्चएण गतव्वं । मीसगसच्चित्तेसुऽवि एस गमो सुक्कउल्लादी ॥ २६ ॥

'तस्याः' श्लाघ्याः 'असति' अभावे सति धूलीपथेन गन्तव्यं, कीदृशेन ? आक्रान्तेन निरत्ययेन चेति । एष तावदचित्तपृथिवीकायमार्गगमने विधिरुक्तः । तदभावे मिश्रेण पृथिवीकायेन गन्तव्यं, तत्राप्येष एवाक्रान्तादिर्विधिर्द्रष्टव्यः । तदभावे सचित्तेन गन्तव्यम् । तथा चाह 'मीसगसच्चित्तेसु वि एस गमो' मिश्रसचेतनेष्वपि पृथिवीकायेषु एष गमः–शुष्काद्रादिः । एतदुक्तं भवति–प्रथमं मिश्रशुष्केण गम्यते, तदभावे मिश्राद्रेण, तदभावे सचित्तशुष्केण, तदभावे सचित्ताद्रेण । अथवा 'एस

१ गम्मइ, अहव आ । २ कम्मइ, वात्यादि" आ १२ पा.१२. पु. । ३ निपच्चएण आ ।

'वरणेन गन्तव्य'मिति, स संक्रमो निरूप्यते, किंविशिष्टेन तेन गन्तव्यं ? कीदृशेन वा न गन्तव्यमित्यत आह—

नेगंगिपरंपरपारिसाडिसालंबवज्जिए सभए । पडिवक्खेण उ गमणं तज्जाइयरे व संडेवा ॥ ३२ ॥

'नेगंगिपरंपरपारिसाडिसालंबवज्जिए सभए पडिवक्खेण उ गमणं'ति, न एकाङ्गी–अनेकाङ्गी–अनेकेष्टकादिनिर्मितः संक्रमः। 'परंपर' इति परम्परप्रतिष्ठः–न निर्व्यवधानप्रतिष्ठः। 'परिसाडी'ति गच्छतो यत्र धूल्यादीनि पतन्ति। 'सालंबनज्जिए'त्ति आलम्बवर्जितः–सावष्टम्भलग्नरहित इत्यर्थः। सभयो यत्र व्यालादयः शुषिरे[2] वसन्ति। यद्येभिर्गुणैर्युक्तः संक्रमो भवति तदा न यातव्यं, कथं तर्हि यातव्यं ?–'प्रतिपक्षेण' उक्तस्य विपर्ययेण। तत्रानेकाङ्गिनः प्रतिपक्ष एकाङ्गी, परम्परस्यापरम्परकः, परिशाटिनोऽपरिशाटी, सालम्बवर्जितस्याऽसालम्बवर्जितः[3], सभयस्य निर्भयः प्रतिपक्षः, एतेषु प्रतिपक्षेषु गमनम्। भङ्गकाश्चात्र पदपञ्चकनिष्पन्नत्वाद् द्वात्रिंशत्, तद्यथा–"अणेगंगिओ परंपरो परिसाडी सालंबवज्जितो सभउ त्ति पढमो" एवं स्वबुद्ध्या रचनीयम्। स्थापना—

SSSSS	SSSIS	SSSSI	SSSII
ISSSS	ISSIS	ISSSI	ISSII
SISSS	SISIS	SISSI	SISII
IISSS	IISIS	IISSI	IISII
SSISS	SSIIS	SSISI	SSIII
ISISS	ISIIS	ISISI	ISIII
SIISS	SIIIS	SIISI	SIIII
IIISS	IIIIS	IIISI	IIIII

पाठान्तरं वा 'णेगंगिचलऽथिर'त्ति, शेषं प्राग्वत्, तत्रानेकाङ्गी पूर्ववत् 'चलथिर'त्ति एतत्पदद्वयं, तथाहि–एकश्चलः संक्रमो भवति, अपरस्त्वस्थिरः। तत्र चले आरूढे सति[4] गन्तरि वंशवद्यः अन्दोलते स चलः। अस्थिरस्तु भूमावप्रतिष्ठितः, शेषं प्राग्वत्। प्रतिपक्षा अपि प्राग्वदेव, केवलं चलस्याऽचलः प्रतिपक्षः, अनन्दोलनशीलत्वात्। अस्थिरस्य तु स्थिरः

१ वा गन्तव्य॰ आ ल १। २ शुषिरेषु सन्ति आ. पा.१–२ पु। ३ सालम्बवर्जितस्य सालम्ब. आ. पा.१–२. पु.। ४ तत्रारूढे गन्तरि सति आ.।

मेसुणा क्रियते, नातितीक्ष्णा, यतो लिखत आत्मविराधना न भवति। पृथिवीकाययतनाद्वारं गतम्। अथाप्कायद्वारमाह—

अप्कायो द्विविधः-भौमोऽन्तरिक्षश्च। इदानीं प्रत्यासत्तिन्यायादन्तरिक्षमस्तावदुच्यते—

महिआ वास तेह अतरिक्खिअ दट्ठु त न निग्गच्छे। आसन्नाओ नियत्तइ दूरगओ घर च रुक्ख वा ॥२०

सोऽन्तरिक्षजो द्विविधः, महिका-धूमिकारूपोऽप्कायः, 'वासं'ति वर्षारूपश्चाप्कायः। तमेवप्रकारमुभयमपि दृष्ट्वाऽन्त रिक्षज न निर्गच्छेत्। अथ कथमपि निर्गतस्य सतो जात महिकावर्षं तत आसन्नात् भूमागान्निवर्तते। अथ दूरमध्वान गतः ततः कि करोति?–'गृह' शून्य गृहं वृक्ष वा थलमाश्रित्य तिष्ठति। अथ सभयः स प्रदेशः ततः किं कर्तव्यमित्यत आह—

सभए वासत्ताण अब्भुदए सुक्खरुक्खचडण वा। नइकोप्परवरणेण भोमे पडिपुच्छिआगमण ॥२१॥

'सभए' गृहादौ स्तेनकादिभयोपेते 'वर्षात्राणं' वर्षाकल्प प्रावृत्य व्रजति। अथ 'अब्भुदकं' महान् वर्षः ततः किं करोतु? शुष्कवृक्षारोहण कर्तव्यम्। अथासौ सापायो नास्ति ततस्तरण्ड गृहीत्वा तरितु वजल भवति इत्युक्तोऽन्तरिक्षजः। इदर माह–'नदी'त्यादि, यदा तु तस्य साधोर्गच्छतोऽपान्तराले नदी स्यादकरूपा ततस्तस्या नद्याः कूर्परेण व्रजति, नदीं परिह रेत्यर्थः। अथवा 'वरणेन' सेतुबन्धेन व्रजति। एवं भौमे प्रतिपृच्छ्य पूर्वमेव कञ्चित्पुरुषं गमन कर्तव्यम्। इदानीं यदुक्तं

१ मार्ग म.१-२ पा.२. पु.। २ पुन म १ पा २। ३ आसन्नादिभूभागे वा पा १। ४ सभयप्रदेशे गतस्तत वा। ५ प्रवर्षं वा पा १ पु.। ६ नास्ति वा तत' म.१-२।

गन्तव्यम् । को विधिरित्याह–'दग' इत्यादि, 'दगसंघट्टण'मिति, उदकसंघट्टनं जंघार्द्धप्रमाणं 'लेवे'ति उदकमेव नाभिप्रमाणं। तत्र कथमवतरणीयमित्यत आह–'पमज्ज पाए अदूरंमि' पादौ प्रमृज्य, कियति भूमिभागे व्यवस्थित उदकस्येत्यत आह, अदूरे–आसन्ने तीर इत्यर्थः। तैच्चतुर्द्धा जलम्–

पाहाणे महुसित्थे वालुअ तह कद्दमे य संजोगा । अक्कंतमणक्कंते सपच्चवाएयरे चेव ॥ ३४ ॥

पाषाणजलं मधुसिक्थकजलं वालुकाजलं कर्दमजलं चेति । तत्र पाषाणजलं–यत्पाषाणानामुपरि वहति । मधुसिक्थकजलं यँद् अलक्तकमार्गविगाहिकर्दमस्योपरि वहति । वालुकाजलं तु यद् वालुकाया उपरि वहति । कर्दमजलं तु यद् घनकर्दमस्योपरि वहति । तत्र च पाषाणजलादेराक्रान्तानाक्रान्तसप्रत्यपायनिष्प्रत्यपायैः सह संयोगा भवन्ति–भङ्गका इत्यर्थः । तत्थ पाहाणजलं अक्कंतं अणक्कंतं च। तँत्थ अक्कंतेण गम्मति । जं तं अँक्कंतं तं सपच्चवायं अपच्चवायं च । अपच्चवाएणं गम्मति । सपच्चवायं पाहाणजलं होज्जा न वा होज्जा ताहे मधुसित्थजलेण गम्मइ । तत्थऽवि एसेव भेदो । तस्सासइ वालुआजलेण गम्मइ, तस्सवि एए चेव भेआ। कद्दमजलेऽवि एवमेव अक्कंतमणक्कंतसपच्चवाएयरा, सव्वत्थ निप्पच्चवाएण गम्मइ । तथाहि–एकैकस्मिंश्चतुर्विधे जले चतुर्भङ्गी, सा चेयम्–तत्थ तात्र पाहाणजलं अक्कंतं अपच्चवायं पढमो भंगो, एवमादि ४, एवं महुसित्थंपि ४, वालुयाजलंपि ४ कद्दमजलंपि ४ । अथ सङ्घट्टादिजललक्षणप्रणिनिनीषया भाष्यकृदाह—

जंघद्धा संघट्टो नाभी लेवो परेण लेवुवरिं। एगो जले थलेगो निप्पगलण तीरमुस्सग्गो ॥ ३४ ॥ (भा.)

१ उदकं जङ्घा° आ पा १–२ पु. । २ ततश्चतुर्द्धा आ पा.१ । ३ तु ल १.२ । ४ ज तत्थ अक्कत तेणं गम्मति आ. । ५ अक्कंतं सपच्च° आ. पु. ।

ऽपि प्रतिष्ठितत्वात्, एतेषु मध्ये, एतानि षट् पदानि, तद्यथा–"चिरंगि चलो अथिरे पारिसाडि सालंबवज्जिए समए" एष प्रथमः, एवं चतुःषष्टी भेदा ज्ञातव्या" । अन्ये त्वेवं पठन्ति–"एगंगिचलथिरपारिसाडिसालंबवज्जिए समए" एकाङ्गेन निर्दोष एकाङ्गी, चलः–प्रेङ्खनशीलः, अस्थिरः–अधस्तादप्रतिष्ठितः, परिशाटी, सालम्बवर्जितः, समयः । एभिः षड्भिः पदैश्चतुः षष्टिभङ्गी, यस्यां यो मध्ये त्रयस्त्रिंशत्तमो भङ्गः स एव परिगृह्यते, तद्ग्रहणाच्च तुलामध्यग्रहणवदुभयान्तवर्तिनः संगृहीताः । 'चरिपक्खेव उ ममत्तं'ति अस्य मध्यमस्य भङ्गस्योपन्यस्तस्य यः प्रतिपक्ष एकान्तेन शुद्धश्चतुःषष्ट्यन्तिमस्तेन गन्तव्यम् । अथवोत्सर्गविधिः, तदभावे ये निर्भयाः संकीर्णभङ्गकास्तैरपि गन्तव्यमेवेत्यपवादः । अथ सङ्क्रमो नास्ति ततः को विधिः ?, अत आह–'तज्जायरे य संदेव'त्ति, सन्देवकः–पाषाणादेर्योऽन्यस्मिन् पाषाणादौ पादनिक्षेपः स सन्देवकः, स च द्विविधः–तज्जात इतरश्च, तज्जातः–तस्यामेव भूमौ यो जातः, इतरस्त्वन्यत आनीय तत्र निहितः, स एकैकस्त्रिविधः । तदेव त्रैविध्यं दर्शयन्नाह–

चलमाणमणक्कंते सभए परिहरिअ गच्छ इयरेण। दगसंघट्टणलेवो पमज्ज पाए अदूरम्मि ॥ ३३ ॥

तत्र योऽसौ तज्जातः स त्रिविधः–चलमानः अनाक्रान्तः सभयश्च । योऽप्यतज्जातः असावप्येवमेव त्रेधा । ततश्चैवंविधे सन्देवके किं कर्तव्यमित्याह–'गच्छ' व्रज 'इतरेण'त्ति योऽचलः आक्रान्तः अभयश्चेति । अनेन च पदत्रयेणाष्टौ भङ्गाः सूचिताः, तेषां चेयं स्थापना–[illegible] चल–अण–सभ–। अथ संक्रमो नास्ति तत उदकमध्येनैव

१ त्रिभङ्गाः यस्यां ख । २ त्रिंशत्तमो खा. पा१ । ३ चरिपक्खेव खं पा.१ पु. । ४ पाषाणादि. यो खा । ५ मध्ये च पञ्चमं क१–२ ।

गन्तव्यम्। को विधिरित्याह–'दग' इत्यादि, 'दगसंघट्टण'मिति, [1]उदकसंघट्टनं जंघार्द्धप्रमाणं 'लेवे'ति उदकमेव नाभिप्रमाणं। तत्र कथमवतरणीयमित्यत आह–'पमज्ज पाए अदूरंमि' पादौ प्रमृज्य, कियति भूमिभागे व्यवस्थित उदकस्येत्यत आह, अदूरे–आसन्ने तीर इत्यर्थः। [2]तच्चतुर्द्धा जलम्–

पाहाणे महुसित्थे वालुअ तह कद्दमे य संजोगा। अक्कंतमणक्कंते सपच्चवाएयरे चेव ॥ ३४ ॥

पाषाणजलं मधुसिक्थकजलं वालुकाजलं कर्दमजलं चेति। तत्र पाषाणजलं–यत्पाषाणानामुपरि वहति। मधुसिक्थकजलं [3]यद् अलक्तकमार्गविगाहिकर्दमस्योपरि वहति। वालुकाजलं तु यद् वालुकाया उपरि वहति। कर्दमजलं तु यद् घनकर्दमस्योपरि वहति। तत्र च पाषाणजलादेराक्रान्तानाक्रान्तसप्रत्यपायनिष्प्रत्यपायैः सह संयोगा भवन्ति–भङ्गका इत्यर्थः। तत्थ पाहाणजलं अक्कंतं अणक्कंतं च। [4]तत्थ अक्कंतेण गम्मति। जं तं [5]अक्कंतं तं सपच्चवायं अपच्चवायं च। अपच्चवाएणं गम्मति। सपच्चवायं पाहाणजलं होज्जा न वा होज्जा ताहे मधुसित्थजलेण गम्मइ। तत्थऽवि एसेव भेदो। तस्सासइ वालुआजलेण गम्मइ, तस्सवि एए चेव भेआ। कद्दमजलेऽवि एवमेव अक्कंतमणक्कंतसपच्चवाएयरा, सव्वत्थ निप्पच्चवाएण गम्मइ। तथाहि–एकैकस्मिंश्चतुर्विधे जले चतुर्भङ्गी, सा चेयम्–तत्थ तात्र पाहाणजलं अक्कंतं अपच्चवायं पढमो भंगो, एवमादि ४, एवं महुसित्थंपि ४, वालुयाजलंपि ४ कद्दमजलंपि ४। अथ सङ्घट्टादिजललक्षणप्रणिनिनीषया भाष्यकृदाह—

जंघद्धा संघट्टो नाभी लेवो परेण लेवुवरिं। एगो जले थलेगो निप्पगलण तीरमुस्सग्गो ॥ ३४ ॥ (भा.)

---

१ उदकं जङ्घा° आ पा १–२ पु। २ ततश्चतुर्द्धा आ पा.१। ३ तु ल १.२। ४ ज तत्थ अक्कत तेण गम्मति आ.। ५ अक्कंत सपच्च° आ पु.।

जङ्घार्द्धमात्रप्रमाण जलं संघट्ट उच्यते । नाभिप्रमाणं जलं लेप उच्यते । परेण नाभेर्जलं लेपस्योपरि उच्यते । इदानीं जङ्घार्द्धप्रमाणं जलमुत्तरतो यो विधिः स उच्यते—एकः पादो जले कर्त्तव्योऽन्यः स्थले—आकाशे । अथ तीरप्राप्तस्य विधिमाह—'निप्पगलण'त्ति एकः पादो जले द्वितीयश्च आकाशे निष्प्रगलन्नास्ते ततः शुष्कः स्थले क्रियते, पुनर्द्वितीयमपि पादं निष्प्रगलं कृत्वा तत्तीरे कायोत्सर्गं करोति ॥ अथ तज्जलं नाभिप्रमाणादि भवति निर्भयं च ततः का सामाचारीत्याह—

निक्खमएऽगारित्थीण तु मग्गओ चोलपट्टमुस्सारे । सभए अत्थग्घे वा ओहरणेसु घण पट्ट ॥ ३५ ॥

निर्भये जले सत्यहरणशीलत्वात् स्वापदादिरहितत्वाच्च अगारिणां स्त्रीणां च मार्गतः—पृष्ठतो गच्छति, गच्छता च किं कर्त्तव्य ?, चोलपट्टक उपर्युत्सारणीयः । सभये तु तस्मिन् अस्ताघे वा 'ओतरणेषु' अवतीर्णेषु किंयत्स्वपि गृहिषु मध्येस्थितः प्रयाति 'घण पट्ट'त्ति चोलपट्टकं च 'घनं' निबिडं करोति यथा तोयेन नापह्रियत इति ।

दगतीरे ता चिट्ठे निप्पगलो जाव चोलपट्टो उ । सभए पलंबमाणं गच्छइ काएण अफुसंतो ॥३६॥

उत्तीर्णस्तूदकतीरे तावत्तिष्ठति यावन्निष्प्रगलो जातश्चोलपट्टकः । अथासौ प्रदेशः सभयस्ततः सभये प्रलम्बमानं चोलपट्टकं गृहीत्वा व्रजति । कथम् ?—'कायेन' शरीरेणास्पृशन्, शरीरकृताप्कायविराधनाभयात् । यदा तु नद्यामवतरतो गृहीसहायो नास्ति ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

असइ गिहि नालियाए आणक्खेउं पुणोऽवि पडियरण । एगाभोग पडिग्गह केई सव्वाणि न य पुरओ ॥३७।

गृहस्थाभावे नालिकया तन्नदीजलं 'आणक्खेउं' परीक्ष्य गन्तव्यम् । नालिका ह्यात्मप्रमाणाच्चतुरङ्गुलाधिका यष्टिका तया परीक्ष्य 'पुणोऽवि पडियरणं'ति पुनः प्रतिनिवृत्त्य प्रतिचरणं-आगमनं करोति, आगत्य च 'एगाभोग'त्ति एकत्राभोगः, आभोगः-उपकरणं 'एग'त्ति एकत्र करोति, एकत्र बध्नातीत्यर्थः । पडिग्गह'त्ति पतद्ग्रहं च पृथगधोमुखं घनपात्रकबन्धेन बध्नाति, तं च हस्तेन गृह्णाति तरणार्थम् । केचित्त्वेवमाहुः-पतद्ग्रह उपलक्षणं पात्रकाणां, ततश्च सर्वाण्येव पात्रकाणि अधोमुखानि घनेन चीरेण बध्यन्ते तरणार्थमिति । एस ताव सामण्णेण नदीए अत्थग्घाए गच्छंतस्स विही भणिओ, यदुत-'एगाभोगपडिग्गह केई सव्वाणि'त्ति, नावाएवि आरुहंतस्स एसेव विही, किंतु नावाए चडंतो 'न य पुरउ'त्ति नावाए पढमं नारुहइ-अग्गिमो न चडइ, प्रवर्त्तनाधिकरणदोषात्, भद्दगपंतदोसातो य, जइ भद्दओ तओ सउणं ति मन्नमाणो आरुहइ, अह पंतो तओ अवसउणंति मण्णमाणो कोवं गिण्हति । तथा चसद्दाओ मग्गओवि णारोहइ-निप्पच्छिमो वि नारुहइ, मा सा अद्धारुहंतस्सेव सिग्घं वच्चिहिति णावा, अतो थेवेसु आरूढेसु गिहिसु आरुहइ ॥

सागारं संवरणं ठाणतिअं परिहरित्तुऽनावाहे । ठाइ नमोक्कारपरो तीरे जयणा इमा होइ ॥ ३८ ॥

आरुहन्तो अ सो साहू सागारं संवरणं-पच्चक्खाणं करेति । आरूढो य संतो ठाणतिअं परिहरित्तु अणाबाहे ठाइ । तत्थ पुरओ न ठाइअव्वं, तत्थ किल णावादेवयाहिवासो । ण य मग्गओ, अवल्लगवाहणभयाओ । न मज्झओ, मा णावाओ[1] उदकं उल्लिंचाविज्जहित्ति । कत्थ पुण ठाइअव्वं ? पासे, तत्थ ताव उवउत्तो चिट्ठइ नमोक्कारपरो । एवं कुशलेन(कुसलेण) तीरपत्तस्स को

१ कूवाओ ल.१-२ ।

विही ?, भण्णइ–'तीरे सयणा इमा होति' वक्खमाणा—

नवि पुरओ नवि मग्गओ मज्झिम उस्सग्गो पणवीसा उ। दइउडुयतुंबेसु अ एस विही होइ संतरणे॥

इदाणीं तीरपत्ताए नावाए उत्तरंतो न लोअस्स अग्गिमो उत्तरति, पवयणाधिकरणादेव, नावि मग्गओ लोयस्स उत्तरति, जदिवि पिट्ठओ गच्छेज्जवि, (चल)स्वभावत्वात्, अहवा सो पच्छा एक्को उत्तरंतो कयाइ परिचिज्जा नाविएणं तेण पणम्भट्ठा, तम्हा लोएसु उत्तिण्णेसु मज्झिमु उत्तरति। तीरस्थेन किं कर्तव्यमिति ? भण्णइ 'उस्सग्गो' कायोत्सर्गः कर्तव्यः। तत्र च कियन्त उच्छ्वासाः ? इत्यत आह–'पण्णवीसा उ'त्ति पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाश्चिन्तनीयाः। 'दइउ'त्ति दतिउ चम्मखल्ला, उडुओ जेण तरिज्जइ, 'तुंब' अलाउअं, एएहिं नावाए अभावे संतरिज्जइ, जदि तरणजोग्गं पाणियंति। 'एस विहि'त्ति इतिका दिमित्वीर्यस्य एष एव विधिः। 'संतरणे' प्लवने, नेतुकाम तीरं प्राप्तेनोत्सर्गः कार्य' इति, अत्र चाप्काये मिश्राचित्तवना न शाश्वतुका, छद्मस्थेन तयोस्तत्त्वतो ज्ञातुमशक्यत्वात्, यथ भास्यति स करिष्यत्येवेति, सचित्तस्य तु स्त्येव। उक्तमप्काय ग्रहणम्, अथ तेजस्कायग्रहणमाह–द्वारगाथा

वोलीणे अणुलोमे पडिलोमऽद्देसु ठाइ तणरहिए। असई य कप्पिणतगउच्छण तालिगाइ देवणया॥४०॥

१ मज्झे आ. प. १ डु.। २ तरपच्छा आ. डु. तरपणच्छा पा १–२। ३ 'दइ'त्ति क १–२। ४ तरिज्जति भ १। ५ बहुउ क १–२ पा.२ डु.। ६ तत्ताह आ पा.१–२।

यदा हि तस्य साधोर्गच्छतो वनदवोऽनुकूलो भवति, यदभिमुखं साधुर्व्रजति तदभिमुखमग्निरप्येतीत्यर्थः, ततस्तस्मिन् वनदवे व्यतिक्रान्ते सति गन्तव्यं। अथासौ प्रतिलोमः—अभिमुखमायाति ततः 'अद्देसु' त्ति आर्द्रेषु प्रदेशेषु तिष्ठति येनासौ नाभिभवति, तृणरहिते वा। 'असति' अभावे तस्य 'कत्तिणंतगउल्लणं' ति, कृत्तिः—चर्म तेनात्मानमावृत्य तिष्ठति, तदभावे 'णंतगउल्लणं' णंतगं—कम्बलादिवस्त्रं तदार्द्रीकृत्य पानकेन तेनात्मानमावृणोति, ततस्तिष्ठति। अथ गच्छतो बहुगुणं ततः 'तलिगादिडेवणय' त्ति उपानहौ परिधाय डेवनं—लङ्घनमग्नेः कृत्वा व्रजति। तत्र यदा विध्याते तेजस्काये याति तदाऽचित्ततेजस्काययतना। यदा तूपानहौ परिधाय व्रजति तदा सचित्तो मिश्रो वा तेजस्कायः, एषा त्रिप्रकारा यतना। उक्तं तेजस्कायद्वारम्, अथ वायुद्वारम्—

जह अंतलिक्खमुदए नवरि निअंबे अ वणनिगुंजे य। ठाणं सभए पाउण घणकप्पमलंबमाणं तु ॥४१॥

यथा अन्तरिक्षोदके यतनोक्ता 'आसण्णाओ नियत्तति' इत्यादिलक्षणा सैवेहापि द्रष्टव्या। 'नवरि' त्ति केवलमयं विशेषः, 'नितम्बे' पर्वतैकदेशे वननिकुञ्जे वा स्थातव्यम्। अथासौ प्रदेशः सभयस्ततः 'पाउण घणकप्पं' घनं—निश्छिद्रं कल्पं—कम्बल्यादिरूपं प्रावृत्य गच्छति 'अलंबमाणं तु' त्ति यथा कोणा न प्रलम्बन्ते, प्रलम्बमानैर्वायुविराधनात्। तत्र महावायौ गच्छतः कल्पप्रावृतशरीरस्य सचित्तयतना भवति, अप्रलम्बं कल्पं कुर्वतोऽचेतनयतना, मिश्रयतनाऽपि कल्पप्रावृतस्यैव भवति, यतः किंचि ढकिअं किंचिच्च न, इयं त्रिविधा यतना॥ उक्तं वायुद्वारम्, अथ वनस्पतिद्वारमुच्यते—

तिविहो वणस्सई खलु परित्तऽणतो थिराथिरिकिक्को । सजोगा जह हिट्ठा अक्कताई तहेव इह ॥ ४२ ॥

त्रिविधो वनस्पतिः–अचित्तो मिश्रः सचित्तश्च । योऽसावचित्तः सः परित्तो अणंतो य, परित्तो थिरो अथिरो अ, अणंतो वि थिरो अथिरो अ । इदाणिं मीसो सो दुविहो–परित्तो अणंतो अ, परित्तो दुहा–थिरो अथिरो अ । अणंतोवि दुविहो–थिरो अथिरो अ । इदाणिं सचित्तो, सो दुहा–परित्तो अणंतो अ । परित्तो दुहा–थिरो अथिरो अ । अणंतो दुविहो–थिरो अथिरो अ, एक्किक्को अ भेओ चउहा–अक्कंतो अपच्चवाओ अ १, अक्कंतो सपच्चवाओ अ २, अणक्कंतो अपच्चवाओ य ३, अणक्कंतो सपच्चवाओ अ ४ । तत्थ का भयणा ?, अचित्तेणं गम्मइ, तत्थवि परित्तेण, तेणवि थिरेण, तत्थवि अक्कंतनिपच्चवाएण तदभावे अणक्कंतेण निपच्चवाएणं, तदभावे अचित्तपरित्तेण अथिरेण गम्मइ, सोऽवि जइ अक्कंतो निपच्चवाओ अ, तदभावे अणक्कंतनिपच्चवाएण य । तदभावे अचित्ताणंतेण थिरेण गम्मति तेणवि अक्कंतेण निपच्चवाएण य । तदभावे अणक्कंत निपच्चवाएण, तदभावे अचित्ताणंतेणं अथिरेण सो अ अक्कंतनिपच्चवाओ य यदि होति । तदभावे अणक्कंतनिप्पच्चवाएण । तदभावे मीसेण, तत्थवि एवमेव भंगा जाणियव्वा जहा अचित्ते । तदभावे सचित्तेण गम्मइ, तत्थवि एसेव गमो । अथ भाषाऽक्षरघटना–त्रिविधो वनस्पतिः–सचित्तः अचित्तः मिश्रश्चेति । तत्रैकैको द्वेधा–परीतोऽनन्तश्च, तत्र परीतः पृथक्-शरीराणामेकद्वित्रिसंख्येयासंख्येयानां जीवानामाश्रयः, अनन्तस्तु अनन्तानामेकैकं शरीरं, स एकैकः स्थिरोऽस्थिरश्च,

१ तत्थवि तेण भंगं आ पा १ । २ गम्मइ । आ । ३ °भिन्नसंख्येयानां आ. ।

स्थिरो दृढसंहननः, इतरस्त्वस्थिरः। अत्र च संयोगाः कर्त्तव्याः, ते चाधस्ताद्यथोक्तास्तथैव दृश्याः, ते चाक्रान्तनिष्प्रत्यपायआक्रान्तसप्रत्यपायअनाक्रान्तसनिष्प्रत्यपायअनाक्रान्तसप्रत्यपायरूपाः। स्थापना–| = ऽ ऽ ऽऽ | ननु च कस्मादचित्तवनस्पतियतनोच्यते ?, तथाहि–सचेतनविषया यतनेति न्यायः, उच्यते, तत्राप्यस्ति कारणं, यद्यपि अचित्तस्तथाऽपि कदाचित्केषाञ्चिद्वनस्पतीनामविनष्टा योनिः स्याद् गुडूचीकङ्कटुकमुद्गादीनां,[1] तथाहि–गुडूची शुष्कापि सती जलसेकात्तादात्म्यं भजन्ती दृश्यते, एवं कङ्कडुकमुद्गादिरपि, अतो योनिरक्षणार्थमचेतनयतनाऽपि न्यायवत्येवेति। अथवाऽचित्तवनस्पतियतनया[2] दयालुतामाह, अचेतनस्यैते भेदा न भवन्ति, किन्तु सचित्तमिश्रयोरेव योजनीयाः। उक्तं वनस्पतिद्वारम्, अधुना त्रसद्वारमाह—

तिविहा बेइंदिया खलु थिरसंघयणेयरा पुणो दुविहा। अक्कंताई य गमो जाव उ पंचिंदिआ नेआ ॥ ४३ ॥

'त्रिविधाः' त्रिप्रकाराः, के ? द्वीन्द्रियाः–सचित्तादिभेदात्, सचित्ताः सकलजीवप्रदेशवन्तः, अचित्तास्तद्विपर्ययात्।[3] मिश्रास्त्वेत एव करम्बीभूताः। पुनरेकैको द्विविधः, तथाहि–सचित्तो थिरसंघयणो अथिरसंघयणो अ, एवं अचित्तो वि मीसो वि। जो सो थिरसंघयणो तत्थ चउभंगी–अक्कंतोऽणक्कंतो सपच्चवाओ इयरो य। एवं अण्णोवि 'अक्कंतादीय'त्ति आक्रान्तादिर्गमो भङ्गक इति, अनेन चतुर्भङ्गिका सूचिता। एवमयं क्रमस्त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां सचित्ताचित्तमिश्रादिर्योजनीय इति ॥ एवं तावत्सजातीययतनोक्ता, इदानीं विजातीयेन सहाह—

---

१ °मुद्गादीनां आ. पा. २ पु। २ °यतनाया ळ १। ३ अचित्तास्तु विपर्ययात् आ. पा. १।

पुढविदए पुढवीए उदये पुढवितस वालकटा य। पुढविवणस्सइकाए ते चेव उ पुढविए गमण ॥४४॥
पुढवितसे तसरहिए निरंतरतसेसु पुढविए गमण। आउवणस्सइकाए वणेण नियमा वण उदए॥४५॥
तेऊवाउविहूणा एव सेसावि सव्वसंजोगा। नच्चा विराहणदुग वज्जितो जयसु उवउत्तो ॥ ४६ ॥

पृथिव्युदकयोः युगपद्गमनतया प्राप्तयोः सतोः कतरेण यातव्यमित्याह—पृथिव्या, उदके त्रसादिसद्भावात्, वालुका वनस्पतिश्च पृथिवी स्वस्त्वेव। अथ पृथिवीवनस्पतिकाययोः सतोः किं कर्त्तव्यमित्याह—पृथिव्यैव गन्तव्यं, वनस्पतौ बहोष संभवात् ॥ अथ पृथिवीत्रसयोः केन गन्तव्यं ? त्रसरहितमार्गेण, एतदुक्तं भवति—विरलत्रसेषु तन्मध्येन, निरन्तरेषु तु पृथिव्या। अथ अप्कायवनस्पतिकाययोः सतोः केन यातव्यमित्याह—वनेन वनस्पतिकायेन उदके नियमाद्वनस्पतिसद्भावात् ॥ तेजस्कायवायुकायाभ्यां रहिता एव शेषा अपि सर्वे संयोगाः, अन्येऽपि ये नोक्तास्तेऽप्यनुगन्तव्याः भङ्गकाः, सर्वथा विराधना द्वय ज्ञात्वा—आत्मविराधना संयमविराधना च। एतद्द्वयमपि वर्जयन् उपयुक्तो यतस्व—यतनां कुर्विति। इदानीं यदुक्तं 'एव सेसावि सव्वसंजोगा' इति ते भङ्गका वर्ण्यन्ते, ते चामी—तत्थ पुढविकाओ आउकाओ वणस्सइकाओ तसकाओ चेति चत्तारि पदानि काउं तओ दुगचारणियाए तिगचारणिआए चउक्कचारणियाए चारेयव्वा, सा य इमा चारणिआ—पुढविकाओ आउक्काओ य पढमो १, पुढवी वणस्सती बीओ य २, पुढवी तसा य तइओ ३, एव पुढवीए तिन्नि लद्धा, आऊ दो लहइ, वणस्सई एक्कंति

१ पृथिव्या आ घा २। २ पृथिवी वनस्पतीन। [illegible] आ। ३ पृथिव्या अव आ।

६, पुढवी आऊ वणस्सई १, पुढवी आऊ तसा २, पुढवी वणस्सइ तसा ३, आऊवणस्सइ तसा ४, एए तिगचारणियाए लद्धा, चउक्कचारणियाए उ एको चेव । सवेवि एकारस अचित्तेहिं पएहिं लद्धा । एवं मीसेसु वि ११, सचित्तेसुवि इकारस ११, सवेऽवि तेत्तीसं ३३ । उक्ता षट्कायतना, आह–यदा पुनर्व्याघ्रदुस्तटीन्यायेनान्यतरविराधनामन्तरेण प्रवृत्तिरेव न घटां प्राञ्चति तदा किं कर्त्तव्यमित्याह—

सव्वत्थ संजमं संजमाउ अप्पाणमेव रक्खिज्जा[1] । मुच्चइ अइवायाओ पुणो विसोही न याविरई ।४७।

'सर्वत्र' सर्वेषु वस्तुषु, किम्? संयमरक्षा कार्या, तदभावेऽभिप्रेतार्थसिद्ध्यसिद्धेः, किमेष एव[2] न्यायः?–नेत्याह–संयमादपि आत्मानमेव रक्षेत्[3], आत्माभावे[4] तत्प्रवृत्त्यसिद्धेः, आत्मानमेव रक्षन्, जीवन्नित्यर्थः, 'मुच्यते' भ्रश्यति कस्मादतिपातात् हिंसादिदोषात्, किं कारणं?, उच्यते, अतिपाततो[5] यतः पुनर्विशुद्धिस्तपश्चरणादिना[6] भविष्यति । अथ मन्यसे पृथिव्याद्यतिपातोत्तरकालं विशुद्धिर्भवतु नाम, किन्तु हिंसायां वर्तमानोऽसौ अविरतो लभ्यत इति 'एकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्ग' इति वचनात्, तदेतन्नास्ति, यत आह–'न याविरई', किं कारणं?, तस्याशयशुद्धतया विशुद्धपरिणामत्वात्, विशुद्धपरिणामस्य च मोक्षहेतुत्वात् । यद्वा सर्वत्र संयमं रक्षन्नतिपातान्मुच्यते अतिपातो न भवति । किमयमेव न्यायः?, नेत्याह–संयमादात्मानमेव रक्षेत्[7], येन पुनरवि विशुद्धिर्भवति, न चातिपातेऽप्यविरतिरिति पूर्ववत् । किं कारणं संयमादप्यात्मा रक्षितव्यः? उच्यते यतः

१ रक्खतो पा १ पु । २ न्याय ? आ. । ३ रक्षन्, ल १ २. रक्षितव्य पा १ । ४ °भावेन आ. । ५ °पातनात् आ पा १ । ६ आदिना आ °स्यादिना पु. । ७ रक्षन् आ पा १ २ पु. ।

सजमहेउ देहो धारिज्जइ सो कओ अ तदभावे ?। सजमफाइनिमित्त तु देहपरिपालणा इट्ठा ॥४८॥

इह हि 'संयमहेतुः' संयमनिमित्त देहो धार्यते, स एव संयमः कुतः 'तदभावे' देहाभावे ? यस्मादेवमेव तस्मात् 'संयमस्फातिनिमित्त' संयमवृद्ध्यर्थं देहपरिपालनमिष्ट-धर्मकायसंरक्षणमभ्युपगम्यते ॥ आह-लोकानामपीष्टमेवत्, तथाहि—

चिक्खल्लछवालसावयसरेणुकटयतणे बहुजले अ। लोगोऽवि नेच्छइ पहे को णु विसेसो भयतस्स ॥४९॥

चिक्खल्लप्वालश्वापदसरेणुकण्टकतृणान् बहुजलांश्च सोपद्रवान् मार्गान्-पथः लोकोऽपि नेच्छत्येव, अतः को नु विशेषो ? लोकात् सकाशाद्भदन्तस्य येनेवमुच्यते इति ?, उच्यते—

जयणमजयण च गिही सचित्तमीसे परित्तऽणते अ। नावि जाणति न यासिं अवहपइण्णा अह विसेसो।५०

यतनामयतनां च गृहिणो न जानन्ति, च ?-सचित्ताद्यो, न च 'एतेषां' गृहिणां 'अवधप्रतिज्ञा' वधनिवृत्तिः, अत एव विशेषः।

अविअ जणो मरणभया परिस्समभआ व ते विवज्जति। ते पुण दयापरिणया मोक्खत्थमिसी परिहरति५१

कृष्ठया। 'अपि च' इति अनेनाभ्युपयमाह, नवरं 'ते'पि सापायान् पथः, इतश्च साधोः प्राणातिपातापत्तावपि

१ लोकेनाविशिष्टमेवत् आ पा १ पु।

गृहिणा सह वैधुर्यमित्याह—

अविसिट्ठंमि वि जोगंमि बाहिरे होइ विहुरया इहरा। सुद्धस्स उ संपत्ती अफला जं देसिआ समए ॥५२॥

इह 'अविशिष्टेऽपि' तुल्येऽपि 'योगे' प्राणातिपातादिव्यापारे 'बाह्ये' बहिर्वर्त्तिनि भवति 'विधुरता' वैधुर्यं विसदृशता, इत्थं चैतदभ्युपगन्तव्यम्, इतरथा शुद्धस्य-साधोः 'संप्राप्तिः' प्राणातिपातापत्तिः 'अफला' निष्फला यतः प्रदर्शिता 'समये' सिद्धान्ते तद्विरुध्यते, तस्मादेतदेवमेवाभ्युपगन्तव्यं, बाह्यप्राणातिपातव्यापारः शुद्धस्य साधोर्न बन्धाय भवतीति॥ तथा चाह—

एक्कंमि वि पाणिवहंमि देसिअं सुमहदंतरं समए। एमेव निज्जराफला परिणामवसा बहुविहीआ ॥५३॥

'एकस्मिन्नपि' तुल्येऽपि प्राणिवधे 'दर्शितं' प्रतिपादितं सुमहदन्तरं, क ? 'समये' सिद्धान्ते, तथाहि—यथा द्वौ पुरुषौ प्राणिवधप्रवृत्तौ, तयोश्च न तुल्यो बन्धो, यस्तत्रातीव्रसंक्लिष्टपरिणतिः स सप्तम्यां पृथिव्यामुत्पद्यते, अपरस्तु नातिसंक्लिष्ट-परिणतिः स द्वितीयनरकादावपीति। इयं तावद्विसदृशता बन्धमङ्गीकृत्य, इदानीं निर्जरामङ्गीकृत्य विसदृशतां दर्शयन्नाह—एवमेव 'निर्जरा' फलविशेषा अपि परिणामवशाद् 'बहुविधा' बहुप्रकारा विशिष्टविशिष्टतरविशिष्टतमाः। एकां प्राणिजाति-मङ्गीकृत्यान्तरमुक्तम्, अधुना सकलव्यक्त्याश्रयमन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह—

जे जत्तिआ अ हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिआ मुक्खे। गणणाईया लोगा दुण्ह वि पुण्णा भवे तुल्ला ॥५४॥

ये हेतवो यावन्तो-यावन्मात्रा 'भवस्य' संसारस्य निमित्त त एव नोन्ये तावन्मात्रा एव मोक्षस्य हेतवो-निमित्तानि। कियन्मात्रकास्त अत आह-गणनाया अतीताः-सङ्ख्याया अतिक्रान्ताः, के ?, लोकाः 'द्वयोरपि' भवमोक्षयोः संबन्धिनां हेतूनाममनुपेया लोकाः 'पूर्णाः' भृताः, तेत्र पूर्णा एकहेतुन्यूना अपि भवन्त्यत आह-तुल्याः, कथम्भूताः ?-क्रियासिद्धे एव 'तुल्याः' सदृशा इत्यर्थः। ननु तुनयग्रहणमेव कस्मात् केवल न कर्तं ? येन पुनः पूर्णग्रहण क्रियते भण्णति पडिसयम-तडागहणेण कर्तलेण सवडिआण संसारमोक्खहेऊण लोका तुल्लेपि कस्सावि बुद्धी होज्जा तो पुण्णग्गहणंपि कीरइ, दोण्हवि पुण्णवि जया जया भरिज्जवि नेपवा। इयमत्र भावना-सर्व एव ये त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनो भावा रागद्वेषमोहात्मनां पुंसां संसारहेतवो भवन्ति त एव रागादिरहितानां भद्रोमतामज्ञानपरिहारेण मोक्षहेतवो भवन्तीति एव तावत्प्रमाणमिदमुक्तम्। इदानीं येषाममी त्रैलोक्यापन्नाः पदार्था बन्धहेतवो भवन्ति न भवन्ति च येषां तदाह—

इरिआवहिआईआ जे चेव हवंति कम्मबंधाय। अजयाण ते चेव उ जयाण निव्वाणगमनाय ॥ ५५ ॥

'ईर गतिप्रेरणयोः' ईरणमीर्या पथि ईर्या ईर्यापथं-गमनागमनमित्यर्थः, ईर्यापथमादौ येषां ते ईर्यापथाद्याः, आदिशब्दा दुःखागादिव्यापारा गृह्यन्ते, ईर्यापथाद्या व्यापारा य एव भवन्ति 'कम्मबंधाय' कर्मबन्धनिमित्त-कर्मबन्धहेतवः, केषाम् ? 'अयतानाम्' अयत्नपराणां पुरुषाणां, त एव ईर्यापथाद्या व्यापारा 'यतानां' यत्नवतां 'निर्वाणगमनाय' मोक्षगमनाय भवन्ति ॥

१ तावेवाषन्मात्रा क.१। २ ते तु पूर्णा आ पा १-२। ३ संबन्धिनां आ.। ४ पुण्णत्ति पा २ पु.। ५ भद्रानक्षमपरिहारत्वारेण पा १ भद्रात्मनोऽज्ञानपरिहारेण पा २। ६ पडिसयमाति° आ.

एवं तावत्साधोर्गृहस्थेन सह तुल्येऽपि व्यापारे विसदृशतोक्ता, इदानीं सजातीयमेव साधुमाश्रित्य विसदृशतामुपदर्शयन्नाह—

एगंतेण निसेहो जोगेसु न देसिओ विही वावि । दलिअं पप्प निसेहो होज्ज विही वा जहा रोगे ॥५६॥

एकान्तेन निषेधः 'योगेषु' गमनादिव्यापारेषु 'न देशितः' नोपदिष्टः 'विधिर्वा' अनुज्ञा वा कश्चित्स्वाध्यायादौ न दर्शिता, किन्तु 'दलिअं' द्रव्यं वस्तु वा 'प्राप्य' विज्ञाय निषेधो भवेत्, तस्यैव वा 'विधिर्भवेत्' अनुष्ठानं भवेदिति । अयमत्र भावः—कस्यचित्साधोराचार्यादिप्रयोजनादिना सचित्तेऽपि पथि व्रजतो गमनमनुज्ञायते, कारणिकत्वात्, नाकारणिकस्य, दृष्टान्तमाह—'जहा रोगे'त्ति यथा 'रोगे' ज्वरादौ परिपाचनभोजनादेः प्रतिषेधः क्रियते, जीर्णज्वरे तु तस्यैव विधिरित्यतः साधूच्यते—वस्त्वन्तरमवाप्य विधिः प्रतिषेधो वा विधीयते । अथवाऽन्यथा व्याख्यायते—इहोक्तं—'अखिलाः पदार्था आत्मनः संसारहेतवो मोक्षहेतवश्च' ततश्च न केवलं त एव यान्यपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि तान्यपि संसारमोक्षयोः कारणानीति, तथा चाह—'एगंतेण निसेहो०' एकान्तेन निषेधः सम्यग्दर्शनादिदानेषु तत्प्रख्यापकशास्त्रोपदेशेषु न दर्शितो विधिर्वा न दर्शित इति संटङ्कः, किन्तु 'दलिकं प्राप्य' पात्रविशेषं प्राप्य कदाचिद्दीयते कदाचिन्न, एतदुक्तं भवति—प्रशमादिगुणसमन्विताय दीयमानानि मोक्षाय, विपर्ययेण भवाय, तदाशातनात्, यथा ज्वरादौ तरुणे सत्यपथ्यं पश्चात्तु पथ्यमिति तदेव ॥ अथैकमेव वस्त्वासेव्यमानं-बन्धाय मोक्षाय च कथं भवति ?, तदाह—

१ पथ्यमपि आ. ।

जंमि निसेविज्जंते अइयारो होज्ज कस्सइ कयाइ। तेणेव य तस्स पुणो कयाइ सोही हवेज्जाहि ॥५७॥

'यस्मिन्' वस्तुनि कोपादौ निषेव्यमाणे 'अतिचारः' स्खलना भवति 'कस्यचित्' साधोः 'कदाचित्' कस्याञ्चिदवस्थायां 'तेनैव' क्रोधादिना तस्यैव पुनः कदाचिच्छुद्धिरपि भवेत्, चण्डरुद्राचार्यशिष्यस्येव, तेन हि यथा स्वशिष्यो दण्डकेन ताडितः, न च रुधिराद्रे दृष्ट्वा पश्चात्तापवान् संवृत्तः चिन्तयति च–धिग्मां यस्यैवंविधः क्रोध इति विशुद्धपरिणामस्यापूर्वकरण क्षपकश्रेणिः केवलोदयः संवृत्त इति। बाह्यव्यापारमङ्गीकृत्य विशेषस्त्वोक्ता, अथ बाह्योऽपि व्यापारो यथा बन्धहेतुर्न स्यात्तथाऽऽह–

अणुमित्तोऽवि न कस्सई बंधो परवत्थुपच्चया भणिओ। तह वि य जयंति जइणो परिणामविसोहिमिच्छंता॥

'अणुमात्रोऽपि' स्वल्पोऽपि बन्धो न कस्यचित् 'परवस्तुप्रत्ययात्' बाह्यवस्तुनिमित्तात्सकाशात् 'भणितः' उक्तः किन्त्वात्मपरिणामादेवेत्यभिप्रायः। आह–यद्येवं न तर्हि पृथिव्यादियतना कार्या? उच्यते, यद्यपि बाह्यवस्तुनिमित्तो बन्धो न भवति तथाऽपि यतनां विदधति पृथिव्यादौ मुनयः परिणामविशुद्धिं 'इच्छन्तः' अभिलषन्तः, एतदुक्तं भवति–यदि पृथिव्यादिकाययतना न विधीयते ततो नैवेयं स्यात्, यस्तु हिंसायां वर्तते तस्य परिणाम एव न शुद्धः, इत्याह च—

जो पुण हिंसाययणेसु वट्टई तस्स णणु परीणामो। दुट्ठो न य तं लिंगं होइ विसुद्धस्स जोगस्स ॥५९॥

यस्तु पुनः 'हिंसायतनेषु' व्यापादनस्थानेषु वर्तते तस्य ननु परिणामो दुष्ट एव भवति, न च तद्धिंसास्थानवर्जित

१ पञ्चाशक भा. गा. १-२ पृ. । २ मर्त्य भा. पृ.।

'लिङ्ग' चिह्नं भवति 'विशुद्धस्य योगस्य मनोवाक्कायरूपस्य ॥

तम्हा सया विसुद्धं परिणामं इच्छया सुविहिएणं । हिंसाययणा सव्वे वज्जेयव्वा पयत्तेणं ॥ ६० ॥

तस्मात् 'सदा' अजस्रं विशुद्धं परिणाममिच्छता सुविहितेन, किं कर्त्तव्यं ?–हिंसायतनानि सर्वाणि वर्जनीयानि प्रयत्नतः ॥ तथा च—

वज्जेमित्ति परिणओ संपत्तीए विमुच्चई वेरा । अवहंतोऽवि न मुच्चइ किलिट्ठभावोत्ति वा यस्स ॥ ६१ ॥

वर्जयाम्यहं प्राणिवधादीन्येवंपरिणतः सन् संप्राप्तावपि, कस्य ?–अतिपातस्य प्राणिप्राणविनाशस्येत्युपरिष्टात्संबन्धः, तथाऽपि विमुच्यते 'वैरात्' कर्मसंबन्धात् । यस्तु (यस्य) पुनः क्लिष्टभावः क्लिष्टपरिणामः सोऽव्यापादयन्नपि न मुच्यते वैरात् ॥ तदेवं गच्छतस्तस्य षट्काययतनादिको विधिरुक्तः, स इदानीं गच्छन् ग्रामादौ प्रविशति, तत्र का सामाचारी ?, तद्दर्शनार्थमुपक्रम्यते—

पढमबिइये गिलाणे तइए सण्णी चउत्थि साहम्मी । पंचमगम्मि अ वसही छट्ठे ठाणट्ठिओ होइ ॥६२॥

प्रथमद्वारे द्वितीयद्वारे च 'गिलाणे'त्ति ग्लानविषया यतना वक्तव्या, तृतीये द्वारे संज्ञी–श्रावको वक्तव्यः, चतुर्थे द्वारे साधर्मिकः–साधुर्वक्तव्यः, पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या, षष्ठे द्वारे वर्षाकालप्रतिघातात्स्थानस्थितो भवति । आह–तृतीयद्वारे

१ अवहिंतोऽवि ल १.२, अविहिंतोऽवि आ.

पडर्थाधिकारा भविष्यन्ति, तद्यथा—"पइअग्गामे संखडि सण्णी दाणे अ भद्दे अ"त्ति (नि ८५) ततश्च किमिति संज्ञिन एव केवलस्य ग्रहणमकारि?, उच्यते, संज्ञिनोऽतिरिक्तो विधिर्वक्ष्यमाणो भविष्यति अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं संज्ञिग्रहणमेवाकरोत्, अथवा तुलादण्डमध्यग्रहणन्यायेन मध्यग्रहणे शेषाण्यपि गृहीतान्येव द्रष्टव्यानि, आह मध्यमेवैतच्च भवति, यतः षडमूनि द्वाराणि, उच्यते नैतदेव, यतः सप्तमं चक्षुष्याक्षिप्त महानिनादेति द्वारं भविष्यति, संज्ञिग्रहणेन मध्यमेव गृहीतमितीय द्वारगाथा। नन्वस्यातिस्वरितावार्यकार्यप्रसाधनप्रवृत्तत्वात्कोऽवसरो ग्रामादिप्रवेशे?, उच्यते, तत्प्रवेशेऽधिकतरगुणदर्शनात्, तथा चाह—

पइअपारत्तगुणा दोसि य पुच्छा दुवे य साहम्मी। तत्थिक्किका दुविहा चउहा जयणा दुहिक्किका ।६३।

तस्य तत्र ग्रामे प्रविशत 'ऐहिकाः' इहलोकगुणा भक्तपानादयो भवन्ति, परत्रगुणाश्च ग्लानादिप्रतिजागरणादिकाः। प्रविशतश्च तस्य द्विविधा पृच्छा भवति, सा च विध्यविधिलक्षणा वक्ष्यमाणा। साधर्मिकाश्च द्वेधा—साम्भोगिका अन्यसाम्भोगिकाश्च। तत्रैकैको द्विधा, योऽसौ साम्भोगिकः स द्विविधः—कदाचिदेकः कदाचिदनेकः। एवमन्यसाम्भोगिकेऽपि वाच्य। 'चउहा जयण'त्ति चतुर्विधा यतना, साम्भोगिकसंयतयतना साम्भोगिकसंयतीयतना च, तथा अण्णसंभोइयसंजयजयणा अण्णसंभोइयसंजतीजयणा चत्ति। 'तत्थिक्किका दुविह'त्ति तत्रैकैको भेदो द्वेधा साम्भोगिकसंयताः—कारणिका निष्कारणिकाश्च, एवं संभोइयसंजइओवि। एवं असंभोइयसंजयावि संजईओवि। अथवाऽन्यथा—'दुवे य साहम्मी'त्ति संभोइया असंभोइआ

१ भवरं (एवं) समोइय वा।

चेति । 'तत्थिक्किका दुविह'त्ति जे ते संभोइआ ते संजया संजईओ अ, एवमसंभोइयावि । 'चउहा जयण'त्ति चउविहा जयणा कायव्वा दव्वादि ४ । 'दुहिक्कि'त्ति सा एकैका द्रव्यादियतना द्वेधा-तत्थ दव्वओ पढमं फासुएण कीरइ, तदभावे अफासुएणवि । खित्ततो अकयाकारिआसंकप्पिए गेहे ठायव्वं, तदभावे उद्घाटनं गृहस्य [1]कपाटादेरपि क्रियते । कालतः प्रथमपौरुष्यां प्रासुकं दीयते, अथ तस्यां न लभ्यते ततः कृत्वाऽपि दीयते । भावतः प्रासुक[2]द्रव्यैः शरीरस्य समाधानमाधीयते तदभावे त्वप्रासुकैरपि । इयं द्वारगाथा महती, तत्रैहिकगुणद्वारप्रतिपादनायाह पडिदारगाहा—

इहलोइआ पवित्ती पासणया तेसि संखडी सड्ढा । परलोइआ गिलाणे चेइय वाई य पडिणीए ॥६४॥

'इहलोइअ'त्ति द्वारपरामर्शः, प्रविष्टस्य तस्यायं गुणो भवति-यानभिसन्धाय प्रवृत्तस्तदीयां कदाचित्तत्र वार्तां लभते-यथा ततो निर्गत्यैतेऽधुनाऽमुकत्र तिष्ठन्तीति, एतदुक्तं भवति-मासकल्पपरिसमाप्तौ ते कदाचित्तत्रैवायाताः स्युः, ततश्चैतेषां साधूनां पश्यत्ता-[3]दर्शनं भवतीति तत्रैव कार्यपरिसमाप्तिः स्यात्, तथा कदाचित्तत्र संखडी भवति, ततश्च भक्तं गृहीत्वा व्रजतः कालक्षेपो न भवति, शीघ्रं चाभीष्टं ग्रामं प्राप्नोति । तत्र वा प्रविष्टस्य श्राद्धः-श्रावकः कश्चिद्भवति, तद्गृहात्पर्युषितभक्तमादाय व्रजति । एते प्रविष्टस्यैहिकगुणाः । अथेतरे 'परलोइआ' इति द्वारपरामर्शः । 'गिलाण'त्ति कदाचित्तत्र प्रविष्ट इदं भृणुयात् यदुतात्र ग्लान आस्ते, ततश्च तत्परिपालनं कार्यं, परिपालने च कथं न पारलौकिका गुणा इति, 'जो गिलाणं पडियरइ से मं पडिअरति, जो मं पडिअरइ सो गिलाणं पडियरति'त्ति वचनप्रामाण्यात् । कदाचिद्वा तत्र चैत्यायतनं भवेत् तद्वन्दने

१ कपाटाद्यपि ल. १-२. पा. १-२. पु । २ °द्रव्यं° आ. । ३ सदर्शनं आ. पा. २ ।

पुण्यावाप्तिः स्यात्, धारी वा वस्त्रराजयम, प्रत्यनीको वा साध्वादेस्तत्र स्यात् तद्दर्शनाच्चासाधुपक्षम यायात्, एवंलब्धिसंपन्नत्वात्। उक्तमैहिकपारलौकिकगुणद्वारम्। अथ पृच्छाद्वारं, तत्र द्विविधा पृच्छा विधिपृच्छा अविधिपृच्छा च, अविधिपृच्छामाह—

अविही पुच्छा अत्थित्थ सजया नत्थि तत्थ समणीओ। समणीसु अ ता नत्थी सका य किसोरवडवाओ॥

अविधिपृच्छेयं, यदुत सन्त्यत्र संयताः ?, ततोऽसौ पृष्टः एतां विक्षेपविषयां पृच्छां श्रुत्वाऽऽह—नास्त्यत्र संयताः, तत्र च श्रमण्यो विद्यन्ते तेन च ता न कथिताः, विशेषप्रश्नाकरणात्। 'समणीसु य'त्ति अथ श्रमणीः पृच्छति ततोऽसावाह—न सन्त्यत्र ताः, तत्र च श्रमणाः सन्तीति प्राग्वत्। शङ्का च श्रमणीपृच्छायां स्यात् 'किशोरवडवान्यायात्' ॥

सड्ढेसु चरिउकामो सका चारी य होइ सड्ढीसु। चेइयघर च नत्थी तम्हा उ विहीए पुच्छिज्जा ॥ ६६ ॥

अथ श्रावकान् पृच्छति ततः परो विकल्पयति—चरितुकामोऽय—भक्षयितुकामः, अथ 'सड्ढीसु'त्ति श्राविकाविषयायां पृच्छायां शङ्का स्यात्, नूनमय तदर्थी चरितुकामश्च। अथ चैत्यगृहमेव केवलं पृच्छति ततस्तदभावे वर्गचतुष्टयभावे च दर्शनगुणहानिः स्यात्, तस्माद्विधिना पृच्छेत्। तत्प्रतिपादनायाह—

गामदुवारब्भासे अगडसमीवे महाणमज्झे वा। पुच्छिज्ज सय पक्ख विआलणे तस्स परिकहणा ॥६७

ग्रामद्वारे—ग्रामस्य निष्क्रमप्रवेशे स्थित्वा पृच्छेत्, अथवा 'अब्भासे'त्ति ग्रामाभ्यर्णे कूपसमीपे वा महाजनसमीपे वा,

1 पृच्छ आ पु.। २ अथवा समुदाये वा मा.।

कं ?–स्वकं पक्षं, किमत्रास्मत्पक्षोऽस्ति नेति ?, यदि परोऽजानन् पृच्छति–को भवतां स्वपक्षः ? इत्येवं विचारणे ततस्तस्याग्रे साधोः परिकथना स्यात्, पञ्चविधोऽस्मत्पक्षः–चैत्यगृहादि । उक्तं पृच्छाद्वारम् । ततः पृच्छासमनन्तरं यदि चैत्यगृहमस्ति ततस्तस्मिन्नेव गन्तव्यं, तत्र च कथं गन्तव्यम् ?, उच्यते—

निस्संकिअ थूभाइसु काउं गच्छिज्ज चेइयघरं तु । पच्छा साहुसमीवं तेऽवि अ संभोइआ तस्स ॥६८॥

पुव्वद्धं कंठं । अथ साहम्मिअद्वारमाह–'पच्छा साहुसमीवं'ति चैत्यगृहान्निर्गत्य पश्चात्साधुसमीपं याति, 'तेऽपि' साधवः साम्भोगिकाः 'तस्य'साधोः चशब्दादन्यसाम्भोगिका वा । तत्र यदि साम्भोगिकास्ततः का सामाचारी ?, इत्याह—

निक्खिविउं[1] किइकम्मं दीवणऽणाबाह[2] पुच्छण सहाओ । गेलण्ण विसज्जणया अविसज्जुवएस दावणया ॥

'निक्षिप्य' विमुच्य साधुहस्ते, किम् ?, उपकरणं–पात्रकादि, ततः 'कृतिकर्म' वन्दनं करोति, ततश्च 'दीवणं'[3]ति आगमनकार्याविर्भावनं करोति । 'अणाबाह'त्ति, अणाबाधा यूयम् ?, एवं पृष्टे सति तेऽप्याहुः–अनाबाधा वयमिति । 'पुच्छण'त्ति ततः साधुरेवमाह–त्वद्दर्शनार्थमहं[4] प्रविष्ट[5] आसमिदानीं व्रजामीत्येवं पृच्छति, ततस्तेऽपि साधवो यद्यस्ति सहायस्तं दत्त्वा प्रेषयन्ति । अथ तत्र कश्चिद् ग्लानस्तत एवं ब्रवीति–अहमेनं ग्लानं प्रतिचरामीति, ततस्तेऽप्याहुः–विद्यन्त एव प्रतिचारकाः, एवमभिधाय 'विसज्जण(णय)त्ति तं साधुं 'विसर्जयन्ति' प्रेषयन्ति वयमेव भलिष्याम इति । अथ न विसर्जयन्ति, एतच्च

१ निक्खविउ ल. १ । २ दीवणयणावाह ल १. पा. १ पु. । ३ 'दीवणय'त्ति ल १ पु । ४ भवद्दर्शनार्थ °आ. पा. १–२ । ५ प्रविष्टो ग्राममिदानीं °आ पा. १–२ ।

ब्रुवते–सर्वमत्र ग्लानप्रायोग्यमौषधादि लभ्यते, किन्तु तत्संयोजनां न जानीमः, ततः स उपदेशं ददाति–इदमौषधमनेन संयोज्य देयमिति। अथ त एवं ब्रुवते–औषधान्येवात्र वयं न लभामहे ततः स साधुर्दापयत्यौषधानि, पाचयति वा पाठान्तरं, एवमसावौषधानि दापयित्वा व्रजति। अथ त एवमाहुः–औषधसंयोजनां न जानीमो न च लभामहे तत स एव साधुरौषधानि योचयित्वा संयोज्य ग्लानाय दत्त्वा मनाक् प्रशान्ते व्याधौ सति व्रजति। अथ त एवमाहुर्गच्छन्तु साधुम्–

पुणरवि अय खुभिज्ज अयाणगा मो स वा भणिज्ज सचिक्खे। उभओऽवि अयाणता विज्ज पुच्छंति जयणाए

पुनरप्यथ व्याधिः क्षोभं यायात्-प्रकुप्येत्, वयं च न जानीम उपशमयितुं, स वा ग्लान एवं ब्रूयात् त्वया तिष्ठता अहमचिरात्प्रगुणीभवामि, ततः 'सचिक्खे'त्ति संतिष्ठेत्। अथोभावपि तावागन्तुकवास्तव्यौ न जानीतः क्रियां कर्तुं, तत उभावपि अजानन्तौ वैद्यं पृच्छतः, कथं? 'यतनया' अनन्तरगाथावक्ष्यमाणयेति। सा चेयम्–

गमणे पमाण उवगरण सउण वावार ठाण उवएसो।[1] आणण गंधुदगाई उद्धमणट्टे अ जे दोसा ॥७१॥

यदि ग्लानो गन्तुं पारयति तत उत्सर्गेण स एव नीयते। अथ न पारयति ततोऽन्ये साधवो वैद्यसकाशे गमनं कुर्वन्ति। 'पमाणे'त्ति कियत्प्रमाणैर्गन्तव्यं?, तत्रैकेन न गन्तव्यं यमदण्डपरिकल्पनात्, न द्वौ यमदूतपरिकल्पनात्, न चत्वारो नापि कपरिकल्पनात्, अवशिष्टसप्तभिर्गन्तव्य, उक्तं प्रमाणं। 'उवगरण'त्ति शुक्लवासोभिर्यातव्यं, न कृष्णमलिनादिभिर्यातव्यं,

1 पाक्षिका का १२ पा. २। २ 'उवयारो'त्ति वा., 'उवमरथि'त्ति पु.।

उक्तमुपकरणं। 'सउण'त्ति शकुनेषु सत्सु गन्तव्यं, ते चामी 'नन्दीतूरमित्यादयः, अपशकुनेषु तु न गन्तव्यम्। ते चैते—मइलकुचेलादयः, उक्तं शकुनद्वारम्। 'वावार'त्ति यद्यसौ वैद्यो भुङ्क्ते एकल्लशाटको वा छिन्दन् किञ्चिदास्ते भिन्दन्वा ततो न प्रष्टव्यः। अथ ग्लानस्यापि गेण्डकादि छेत्तव्यं ततोऽस्मिन्नेव प्रस्तावे प्रष्टव्यः, उक्तो व्यापारः। 'ठाण'त्ति यद्युत्कुरुटिकातुषबुशराश्यादौ स्थितस्ततो न प्रष्टव्यः, किं तर्हि ?, शुचिप्रदेशस्थ इति, उक्तं स्थानं। 'उवएस'त्ति एवमसौ यतनया पृष्टो यमुपदेशं ददाति-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च सोऽवधारणीयः, तत्र द्रव्यतः शाल्योदनं पारिहट्टं च क्षीरं क्षेत्रतो निर्वाता वसतिः कालतः पौरुष्यां देयं भावतो नास्य प्रतिकूलव्यवहारिभिर्भाव्यं, उक्त उपदेशः। अथ स वैद्य एवं ब्रूयात्—पश्यामि तावत्तमिति, ततः स वैद्यस्तत्समीपमानीयते, न च ग्लानस्तत्र नेयः, किं कारणं ?, वैद्यसमीपं नीयमाने उत्क्षिप्ते लोकः कदाचिदेवं ब्रूयात्-यथा नूनमयं मृत इत्यपशकुनः, मूर्च्छा वा भवेद्विपत्तिर्वा वैद्यगृहे स्यादिति, आगच्छति च वैद्ये किं कर्त्तव्यं ?, 'गेन्धुदकादि'त्ति गन्धवासाः सन्निहिताः क्रियन्ते तद्दानार्थमुदकमृत्तिकया विलेपनादि क्रियते। वैद्ये चागच्छति सूरिणा किं कर्त्तव्यमित्याह-'उट्ठमणुट्ठे अ जे दोस'त्ति यद्यसावाचार्यो वैद्यस्यागतस्योत्तिष्ठति ततो लाघवदोषः। अथ नाभ्युत्तिष्ठति ततः स्तब्ध इति कृत्वा कोपं गृहीत्वा प्रतिकूलः स्यात्, तस्मादेतद्दोषपरिजिहीर्षयाऽनागतमेवोत्थाय प्राङ्गणे परिष्वष्कमाणस्तिष्ठतीति। उक्तमुत्थितानुत्थितद्वारं, कियन्तं पुनः कालं तेन साधुना ग्लानस्य परिचरणं कर्त्तव्यमित्याह—

पढमाबियारजोग्गं नाउं गच्छे बिइज्जए दिण्णे। एमेव अण्णसंभोईयाण अण्णाए वसहीए ॥ ७२ ॥

---

१ गण्डादि ल र पा २, पिटकादि पा १। २ गन्धोदकादिभिर्गन्ध° आ ल. १ पा. २। ३ नाभ्युद्गतिमादत्ते आ.पा.२ पु।

य'त्ति द्रव्यादिचतुष्टयोपदेशे सति तत्र द्रव्यतः प्रासुकमप्रासुकं वा, क्षेत्रतः क्रीतकृता अक्रीतकृता वा वसती, कालतः प्रथम-पौरुष्यामुपदिष्टं तस्यां च यदा प्रासुकं न लभ्यते तदाऽप्रासुकमपि क्रियते, भावतः समाधिः कर्तव्या प्रासुकाप्रासुकैरिति ॥

कारणिअ छट्टपेसे गमणणुलोमेण तेण सह गच्छे। निक्कारणिअ खरंटण विइज्ज संघाडए गमणं ॥७६॥

एवमसौ ग्लानो यदि कारणिको भवति, ततः 'छट्ठ'त्ति षष्ठीभूतः 'पेसे'त्ति प्रेषणीयः। अथ ग्लानस्यापि अनुकूलमेव गन्तव्यं भवति ततः 'गमणणुलोमेण' हेतुना तेन ग्लानेन सह गच्छेत्, उक्तः साम्भोगिकः ग्लान एकः कारणिकः, असाम्भोगिकग्लानकारणिकोऽप्येवमेव द्रष्टव्य इति। अथ निष्कारणिक एको ग्लान इति ततः 'निक्कारणिअ खरंटण'त्ति निष्कारणिकस्य ग्लानस्य खरण्टना-प्रवचनोपदेशपूर्वकं परुषभणनमिति। खरण्टितश्च द्वितीय आत्मनः क्रियत इति। ततश्चैव सङ्घाटके सति 'गमणं'ति गमनं कर्तव्यमिति साम्भोगिकासाम्भोगिकसंयत एकानेककारणिकनिष्कारणिकयतनोक्ता। इदानीं साम्भोगिकासाम्भोगिकसंयतीनामेकानेककारणिकीनिष्कारणिक्यादीनां यतना प्रतिपाद्यते। अथ विधिपृच्छया पृष्टे सति तत्र संयत्यः स्युः तदा को विधिः? इत्याह—

समणिपवेस निसीहिअ दुवारवज्जण अदिट्ठपरिकहणं। थेरीतरुणिविभासा निग्गमऽणाबाहपुच्छा य ॥७७

श्रमणीप्रतिश्रयप्रवेशे सति बहिःस्थितेनैव नि(नै)षेधिकी कर्तव्या द्वारत्रय-द्वारे मध्ये प्रवेशे च। प्रविष्टश्च तथा

---

१ 'भिक्षु गमने कारणिक एकोऽन्ये' भा.। २ समणपेति भा.।

'दुवारवज्जण'त्ति द्वारं [1]प्रतिहृत्य एकस्मिन् प्रदेशे तिष्ठति । अथ नि(नै)षेधिकायां कृतायामपि स्वाध्यायव्यापृताभिर्न दृष्टस्ततः परिकथनं कर्त्तव्यं–साधुरागत इति । ततः परिकथिते सति साध्वीभिर्निर्गन्तव्यम् । तत्र को विधिः ?, 'थेरीतरुणिविभास'त्ति याऽसौ प्रवर्तिनी सा कदाचित्स्थविरा भवति कदाचिच्च तरुणीति अतो 'विभाषा' कल्पना, तत्र यदि स्थविरा निर्गच्छति तत आत्मद्वितीयाऽऽत्मतृतीया वा । अथ तरुणी ततः स्थविराभिस्तिसृभिश्चतसृभिर्वा सह निर्गच्छति, ततस्तास्तमासनेन निमन्त्रयन्ति, [2]उपविशेति, सोऽप्युपविश्य पृच्छति–न काचिद् भवतीनामाबाधेति ॥

सिट्ठंमि सहू पडिणीयनिग्गहं अहव अण्णहिं पेसे । उवएसो दावणया गेलन्ने विज्जपुच्छा अ ॥७८॥

ततस्ताः कथयन्ति अस्त्याबाधा इति, एवं 'शिष्टे' कथिते सति यद्यसौ 'सहुः' समर्थस्ततः प्रत्यनीकनिग्रहं करोति । अथ निग्रहसमर्थो न भवति ततोऽन्यत्र प्रेषयति, अथ तत्र काचिद् ग्लाना तत उपदेशं ददाति, एवमेतदौषधादि दातव्यमस्याः । अथ [3]तास्तत्र न लभन्ते ततः 'दावण'त्ति असावेव दापयति, ग्लानत्वे सत्ययं विधिः । अथासौ स्वयं न जानाति औषधादि दातुं ततो वैद्यं पृच्छति ॥

तह चेव दीवण चउक्कएण अन्नत्थवसहि जा पढमा । तह चेवेगाणीए आगाढे चिलिमिणी नवरं ॥७९॥

कथं वैद्यं पृच्छति ?, 'तथैव' प्राग्वत् 'दीवण'त्ति प्रकाशनं कारणिकोऽहमेकाकी नापशकुनधिया प्राह्यः । 'चउक्कएण'त्ति

---

१ प्रतिहृत्य आ । २ उपवेशयति आ. । ३ तास्तत्र आ. ।

'पञ्चम' त्ति पायस्प्रमालिकां करोति यां चात्मनः स्वयमेवानयितु समर्थः संवृत्तः, 'वियारजोग्ग'त्ति बहिर्भूमिगमनयोग्यो जात इति, एवं ज्ञात्वा गच्छेत्, कथं ?, द्वितीये सहाये दृष्टे सति । अथ नास्ति सहायस्तत एक एव व्रजति । एष तावत्सा म्भोगिकान् प्राप्य विधिरुक्तः । इदानीमन्यसाम्भोगिकविधिमतिदिशन्नाह—एवमेवान्यसाम्भोगिकग्लानस्यापि विधिः, किन्तु 'अप्पाए वसहीए'त्ति अन्यस्यां वसतौ व्यवस्थितेन ग्लानपरिचरणाविधिः कार्यः । अयमपरो विशेषः—असाम्भोगिकसत्कव प्रविशता तदनाक्रान्ते भूप्रदेशे निक्षिप्योपकरणं ततः कृतिकर्मादि साम्भोगिकेष्विव सर्वं कर्त्तव्यमिति, तदनाक्रान्तभूभागे चो- पकरणं स्थापयति, मा मूच्छितकाणां तत्समाचारीदर्शनेऽन्यथाभावः स्यादिति । एवं तावत्साम्भोगिकबहुमध्यगतस्य ग्लानस्य यो विधिः अन्यसाम्भोगिकबहुमध्यगतस्याप्येष एव विधिर्वाच्यः । इदानीमेकैकस्य साम्भोगिकस्येतरस्य च विधिमाह—

एगागि गिलाणंमि उ सिट्ठे किं कीरइ ? न कीरइ वा । छगमुत्तकहणपाणगधुवणत्थुरण तस्स नियग वा

एवमसौ गच्छन् ग्रामाभ्यासे कस्माच्चित्पुरुषादिदं शृणुयात्—किं भवता ग्लानप्रतिजागरणं क्रियते उत न ?, तस्यैव मेकाकिनि ग्लाने 'सिट्ठे' कथिते सति क्रियते न क्रियते ? इति चोक्ते परेण सति साधुरप्याह—सुष्ठु क्रियते, पर आह— यदेव 'छगमुत्तकहण'त्ति छग—पुरीषं मूत्रं—कायिकी, ताभ्यां विलिप्त आस्ते, एवं कथिते सति स साधुर्बहिर्भूमेरेव 'पाणग' त्ति पानकं गृहीत्वा प्रविशति, प्रविष्टश्च 'धुवण'त्ति 'तस्य' ग्लानस्य धावनं करोति—प्रक्षालनं विदधाति, उपधेश्च 'अत्थुरण'त्ति आस्तरणं करोति, 'तस्स'त्ति तदीयैरेव चीवरैः, अथ तस्यान्यानि न सन्ति ततः 'नियगं व'त्ति निजैरेव चीवरैरास्तरणं करो

१ नास्त्येतद् क.ख.प २ । २ असाम्भोगिक आ.पा १ २ । ३ ततश्चैव आ १ २.पु । ४ प्रतीर्तं आ पु । ५ उपविश्य आ पा २ ।

तीति। तथा चाह—

सारवणे साहल्लय पागडधुवणे सुई समायारा। अइविंभ(भिब्भ)ले समाही सहुस्स आसासपडिअरणा

सारवणं-निष्क्रियकरणं तस्मिन्निष्क्रिये ग्लाने कृते सति, अथवा 'सारवणे'त्ति संमार्जिते प्रतिश्रये ग्लानसंबन्धिनि सति परः पृच्छति-तवायं केन संबन्धेन संबद्ध इति, साधुराह,-कत्थइ कहिं चि जाता, एवमादि, ततः पर आह-'साहल्लय'त्ति सफलता धर्मस्य, यददृष्टेऽपि परमबन्धाविव क्रिया क्रियते, 'पायडधुवणे'त्ति प्रकटं ग्लानस्योपधेर्वा क्षालनं कर्त्तव्यं, प्रकटप्रक्षालने च लोक एवमाह, शुचिसमाचारा एते श्रमणा इति। अथासौ ग्लानोऽतिविह्वलः स्याद्-अतीव दुःखेन करालितः स्यात्ततः 'समाहि'त्ति यथाप्रार्थितं भोजनादि दातव्यं येन स्वस्थचित्तो भवति, स्वस्थीभूतश्चाभिधीयते-यथाकालं कुरुष्वेति। अथासौ सहः-समर्थस्ततश्चाश्वास्यते-न भेतव्यं अहं त्वां प्रतिजागरामीति। ततश्च—

सयमेव दिट्ठपाढी करेइ पुच्छइ अयाणओ विज्जं। दीवण दव्वाइंमि अ उवएसो जाव लंभो उ ॥७५॥

यद्यसौ साधुः 'दृष्टपाठी' दृष्टः-उपलब्धः पाठश्चरकसुश्रुतादिर्येन स दृष्टपाठी, अथवा 'दिट्ठ'त्ति वैद्यवद्दृष्टक्रियः क्रियाकुशलः, पाठीति सकलं बाहडादि पठति स एवंविधः स्वयमेव क्रियां करोति। अथासौ दृष्टपाठी न भवति ततः पृच्छति अज्ञः सन् वैद्यं, 'दीवण'त्ति वैद्यशालां गतः प्रकाशयति, यदुताहं कारणेनैककः संजातः, अतो निमित्तं न ग्राह्यं। 'दव्वादिंमि

१ साफल्लता अहो ल १. पा १ २ पु.

य'त्ति द्रव्यादिचतुष्टयोपदेशे सति तत्र द्रव्यतः प्रासुकमप्रासुकं वा, क्षेत्रतः क्रीतकृता अक्रीतकृता वा वसती, कालतः प्रथम पौरुष्यामुपदिष्टं तस्यां च यदा प्रासुकं न लभ्यते तदाऽप्रासुकमपि क्रियते, भावतः समाधिः कर्त्तव्या प्रासुकाप्रासुकैरिति ॥

कारणिअ हट्ठपेसे गमणणुलोमेण तेण सह गच्छे। निक्कारणिअ खरंटण बिइज्ज सघाडए गमण ॥७६॥

एवमसौ ग्लानो यदि कारणिको भवति, ततः 'हट्ठ'त्ति हृष्टीभूतः 'पेसे'त्ति प्रेषणीयः। अथ ग्लानस्यापि अनुकूलमेव गन्तव्यं भवति ततः 'गमणणुलोमेण' हेतुना तेन ग्लानेन सह गच्छेत्, उक्तः साम्भोगिकः ग्लान एकः कारणिकः, असाम्भोगिकग्लानकारणिकैकोऽप्येवमेव द्रष्टव्य इति। अथ निष्कारणिक एको ग्लान इति ततः 'निक्कारणिअ खरंटण'त्ति निष्कारणिकस्य ग्लानस्य खरण्टना-प्रवचनोपदेशपूर्वकं परुषभणनमिति। खरण्टितस्य द्वितीय आत्मनः क्रियत इति। ततश्चैवं सङ्घाटके सति 'गमण'त्ति गमनं कर्त्तव्यमिति साम्भोगिकासाम्भोगिकसंयत एकानेककारणिकनिष्कारणिकयतनोक्ता। इदानीं साम्भोगिकासाम्भोगिकसंयतीनामेकानेककारणिकनिष्कारणिक्यादीनां यतना प्रतिपाद्यते। अथ विधिपृच्छया पृष्टे सति तत्र संयत्यः स्युः ततः को विधिः? इत्याह—

सैमणिपवेस निसीहिअ दुवारवज्जण अदिट्ठपरिकहण। थेरीतरुणिविभासा निमतऽणावाहपुच्छा य ॥७७

श्रमणीप्रतिश्रयप्रवेशे सति बहिःस्थितेनैव नि(नै)षेधिकी कर्त्तव्या वारत्रयं-द्वारे मध्ये प्रवेशे च। प्रविश्य तथा

१ 'भिक्षु गमने भणिय एमेऽन्ये' आ.। २ समणपवेसि आ।

'दुवारवज्जण'त्ति द्वारं [1]प्रतिहृत्य एकस्मिन् प्रदेशे तिष्ठति । अथ नि(नै)षेधिकायां कृतायामपि स्वाध्यायव्यापृताभिर्न दृष्टस्ततः परिकथनं कर्त्तव्यं-साधुरागत इति । ततः परिकथिते सति साध्वीभिर्निर्गन्तव्यम् । तत्र को विधिः ?, 'थेरीतरुणिविभास'त्ति याऽसौ प्रवर्तिनी सा कदाचित्स्थविरा भवति कदाचिच्च तरुणीति अतो 'विभाषा' कल्पना, तत्र यदि स्थविरा निर्गच्छति तत आत्मद्वितीयाऽऽत्मतृतीया वा । अथ तरुणी ततः स्थविराभिस्तिसृभिश्चतसृभिर्वा सह निर्गच्छति, ततस्तास्तमासनेन निमन्त्रयन्ति, [2]उपविशेति, सोऽप्युपविश्य पृच्छति-न काचिद् भवतीनामाबाधेति ॥

सिट्ठंमि सहू पडिणीयनिग्गहं अहव अण्णहिं पेसे । उवएसो दावणया गेलन्ने विज्जपुच्छा अ ॥७८॥

ततस्ताः कथयन्ति अस्त्याबाधा इति, एवं 'शिष्टे' कथिते सति यद्यसौ 'सहुः' समर्थस्ततः प्रत्यनीकनिग्रहं करोति । अथ निग्रहसमर्थो न भवति ततोऽन्यत्र प्रेषयति, अथ तत्र काचिद् ग्लाना तत उपदेशं ददाति, एवमेतदौषधादि दातव्यमस्याः । अथ [3]तास्तत्र न लभन्ते ततः 'दावण'त्ति असावेव दापयति, ग्लानत्वे सत्ययं विधिः । अथासौ स्वयं न जानाति औषधादि दातुं ततो वैद्यं पृच्छति ॥

तह चेव दीवण चउक्कएण अन्नत्थवसहि जा पढमा । तह चेवेगाणीए आगाढे चिलिमिणी नवरं ॥७९॥

कथं वैद्यं पृच्छति ?, 'तथैव' प्राग्वत् 'दीवण'त्ति प्रकाशनं कारणिकोऽहमेकाकी नापशकुनधिया ग्राह्यः । 'चउक्कएण'त्ति

1 प्रतिहृत्य आ । 2 उपवेशयति आ. । 3 तास्तत्र आ. ।

वैयेन द्रव्यादिचतुष्के उपदिष्टे सति यतना पूर्ववत्कर्त्तव्या। 'अण्णस्थवसहि'त्ति अन्यवसतिव्यवस्थितेन प्रतिजागरणं कर्त्तव्यम्। कियन्तं कालं यावदत आह–'जा पउणा' यावत्प्रथमालिकाऽऽनयनक्षमा संवृत्तेति ततो गच्छति। एष तावद् बहूनां मध्ये एकस्या ग्लानविधिरुक्तः। इदानीमेकाकिन्या ग्लानविधिमतिदिशन्नाह–'तह चेवेगाणीए' 'तथैव' प्राग्वदेकाकिन्या ग्लानायाः प्रतिचरणविधिः, एतावांस्तु विशेषः–वस्त्रागारे–मतीनापद्वारापामेकस्मिन्नुपाश्रये 'चिलिमिणी'त्ति यवनिकाव्यवधानं कृत्वा नवरं केवलं प्रतिचरणमसौ करोति ॥

निक्कारणिअ चमढण कारणिअ नेइ अहव अप्पाहे। गमणिरिथमीससमचिवज्जिए असइ एगागी ॥८०

यदि निष्कारणिकाऽसौ भवति ततः 'चमढण'त्ति प्रवचनोक्तैर्वचोभिः खिंसति। अथासौ कारणिका ततस्तां स्वयमेव नयति। 'अहव अप्पाहे'त्ति अथवा तद्गुरोस्तत्प्रवर्त्तिन्या वा एवं संदिशति–यथैतामात्मसकाशे कुरुत। स्वयं च नयतः को विधिरत आह–'गमणित्थिमीससंभविसज्जिए असइ एगागी' गमणं कायव्वं इत्थीहिं सह, ताओवि जइ संभविणीओ होंति, तदभावे मीसेहिं–इत्थीपुरिसेहिं सधम्मीहिं सह गन्तव्वं, तदभावे असंभविणीहिं इत्थीहिं, तदभावे पुरिसित्थिमीसेण असंभविएण, तदभावे संभविपुरिसेहिं, तदभावे असंभविपुरिसेहिं, तदभावे–इत्थिमीससंभविवर्जिते असति अभावे उपायस्य एगागिणि णेति। इदानीं चतुर्विधामप्युक्तयतनामुपसंजिहीर्षुराह—

---

१ पा इत्तोति भ २ पा१२। २ अर्द्धमेवे वर्जिते चा पा१।

एगबहूसमणुण्णाण वसहीए जो अ एगुअमणुन्नो। अमणुन्न संजईण य अण्णाहिं एक्कचिलिमिणीए ।८१।

एतदुक्तं भवति—एगो समणुन्नो जे अ बहू समणुन्ना जो अ एगो अमणुन्नो एयाणं एगाए चेव वसहीए पडियरणं कायव्वं। 'अमणुण्ण'त्ति जे अ बहू अमणुन्ना संजया तेसिं ण एकाए वसहीए ठिएण पडियरणं कायव्वं[1]। 'संजईण य'त्ति संजईण य संभोइयाणं अण्णसंभोइयाण य बहूणं 'अन्नहिं'ति अण्णाए वसहीए ठिओ पडियरइ। 'एक्कं'ति एकां पुनर्ग्लानामाश्रित्य 'चिलिमिणीए' यवनिकाव्यवधानं कृत्वा एकस्यामेव वसतौ प्रतिजागरणं करोति। द्रव्यादियतना च सर्वत्रानुगता द्रष्टव्या। "एहिअपारत्तगुणा दोण्णि अ पुच्छा दुवे अ साहम्मी" त्यादि प्रतिद्वारगाथा व्याख्याता, तद्व्याख्यानाच्च व्याख्यातं पढमगिलाणदुवारं। अथ द्वितीयग्लानद्वारप्रतिपादनायाह—

विहिपुच्छाए पवेसो सण्णिकुले चेइय[2] पुच्छ साहम्मी। अन्नत्थ अत्थि इह ते गिलाणकज्जे अहिवडंति ॥

एवं तस्य व्रजतः पूर्ववद्विधिपृच्छायां सत्यां परेणाख्यातं,—यदुतास्ति श्रावकस्ततः 'पवेसो'त्ति प्रवेशं करोति, क?—सञ्ज्ञिकुले 'चेइय'त्ति यदि तस्मिन् सञ्ज्ञिकुले चैत्यानि सन्ति ततस्तद्वन्दनां करोति। ततः 'पुच्छ'त्ति पृच्छति तान् श्रावकान्—शोभना यूयं शीलव्रतैः?, अहवा 'पुच्छा साहम्मिअ'त्ति स साधुस्तत्र प्रविष्टः पृच्छति—किमिह साधर्मिकाः सन्ति उत न?, तत्राह श्रावकः—'अन्नत्थ अत्थि' अन्यत्र—आसन्नग्रामे विद्यन्ते, ते चेह 'ग्लानकार्ये' ग्लाननिमित्तं 'अहिवडंति' आगच्छन्ति

1 ठितेहिं आ.। 2 चेइ पुच्छ° आ.।

प्रायोग्यभक्तादिग्रहणार्थमिति । ततश्च स साधुस्तस्माद्व्रजति, व्रजन्तं चैवं तं साधुं भोजनाविनाऽऽमन्त्रयति श्रावकः–भगवन् ! प्रथमालिकामादाय व्रज ॥ एवं चाभिहितः सन् किं करोतीत्याह—

सव्वपि न घित्तव्वं निमंतणे जं तहिं गिलाणस्स। कारणि तस्स य तुज्झ य विउलं दव्वं तु पाउग्गं ।८३।

'सर्वं' अशेषं प्रायोग्यमप्रायोग्यं वा न ग्राह्यं श्रावकनिमन्त्रणे सति, 'जं तहिं गिलाणस्स'त्ति यस्मात्तत्र ग्लानस्य युज्यते अतो न ग्राह्यम्, तदा श्रावकः पुनरप्याह–'कारणि तस्स य तुज्झ य विउलं दव्वं तु पाउग्गं' ति, 'तस्य' ग्लानस्य 'कारणे' ग्लाननिमित्तं तव च कारणे तव निमित्तं 'विपुलं' प्रभूतं द्रव्यं शाल्योदनादि प्रायोग्यमस्त्यतो गृह्यतामिति । ततश्चासौ श्रावकानुरोधेन गृहीत्वा व्रजति, क ?—

जाए दिसाए गिलाणो ताए दिसाए उ होइ पडियरणा। पुव्वभणिअं गिलाणे पच्चण्हवि होइ जयणाए ।८४

यया दिशा ग्लानस्तिष्ठति तया दिशा 'पडिअरण'त्ति प्रतिपालनां करोति साधूनां, अथवा 'पडिअरण'त्ति निरूपणं-आलोचनं तस्य श्रावकदानस्य करोति । तच्च परीक्षणं ग्लानपरिचारकसाधुदर्शने सति भवति अत उक्तं–यया दिशा ग्लान-स्तया दिशा 'पडिअरण'त्ति पुव्वभणिअं 'गिलाणे'त्ति पूर्वभणितो ग्लानविषयो विधिर्द्रष्टव्यः साम्भोगिकाऽसाम्भोगिकस्य ग्लानस्य । किमस्यैव प्रतिचरणं कर्त्तव्यं ?, नेत्याह–'पच्चण्हवि होति जयणाए' पञ्चानामपि–पासत्थोसन्नकुसीलसंसत्तपि

१ ना पाउं आ.पा.२. । २ अ विं आ.पा. ११२ दर्शनं प्रति क. २।

तिआणं यतनया प्रासुकेनान्नपानेन कर्त्तव्यं प्रतिजागरणमिति, अपिशब्दान्निह्नवका देवकुलप्रतिपालकाश्च गृह्यन्ते । इयं निर्युक्तिगाथा, एतां च भाष्यकृद्व्याख्यानयन्नाह—

तेसि पडिच्छण पुच्छण सुट्ठुकयं अत्थि नत्थि वा लंभो । खग्गूडे विलओलणदाणमणिच्छे तहिं नयणं ॥

'तेसि पडिच्छण'त्ति 'तेषां ग्लानप्रतिजागरकसाधूनां प्रतिपालनां करोति, यया दिशा ते साधव आगच्छन्ति । 'पुच्छण'त्ति ततस्तान् साधून् दृष्ट्वा पृच्छति–एतन्ममामुकेन श्रावकेण दत्तं यदि ग्लानप्रायोग्यं ततो गृह्यतामिति । एवमुक्ते तेऽप्याहुः 'सुट्ठुकयं अत्थि'त्ति सुष्ठु कृतं श्रावकेण अस्ति ग्लानप्रायोग्यं तत्रान्यदपि त्वमेवेदं गृहाण । 'नत्थि व'त्ति अथवा एवं भणन्ति–नास्ति तत्रेदं द्रव्यं किन्त्वन्यत्र लाभो भविष्यति, त्वमेव गृहाणेदम् । अथ ते 'खग्गूडि'त्ति निर्धर्मप्राया: सन्तः एवमाहुः 'विलओलण'त्ति घाडिरेव निपतिता ततः स साधुस्तद्द्रव्यं सकलं ददाति–समर्पयति, तेऽपि च रुषा नेच्छन्ति ग्रहीतुं, ततश्चासौ 'नयणं'ति ग्लानसमीपे तस्य द्रव्यस्य नयनं करोति ॥ इदानीं यद्यसौ समर्थस्ततश्च गच्छत्येव अथाऽसमर्थस्ततः–

पंतं असहू कारित्ता निवेयणं गहण अहव समणुन्ना । खग्गूड देहि तं चिअ कमढग तस्सऽप्पणो पाए ॥

'प्रान्तं' नीरसप्रायं 'असहू' असमर्थः–क्षुत्पीडितः 'कारित्ता' अभ्यवहृत्य व्रजति । ततश्च तत्र प्राप्तः सन् निवेदनं करोत्याचार्याय, सोऽप्याचार्यो ग्लानार्थं 'गहण'त्ति ग्रहणं करोति, तस्य द्रव्यस्य । अथवा 'समणुन्न'त्ति तस्यैव साधोरनुज्ञां करोति,

१ तत' आ. पा.१–२ ।'

१

पज्जुत्त–मथपेद, ग्लानस्यान्यत्प्रविष्यति । अथासावाचार्यः 'सग्गुहो' अठप्रायो भवेत्तत इद वक्ति–देहि त भिक्ष' त्वमेव ग्लानाय प्रयच्छ, किं ममानेन? एव चोक्तस्तेनाचार्येण गत्वा ग्लानसमीप 'कमढग तस्स'त्ति तदीयके कमढके ददाति, अथ तस्य तथास्ति तदा 'अप्पणो पाए'त्ति आत्मीये एव पात्रे ददाति । ततश्च पुनरप्याचार्यसमीपं भवति, गत्वा इद ब्रवीति—

किं कीरउ? ज जाणसि अतरतो सढेत्ति घत्त त भते!। निद्धम्मा न करेंती करणमणालोइयसहाओ॥

हे आचार्य! ग्लानस्य किमन्यत्क्रियते? आचार्योऽप्याह–'ज जाणसि' त्ति यज्जानासि तदेव कुरु, पुनश्चासौ ग्लानसमीप गच्छति । 'अतरंतो'त्ति ग्लानोऽपि वक्ति–भगवन्! शठा एते ये एव त्वां खलीकुर्वन्ति, मम भदन्त! अस्ति मे परिचारकाः, एवं चोक्ते भवति । 'निद्धम्मा न करेंती' अथासौ ग्लान एवमाह–यदुतैते निर्धर्मा मम न परिवेष्टां कुर्वन्ति, ततश्चासौ साधुः 'करण'ति वैयावृत्त्य करोति, पुनश्चासौ साधुस्त ग्लानमेव ब्रवीति–'अणालोइय'त्ति अमीषां निर्धर्माणां मध्येऽनालोचितप्रतिक्रान्तः कथञ्चिदेव त्व नष्टो मृत इति । अत एवमभिधाय तमात्मसहाय कृत्वा प्रयाति ॥ यदा तु पुनः—

उभओ निद्धम्मेसु फासुपडोआर इयरपडिसेहो। परिमिअदाण विसज्जण सच्छंदोऽहसणा गमण॥२८॥

'उभओ निद्धम्मेसु' इति यदा ग्लानः शेषसाधवश्च निर्धर्मास्तदा कथं परिचरणां करोतीत्याह–'फासुपडोआर' प्रासुके-नान्नपानेन परिपालन करोति 'इयर' इति अप्रासुकस्य निषेधः, तेन क्रियां न करोतीत्यर्थः । 'परिमिअदाण'त्ति परिमित-

[1] निद्धम्मेसु त्ति प १२ पु. ।

स्वल्पं भक्तं ददाति येनासौ निर्विण्णः प्रेषयति, ततः 'विसज्जण'त्ति निर्विण्णः सन् विसर्जयति, गच्छंश्च स साधुः 'सच्छंदोद्धंसण'त्ति सच्छन्दस्त्वमित्येवं 'उद्धंसणां' उद्धूलनाम्–आक्रोशं करोति, ततो 'गमणं'ति गच्छति। परियरणा वक्खाणिआ 'पुव्वभणिअं गिलाणे'त्ति एतदपि व्याख्यातम्। अथ 'पंचण्हवि होति जयणाए'त्ति एतत्पदं व्याचिख्यासुराह—

एस गमो पंचण्हवि णिंतिआदीणं गिलाणपडिअरणे। फासुअकरणनिकायण कहण पडिक्कामणागमणं॥

'एष गमः' एष परिचरणविधि 'पंचण्हवि' पञ्चानामपि, केषामत आह–नितिअाईणं' आदिशब्दात् पासत्थोसण्णकुसीलसंसत्ताणं घेप्पंति 'गिलाणपडिअरणे'त्ति ग्लानप्रतिचरणे एष विधिः–'फासुअकरण'त्ति यदुत प्रासुकेन भक्तादिना परिचरणं कार्यं, 'निकायण'त्ति निकाचनं करोति, यदुत दृढीभूतेन त्वया यदहं ब्रवीमि तत्कर्त्तव्यम्। 'कहण'त्ति धर्मकथायाः, यद्वा 'कहण'त्ति लोकस्य कथयति–किमस्य प्रव्रजितस्य शक्यतेऽशुद्धेन कर्त्तुम्?। 'पडिकामण'त्ति यद्यसौ ग्लानः प्रतिक्रामति प्रतीपं क्रामति तस्मात्स्थानात् निवर्त्तत इति यावत् ततः[3] 'गमणं'ति ग्लानं गृहीत्वा गमनं करोति। अथ यदुक्तं 'पंचण्हवि होति जयणाए' त्ति अत्रापिशब्द आस्ते तदर्थमादर्शयन्नाह—

संभावणेऽविसद्दो देउलिअखरंटजयण उवएसो। अविसेस णिण्हगाणवि न एस अम्हं तओ गमणं॥४०॥

संभावनेऽपिशब्दः, किं संभावयति?–'देउलिअ'त्ति देवकुलपरिपालका वेषमात्रधारिणस्तेऽपि ग्लानाः सन्तः परिचरणीयाः।

---

१ नियाइण आ.। २ नियाईण 'आ। ३ तत स्थानात् 'गमण'ति आ. प्रा १।

'सरंटण'त्ति तेषां देवकुलिकानां संस्तरणं करोति, यदुत धर्मे उद्यमं कुरुत। 'जयण'त्ति यतनया कर्तव्य यथा संयमलाञ्छना न स्यात्। 'उवएसो'त्ति उपदेशं वा क्रियाविषयं ददाति। 'अविसेस'त्ति, न यस्मिन् विषये साधुनिष्क्रावकविशेषो ज्ञायते तस्मिन् 'निण्हगाणवि(णवि)' निष्क्रावकानामपि यतनया परिचरणं करोति। अथ निष्क्रावकग्लान एवं ब्रूयात् 'न एस अम्ह'त्ति योऽयं प्राघूर्णक आयातो नैषोऽस्मत्सजातीय इति ततो गमनं करोति स साधुरिति। अथासौ निष्क्रावकादिरेवमभिदध्यात्—

तारेहि जयणकरण अमुग आणेहऽकप्प जणपुरओ। नवि परिसगा समणा जणणाए तओ अवक्कमण॥

भगवंस्तारय मामस्मान्मान्द्यात् ततः 'जयणकरण'त्ति यतनया प्रतिचरणं करोति। अथासौ निष्क्रवकग्लान एवं ब्रूयात्—'अमुक आणेह'त्ति 'अमुकं' बीजपूरकादि आनय, तत एवं चकार्थ्ये—'अकप्प जणपुरओ'त्ति अकल्पनीयमेवंविधस्येव जनस्य पुरतः प्रेक्षयापयति। एतच्च स साधुर्वक्ति—'नवि परिसगा समणा' न चैवंविधाः श्रमणाः। 'जणणाए'त्ति एवं जनेन—लोकेन तयोर्भेदे ज्ञाते सति ततोऽपसर्पणमपि गच्छति तस्मात्स्थानात्। एवं प्रतिपादिते विधौ चोदक आह—

चोअगवयण आणा आयरिआण तु फेडिआ तेण। साहम्मिअकज्जपभूअयाए य सुचिरेणवि न गच्छे॥

चोदकस्य वचनं चोदकवचन, किं तदित्याह—आज्ञा आचार्याणां संघस्थिनी [3]'फेडिता' विनाशिता तेन यतः साधर्मिक,

1 मस्वाक्रमयति अथ पा.1। 2 °कुतसा य पुषि आ पा.1। 3 अपनीता विनाशिता ततो यत° आ खण्डिता विनाशिताऽनेन पा.2 अपनीता विनाशिता तेन पु.।

कार्यप्रभूततया सुचिरेणापि न गच्छेत्–न यायाद्विवक्षितं स्थानमिति । आचार्य आह—

तित्थगराणा चोयग ! दिट्ठंतो गामभोइनरवइणा । जत्तुग्गय भोइअदंडिए अ घरदार पुव्वकए ॥४३॥

तीर्थकराणामियमाज्ञा हे चोदक !–यदुत ग्लानप्रतिजागरणं कर्तव्यं, "जो गिलाण" मित्यादिवचनात् । अत्र दृष्टान्तो ग्रामभोगिकनरपतिसंबन्धी । जहा कोइ राया सो जत्ताए उज्जओ, तेण य आणत्तं, अमुकगामे पयाणयं दिसामित्ति तत्था-वासं करेहत्ति । ताहे गतो गोहो, जस्सवि भोइअस्स सो गामो तेणवि भणिअं ममवि करेह घरंति, ताहे गामिल्लिया चिंतेंति–राया एगदिवसं एहिति(संवसहित्ति), ता किं रण्णो सचित्रकर्मोज्ज्वलसुन्दरगृहेण ? एवं तेहि रण्णो कायमाणं कयं, भोइअस्स उ रम्मं चाउस्सालं निम्मविअं । राया आगतो पिच्छति कयवंदणमालामिसोभिअं भोइयगिहं चाउस्सालं, ततोहुत्तो पहावितो । ततो तेहिं भणियं–भगवं ! न एस तुम्हावासो, इमो तुज्झंति, तो कस्स एसो ?, भोइयस्स । ततो रण्णा रुट्ठेण भोइयस्स गामो हडो गामोवि दंडिओ । एत्थवि जहा भोइओ तहा आयरिओ, जहा नरवई तहा तित्थयरो, जहा कुडुंबी तहा साहू । अमुमेवार्थमाह–दृष्टान्तो ग्रामभोगिकनरपतिना यात्रोद्गतभोगिकदंडिनोर्गृहदारुणा। पूर्वकृतेन–पूर्वसंचितेन यत्कृतं गृहमिति ।

रण्णो तणघरकरणं सचित्तकम्मं च गामसामिस्स । दोण्हंपि दंडकरणं विवरीयऽण्णेणुवणओ उ ॥४४॥

१ भोइएण नर° आ पा १ । २ उज्जुओ पा.१–२ । ३ देसामित्ति आ. पा १–२ । ४ गामायाराविं दडिया ल १ । ५ यात्रोद्गहदारुणा (त्रोद्गते भोजिके दण्डिके च तृणेन दारुणा च) पूर्वकृतेन–पूर्वचिन्तितेन आ ।

राजस्त्वगृहं छत्र सचिवकर्म च ग्रामस्वामिनः । 'द्वयोरपि' ग्रामेयकग्रामस्वामिनोरीप्सितकरण–दण्डः कृत' । एव तीर्थकरा ज्ञातिक्रमे द्वयोरप्याचार्यशास्त्रोः संसारदण्ड इति । 'विपरीयऽण्णेणुवणओ ठ'त्ति उक्तादोऽन्यः से विपरीतस्त्वेन विपरीतेना न्येनास्यानकेनोपनयः कर्तव्यः । अण्णेहिं भाणिज्जएहिं पितिंअ–मोइयस्स सुन्दरतरं कैतिज्जय घरं, एव चेव नरवइस्स होउं मए चरवइमि मोइयस्स चेव होहिंति, मोइयस्सावि तणकुडी कया । राया पच्चो वट्टुं भणति–कह भो एगदिवसेणमिम भवस कय ? ते भणंति–अम्हेहिं एयं कयं, एय दलिय मोइयस्स कए आणीयं, तेण तुज्झ घरं कय, मोइयस्सावि तणकुडी कया इम । ताहे रण्णा तुट्ठेण सो भामो भकरदाओ कओ, मोइओऽवि संपूइओ, अभो अ से गामो दिण्णो । एव तित्थयराणमाण करितेम आयरिआण चेव कयी आणा । अथ प्रथमोपनयोपदर्शनायाह—

जह नरवइणो आण अइक्कमता पमायदोसेण । पावति बधवहरोहछिज्जमरणावसाणाइ ॥४५॥ (भा)

तह जिणवराण आण अइक्कमता पमायदोसेण । पावति दुग्गइपहे विणिवायसहस्सकोडीओ॥४६॥(भा)

यथा नरपतेराज्ञामतिक्रामन्तः प्रमाददोषेण–अज्ञानदोषेण प्राप्नुवन्ति बन्धो निगडादिभिः वधः–कशादिताडन रोधो–गमनस्य व्याघातः छेदो हस्तादेः मरणावसानानि दुःखानि प्राप्नुवन्ति । तथा जिनवराणामाज्ञामतिक्रामन्तः प्रमादः–अज्ञान स एव दोषस्तेन प्राप्नुवन्ति दुर्गतिपथे विनिपातानां–दुःखानां सहस्रकोटीः । इदानीं द्वितीयोपनयोपदर्शनायाह—

१ स विपरीतेन्य भा. । २ पितिअं–एवं मोइ ■ पा १–२ । ३ कन्नाणं पा १–२ । ४ होइ भा ■ १–२ ।

तित्थगरवयणकरणे आयरिआणं कयं पए होइ । कुज्जा गिलाणगस्स उ पढमालिअ जाव बहिगमणं ।४७।

तीर्थंकरसंबन्धिवचनकरणे-वचनानुष्ठाने आचार्याणां 'कृतं पए'त्ति 'प्रागेव' पूर्वमेव कृतं भवति । यस्मादेतदेवं तस्मात्कुर्याद् ग्लानस्य प्रतिजागरणं साधुः । कियन्तं कालमत आह-'पढमालिअ जाव बहिगमणं'ति यावत्प्रथमालिकामानेतुं समर्थो जातः यावच्च बहिर्गमनक्षमो जात इति ॥ तथा च—

जइ ता पासत्थोसण्णकुसीलनिण्हवगाणंपि देसिअं करणं । चरणकरणालसाणं सब्भावपरंमुहाणं च ॥

यदि तावत्पार्श्वस्थावसन्नकुशीलानिण्हवास्तेषां, तथा सद्भावः-तत्त्वं सम्यग्दर्शनं ततः पराङ्मुखाः, के ते ?, निण्हावकास्तेषाम्, अथवा चरणकरणालसानां अत एव सद्भावपराङ्मुखानां तेषां सर्वेषामेव पार्श्वस्थावसन्नकुसीलनिण्हावकानां यदि तावत्कर्त्तव्यं प्रतिपादितं तत इतरेषां नितरामेव । एतदेवाह—

किं पुण जयणाकरणुज्जयाण दंतिंदिआणं गुत्ताणं । संविग्गविहारीणं सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥४९॥ (भा.)

किं पुनः-किमुत यतनाकरणे उद्यताः-उद्युक्तास्तेषां दान्तेन्द्रियाणां गुप्तानां मनोवाक्कायगुप्तिभिः संविग्नविहारिणः-उद्यतविहारिणो मोक्षाभिलाषिण इत्यर्थः एतेषां सर्वप्रयत्नेन कार्यम् । किं पुनः कारणमेतावन्ति विशेषणानि क्रियन्ते ? एकस्यैव युज्यमानत्वाच्चेन्न, तथाहि-यद्येतावदुच्यते-यतनाकरणोद्यतानामिति, ततः कदाचिन्निह्नवका अपि यतनाकरणोद्यताः

१ केषां-सर्वेषां आ पा.१ पु । २ °त्त्व, आ ।

स्युः, अत आह–दान्तेन्द्रियाणां गुप्तानां चेति । तेऽपि दान्तेन्द्रिया गुप्ताः कदाचित्क्षामाविनिमित्त भवेयुरत उक्तम्–संविग्न विहारिणो ये तेषामवश्यं कर्तव्यमिति । उक्तं ग्लानद्वारम्, अथ सम्भिद्वारं संबन्धयन्नाह–द्वारगाथा—

एव गेलण्णट्ठा वाघाओ अह इयाणि भिक्खट्ठा । वइयग्गामे संखडि सण्णी दाणे अ भद्दे य ॥ ८५ ॥

एवं ग्लानार्थं 'व्याघातो' गमनप्रतिषेधस्तस्य स्यात् । 'अथे'त्यानन्तर्ये, इदानीं भिक्षार्थं गमनविघातो न कार्य इत्यध्याहारः । अथवाऽन्यथा–एष तावद् ग्लानार्थं गमनव्याघात उक्तः, इदानीं भिक्षार्थं यथाऽसौ स्यात्तथोपदर्श्यते–'वइयग्गामे संखडि सन्नी दाणे य भद्दे य'त्ति, व्रज इति–गोकुलं तस्मिन् भिक्षार्थं प्रविष्टस्य गमनविघातः स्यात्, ग्रामः–प्रसिद्धः संखडी–प्रकरणं सञ्ज्ञी–श्रावकः 'दाणे'त्ति दानश्राद्धकः 'भद्दे अ'त्ति भद्रकः साधूनां, पञ्चम्यान्महानिनादकुलानि । एतेषु प्रविविक्ष्यमाणस्य यथा गमनविघातस्तथाऽऽह—

उच्चत्तणमप्पत्ते च पडिच्छे खीरगहण पइगमणे । वोसिरणे छक्काया धरणे मरण दुहविरोहो ॥ ८६ ॥

स हि अनुकूलं प्रधानभूतस्सन्य उद्वर्तते–यतो भक्तस्वाद्वो याति, तृषे च प्राप्तः सन् अप्राप्तवेलां 'प्रतीक्षते' प्रतिपालयति, ततश्च 'खीरगहण'त्ति तत्र क्षीरग्रहणं करोति, क्षीराभ्यवहारमित्यर्थः । 'पइगमणे'त्ति पीते क्षीरे पथि गमनं करोति । पुनश्च तेनास्य भेदः कृतः । ततश्च 'वोसिरणे'त्ति मड्डुड्डः पुरीषोत्सर्गं विदधाति, तत्र च षट्कायविराधना, तद्वेगधरणे च

१ गर्भ तयो ६,१-२ ।

मरणम् । 'दवविरोहो'त्ति द्रवेण-काञ्जिकेन सह विरोधो भवति, साधोः प्रायस्तत्संव्यवहारात् । यद्वा 'दवविरोह'त्ति द्रवम्-उदकं तेन निर्लेपनं करोति सागारिकपुरतः, अथ न करोत्युड्डाहः प्रवचनहीलना[1] भवति, अथवा द्रवविरोधो विनाशो, यतस्तृषितः संस्तदेव पिबति । एवं व्रजे गच्छत आत्मविराधना संयमविराधना प्रवचनोपघातश्च स्यात्, गमनविघातश्च नितरां स्यात् । उक्तं व्रजद्वारम्, अथ ग्रामद्वारम्—

खद्धादाणिअगामे संखडि आइन्न खद्ध गेलन्ने । सण्णी दाणे भद्दे अप्पत्तमहानिनादेसु ॥ ८७ ॥

खद्धादानिकग्रामः-समृद्धगामस्तस्मिन्नुद्वर्त्तनं करोति, अप्राप्तां वेलां च प्रतिपालयति, क्षीरग्रहणं करोति । तत्र च त एव दोषाः "वोसिरणे छकाया धरणे मरणं दवविरोहो" । उक्तं ग्रामद्वारम् । अथ संखडिद्वारं, तत्राह-'संखडि आइन्न खद्ध गेलण्णो' त्ति संखडी-प्रकरणं तदर्थमुद्वर्त्तते, अप्राप्तां च वेलां प्रतिपालयति । तत्र च 'आइण्ण'त्ति आकीर्णं-संबाधस्तत्र[2] च स्त्रीस्पर्शादिदोषाः, तथा 'खद्ध गेलण्णो'त्ति खद्धं-प्रभूतमुच्यते, ततश्च भूरिभक्षणे मान्द्यं स्यात्, त एव च दोषाः, "वोसिरणे छकाया धरणे मरणं दवविरोहो" । उक्तं संखडिद्वारम्, अथ सञ्ज्ञिद्वारम्-'सन्नि'त्ति सञ्ज्ञिनं श्रुत्वा उद्वर्त्तनं करोति, अप्राप्तां च वेलां प्रतिपालयति[3] क्षीरादिग्रहणं करोति तत्र च त एव दोषाः वोसिरणादयः । उक्तं सञ्ज्ञिद्वारम्, इदानीं दानश्राद्धकद्वारम्, तत्रापि "उव्वत्तणमप्पत्तं च पडिच्छे"त्ति पूर्ववत्, ततश्चासौ दानश्राद्धः प्रभूतं घृतादि ददाति, तत्रापि त एव दोषा वोसिरणादयः । उक्तं दानश्राद्धकद्वारम्, अथ भद्रकद्वारम्-'भद्दग'त्ति कश्चित् स्वभावत एव साधुभद्रकः स्यात् तत्समीपगमनार्थ-

१ प्रवचनो° आ । २ सबाधनं स्त्री° आ. पा.१ । ३ °पालयति तत्र आ. पा १ ।

ग्लानत्व भवति, ग्लानत्वे सति तस्य साधोर्यथासंयतः प्रतिजागरणं करोति इच्छति च ततः को दोषस्तदेत्यत आह–असंयत करणे जीवव्याघातो भवति इच्छतः, अथ नेच्छति असंयतेन क्रियां क्रियमाणां ततः 'अणिच्छे मरणं' अनिच्छतो मरण भवति, न केवलमयमेव दोषः, 'गुरुगाणा छड्डणे कायां' गुरोराज्ञालोपः कृतो भवति, मृतस्य च छड्डणे–परित्यागो गृहस्थाः षट्कायव्यापादनं कुर्वन्ति। यदा पुनस्तेषु ग्रामादिषु तक्रौदनादिमक्तं करोति तदा पूर्वोक्ता दोषाः परिहृता भवन्ति। एतदेव प्रतिपादयन्नाह—

तक्कोयणाण गहणे गिलाण आणाइया जढा होंति। अप्पत्त च पडिच्छे सोधा अहवा सय नाउ ॥९१॥

तक्रौदनानां ग्रहणे मति ग्लानत्वदोष आज्ञाभङ्गदोषम, आदिशब्दात्पथि पलिमन्थदोषम, एते जढा इति–परित्यक्ता भवन्ति। इदानीं प्रतिपिद्धस्यापि कारणान्तरेणानुज्ञां दर्शयन्नाह–'अप्पत्तं च पडिच्छे' अप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, किमर्थं?,–वक्ष्यमाणान् दोषान् श्रुत्वा पथिकादेः सकाशात्, 'अहवा सय नाउ' अथवा स्वयमेव ज्ञात्वा, कान्?– दूरव्यवस्थितग्रामादिदोषान्, अप्राप्तामपि वेलां प्रतीक्षत इति। इदानीं तानेव दोषान् प्रतिपादयन्नाह—

दूरुट्ठिअ खुड्डलए नव भद्द अगणी अ पंत पडिणीए। अप्पत्तपडिच्छण पुरुछ थार्हि असो पविसिअव ॥९२॥

कदाचिदसौ ग्रामो दूरे भवति ततोऽप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, 'उट्ठिअ'त्ति कदाचिदसौ ग्राम उत्थितः–उद्वसितो भवति, कदाचित् 'खुड्डलय'त्ति स्वल्पकुटीरकः, कदाचित् 'णव' इति अभिनववासितो भवति, तत्र च प्रथमीकायः

सचित्तो भवति, कदाचिच्च 'भड'त्ति भटाक्रान्तोऽसौ भवति, कदाचित् 'अगणी य'त्ति अग्निना दग्धो भवति, कदाचिच्च प्रान्तः-दरिद्रप्रायो भवति, कदाचिच्च प्रत्यनीकाक्रान्तो भवति, अत एभिः कारणैः 'अप्पत्तपडिच्छण'त्ति अप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, तेन च साधुना सञ्ज्ञिकुलं प्रविशता विधिपृच्छा पूर्ववत्कर्त्तव्या। एतदेवाह-'पुच्छ'त्ति, विधिपृच्छा पूर्ववत्। 'बाहिं'त्ति चोदक एवमाह-बहिरेव स साधुस्तिष्ठतु यावत्सञ्ज्ञिकुले वेला भवतीति, आचार्यस्त्वाह-'अंतो पविसियव्वं' इमं च गाथाऽवयवं भाष्यकारो व्याख्यानयिष्यतीति। इदानीं तत्र संज्ञिकुलेषु प्रविष्टः साधुः कारणमाश्रित्य दीर्घामपि भिक्षाचर्यां यथा करोति तथा प्रतिपादयन्नाह—

कक्खडखित्तचुओ वा दुब्बल अद्धाण पविसमाणो वा। खीराइगहण दीहं बहुं च उवमा अयकडिल्ले॥९३॥

'कक्खड' रूक्षादिगुणसमन्वितं यत्क्षेत्रं तस्माच्च्युतः-आयातः सन्, तथा दुर्बलो यदि भवति-वायत्वादिरोगाक्रान्तः, तथा पुरस्ताद्दीर्घमध्वानं प्रवेक्ष्यति यदि, तत एभिः कारणैः क्षीरादिग्रहणनिमित्तं दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति, बहुं च क्षीरादि गृह्णाति येनासौ[3] कार्यस्य समर्थो भवति। आह-बहुभक्षणात्कथं विसूचिकादिदोषो न भवति?, उच्यते, 'उवमा अयकडिल्ले' उपमा-उपमानं अयो-लोहं तन्मयं यत्कडिल्लं तेन उपमा, एतदुक्तं भवति-यथा तप्तलोहकडिल्ले तोयादि क्षयमुपयाति एवमस्मिन् साधौ रूक्षस्वभावे बह्वपि घृतादि क्षयं यातीति। इदानीं य एव प्राग्व्यावर्णिता दोषास्तानेव कारणान्तरमुद्दिश्य गुणवत्तया स्थापयन्नाह—

१ °स्तिष्ठति आ. पु.। २ वाय्वादि° आ.। ३ येनास्य आ

मुद्दर्शनं करोति, अप्राप्तां च वेलां प्रतिपालयति, ततश्चासौ लड्डुकादिप्रदानं करोति, त एव दोषाः । अथ महानिनादद्वारमाह—'अप्पत्तमहानिनाएसु'त्ति महानिनादेषु—प्रसिद्धेषु कुलेषु—प्रख्यातेषु कुलेषु तद्दर्शनं कृत्वा 'अप्पत्त'त्ति अप्राप्तां वेलां प्रतिपालयति, तेषु च स्निग्धं अन्नं लभ्यते, एवं च तत्रापि त एव दोषाः "वोसिरणे छक्काया" इत्यादयः । उक्तं चशब्दाक्षिप्तं महानिनादकुलद्वारं, तथाऽनुकूलात्सभामार्गादनन्तकूलेषु व्यवस्थितेषु व्रजादिषु अप्राप्तां वेलां भक्तार्थं प्रतिपालयतो गमनविघात दोष उक्तः, इदानीमनुकूलमार्गव्यवस्थितेषु व्रजादिषु भक्तार्थं प्रविष्टस्य यथा गमनविघातो भवति तथा प्रतिपादयन्नाह—

पट्ठुच्छिखीर सतर घयाइ तक्कस्स गिण्हणे दीहं । गेहि विगिंचणिअभया निसट्ठु सुवणे अ परिहाणी ॥८८

पडुच्छिखीर—पारिहट्टि(ट्टी)क्षीरं तदन्विषन् क्षेपक्षीरं चागृण्हन् दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति । तथा 'सतरं'ति सतरं दधि मन्विषमाणस्तरराहित चागृण्हन् दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति । घृतादि चान्विषन्, आदिशब्दात्पनीतमोदकादि परिगृह्यते, तदन्विषन् दीर्घां तां करोति, तक्रस्य वा ग्रहणे दीर्घां तां करोति । इदानीं तत्क्षीरादि प्रचुरं लब्ध्वा सन् 'गेहि'त्ति गृद्धः सन् प्रचुरं भक्षयति, यद्वा 'विगिंचणिअभया निसट्ठु'त्ति विगिंचनं—परित्यागस्तद्भयात्तिसृष्ठु—प्रचुरं भक्षयति, ततश्च प्रचुरभक्षणे 'सुवणे अ परिहाणी' प्रदोष एव स्वाध्यायमकृत्वैव स्वपिति, सुप्तस्य च 'परिहाणी' सूत्रार्थविस्मरणमित्यर्थः, चशब्दात् 'वह मगाति गेलन्न' इत्येतदप्यत्र तृतीयगाथायाम् । एवं तावदनुकूलमार्गव्यवस्थिते व्रजे भक्तार्थं प्रविशतो गमनप्रतिघात उक्तः, इदानीमनुकूलमार्गव्यवस्थिते ग्रामे भक्तार्थं प्रविष्टस्य यथा गमनविघातो भवति तथाह—

१ सनहारम् क १-२ । २ क्षमते क १ ।

गामे परितलिगाइमग्गणे संखडी छण विरूवा । सण्णी दाणे भद्दे जेमणविगईगहण दीहं ॥ ८९ ॥

'ग्रामे' इति द्वारपरामर्शः, ग्रामे प्रविष्टः सन् परितलिगादिमार्गणं करोति, परितलितं–सुकुमालिकादि उच्यते, तदन्विषन् दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति। उक्तमनुकूलग्रामद्वारम्, इदानीमनुकूलसंखडीद्वारमुच्यते–'संखडी छण विरूव'त्ति संखडी–प्रकरणं, सा च 'क्षणे' उत्सवे विविधरूपा भवति, एतदुक्तं भवति–गृहे गृहे घृतपूरादि लभ्यते, तदर्थी च दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति । उक्तमनुकूलसंखडीद्वारं, इदानीमनुकूलपथव्यवस्थितसञ्ज्ञिद्वारमुच्यते–'सण्णि'त्ति संज्ञिनः–श्रावका उच्यन्ते, तेषु मृष्टान्नार्थी दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति । उक्तमनुकूलसञ्ज्ञिद्वारम्, इदानीमनुकूलदानश्राद्धकद्वारमुच्यते–'दाणे'त्ति दानश्राद्धका उच्यन्ते, तेष्वनुकूलपथव्यवस्थितेषु प्रविष्टो मृष्टभोजनार्थी दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति । उक्तं दानश्राद्धकद्वारम्, इदानीं भद्रकद्वारमुच्यते–'भद्दे'त्ति अनुकूलपथव्यवस्थितेषु भद्रकेषु 'जेमणविगईगहण दीहं'ति मृष्टभोजनविकृतिग्रहणार्थं दीर्घां भिक्षाचर्यां करोतीति सर्वत्र योज्यमिति । तत्र प्रागिदमुक्तं–प्रचुरभक्षणात्स्वपतः सूत्रार्थपरिहानिर्भवति, अथ न स्वपिति ततः को दोष ? इत्यत आह—

अह जग्गइ गेलन्नं असंजयकरणजीवबाघाओ । इच्छमणिच्छे मरणं गुरुआणा छड्डणे काया ॥ ९० ॥

अथ स्निग्धे आहारे भक्षिते सति जागरणं करोति, सूत्रार्थपौरुषीं करोतीत्यर्थः । ततश्च को दोष ? इत्यत आह–गेलन्नं

१ तदर्थं आ पा.१–२ पु. । २ °विगति° ल.१–२ पा.१–२. पु. ।

ग्लानस्य भवति, ग्लानत्वे सति तस्य साधोर्यदसंयतः प्रतिजागरणं करोति इच्छति च ततः को दोषस्तदेत्यत आह–असंयत करणे जीवव्यापातो भवति इच्छतः, अथ नेच्छति असंयतेन क्रियां क्रियमाणां ततः 'अणिच्छे मरणं' अनिच्छतो मरणं भवति, न केवलमयमेव दोषः, 'गुरुयाणा छड्डणे काया' गुरोराज्ञालोपः कृतो भवति, मृतस्य च छड्डणे–परित्यागो गृहस्थाः षट्कायव्यापादनं कुर्वन्ति। यदा पुनस्तेषु ग्रामादिषु तक्रौदनादिग्रहणं करोति तदा पूर्वोक्ता दोषाः परिहृता भवन्ति। एतदेव प्रतिपादयन्नाह—

तक्कोयणाण गहणे गिळाण आणाइया जढा होंति। अप्पत्त च पडिच्छे सोच्चा अहवा सय नाउ ॥९१॥

तक्रौदनानां ग्रहणे सति ग्लानत्वदोष आज्ञाभङ्गदोषश्च, आदिशब्दात्सयपि पलिमन्थदोषश्च, एते जढा इति–परित्यक्ता भवन्ति। इदानीं प्रतिषिद्धस्यापि कारणान्तरेणानुज्ञां दर्शयन्नाह–'अप्पत्तं च पडिच्छे' अप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, किमर्थं?,–वक्ष्यमाणान् दोषान् श्रुत्वा पथिकादेः सकाशात्, 'अहवा सय नाउ' अथवा स्वयमेव ज्ञात्वा, कान्?– दूरव्यवस्थितग्रामादिदोषान्, अप्राप्तामपि वेलां प्रतीक्षत इति। इदानीं तानेव दोषान् प्रतिपादयन्नाह—

दूरट्ठिअ खुड्डलए नव भद्द अगणी अ पत पडिणीए। अप्पत्तपडिच्छण पुच्छ धाहिं अतो पविसिअव ॥९२॥

कदाचिदसौ ग्रामो दूरे भवति ततोऽप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, 'उट्ठिअ'त्ति कदाचिदसौ ग्राम उत्थितः–उद्वसितो भवति, कदाचित 'खुड्डलय'त्ति स्वल्पकुटीरकः, कदाचित् 'नव' इति अभिनववासितो भवति, तत्र च पृथिवीकायः

सचित्तो भवति, कदाचिच्च 'भड'त्ति भटाक्रान्तोऽसौ भवति, कदाचित् 'अगणी य'त्ति अग्निना दग्धो भवति, कदाचिच्च प्रान्तः–दरिद्रप्रायो भवति, कदाचिच्च प्रत्यनीकाक्रान्तो भवति, अत एभिः कारणैः 'अप्पत्तपडिच्छण'त्ति अप्राप्तामपि वेलां प्रतिपालयति, तेन च साधुना सञ्ज्ञिकुलं प्रविशता विधिपृच्छा पूर्ववत्कर्त्तव्या। एतदेवाह–'पुच्छ'त्ति, विधिपृच्छा पूर्ववत्। 'बाहिं'त्ति चोदक एवमाह–बहिरेव स साधुस्तिष्ठतु[1] यावत्सञ्ज्ञिकुले वेला भवतीति, आचार्यस्त्वाह–'अंतो पविसियव्वं' इमं च गाथाऽवयवं भाष्यकारो व्याख्यानयिष्यतीति। इदानीं तत्र संज्ञिकुलेषु प्रविष्टः साधुः कारणमाश्रित्य दीर्घामपि भिक्षाचर्यां यथा करोति तथा प्रतिपादयन्नाह—

कक्खडखित्तचुओ वा दुब्बल अद्धाण पविसमाणो वा। खीराइगहण दीहं बहुं च उवमा अयकडिल्ले॥९३॥

'कक्खड' रूक्षादिगुणसमन्वितं यत्क्षेत्रं तस्माच्च्युतः–आयातः सन्, तथा दुर्बलो यदि भवति–वाय्वादिरोगाक्रान्तः,[2] तथा पुरस्ताद्दीर्घमध्वानं प्रवेक्ष्यति यदि, तत एभिः कारणैः क्षीरादिग्रहणनिमित्तं दीर्घां भिक्षाचर्यां करोति, बहुं च क्षीरादि गृह्णाति येनासौ[3] कार्यस्य समर्थो भवति। आह–बहुभक्षणात्कथं विसूचिकादिदोषो न भवति ?, उच्यते, 'उवमा अयकडिल्ले' उपमा–उपमानं अयो–लोहं तन्मयं यत्कडिल्लं तेन उपमा, एतदुक्तं भवति–यथा तप्तलोहकडिल्ले तोयादि क्षयमुपयाति एवमस्मिन् साधौ रूक्षस्वभावे बह्वपि घृतादि क्षयं यातीति। इदानीं य एव प्राग्व्यावर्णिता दोषास्तानेव कारणान्तरमुद्दिश्य गुणवत्तया स्थापयन्नाह—

१ °स्तिष्ठति आ पु । २ वाध्यादि° आ । ३ येनास्य आ.

जे चेव पडिच्छणदीहखद्धसुवणेसु वण्णिआ दोसा। ते चेव सपडिवक्खा होंति इह कारणज्जाए ॥९४॥

ये एव दोषा 'पडिच्छवे'त्ति प्रतिपालने 'दीह'त्ति दीर्घायां भिक्षाचर्यायां 'खद्ध'त्ति प्रचुरभक्षणे 'सुवण'त्ति स्वापे, एतेषु स्थानान्तरेषु 'वर्णिताः' कथिता ये दोषास्त एव सप्रतिपक्षाः—सविपर्यया गुणा इत्यर्थः, भवन्ति, 'इह' अस्मिन् 'कारणजाते' कारणमाश्रित्य । इदानीं यदुक्तं निर्युक्तिकृता—"पुच्छ बाहिं अंतो पविसिअव्व"ति, एतद् व्याख्यानयन् भाष्यकार आह—

विहिपुच्छाए सण्णी सोउ पविसे न बाहिं संचिक्खे । उग्गमदोसभएणं चोयगवयणं बहिं ठाउ ।५०। भा

'विधिपृच्छया' पूर्वाभिहितया 'सञ्ज्ञिन' श्रावक श्रुत्वा ततः प्रविशेत्, क ?—श्रावकगृहे, न च बहिः संतिष्ठेत्, किं कारणम् ?—उद्गमदोषभयात्, मा भूत् साधुमुद्दिश्य कश्चिदाहारं कुर्यादसौ सञ्ज्ञी । एवमुक्ते सत्याचार्येण 'चोदगवयण' चोदकपक्षः, किं तत् ?, इत्याह—'बहिं ठाउ' बहिरेवासौ साधुर्भिक्षावेलां प्रतिपालयतु, मा भूत् प्राघूर्णक इति कृत्वा श्रावक आहारपाकं करिष्यतीति । एवमुक्ते सत्याचार्य आह—

सोच्चा दट्ठूण वा बाहिट्ठिय उग्गमेगयर कुज्जा । अप्पत्त पविट्ठो पुण चोयग ! दट्ठु निवारिज्जा ॥५१॥ (भा)

श्रुत्वा त साधु बहिर्वर्तिनमन्यस्मात्पुरुषादेः स्वयं वा दृष्ट्वा उद्गमादीनां दोषाणामेकतरं—अन्यतम कुर्यात् । 'अप्पत्त'त्ति अप्राप्तायां वेलायामेतच्छ्रावकः कुर्यात्, एष बहिःस्थितस्य दोषः, 'पविट्ठो पुण चोयग ! दट्ठु निवारिज्जा' प्रविष्टः पुनरसौ

1 बसाह—चोदक, किं वा ।

साधुः सञ्ज्ञिकुलं हे चोदक ! 'दट्ठुं'ति दृष्ट्वा उद्गमादिदोषं निवारयेत्। किञ्च—

उग्गमदोसाईणं कहणं उप्पायणेसणाणं च। तत्थ उ नत्थी सुन्नं बाहिं सागार कालदुवे ॥ ९५ ॥

उद्गमदोषादीनां कथनं करोति उत्पादनादोषाणां एषणादोषाणां च कथनं करोति, ततश्च यदि शुद्धं भक्तं ततस्तत्रैव सञ्ज्ञिगृहे भोक्तव्यम्, अथ तत्र नास्ति ततोऽन्यत्र गन्तव्यम्। एतदेवाह—'तत्थ उ'त्ति तत्रैव—श्रावकगृहे भुङ्क्ते, 'नत्थि'त्ति अथ तत्र नास्ति भोजनस्थानं ततः 'सुण्णं'ति शून्यगृहे याति, 'बाहिं'ति अथ शून्यगृहे सागारिकैर्भोक्तुं न शक्यते ततो बाह्यतो व्रजति। अथ तत्रापि 'सागार'त्ति सागरिकाः ततः 'कालदुवे'त्ति कालद्वितयं ज्ञातव्यं, किं स्वल्पो दिवस आस्ते आहोश्वित् महान्?, यदि महांस्ततो दूरमपि स्थण्डिले गत्वा समुद्दिशति, अथ स्वल्पो दिवसस्ततोऽस्थण्डिल एव यतनया समुद्दिशतीति। इयं तावन्निर्युक्तिगाथा, एतामेव भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्र चोदकाक्षेपपरिहारद्वारेण प्रवेशविधि-रुक्तः, इदानीं बहिस्तिष्ठतोऽधिकतरदोषप्रतिपादनायाह—

फेडिज्ज व सइ कालं संखडि घित्तूण वा पए गच्छे। सुण्णघराइपलोअण चेइअ आलोयणाऽबाहं ॥५२ भा.

स हि तत्र बहिर्व्यवस्थितः किं कुर्यादत आह—'फेडिज्ज व सइ कालं' अपनयेत् 'सति'त्ति विद्यमानं भिक्षाकालम्, एतदुक्तं भवति—ग्रामे प्रहरमात्र एव भिक्षावेला भवति। तत्र च व्यवस्थितः साधुस्तां भिक्षावेलामपनयति, 'संखडि'त्ति कदाचित्तत्रान्यस्मिन् दिवसे सङ्खडिरासीत्, तदुद्धरितं च पर्युषितभक्तं प्रत्यूषस्येव भक्षितं गृहस्थैरतोऽसौ साधुर्बहिर्व्यवस्थितस्तस्य

भद्र इति, 'घिसूण वा पद गच्छे'त्ति गृहीत्वा वा यथत्र रात्रं पक वा तस्मगे एव श्रावको गृहीत्वा ग्रामान्तरं गतः, ततश्चासौ साधुस्तस्य भद्र इति, अत एतद्दोषभयात्प्रवेष्टव्यम् । प्रविशंश्च को विधिरित्यत आह–सुण्णघरादिपलोयण' प्रविशंश्चासौ साधुः शून्यगृहादिप्रलोकनं करोति, कदाचित्तत्र शुचिक्रियां करोति, प्रविष्टश्च श्रावकगृहे 'चेइय'त्ति चैत्यवन्दनं करोति 'आलोयण'त्ति आलोचनां श्रावकाय ददाति, पर्युतासमाचार्येण कारणवशादेकाकी प्रविष्ट इति, 'अबाहं'त्ति न काचिद्बाधा शील भवेषु भवतामित्येवं पृच्छति । तत्र च प्रविष्टो भिक्षादोषान् कथयन्नाह–

उग्गम एसणकहणं न किंचि कराविज्ज अम्ह विहिदाणं। कस्सट्ठा आरंभो ? तुज्झेसो पाहुणा हिंभा ॥५३॥

उद्गमदोषाणाम्–आधाकर्मादिदोषाणां कथनं एषणादोषाणां च कथनं, ततश्च आरम्भ दृष्ट्वा एतच्च ब्रवीति–नास्मदर्थे कश्चित्कर्त्तव्य आहारविधिः, किन्त्वस्माकं विधिदानं क्रियते, तथा चोक्तं "विहिगहियं विहिविन्नं दोण्हवि बहुफलं होति" । अथ कदाचिच्छ्रावको न कथयति तदा डिम्भरूपाणि पृच्छति, तानि च बालत्वाद्यथावस्थितं कथयन्ति । किं पृच्छति ?, 'कस्सट्ठा आरंभो' कस्य निमित्तमयमारम्भः ?, इत्येवं साधुना पृष्टे सति डिम्भरूपाण्यपि कथयन्ति–'तुज्झेसो'त्ति त्वदर्थमयमारम्भः, यतः 'पाहुण'त्ति प्राघूर्णका यूयमिति । अथवा 'पाहुण'त्ति प्राघूर्णकानामर्थेऽयमारम्भो न तव, एवं 'डिंभ'त्ति अर्भकरूपाणि कथयन्ति । अथ तत्रार्भकरूपाणि न सन्ति यानि पृच्छ्यन्ते ततः स्वयमेव केनचिद्व्याजेन रसवती यत्रो याति, एतदेवाह–

1 'भत्तं भवा होति भा.पा.1 ।

रसवइपविसण पासण मिअममिअमुवक्खडे तहा गहणं। पज्जत्ते तत्थेव उ उभएगयरे य ओयविए॥५४॥

रसवती–सूपकारशाला तस्यां प्रवेशनं करोति, प्रविष्टश्च पश्यत्तां–दर्शनं करोति, तत्र च 'मितममितं उवक्खडे'त्ति कदाचिन्मितमुपस्क्रियते स्वल्पं, कदाचिदमितं उपस्क्रियते बहु, 'तहा गहणं'ति तत्र यदि मितं राद्धं ततः स्वल्पं गृह्णाति, अथ प्रचुरं राद्धं ततस्तदनुरूपमेव गृह्णाति। तत्र निर्युक्तिगाथायाः संबन्धि पूर्वार्द्धं व्याख्यातं, कतमत्? "उग्गमदोसाईणं कहणं उप्पायणेसणाणं च" इति, इदानीं मूलनिर्युक्तिकारगाथायां तस्यामेव यदुपन्यस्तं "तत्थ उ' त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह–'पज्जत्ते तत्थेव उ' यदि पर्याप्तं भक्तं लब्धं ततस्तस्मिन्नेव गृहे भुङ्क्त इति। 'उभएगयरे य ओयविए'त्ति उभयं श्रावकः श्राविका च 'ओयविअं' 'खेदज्ञं[1] उभयं यदि भवति 'एगतरं च ओयविअं' अल्पसागारिकः–श्रावक इत्यर्थः, श्राविका वा ओयविआ–अल्पसागारिकेत्यर्थः, ततो भुङ्क्त इति। 'तत्थ उ'त्ति अयमवयवो व्याख्यातः, इदानीं 'नत्थि'त्ति अवयवो व्याख्यायते—

असइ अपज्जत्ते वा सुण्णघराईसु बाहि संसट्टं। लट्ठीइ दारघट्टण पविसण उस्सग्ग आसत्थो॥५५॥

असति तस्मिन्नुभये, यदा श्रावकोऽल्पसागारिको नास्ति, नापि श्राविकाऽल्पसागारिका, श्राविकाश्रावकयोरन्यतरो वा यदाऽल्पसागारिको नास्ति तदा अभावे सति 'अपज्जत्ते व'त्ति यदा पर्याप्तं तस्मिन् श्रावकगृहे भक्तं न भवति लब्धं तदाऽन्यत्रापि भिक्षाटनं कृत्वा 'सुण्णघरादीसु'त्ति शून्यगृहादिषु गम्यते भोजनार्थम्, आदिशब्दाद्देवकुलादिषु वा, तेषां च

1. खेदित ल १

शून्यगृहादीनां बहिरेव व्यवस्थितः सशब्द–काशितादिरूप करोति। कदाचिदत्र कश्चित्सागारिको दुश्चारित्री भवेत् स च तेन शब्देन निर्गच्छति। अथैवमपि शब्दे कृते न निर्गच्छति ततो यथा द्वारे घट्टन–आहनन क्रियते, ततः प्रविशति, प्रविष्टश्च यदि कश्चिन्न पश्यति ततः 'उस्सग्ग'त्ति ईर्यापथनिमित्त पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाण कायोत्सर्गं करोति, तथा च 'आसरयो'त्ति मनागाश्वासितः सन्। ततश्च—

आलोअणमालावो अदिट्ठमिवि तहेव आलावो। किं उल्लाव न देसी ? अदिट्ठि निस्साकिअ भुंजे ॥५६॥

'आलोकन' निरूपण करोति, अथ निरूपिते कश्चिद् दृष्टः। 'आलावो'त्ति, यदि कश्चिद् दृष्टस्तत आलापन करोति किमिह भवानागतः ? इति। 'अदिट्ठमिवि तहेव आलावो'त्ति अदृष्टेऽपि सागारिके तथैवालापनं करोति, किमिह भवानायात इति। अथैवमप्युक्ते न कश्चित्प्रत्युत्तरं ददाति तत इदमुच्यते–'किमुल्लावं न देसीति ?, कस्मादुल्लाप–प्रतिवचन न प्रयच्छसि ?। अथैवमपि न कश्चित्प्रोपलब्धस्ततः 'अदिट्ठे'त्ति सर्वथा सागारिकेऽनुपलब्धे सति निःशङ्कितं भुङ्क्ते इति। अथ एभिरप्युपायैर्न प्रकटीभूतः सागारिकः पश्चात्तु प्रकटीभूतो भुञ्जानस्य सतः ततः—

दिट्ठि असंभमपिंडो तुज्झावि य इमोत्ति साह वेउव्वी। सोवि अगारो दोण्हाइ नीइ मुंणिउत्ति काऊण ॥५७॥

दृष्टे सागारिके सति 'असंभम'त्ति असम्भ्रमो–न भयं कर्तव्यम्, असम्भ्रान्तेन च तेन साधुना 'पिण्डो तुज्झवि अ

१ तस्मादुल्लाप–प्रतिवचनं प्रयच्छेति आ.। २ पिशाचेति आ. पा. १–२. पु।

इमोत्ति स्वाहा(साह)' भिक्षापिण्डं गृहीत्वा एवं करोति–अयं यमाय पिण्डः, अयं वरुणाय पिण्डः, अयं धनदाय पिण्डः, अयमिन्द्राय पिण्डः, तुज्झवि अ इमोत्ति स्वाहा–तवाप्ययं पिण्डः स्वाहा । 'वेउव्वि'त्ति विकृतं शरीरं करोति पिशाचगृहीत इव, एवंविधं च तं साधुं दृष्ट्वा सोऽप्यगारी 'दोचाइ' इति भयेन 'णीति' निर्गच्छति, 'मुणिउत्ति काऊणं' पिशाचोऽयमिति-कृत्वा । एवं तावदभ्यन्तरस्थसागारिकदर्शने भुञ्जानस्य विधिरुक्तः । यदा तु पुनर्बहिर्व्यवस्थित एव एभिः स्थानान्तरैः[1] पश्यति तदा को विधिः ? इत्यत आह—

निव्वेण व मालेण व वाउपवेसेण अहव सढयाए । गमणं च कहण आगम दूरब्भासे विही इणमो ॥५८॥

यदा तु सागारिको बहिर्व्यवस्थित एव तं साधुं नीव्रेण–छिद्रेण कुटिकाफड्डकेन[2] पश्यति 'मालेण व' त्ति मालेन–उपरितलव्यवस्थितो यदा कदाचिच्छठतया पश्यति, 'वाउपवेसेण'त्ति, अथवा 'वायुप्रवेशेन' गवाक्षेण शठतया पश्यति, अथवेति विकल्पार्थः, अनेनान्येन वा प्रवेशेन[3] 'शठतया' धूर्त्ततया पश्यति, दृष्ट्वा च 'गमणं च' गमनं च करोति स सागारिकः, 'कहण'त्ति गत्वा चान्येभ्यः कथयति–यदुताऽऽगच्छत पश्यत पात्रके भुञ्जानः साधुर्दृष्ट इति, तत 'आगम'त्ति तेऽप्यागच्छन्ति, पश्यामः किमेतत्सत्यं न वेति, 'दूरब्भासे विही इणमो' दूरादागच्छतां अभ्यासाद्वाऽऽगच्छतां 'विही इणमो' विधिः अयं च वक्ष्यमाणलक्षणो भवति । कश्चासौ विधिरित्यत आह—

१ स्थानान्तरं आ. पा. १ । २ °पवड्डकेन कटकेन पश्यति आ पा. १–२ पु. । ३ प्रदेशेन आ पा. १–२. पु. ।

थोव भुजइ थट्टु विंगिंचई पउमपत्तपरिग्गुणण। पत्तेसु कहिं भिक्ख दिट्ठमदिट्ठे विभासा उ ॥५९॥(भा)

यदि मात्रके सागारिकास्ततः स साधुः 'थोवं भुजति' स्तोकं भुङ्क्ते, बहुमत्तं 'विगिंचति' त्यजति यदि वा—अल्पं भुङ्क्ते पात्र मात्रं मुखस्यान्तःस्थितं तावन्मात्रमेव भुङ्क्ते, शेषं परित्यजतीति प्राग्वत्, 'पउमपत्त'त्ति पद्मपत्रसदृशं निर्लेपं पात्रकं करोति 'परिगुणण'त्ति स्वाध्यायं कुर्वंस्तिष्ठतीति। एवं च व्यवस्थितस्य साधोस्ते सागारिकाः प्राप्ताः, ते च प्राप्ताः सन्त इदं पृच्छन्ति—'कहिं भिक्ख'त्ति क त्वया भिक्षा कृतेति। ततश्च 'दिट्ठमदिट्ठे विभासा उ' दृष्टेऽदृष्टे च 'विभाषा' विकल्पना कार्या, यदि दृष्टो भिक्षामटन् तत इदं वक्ति—तत्रैव श्रावकादिगृहे भक्षयित्वा इहागत इति। अथ न दृष्टो भिक्षामटंस्ततः—

अदिट्ठे किं वेला तेसिं निबंधम्मि दायणे खिंसा। ओहामिओ उ बहुओ बण्णो अ पहाविओ तहिंम ॥६०॥

अदृष्टे सति इदं वक्तव्यं—किं वेला वर्तते भिक्षाटनस्य? अथैवमप्युक्तानां पात्रकदर्शने निर्बन्धः ततो 'दायणे'त्ति दर्शयति पात्रकं, दृष्टे च पात्रके सति 'खिंस'त्ति ते सागारिकास्तं बटुकं जुगुप्सन्ते—धिक् त्वामसमीक्षितभाषिणमिति। ततः किं जातम्?—'ओहामिओ उ बहुओ' अपभ्राजितो बटुकस्तिरस्कृत इत्यर्थः। 'वर्णश्च—यशः प्रख्यापितं तत्रेति—तस्मिन् मोचनविधौ। 'तुप्प' इत्ययमवयवो व्याख्यातः, इदानीं 'वाहिं सागार'त्ति अवयवमेव व्याख्यानयन्नाह—

1 विलेपनं यत्रे का., पात्रकं क १। 2 पहाविओ क. 1–2।

सुण्णघरासइ बाहिं देवकुलाईसु होइ जयणा उ। तेगिच्छिधाउखोभो मरणं अणुकंपपडिअरणं (भा.)

शून्यगृहस्यासति–अभावे 'बाहिं देवकुलाईसु होति जयणा उ' ततो बहिर्देवकुलादौ व्रजति, तत्रापि देवकुलादौ वनगह्वरादौ वा इयमेव यतना कर्त्तव्या 'बाहिं संसद्दं लट्ठीए दारघट्टण' इत्येवमादि सर्वं कर्त्तव्यम्। अथ कथं बहिः सागारिकसम्भवः ?, अत आह, 'तेगिच्छि'त्ति 'चिकित्सकः' वैद्यः स कदाचित्तस्य साधोर्भिक्षामटतः 'धातुखोभो'त्ति धातुवैषम्यं दृष्ट्वा इदं चिन्तयति–यद्यस्यामवस्थायामयं साधुर्भक्षणं करोति ततः 'मरणं'ति अवश्यमेव म्रियते, स वैद्यः 'अणुकंप'त्ति अनुकम्पया 'पडियरणं'ति साधोरनुमार्गेण गत्वा निरूपणं करोति, यद्ययमिदानीमेव भक्षयिष्यति ततो निवारयिष्यामि। वैद्यकशास्त्रपरीक्षणं वा कृतं भवति, एवमसौ वैद्यस्तस्य साधोरनुमार्गेण गत्वा लीनस्तिष्ठति साधुरपि—

इरियाइ पडिक्कंतो परिगुणणं संधिआ भे का गुणिआ?। अम्हं एसुवएसो धम्मकहा दुविहपडिवत्ती॥८२॥

ईर्यापथिकीप्रतिक्रान्तः सन् 'परिगुणणं'ति कियन्मात्रकमपि स्वाध्यायं करोति, अस्मिंश्च प्रस्तावे साधुः समधातुरेव संजातः ततश्च वैद्योऽपि तं साधुं समधातुं दृष्ट्वा इदं वक्ति–'संहिता भे का गुणिया' संहिता–चरकसुश्रुतरूपा का गुणिता ? अधीता, येन भवताऽऽगतमात्रेणैव[1] न भुक्तं। साधुरप्याह–'अम्हं एसुवएसो' अस्माकमयं सर्वज्ञोपदेशः, यदुत स्वाध्यायं कृत्वा भुज्यत इति। 'धम्मकहा दुविहपडिवत्ती' ततश्चासौ साधुर्धर्मकथां करोति, पश्चात्तस्य वैद्यस्य 'दुविहपडिवत्ति'त्ति

1 °गमनमात्रेणैव आ. पा. १.।

कदाचित्संयतो भवेत् कदाचिच्छ्रावक इति। इदानीं पर्विकुलादौ भुञ्जतो विधिरुक्तः, यदा तु पुनर्देवकुलादावपि सागारिकसम्पातो भवति तदाऽनुकूलमार्गेऽप्यवस्थित स्थण्डिलं प्रति प्रयाति—

थंडिल्लासइ चीरं निवायसरक्खणा तिपचेव। सेसं जा थंडिल्लं असईए अण्णगामम्मि ॥६३॥ (भा)

'थंडिल्ल'त्ति स्थण्डिले गत्वा भुङ्क्ते, 'असति'त्ति अथ स्थण्डिलं नास्ति क्षुधा च पीड्यते ततोऽस्थण्डिल एव 'चीर'न्ति चीरमास्तीर्य पादयोरधस्तत्र भुङ्क्ते, किमर्थं पुनस्तच्चीरमास्तीर्यते? अत आह—'निवायसरक्खणाय' परिशाटिनिपात संरक्षणाय, तथा हि परिशाट्या निपतन्त्या पृथिवीकायादिर्विराध्यते इति। 'तिपचेव'त्ति तत्र चीरोपरि अस्थण्डिलस्थः किमत्रस्यति?, त्रीन् पञ्च वा कवलान्। 'सेसं जा थंडिल्ल' शेष-अपरं भक्तं तावन्नयति यावत्स्थण्डिलं प्राप्तम्। 'असईए'त्ति अथान्तराले स्थण्डिलस्यासति 'अण्णगामम्मि'त्ति अन्यं ग्रामं प्रयाति, तत्र च स्थण्डिले भुङ्क्ते इति। इदानीं यदुक्तं 'कालतुवे'त्ति निर्युक्तिकृता तद्भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह—

अपहुप्पंते काले तत्थेव दुगाउय नइक्कामे। गोमुत्तिभद्दगाइसु भुंजे अहवा पएसेसु ॥ ६४ ॥ (भा)

अथ तस्य भिक्षोर्गन्तव्यो योऽसावभिप्रेतो ग्रामः स क्रोशद्वये संजातः, तत्र च यदि कालः पर्याप्यते ततस्तद्भक्तं पूर्वगृहीतं परित्यज्यान्यद् गृह्णाति, अथासमनकाल आसन्नस्ततः 'स चेव'त्ति तदेव पूर्वगृहीतं भक्तं क्षेत्रातिक्रान्तमपि

१ भुञ्जनविधि' प्र. २। २ अथासमनकाल भा.।

भुङ्क्ते, 'दुगाउअं नइक्कामे'त्ति यदा तु कालः पर्याप्यते तदा तत्पूर्वगृहीतं भक्तं द्विगव्यूतात्परतो नातिक्रामयति न नयति, गव्यूतद्वय एव तत्परित्यज्य याति, तत्र च गतः काले पर्याप्यमाणेऽन्यद् ग्रहीष्यतीति, यदा पुनस्तस्य साधोर्व्रजतः क्रोशद्वय-व्यवस्थितग्रामस्यारत आदित्योऽस्तमुपयाति न चान्तराले स्थण्डिलमस्ति तदा 'गोमुत्तिगदड्ढादिसु भुंजे' गोमूत्रदग्धेषु देशेषु भुञ्जीत, आदिशब्दात्सूकरोत्कीर्णभूप्रदेशादौ भुङ्क्त इति, 'अहवा पएसेसु'त्ति यदि गोमूत्रदग्धादिस्थानं न भवति ततो धर्माधर्मास्तिकायकल्पनां तस्मिन् स्थाने कृत्वा भुङ्क्ते, एतदुक्तं भवति-धर्माधर्मास्तिकायैस्तिरोहितायां भुवि अहं व्यव-स्थितः, ततश्चानया यतनया सशूकता दर्शिता भवति। उक्तं सञ्ज्ञिद्वारम्, इदानीं साधर्मिकद्वारप्रतिपादनायाह—

दिट्ठमदिट्ठा दुविहा नायगुणा चेव तहव अन्नाया। अदिट्ठावि अ दुविहा सुअअसुअ पसत्थअपसत्था ॥९६

साधर्मिका द्विविधाः-दृष्टा अदृष्टाश्च, 'नायगुणा चेव तहय अण्णाया'ये ते दृष्टाः साधर्मिकास्ते द्विविधाः-कदाचिज्ज्ञातगुणा भवन्ति कदाचिदज्ञातगुणाः। 'अदिट्ठावि अ दुविहा' येऽप्यदृष्टाः साधर्मिकास्तेऽपि द्विविधाः-'सुय असुय'त्ति श्रुतगुणा अश्रुत-गुणाश्च। 'पसत्था(त्थअ)पसत्थ'त्ति ये ते ज्ञातगुणास्ते द्विविधाः-प्रशस्तज्ञातगुणा[1] अप्रशस्तज्ञातगुणाश्च, येऽपि तेऽज्ञात-गुणास्तेऽपि द्विविधाः-प्रशस्ताज्ञातगुणा अप्रशस्ताज्ञातगुणाश्चेति। येऽपि ते श्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः-प्रशस्तश्रुतगुणा अप्रशस्तश्रुतगुणाश्च। येऽपि तेऽश्रुतगुणास्तेऽपि द्विविधाः-प्रशस्ताश्रुतगुणा अप्रशस्ताश्रुतगुणाश्च। आह-ये दृष्टास्ते कथमज्ञातगुणा भवन्तीत्यत आह—

१ ऊर्द्ध्वव्यवस्थितः पा. २. आ.।

दिट्ठा य समोसरणे न य नायगुणा हविज्ज ते समणा। सुअगुण पसत्थ इयरे समणुन्नियरे य सव्वेवि ॥९७॥

'दृष्टाः' उपलब्धाः सामान्यतो झटिति क ? 'समवसरणे' यात्रादौ, न च ज्ञातगुणास्ते भवेयुः श्रमणाः । 'सुयगुण पसत्थ इयरे'त्ति इतरे इति अदृष्टानां परामर्शः, तेऽदृष्टा सुअगुणेति–श्रुतगुणाः, श्रुतगुणा अपि सन्तः 'पसत्थ'त्ति प्रशस्तश्रुतगुणा गृह्यन्ते, तदनेन सुअगुण पसत्थत्ति भावित, 'इयरे'त्ति अप्रशस्तश्रुतगुणास्तेऽपि प्रशस्तश्रुतगुणा इत्ययमनन्तरगतगाथोपन्यस्तभङ्गक एकः सूचित इति । 'समणुन्नियरे य सव्वेऽवि' सर्वेऽपि चैते श्रुतादिगुणभेदभिन्नाः[1] साधवः समनोज्ञाः इतरे च–असमनोज्ञा इति, साम्भोगिका असाम्भोगिकाश्चेत्यर्थः । इदानीमेषां श्रमणानां सर्वेषां मध्ये ये शुद्धास्तेष्वेव संवसन करोति नेतरेष्विति, अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह–

जइ सुद्धा संवासो होइ असुद्धाण दुविह पडिलेहा । अब्भिंतरबाहिरिआ दुविहा दव्वे अ भावे अ ॥९८॥

यदि शुद्धाः–संवासशुद्धाः के अभिधीयन्ते ? प्रशस्तश्रुतगुणास्तथा प्रशस्तज्ञातगुणाश्च, तेष्वेवाविवेषु संवासः–सवसन करोति । 'होइ असुद्धाण दुविह पडिलेहा' भवत्यशुद्धानां द्विविधा प्रत्युपेक्षणा, तत्राशुद्धा अप्रशस्तश्रुतगुणास्तथाऽप्रशस्त-ज्ञातगुणा अशुद्धा अभिधीयन्ते, तद्विषय द्विविध प्रत्युपेक्षण भवति, कथम् ?–'अब्भिंतरबाहिरिआ' एका अभ्यन्तरप्रत्यु-पेक्षणा, अपरा बाह्यप्रत्युपेक्षणा । 'दुविहा दव्वे य भावे य' एकैका च प्रत्युपेक्षणा द्विविधा, याऽसौ अभ्यन्तरा प्रत्युपेक्षणा सा

[1] त्यागादौ आ प २ पु । २ पसत्थत्ति भावितं इयरेत्ति–इतरे इत्यदृष्टानां परामर्शः ते अदृष्टाः श्रुतगुणा इत्ययम आ । ३ करोति पा २ ।

द्रव्यतो भावतश्च भवति, याऽपि बाह्या प्रत्युपेक्षणा साऽपि द्रव्यतो भावतश्चेति द्विविधैव । इदानीं बाह्यां प्रत्युपेक्षणां द्रव्यतः प्रतिपादयन्नाह—

घट्टाइतलिअदंडग पाउय संलग्गिरी अणुवओगो । दिसिपवणगामसूरिअ वितहं उच्छोलणा दव्वे ॥९९

'घट्टादि'त्ति घृष्टा जङ्घासु दत्तफेनका, आदिशब्दात्तु मट्ठा तुप्पोट्ठादयो गृह्यन्ते 'तलिग'त्ति सोपानत्काः-उपानद्रूढपादाः । 'दंडग'त्ति वेत्रलतादण्डकैर्गृहीतैः 'पाउय'मिति प्रावृतं यथा संयत्यः प्रावृण्वन्ति कल्पं तथा तैः प्रावृतं । 'संलग्गिरि'त्ति परस्परं हस्तावलग्निकया व्रजन्ति, अथवा 'संलग्गिरि'त्ति युगलिता व्रजन्ति, 'अणुवओगो'त्ति अनुपयुक्ता व्रजन्ति, ईर्यायामनुपयुक्ताः । एवं बहिर्भुवं गच्छन्तः प्रत्युपेक्षिताः इदानीं सञ्ज्ञाभूमिं प्राप्तान् तान् संयतान् प्रत्युपेक्षते-'दिसि'त्ति आगमोक्तदिग्विपर्यासेनोपविशन्ति । 'पवण'त्ति पवनस्य प्रतिकूलमुपवेष्टव्यं ते तु आनुकूल्येन पवनस्योपविशन्ति । 'गाम'त्ति ग्रामस्याभिमुखेनोपवेष्टव्यं, ते तु पृष्ठं दत्त्वोपविशन्ति । 'सूरिय'त्ति सूर्यस्याभिमुखेनोपवेष्टव्यं, ते तु पृष्ठं दत्त्वोपविशन्ति । एवमुक्तेन प्रकारेण वितथं कुर्वन्ति । 'उच्छोलण'त्ति पुरीषमुत्सृज्य प्रभूतेन पयसा क्षालनं कुर्वन्ति । 'दव्वे'त्ति द्वारपरामर्शः । इयं तावद्बाह्या द्रव्यतः प्रत्युपेक्षणा । आह-अनन्तरगाथायां अभ्यन्तरायाः प्रत्युपेक्षणायाः प्रथममुपन्यासः कृतः, ततस्तामेव व्याख्यातुं युक्तं न तु बाह्यामिति, उच्यते, प्रथमं तावद्बाह्यैव प्रत्युपेक्षणा भवति पश्चादा(द)भ्यन्तरा, अतो बाह्यैव व्याख्यायते-आह-किमितीत्थमेव नोपन्यासः कृतः ?, उच्यते, अभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणायाः प्राधान्यख्यापनार्थमादावुपन्यासः कृतः ।

१ तुप्पड्डादयो ल १-२ पा १ । २ चित्रलता° आ. । ३ हस्तावलगिकया आ. पु । ४ °स्योभिमुख्येनो° ल १-२ । ५ स्याभिमुख्येनो° पु ।

एष तावद्बाह्या प्रत्युपेक्षणा द्रव्यतोऽभिहिता, इदानीं बाह्यां प्रत्युपेक्षणां भावतः प्रतिपादयन्नाह—

विकहा हसिउग्गाइय भिन्नकहाचक्कवालछलिअकहा। माणुसतिरिआवाए दायणआयरणया भावे ॥१००

'विकथा' विरूपा कथा विकथा, अथवा 'विकथा' स्त्रीभक्तचौरजनपदकथा तां कुर्वन्तो व्रजन्ति, तथा हसन्त उद्गायन्तश्च व्रजन्ति। 'भिन्नकह'त्ति मैथुनसंबद्धा रहस्यिका कथा तां कुर्वन्तो व्रजन्ति। 'चक्कवाल'त्ति मण्डलबन्धेन स्थिता व्रजन्ति। 'छलिअकह'त्ति शृङ्गारकाव्यगाथाः पठन्तो गच्छन्ति। तथा 'माणुसतिरिआवाए'त्ति मानुषापाते तिर्यगापाते च सञ्ज्ञां व्युत्सृजन्ति। 'दायण'त्ति परस्परस्याङ्गुल्या किमपि दर्शयन्ति इयमेव भावस्वता दर्शनताऽऽचरणता, 'भावे'त्ति द्वारपरामर्शः। इय बाह्यभावमङ्गीकृत्य प्रत्युपेक्षणा, एवं बाह्यप्रत्युपेक्षणयाऽशुद्धानपि साधून् वसतिं प्रविशति, कदाचिदेवं गुरोरनादेशेनैव एवं कुर्वन्ति। एतदेव प्रतिपादयन्नाह—

बाहिं जइवि असुद्धा तहावि गंतूण गुरुपरिक्खा उ। अहव विसुद्धा तहवि उ अंतो दुविहा उ पडिलेहा ॥१०१

बाह्यप्रत्युपेक्षणामङ्गीकृत्य यद्यप्यशुद्धास्तथाऽपि प्रविश्य गुरोः परीक्षा कर्तव्या, अथवा बाह्यप्रत्युपेक्षणया यद्यपि च विशुद्धा एव भवन्ति तथाऽपि तु अन्तः—अभ्यन्तरतः अभ्यन्तरां प्रत्युपेक्षणामाश्रित्य द्विविधैव प्रत्युपेक्षणा भवति कर्तव्या— द्रव्यतो भावतश्च। इदानीमसौ अभ्यन्तरप्रत्युपेक्षणामङ्गीकृत्य द्रव्यतः परीक्षां करोति साधर्मिकासमक्षेषु कुलेषु भिक्षाचर्यया

१ भिक्षाचर्यया वा पु.।

प्रविष्टः सन्—

पविसंतनिमित्तमणेसणं च साहइ न एरिसा समणा । अम्हं च ते कहिंती कुक्कुडखारियाइठाणं च ॥१०२

प्रविशन् भिक्षार्थं निमित्तं पृच्छयते गृहस्थैस्ततश्च न कथयति, 'अणेसणं' अनेषणां गृहस्थेन क्रियमाणां निवारयति, ततः स गृहस्थः कथयति, 'न एरिसा समणा' नास्मदीया एवंविधाः श्रमणाः, अस्माकं हि ते निमित्तं कथयन्ति अनेषणीयमपि गृह्णन्ति एवमभिधीयते गृहस्थेन, 'कुक्कुड'त्ति कुर्कुटप्रायोऽयमिति । एवं तावद्भिक्षामटता प्रत्युपेक्षणा कृता, इदानीं दूरस्थ एवोपाश्रयप्रत्युपेक्षणां करोति—'खरिआ' इत्यादि खरिया—द्व्यक्षरिका तत्समीपे स्थानं—उपाश्रयः, आदिशब्दाचारिकादिसमीपे वा । इयं तावद्वसतिबाह्या प्रत्युपेक्षणा, इदानीमुपाश्रयाभ्यन्तरे द्रव्यप्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नाह—

दव्वंमि ठाणफलए सेज्जासंथारकायउच्चारे । कंदप्पगीयाविकहा वुग्गहकिड्डा य भावंमि ॥ १०३ ॥

द्रव्यमिति द्वारपरामर्शः, 'ठाणफलए'त्ति स्थानं—अत्रस्थितिः, फलकानामत्रस्थितिं पश्यति, तानि हि वर्षाकाल एव गृह्यन्ते न शेषकाले, स तु प्रविष्टः शेषकालेऽपि फलकानि गृहीतानि पश्यति । 'सेज्जा' इति शेरतेऽस्यामिति शय्या—आस्तरणं तदास्तृतमेवास्ते, संस्तारकः—तृणमयः, प्रकीर्यन्तेऽवस्तृणानि स्वपद्भिस्तं संस्तारकं पश्यति, 'काय'त्ति कायिकाभूमिं गृहस्थसंबद्धां पश्यति, 'उच्चार'त्ति गृहस्थैः सह पुरीषव्युत्सर्गं कुर्वन्ति, अथवा 'उच्चार'त्ति श्लेष्मणः परिष्ठापनमङ्गणे कुर्वन्ति, एवं

१ निवारयति,'न आ । २ अवस्थितिं ल.१-२ ।

स साधुः पेक्षते। इयमभ्यन्तरा द्रव्यप्रत्युपेक्षणा, इदानीमभ्यन्तरां भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—'कदप्प'त्ति कन्दर्पं गीतविकथा' कुर्वन्ति, तथा 'कुग्गह'त्ति विग्रहः—कलहस्तं कुर्वन्ति, 'किड्ड'त्ति पाशककपर्दकैः क्रीडन्ति, 'भावमि' भावविषया प्रत्युपेक्षणा। उक्ता अभ्यन्तरा भावप्रत्युपेक्षणा, इदानीमेवद्दोषवर्जितेषु सयतेषु प्रविशति, एतदेवाह— ,

संविग्गेसु पवेसो संविग्गऽमणुन्न बाहिं किइकम्म। ठवणकुलापुच्छणया पत्तोच्चिअ गच्छ गवि(वे)सणया॥

संविग्नाः—मोक्षाभिलाषिणस्तेषु प्रवेशः कर्तव्यः समनोज्ञेषु। अथ समनोज्ञा न सन्ति तत 'संविग्गऽमणुन्न'त्ति संविग्नेषु अमनोज्ञेषु प्रवेशः। तत्र च 'बाहिं'त्ति बहिरेव प्रविष्टस्तूपकरणमेकस्मिन् प्रदेशे मुञ्चति। ततः 'किइकम्मं'ति तदुत्तरकाल वन्दनं करोति। ततः 'ठवणकुलापुच्छणया' स्थापनाकुलानि पृच्छति भिक्षार्थं, ततस्ते कथयन्ति—अमुकन्यामुकानि। 'पत्तोच्चिअ गच्छ'त्ति अस्या एव भिक्षाटनभूमेर्गमिष्यामि, इत्येव ब्रवीति। 'गवेसणय'त्ति स तस्माद्ग्रामादेर्निर्गत न निर्गतमिति वा एव गवेषणं कुर्वन्ति। उक्त साधर्मिकद्वारम्, इदानीं वसतिद्वारमभिधीयते, स च साधुर्गच्छन् अस्तमनसमये वसतिं निरूपयति, सा च एतेषु स्थानेषु निरूपणीया—

संविग्गसन्निभद्दग सुन्ने निइआइ मोत्तुऽहाच्छंदे। वच्चतस्सेतेसु वसहीए मग्गणा होइ ॥ १०५॥

[1]संविग्नेषु वसतिमार्गणा कर्तव्या, सञ्ज्ञी—श्रावकः संविग्नभावितस्तस्मिन् वा वसतिमार्गणा कर्तव्या, भद्रकः साधूनां

1 प्रविशति आ. प १। 2 संविग्नेषु वसतिमग्गणा होइ संविग्नेषु आ। 3 भद्रक: भद्रक—संविग्नभावितस्तस्मिन् वा वसतिमार्गणा कर्तव्या वर्तमाने च

तस्मिन्वा वसतिमार्गणा कर्त्तव्या, तदभावे शून्यगृहादौ वसतिमार्गणा कर्त्तव्या, 'णितियादि'त्ति नित्यवासादिषु, आदिशब्दात्पार्श्वस्थादयस्त्रयो गृह्यन्ते, तेषु वसतिमार्गणं कर्त्तव्यं, 'मोत्तुऽहाच्छंदे'त्ति मुक्त्वा यथाच्छन्दान् स्वच्छन्दानित्यर्थः, तत्र वसतिर्न मृग्यते, व्रजतः साधोरेतेष्वनन्तरोदितेषु वसतेर्मार्गणा—अन्वेषणं कर्त्तव्यम् । इयं द्वारगाथा वर्त्तते । इदानीमेनामेव गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

वसही समणुण्णेसुं निइयादमणुण्ण अण्णहि निवेए । संनिगिहि इत्थिरहिए सहिए वीसुं घरकुडीए ॥१०६

वसतिरन्वेषणीया क ?, अत आह—'समणुण्णेसुं' संविग्नसमनोज्ञेषु आदौ वसतिरन्वेषणीया, 'नितियादमणुन्न अण्णहि निवेए' अथ तु तत्र नित्यवास्यादयः अमनोज्ञा अन्यसामाचारीप्रतिबद्धा वा भवन्ति, आदिशब्दात्पार्श्वस्थादयो गृह्यन्ते, ततश्चैतेषु विद्यमानेषु नैतेषां मध्ये निवसितव्यं, किन्तु 'अण्णहि' अन्यत्र वसतिं कृत्वा 'णिवेदे' निवेदयित्वा एषामेव—यथाऽमुष्मिन् अहं वसिष्यामि प्रतिजागरणीयो भवद्भिरिति, क्वासौ निवसति ? किं विशिष्टे वा गृहे निवसति ?—'संनि'त्ति सञ्ज्ञी—श्रावकः, स च यदि महिलया रहितस्ततस्तद्गृहे वसति, अथासौ नास्ति ततः 'गिहि'त्ति गृही भद्रकोऽत्र सूचितः, स च स्त्रिया रहितस्ततस्तत्समीपे वसति । अथ भद्रकोऽपि स्त्रीरहितो नास्ति किन्तु सहितः स्त्रिया, ततः सहिते—स्त्रीयुक्ते सति 'वीसुं'ति पृथग् निवसति, क ?—'घरकुडीए' तस्यैव गृहस्य बहिरवस्थितं रन्धनकादि, अथवा तत्फलहिकान्तर्गतकुट्यां वा निवसति । अथ भद्रकादिगृहं नास्ति ततः शून्यगृहे निवसति । किंविशिष्टे ?, अत आह—

१ गृहस्थस्य भा ।

अहुणुघासिअ सकवाड निम्बिले निश्चले वसइ सुण्णे। अनिवेइयपयरोर्सि गेलाणि न एस अम्हति ॥१०७॥

'अहुणुघासिय'त्ति अधुना यदुद्घसितं तदपि सकपाटं यदि भवति तदपि निर्बिलं भवति तदपि यदि निश्चलं भवति न पवनमय यत्र तत्र वसितव्यं, तत्र चैषा गाथोपन्यस्तानां चतुर्णां पदानां षोडशभङ्गका निष्पद्यन्ते, स चैवम्विधे गृहे निवसति कथयित्वा नित्यवास्यादीनां यथाऽत्रमत्रोषितो भवद्भिर्मेलनीयो, यदा पुनः 'अनिवेदितपरोर्सि'ति यदा तु नित्य वास्यादीनामनिवेद्य वसति, तत्र च उषितः सन् दैवयोगात् ग्लानः संजातस्ततो ग्लानत्वे सति नित्यवास्यादीनां स गृहस्य आगत्य कथयति-बहुत प्रव्रजितोऽपटुः संजातः, ते नित्यवास्यादयोऽस्माकं न कथितमितिकृत्वा एवं ब्रुवते-'न एस अम्ह'त्ति न एषोऽस्माकं-नायमस्मदाश्रयः, यदा तु पुनः पूर्वोक्तानां सर्वेषामेवाभावः संजातः, किन्तु तस्मिन् क्षेत्रे नित्य वास्यादयः सन्ति ततस्तेष्वेव वसितव्यम्, एतदेवाह— ,

नितिआइ अपरिग्गहे सहियपयर पक्खिए व सज्झाए। कालो सेसमकालो वासो पुण कालचारीसु॥१०८॥

नित्यवास्यादौ वसति, आदिशब्दादवमनोक्षेषु वसति, कथमित्याह-'अपरिग्गहे'त्ति तैर्नित्यवास्यादिभिर्यः प्रदेशस्तस्या वसतेर्न परिगृहीतः-अनाक्रान्तस्तस्मिन् प्रदेशे अपरिग्रहके च सति वसति, 'सहितेतर'त्ति ते च नित्यवास्यादयः सहितेतरे सहिताः संयतीभिर्युक्ताः केचन नित्यवास्यादयो भवन्ति, इतरे इत्यपरे संयतीभी रहिता भवन्ति, तेषु निवसति। ये ते

१ चैवं का.। २ वसति का।

संयतीभिर्युक्तास्ते द्विविधा–एके कालचारिणीभिः संयतीभिर्युक्ताः, तत्र निवसत्येव, अपरे अकालचारिणीभिः संयतीभिर्युक्ताः, कश्च कालः ? 'पक्खिए व सज्झाए'त्ति ताः संयत्यः पाक्षिकक्षामणार्थमागच्छन्ति स्वाध्यायार्थं वा, अयं कालः शेषस्तु अकालः, तत्र 'वासो पुण कालचारीसु' वासस्तु तस्य साधोः कालचारिश्रमणीयुक्तेषु भवतीति। अथ कालचारिसंयतीयुक्ताः साधवो न सन्ति, ततः—

तेण परं पासत्थाइएसु न य वसइऽकालचारीसु। गहिआवासगकरणं ठाणं गाहिएणऽगाहिएणं ॥ १०९ ॥

ततः पार्श्वस्थादिषु वसति, न च वसत्यकालचारिसंयतीसहितेषु, तेषु च पार्श्वस्थादिषु वसतः को विधिरित्येतदाह–'गहिआवासगकरण'ति गृहीतेन, केन ?–उपधिना, अनिक्षिप्तेनेत्यर्थः, आवश्यकं–प्रतिक्रमणं करोति, ततश्च प्रतिक्रान्ते सति तत्रैव 'ठाणं'ति कायोत्सर्गं करोति। 'गहिएणऽगहिएणं'ति यदि शक्नोति ततो गृहीतेनोपकरणेन कायोत्सर्गं करोति, अथ न शक्नोति ततः 'अगहिएणं'ति अगृहीतेनोपकरणेन कायोत्सर्गं करोतीति। अथ कायोत्सर्गं कर्त्तुं न शक्नोति श्रान्तः सन् ततः–

निसिअ तुअट्टण जग्गण विराहणभएण पासि निक्खिवइ। पासत्थाईणेवं निइए नवरिं अपरिभुत्ते ॥११०

ततो निषण्णः–उपविष्टः गृहीतेनोपकरणेनास्ते 'तुअट्टण'त्ति त्वग्वर्त्तनं–निमज्जनं करोति गृहीतेनोपकरणेन करोति यदि शक्नोति। 'जग्गण'त्ति यदि वा गृहीतेनैवोपकरणेन जाग्रदास्ते न स्वपिति अथ जागरणमपि कर्त्तुं न शक्नोति ततः

---

१ वसतीति ल. १।

'विराहणमएण'ति विराधनाभयेन—पात्रकमङ्गभयेनोपकरण पार्श्वे निक्षिपति, ततः स्वपिति निक्षिप्तोपकरणः सन् 'पासत्थादीणे'ति पार्श्वस्थादीनां संबन्धिन्यां वसतौ एवंविधो विधिः—उक्तलक्षणो द्रष्टव्यः। 'निइय नवरिं अपरिभुत्ते'त्ति नित्यवासिनो वसतौ अयं विधिर्ज्ञेयः, यदुत—'गहिआयासयकरण'मित्यादि, यदि परं अपरिभुक्ते प्रदेशे पात्राद्युपकरणं स्थापयित्वा स्वपितीति। यथा पार्श्वस्थादिषु वसतौ विधिरुक्तः, एव महाच्छन्देऽपि विधिरिति, अत आह—

एव अहाच्छंदे पडिहणणा साणमज्झयण कसा। ठाणट्ठिओ निसामे सुवणाहरणा य गहिएण ॥ १११ ॥

यः पार्श्वस्थादौ वसतौ विधिः प्रतिपादितः एवमेव महाच्छन्देऽपि विधिर्द्रष्टव्यः, केवलमयं विशेषः—'पडिहणण'त्ति तस्य महाच्छन्दस्य धर्मकथां कुर्वतोऽन्यार्थप्ररूपिकां तेन साधुना 'प्रतिहनन' व्याघातः कर्त्तव्यः, यद्येतदेव न भवति, 'साण'त्ति अथ तद्धर्मकथायाः प्रतिघात कर्तुं न शक्नोति ततो ध्यान करोति; ध्यायमास्ते धर्मध्यान, अथ तथाऽपि धर्म कथां करोति ततः 'अज्झयण'त्ति धर्मकथाव्याघातार्थमध्ययन करोति, अथ तथाऽपि न तिष्ठति ततः कर्णौ स्थगयति धर्म कथाव्याघातार्थमिति। अथवा 'सुवणाहरणा य'त्ति सुप्तः सन् आहरणा—घोरयति घोरण करोति महता शब्देन, सोऽपि निर्विण्णः सन् उपसंहरति धर्मकथामिति। उक्त वसतिद्वारं, षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवति इत्युक्त, स च एभिः कारणैः—

असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए नदुट्ठाणे। फिडिअगिलाणे कालगयासे ठाणट्ठिओ होइ ॥ ११२ ॥

1 एवेव आ. प १–२.५.।

'असिवे' देवताजनितोपद्रवे सति तस्मिन् यत्राभिप्रेतं गमनं कदाचिदपान्तराले वा भवति ततश्चानेन कारणेन स्थानस्थितो भवति। 'ओमोयरिए'त्ति दुर्भिक्षं विवक्षिते देशे जातमपान्तराले वा ततश्च तेन कारणेन स्थानस्थितो भवति। 'रायदुट्ठे'त्ति राजद्विष्टं कदाचित्तत्र भवत्यभिप्रेतदेशे अन्तराले वा तेनैव कारणेन स्थानस्थितो भवति। 'भए'त्ति म्लेच्छादिभयं विवक्षिते देशे अपान्तराले वा ततस्तेन कारणेन स्थानस्थितो भवति। 'नइ'त्ति कदाचिन्नदी विवक्षिते देशेऽपान्तराले वा भवति तेन च कारणेन स्थानस्थितो भवति। 'उद्धाणे'त्ति उत्थित उद्वसितः स विवक्षितो देशः अपान्तराले वा ततश्च तेन कारणेन स्थानस्थितो भवति। 'फिडिय'त्ति कदाचिदसावाचार्यः तस्मात् क्षेत्रात् च्युतः—अपगतो भवति ततश्च तावदास्ते यावद्वार्त्ता भवति, अनेन कारणेन स्थानस्थितो भवति। 'गिलाणे'त्ति ग्लानः कदाचिन्मनाग् भवति स्वयं कदाचिदन्यः कश्चिद् ग्लानो भवति तेन प्रतिबन्धेन स्थानस्थितो भवति। 'कालगय'त्ति कदाचिदसावाचार्यः कालगतो—मृतो वा भवति, यावत्तन्निश्चयो भवति तावत्स्थानस्थितो भवति। 'वासे'त्ति वर्षाकालः संजातस्ततस्तत्प्रतिबन्धात्स्थानस्थितो भवति—तत्रैव ग्रामादावास्ते। इयं द्वारगाथा, इदानीं निर्युक्तिकार एव कानिचिद् द्वाराणि व्याख्यानयन्नाह—

तत्थेव अंतरा वा असिवादी सोउ परिरयस्सऽसई। संचिक्खे जाव सिवं अहवावी ते तओ फिडिआ।११३

'तत्रे'ति योऽसौ विवक्षितो देशः 'अन्तरा' अन्तराले वा असिवादयो जाता इति 'श्रुत्वा' आकर्ण्य, आदिग्रहणादवमोदरिकाराजद्विष्टभयानि परिगृह्यन्ते, परिरयस्सऽसई'त्ति भमाडयस्स 'असति' अभावे तिष्ठति, एतदुक्तं भवति—यदि गन्तुं

१ भवति । 'फिडिय'त्ति आ. ।

शक्नोति अमिमा ततोऽपान्तराले परिहृत्याभिलषितं स्थानं गच्छति । अथ न शक्यते गन्तुं ततः 'संचिक्खे'त्ति संतिष्ठेत्, कियन्तं कालं यावदत आह–'जाव सिव' यावच्छिवं निरुपद्रवं जातमिति । 'अहवा वी ते ततो फिडिआ' अथवा 'ते' आचार्यादयः 'तस्माद्' क्षेत्रात् 'अपगताः' भ्रष्टा इति, ततश्च वार्षोपलम्भं यावत्तिष्ठति । इदानीं भाष्यकृच्छेषद्वाराणि व्याख्यानयन्नाह—

पुण्णा व नई चउमासवाहिणी नवि अ कोइ उत्तारे। तत्थंतरा व देसो व उट्ठिओ न य लब्भइ पउत्ति ॥६५

'पूर्णा' भूता, का ? नदी, किंविशिष्टा ?–चतुर्मासवाहिनी, न कश्चिदुत्तारयति, ततोऽपान्तराल एव तिष्ठति । 'तत्र' अन्तराले वा देशः 'उत्थितः' उद्वसितः, न च 'प्रवृत्तिः' वार्ता लभ्यते अतस्तिष्ठति यावत्—

फिडिएसु जा पवित्ती सय गिलाणो परं व पडियरइ। कालगया व पवित्ती ससंकिए जाव निस्संक ॥६६॥

'फिडितेषु' तस्मात्क्षेत्रादपगतेषु सत्सु 'या पवित्ती' यावद्वार्ता भवति तावत्तिष्ठति, तथा 'सयं गिलाणो' स्वयमेव ग्लानो जातस्ततस्तिष्ठति, 'परं व पडियरइ' अन्यं वा ग्लानं सन्तं प्रतिचरति । द्वारम् । 'कालगया व पवित्ती' अथवा कालगतास्त आचार्या इत्येवम्भूता प्रवृत्तिः श्रुता, ततः 'ससंकिते जाव निस्संक' सशङ्कायां–वार्तायामनिश्चितायां तावदास्ते यावन्निःशङ्कं जातमिति ॥

वासासु उब्भिण्णा बीयाई तेण अंतरा चिट्ठे। तेगिच्छि भोइ सारक्खणट्ठे ठाणमिच्छंति ॥ ११४ ॥

वर्षासु उद्भिन्ना बीजादयः, जातिमन्त्यावनन्तकायः, तेन कारणेनापान्तराल एव तिष्ठति, तत्र चच पथिकाद्यप्रतिबन्धात्

ग्रामादौ तिष्ठन् किं करोति ?–'तेगिच्छि' चिकित्सकः–वैद्यस्तमापृच्छति, यथा त्वया ममेह तिष्ठतो मन्दस्य भलनीयम्। 'मोइ'त्ति 'भोगिकं' ग्रामस्वामिनं पृच्छति, किमर्थं पुनर्वैद्यभोगिकयोः पृच्छनं करोत्यत आह–'सारक्खणहट्ठे' वैद्यं पृच्छति मन्दतायां सत्यां, 'हट्ठे'त्ति दृढीकरणार्थं, भोगिकं पृच्छति संरक्षणार्थं परिभवादेः, ततः स्थानं–वसनमिच्छति, केषु स्थानेषु इत्यत आह—

संविग्गसंनिभद्दग अहप्पहाणेसु भोइयघरे वा। ठवणा आयरियस्सा सामायारी पउंजणया ॥ ११५ ॥

वैद्यभोगिकयोः कथयित्वा संविग्नेषु–मोक्षाभिलाषिषु तिष्ठति। 'सण्णि'त्ति सञ्ज्ञी–श्रावकस्तद्गृहे तिष्ठति, भद्रकः साधूनां तद्गृहे वा निवासं करोति। 'अहप्पहाणेसु'त्ति यथा प्रधानेष्विति–यो यत्र ग्रामादौ प्रधानः तेषु यथाप्रधानेष्वेव तिष्ठते। एतेषामभावे 'भोइयघरे व'त्ति 'भोगिकगृहे वा' ग्रामस्वामिगृहे वा तिष्ठति, तत्र च तिष्ठन् किं करोतीत्यत आह– 'ठवणा आयरियस्सा' दण्डकादिकमाचार्यं कल्पयति निराबाधे प्रदेशे, अयं ममाचार्य इति, तस्य चाग्रतः सकलां चक्रवाल-सामाचारीं प्रयुङ्क्ते, निवेद्य करोतीत्यर्थः। एष एकः कारणिकः, एतच्च कारणिकद्वारं,— .

एवं ता कारणिओ दूइज्जइ जुत्तो अप्पमाएणं। निक्कारणिओ एत्तो चइओ आहिंडिओ चेव ॥ ११६ ॥

एवं तावत् कारणिको 'दूइज्जइ' विहरति, कथं विहरति ?–'जुत्तो अप्पमाएणं' अप्रमादेन युक्तः प्रयत्नपर इत्यर्थः,

---

१ तिष्ठन् किं करोति आ. पा. १. २. पु.। २ प्रच्छनं आ.।

निष्कारणिकः अतः–एव ऊर्द्ध्वमुच्यते, स द्विविधः–सङ्घो–स्याजितः सारणावारणाभिस्त्याजितः, आहिण्डकः–अगीतार्थः चक्रस्तूपादिदर्शनप्रवृत्तः । तत्र तावत्त्याजित उच्यते—

जह सागरम्मि मीणा संखोहं सागरस्स असहंता । णिंति तओ सुहकामी निग्गयमित्ता विणस्संति ॥११७॥

यथा 'सागरे' समुद्रे 'मीनाः' मत्स्याः संक्षोभं सागरस्य असहमाना निर्गच्छन्ति ततः समुद्रात् 'सुखकामिनः' सुखाभिलाषिणो, निर्गतमात्राश्च विनश्यन्ति ॥

एव गच्छसमुद्दे सारणवीईहिँ चोइया संता । णिंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥ ११८ ॥

एवं गच्छसमुद्रे सारणा एव वीचयस्ताभिस्त्याजिताः सन्तो निर्गच्छन्ति ततो गच्छसमुद्रात्सुखाभिलाषिणो मीना इव–मीना यथा तथा विनश्यन्ति । उक्तं त्याजितद्वारम्, इदानीमाहिण्डक उच्यते—

उवएस अणुवएसा दुविहा आहिंडगा समासेणं । उवएस देसदंसण अणुवएसा इमे होंति ॥ ११९ ॥

उपदेशाहिण्डका 'अणुवदेस'त्ति अनुपदेशाहिण्डकाश्च एवं द्विविधा आहिण्डकाः 'समासेन' संक्षेपेण । 'उवएस'त्ति उपदेशाहिण्डको यो देशदर्शनार्थं सूत्रार्थोभयनिष्पन्नो 'हिण्डते' विहरति । 'अणुवएस'त्ति अनुपदेशाहिण्डका इमे भवन्ति वक्ष्यमाणकाः—

1 धारवाला आ क १ पा १. २. ।

चक्के थूभे पडिमा जम्मण निक्खमण नाण निव्वाणे। संखडि विहार आहार उवहि तह दंसणट्ठाए ॥१२०

'चक्रं' धर्मचक्रं 'स्तूपो' मथुरायां 'प्रतिमा' जीवत्स्वामिसंबन्धिनी पुरिकायां पश्यति, 'जम्मण'त्ति जन्म—यत्रार्हतां सौरिकपुरादौ व्रजति, निष्क्रमणभुवं—उज्जयन्तादिं द्रष्टुं प्रयाति, ज्ञानं तत्रैवोत्पन्नं तत्प्रदेशदर्शनार्थं प्रयाति, निर्वाणभूमिदर्शनार्थं प्रयाति। संखडी—प्रकरणं तदर्थं व्रजति, 'विहारे'ति विहारार्थं व्रजति, स्थानाजीर्णं ममात्रेति, 'आहार'त्ति यस्मिन् विषये स्वभावेनैव आहारः शोभनस्तत्र प्रयाति। 'उवहि'त्ति अमुकत्र विषये उपधिः शोभनो लभ्यत इत्यतः प्रयाति 'तह दंसणट्ठाए' तथा रम्यदेशदर्शनार्थं व्रजति।

एते अकारणा संजयस्स असमत्ततदुभयस्स भवे। ते चेव कारणा पुण गीयत्थविहारिणो भणिआ ॥१२१

एतान्यकारणानि संयतस्य, किंविशिष्टस्य?—'असमत्ततदुभयस्स' असमाप्तसूत्रार्थोभयस्य संयतस्य भवन्ति अकारणानीति। 'ते चेव'त्ति तान्येव च धर्मचक्रादीनि भवन्ति कारणानि, कस्य?—'गीयत्थविहारिणो' गीतार्थविहारिणः सूत्रार्थोभयनिष्पन्नस्य दर्शनादिस्थिरीकरणार्थं विहरत इति। तथा चाह—

गीयत्थो य विहारो बिइओ गीयत्थमीसओ भणिओ। एत्तो तईअ विहारो नाणुन्नाओ जिणवरेहिं ॥१२२

'गीयत्थो' गीतार्थानां 'विहारः' विहरणमुक्तम्। 'बितिओ गीयत्थमीसओ' द्वितीयो विहारः—द्वितीयं विहरणं गीतार्थमीश्रं—गीतार्थेन सह, इतस्तृतीयो विहारो 'नानुज्ञातो' नोक्तो जिनवरैः, किमर्थमित्यत आह—

संजमआयविराहण नाणे तह दंसणे चरित्ते अ। आणालोवु जिणाणं कुव्वइ दीहं च संसारं ॥१२३॥

संयमविराधना आत्मविराधना तथा ज्ञानदर्शनचारित्राणां विराधना आज्ञालोपश्च जिनानां कृतो भवति, तथा अगीतार्थ एकाकी हिण्डन् करोति दीर्घं च संसारमिति । इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

संजमओ छक्काया आयाकंटऽट्ठिअजीरगेलन्ने । नाणे नाणायारं दंसणचरगाइवुग्गाहे ॥९७॥ (भा)

'संयमतो छक्काया' संयमविराधनामङ्गीकृत्य षट्कायविराधना संभवति । 'आय'त्ति आत्मविराधना संभवति, कथं ?, 'कंटऽट्ठिअजीरगेलन्ने' कण्टकेभ्यः अस्थिशकलेभ्यः आहारस्याजरणेन तथा ग्लानत्वेन । 'नाणे' ज्ञानविराधना कथं भवति ?, स हिण्डन् ज्ञानाचारं न करोति, 'दंसणचरगाइवुग्गाहे' दर्शनविराधना, कथं संभवति ?, स अगीतार्थश्चरकादिभिर्व्युद्ग्राह्यते, ततश्चापैति दर्शनम्, किं पुनः कारणं चारित्रं न व्याख्यातम् ?, उच्यते ज्ञानदर्शनाभावे चारित्रस्याप्यभाव एव द्रष्टव्यः । द्वारम् । एवं तावदकारणिके 'निक्कारणिओ य सोवि ठाणट्ठिओ हिंडंतओ य भणिओ' इदानीमनेकान् प्रत्युपेक्षकान् प्रतिपादयन्नाह—

णेगावि होंति दुविहा कारणनिक्कारणा दुविह भेओ । जं एत्थ नाणत्तं तमहं वोच्छं समासेणं ॥१२४॥

अनेकेऽपि द्विविधा भवन्ति, कतमेन द्वैविध्येन ?, अत आह—'कारणनिक्कारण'त्ति कारणमङ्गीकृत्य अकारणं चाङ्गीकृत्य द्विधाः, 'दुविह भेदो'त्ति पुनर्द्विविधो भेदः, ये ते कारणिकास्ते स्थानस्थिता हिण्डमानाश्च, येऽपि ते निष्कारणिकास्तेऽपि

स्थानस्थिता दूइज्जमानाश्च । तत्थ जे कारणिआ दूतिज्जंतगा ठाणट्ठिआ अ ते तहेव असिवादीकारणेहिं जहा पुव्वं एगस्स गमणविहिं वक्खाणंतेण भणिअं, जेवि निक्कारणिआ दूइज्जंता ठाणट्ठिआ य तेऽवि तहच्चेव थूभाईहिं, 'जं एत्थं नाणत्तं' यदत्र नानात्वं—यो विशेषस्तमहं वक्ष्ये समासतः । इदानीमनन्तरगाथोक्ताः सर्व एव साधवः सामान्येन चतुर्विधा भवन्ति ।

जयमाणा विहरंता ओहाणाहिंडगा चउद्धा उ । जयमाणा तत्थ तिहा नाणट्ठा दंसणचरित्ते ॥१२५॥

'यती प्रयत्ने' 'यतमानाः' प्रयत्नपराः 'विहरंता' विहरमाणा मासकल्पेन पर्यटन्तः 'ओहाण'त्ति अवधावमानाः, प्रव्रज्यातोऽपसर्पन्त इत्यर्थः, तथा 'आहिण्डकाः' भ्रमणशीलाः, एवमेते चतुर्विधाः । इदानीं "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायाद्यतमाना उच्यन्ते—'जयमाणा तत्थ तिहा' यतमानास्त्रिप्रकाराः, कथं ? नाणट्ठा दंसणचरित्ते', तत्थ णाणट्ठा कहं यतंति(ते) ? जदि आयरिआणं जं सुत्तं[1] अत्थो वा तं[2] गहितं अण्णा य से सत्ती अत्थि घित्तुं धारेउं वा ताहे विसज्जावेत्ता अत्ताणं[3] अन्नत्थ वच्चंति । एवं चेव दंसणपभावगाणं सत्थाणं अट्ठाए य वच्चंति, तत्त्वार्थादीनां । तथा चरित्तट्ठाए देसंतरं गयाणं केणइ कारणेणं, तत्थ जदि पुढविकायादीयं[4] पउरं ततो चरित्तं न सुज्झइ ताहे ते निग्गच्छन्ति, एसा चरित्तजेयणा[5] जयमाणा खलु, एवं तिविहाओ समासतो समक्खाया । दारं । इदानीं विहरमाणका उच्यन्ते, अत आह—'विहरंतावि अ दुविहा' विहरमाणका द्विप्रकारकाः, गच्छगता गच्छनिग्गया चेव, एतदेव व्याख्यानयन्नाह—

१ सुअ° आ पा १ । २ पग्गहिअ अण्णा आ ल २ । ३ अन्नओ आ पा.१ । ४ पुढविकाइआइ पउरं आ पा १-२ पु । ५ °जयणा खलु आ ।

पत्तेयबुद्ध जिणकप्पिया य पडिमासु चेव विहरता। आयरिअथेरवसभा भिक्खू खुड्डा य गच्छंमि॥१२६॥

प्रत्येकबुद्धा जिनकल्पिकाश्च प्रतिमाप्रतिपन्नकाश्च–'मासाई सत्तंता' इत्येवमादि एते गच्छनिर्गता विहरमाणकाः। इदानीं गच्छप्रविष्टा उच्यन्ते–'आयरिय' आचार्यः–प्रसिद्धः, स्थविरो–यः सीदन्तं ज्ञानादौ स्थिरीकरोति, वृषभो–वैयावृत्त्यकरण समर्थो, भिक्षवः–एतद्व्यतिरिक्ताः, क्षुल्लकाः प्रसिद्धाः, एते गच्छगताः। आह–'गच्छगता गच्छनिर्गताश्च' इत्ययमुपन्यासः प्राक् कृतः, तत्कस्मात् जिनकल्पिकादयो गच्छनिर्गता आदौ व्याख्याताः?, उच्यते, जिनकल्पिकादीनां प्राधान्यख्यापनार्थम्। आह–प्रथममेव कस्मादित्थं नोपन्यासः कृतः?, उच्यते, तेऽपि जिनकल्पिकादयो गच्छप्रवृत्ता एवास्यार्थस्य ज्ञापनार्थम्, आह–प्रत्येकबुद्धा न गच्छनिर्गताः, न, तेषामपि जन्मान्तरे तन्निर्गतत्वसद्भावात्, यतस्तेषां नव पूर्वाणि पूर्वाधीतानि विद्यन्ते। द्वारम्। इदानीमपधावतः प्रतिपादयन्नाह—

ओहावंता दुविहा लिंगविहारे य होंति नायव्वा। लिंगेणऽगारवासं निंतिया ओहावण विहारे॥ १२७॥

'अपधावन्तः' प्रव्रज्यादेरपसर्पन्तः 'द्विविधाः' द्विप्रकाराः 'लिंगविहारे य'त्ति लिङ्गादपधावन्ति–अपसर्पन्ति गृहस्थतां प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः, 'विहारे य'त्ति उद्यतविहारात् येऽपधावन्ति–अपसर्पन्ति पार्श्वस्थादयो भवन्ति, एवमेते विज्ञेया भवन्त्य पधावमानाः। एतदेव व्याख्यानयन्नाह–'लिंगेणऽगारवासं' लिङ्गेनापधावन् गृहवासे प्रतिपद्यते, 'निंतिया ओहावणविहारे'

१ एवं नव्यकप्पता गच्छनिर्गताश्च आ।

विहारादवधावन्नित्यादिषु वासं करोति । दारं । इदानीमाहिण्डकान्[1] प्रतिपादयन्नाह—

उवएस अणुवएसा दुविहा आहिंडआ मुणेयव्वा । उवएसदेसदंसण थूभाई होंति णुवएसा ॥ १२८ ॥

तत्र एके उपदेशाहिण्डकाः अपरेऽनुपदेशाहिण्डकाः एवमेते द्विविधा आहिण्डका मुणितव्याः । तत्र 'उवएस'त्ति द्वारपरामर्शः, 'देसदंसण'त्ति देशदर्शनार्थं द्वादश वर्षाणि ये पर्यटन्ति सूत्रार्थौ गृहीत्वा एते उपदेशाहिण्डकाः । अनुपदेशे त्वमी भवन्ति—'थूभादी होंतिऽणुवएसा' स्तूपादिगमनशीला अनुपदेशाहिण्डकाः । उक्ता आहिण्डकाः । द्वारम् । अधुना ये ते गच्छगता विहरमाणकास्तेषामेव विधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुण्णंमि मासकप्पे वासावासासु जयणसंकमणा । आमंतणा य भावे सुत्तत्थो न हायई जत्थ ॥ १२९ ॥

'मासकप्पे' मासावस्थाने पूर्णे सति तथा 'वासावासासु'त्ति वर्षायां वासो वर्षावासः तस्मिंश्च यो वासकल्पस्तस्मिन् पूर्णे सति । पुनश्च यतनया—संक्रामणा[2] क्षेत्रसंक्रान्तिः कर्त्तव्या । किं कृत्वा ?—'आमंतणा य'त्ति आमन्त्रणं—आचार्यः शिष्यानामन्त्रयते—पृच्छति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकप्रेषणकाले, चशब्दादागतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु क्षेत्रगमने वा, 'भावे'त्ति आगतेषु क्षेत्रप्रत्युपेक्षकेषु भावं परीक्षते[3] । कस्य किं क्षेत्रं रोचते ?, तत्र सर्वेषां मतं गृहीत्वा यत्र सूत्रार्थहानिर्न भवति तत्र गमनं करिष्यत्याचार्यः ॥ इदानीमेनामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह—अत्र यदुपन्यस्तं 'जयणसंकमण'त्ति तद्व्याख्यानयन्नाह—

१ आहिण्डका अपि द्विविधा भवन्ति, उपदेशतोऽनुपदेशतश्च, एतदेव व्याख्यानयन्नाह—पा २ । २ सकामणया आ. ल.२ । ३ प्रतीक्षते आ. पु.

अप्पडिलेहिअदोसा वसही भिक्खं च दुल्लहं होज्जा । बालाइगिलाणाण व पाउग्गं अहव सज्झाओ ॥१३०॥

अप्रत्युपेक्षणे दोषा भवन्ति, ते चामी—'वसहि'त्ति कदाचिद्वसतिर्दुर्लभा भवेत्, तथा भिक्षा वा दुर्लभा भवेत्, तथा बालादिग्लानानां प्रायोग्यं दुर्लभं भवेत् । अथवा स्वाध्यायो दुर्लभः, मांसाद्याकीर्णत्वात् तस्मात् किम् ?—

तम्हा पुव्वं पडिलेहिऊण पच्छा विहीए संकमणं । पेसेइ जइ अणापुच्छिउ गणं तत्थिमे दोसा ॥१३१॥

तस्मात् पूर्वमेव 'प्रत्युपेक्ष्य' निरूप्य पश्चात् 'विधिना' यतनया संक्रमणं कर्तव्यम् । इदानीं चतुर्थपदस्य 'आगतपा ये'—त्येवपदं तं व्याख्यानयन्नाह—'पेसेति जइ अणापुच्छिउ गणं' प्रेषयति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् यदि गणमनापृच्छ्य तत्रेमे 'दोषाः' वक्ष्यमाणलक्षणाः—

अइरेगोवहिपडिलेहणाए कत्थ व गयत्ति पुच्छंति । खित्तं पडिलेहेउं अमुगत्थ गयत्ति तं दुट्ठं ॥१३२॥

यदा क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः क्षेपकप्रविवाननापृच्छ्य गतास्तदा कथं ज्ञायन्ते ? अत आह—अतिरिक्तोपधिप्रत्युपेक्षणायां सत्यां ते पृच्छन्ति—क्व गतास्त इत्येवं पृच्छन्ति । आचार्योऽप्याह—क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुममुकत्र क्षेत्रे गता इति, तेऽप्याहुः—'तं दुट्ठं'ति, 'तत्' क्षेत्रं न शोभनं, यतस्तत्र मच्छता,—

तेणा सावय मसगा ओमऽसिवे सेह इत्थिपडिणीए । थंडिल्लअगणि उट्ठाण एवमाई भवे दोसा ॥१३३॥

१ प्रत्युपेक्षकं पा १ त्यनन्तरं भा । २ पडिलेहणा न क १ पु. । ३ तो पुच्छे भा पा १. । ४ भवेसो पा भा ।

स्तेनाः अर्द्धपथे श्वापदानि–व्याघ्रादीनि मशका वाऽतिदुष्टाः ओमं–दुर्भिक्षं 'असिवं' देवताकृत उपद्रवो यदिवा 'सेह'त्ति अभिनवप्रव्राजितस्य स्वजना विद्यन्ते, ते चोत्प्रव्राजयन्ति, 'इत्थि'त्ति स्त्रियो वा मोहप्रचुराः, 'पडिणीए'त्ति प्रत्यनीकोपद्रवश्च, 'थंडिल्ल'त्ति स्थण्डिलानि वा तत्र न विद्यन्ते, 'अगणि'त्ति अग्निना वा दग्धः स देशः, 'उट्ठाण'त्ति 'उत्थितः' उद्वसितः स देशो वाऽपान्तराले इत्येवमादयो दोषा भवन्ति, तत्रापि प्राप्तस्यैते दोषाः—

पच्चंत तावसीओ सावयदुब्भिक्खतेणपउराइं । नियगपदुट्टुट्ठाणे फेडणा हरियपण्णीय ॥ १३४ ॥

स हि प्रत्यन्तदेशः म्लेच्छाद्युपद्रवोपेतः 'तापस्यः' तापसप्रव्राजिताः ताश्च प्रचुरमोहाः संयमाद् भ्रंशयन्ति, श्वापदभयं, दुर्भिक्षभयं, स्तेनप्रचुरतराणि वा क्षेत्राणि, 'नियग'त्ति अभिनवप्रव्राजितस्य निजः–स्वजनादिः स चोत्प्रव्राजयति, 'पदुट्ठ'त्ति प्रद्विष्टो वा तत्र कश्चित्, 'उट्ठाणे'त्ति उत्थितः–उद्वसितः स कदाचिद्देशो भवेत्, 'फेडण'त्ति प्राक् तत्र वसतिरासीत् इदानीं तु कदाचिदपनीता भवेत् । 'हरितपण्णीय'त्ति हरितं तत्र शाकादि बाहुल्येन भक्ष्यते, तच्च साधूनां न कल्पते दुर्भिक्षप्रायं वा, [2]अथवा 'हरितपण्णीय'त्ति तत्र देशे केषुचिद्गृहेषु राज्ञो दण्डं दत्त्वा देवतायै बल्यर्थं पुरुषो मार्यते, स च प्रव्रजितादिर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन्, तत्र गृहस्योपरि आर्द्रा वृक्षशाखा चिन्हं क्रियते, तच्च गृहीतसङ्केतो दूरत एव परिहरति, अगृहीतसङ्केतश्च विनश्यति, तस्माद् गणं पृष्ट्वा गन्तव्यमिति । अथवाऽन्यकर्तृकीयं गाथा, ततश्च न पुनरुक्तदोषः । इदानीं स आचार्यः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् प्रेषयन् सर्वं गणमालोचयति । अथ तु[3] विशिष्य कश्चिदेकमालोचयति शिष्यादिकं ततश्चैते दोषा भवन्ति—

१ फेडणहरियाइ (हरिहरिय) णपण्णीए आ । २ 'हरितपर्णी'ति आ. । ३ विशेष्य आ पा १ ।

सीसे जइ आमते पडिच्छगा तेण बाहिर भाव। अह इयरे तो सीसा तेवि समत्तमि गच्छति ॥ १२५ ॥

शिष्यान् विशिष्य कवलान् यथामन्त्रयति ततश्च को दोषः ?, 'पडिच्छग'त्ति सूत्रार्थग्रहणार्थमायाता ये साधवस्ते प्रतीच्छकाः, 'तेण'त्ति तेऽनालोचनेन 'बाहिर भाव'ति बहिर्भाव चिन्तयन्ति, बाह्या वयमत्र । अथेतरान्–प्रतीच्छकान् आलोचयति ततः शिष्या बहिर्भावं मन्यन्ते, प्रतीच्छकाश्च सूत्रार्थग्रहणसमाप्तौ गच्छन्ति, ततश्चाचार्य एकाकी संजायत इत्ययं दोषस्तावत् । अथ वृद्धान् पृच्छति ततः—

तरुणा बाहिरभाव न य पडिलेहोवहिं न किइकम्म। मूलयपत्तसरिसया परिभूया वच्चिमो थेरा ॥१२६॥

वृद्धानालोचयतस्तरुणा बहिर्भावं मन्यन्ते, ततश्च ते तरुणाः किं कुर्वन्त्यत आह–'न य पडिलेहोवहिं' उपधेः प्रत्युपेक्षणां न कुर्वन्ति, न च कृतिकर्म–पादप्रक्षालनादि कुर्वन्ति । अथ तरुणानेव पृच्छति ततः को दोषः ?, वृद्धा एव चिन्तयन्ति– 'मूलयपत्तसरिसया' मौल–भाव परपर्णं निस्सारं परिपक्वप्राय तत्तुल्या वयमत एव च परिभूतास्ततश्च व्रजामः–इत्येव स्थविराश्चिन्तयन्ति, यदि वा 'मूलयपत्तसरिसया' मूलकपत्रतुल्याः शाकपत्रप्राया वयम् । अथ मत स्थविरा न प्रष्टव्या एव, वयु न, यत आह—

जुण्णमएहिं विहूण जं जूह होइ सुट्ठुवि महल्लं। तं तरुणरहसपोइयमयगुम्मइयं सुहं हतु ॥ १२७ ॥

१ आमतेइ आ॰ पा.१ । २ जइ इयरा आ. । ३ तेऽनालोचनेन आ. । ४ लोचयति ततश्च आ म २ पा.१ ।

जीर्णमृगैर्विहीनं यद्यूथं भवति सुष्ठ्वपि महत्तद्यूथं तरुणरभसे–रागे पोतितं–निमग्नं मदेन गुलमयितं–मूढं 'सुखं हंन्तुं' विनाशयितुं–सुखेन तद्व्यापाद्यते । यस्मादेवं तस्मात्सर्वे एव मिलिताः सन्तः प्रष्टव्याः, कथम् ?

थुइमंगलमामंतण नागच्छइ जो व पुच्छिओ न कहे । तस्सुवरिं ते दोसा तम्हा मिलिएसु पुच्छिज्जा ॥१३८

स्तुतिमङ्गलं कृत्वा–प्रतिक्रमणस्यान्ते स्तुतित्रयं पठित्वा ततश्चामन्त्रयति, आकारिते च दूरस्थो यदि नागच्छति कश्चिद्यो वा पृष्टः सन्न कथयति ततस्तस्योपरि ते दोषाः, तस्मान्मिलितेषु प्रच्छनीयमेकत्रीभूतेषु ।

केई भणन्ति पुव्वं पडिलेहिए एवमेव गंतव्वं । तं च न जुज्जइ वसही फेडण आगंतु पडिणीए ॥ १३९ ॥

केचनाचार्या एवं ब्रुवते–प्राक् प्रत्युपेक्षिते यस्मिन् क्षेत्रे प्रागपि स्थिता आसन् तस्मिन् पुनरप्रत्युपेक्ष्य गम्यते, तच्च न युज्यते, यस्मात्तत्र कदाचित् 'वसही फेडण'त्ति सा प्राक्तनी वसतिरपनीता, आगन्तुको वा प्रत्यनीकः संजातः, अत एत–द्दोषभयात् पूर्वदृष्टाऽपि वसतिः प्रत्युपेक्षणीया । इदं च ते प्रष्टव्याः—

कयरी दिसा पसत्था ? अमुई सव्वेसि अणुमए गमणं । चउदिसि ति दु एगं वा सत्तग पणगं तिग जहण्णं ॥

कतरा दिक् 'प्रशस्ता' शोभना ?, सुक्षेमपथेत्यर्थः, तेऽप्याहुः 'अमुई' अमुका दिक् सुक्षेमेति । एवं सर्वेषां यदा 'अनु–मता' अभिरुचिता भवति, तदा गमनं कर्त्तव्यम् । तत्र 'चतसृष्वपि दिक्षु' पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरासु प्रत्युपेक्षकाः प्रयान्ति,

१ रोगे आ । २ आकारयति ल १ । ३ एव दोष° आ पा २ । ४ पथे (पन्था इ)त्यर्थः, तदा आ ।

अथवा चतसृषु दिक्षु प्रत्रजादिगमने विसृष्टा यान्ति, तदभावे द्वयोर्दिशोर्यान्ति, तदभावेऽप्येकस्यां दिशि। तासु च दिक्षु भवन्तः कियन्तो व्रजन्त्यत आह–'सत्तग पणग तिग सहण्ण' एकैकस्यां दिशि उत्कृष्टतः सप्त सप्त प्रयान्ति, सप्तानामभावे पञ्च पञ्च व्रजन्ति, पञ्चानामभावे जघन्येन त्रयस्त्रय' प्रयान्तीति। अत्र च ये आभिग्रहिकास्ते प्रहेतव्याः; तेषां स्वभावे—

अणभिग्गहिए वावारणा उ तत्थ उ इमे न वावारे। बाल वुड्ढमगीअ जोगिं वसह तहा खमग ॥१४१॥

'अणभिग्गहिए'त्ति यैरभिग्रहो न गृहीतस्तान् व्यापारयेत्–गमनाय चोदयेदित्यर्थः। तत्र तु बालं वृद्धं अगीतार्थं योगिन 'वृषभ' वैयावृत्यकरं तथा 'क्षपक' मासक्षपकादिकम्। एतांश्च व्यापारयेत् गमनाय। इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकृत् व्याख्यानयन्नाह—

हीरेज्ज व खेलेज्ज व कज्जाकज्जं न याणई बालो। सो वाऽणुकंपणिज्जो न दिंति वा किंचि बालस्स ॥६८ भा॥

बाले प्रेष्यमाणेऽयं दोषो–ह्रियते म्लेच्छादिना क्रीडेद्वा बालस्वभावत्वात् कार्याकार्यं च–कर्तव्याकर्तव्यं वा न जानाति बालः। स च बालः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितः सन् अनुकम्पया सर्वं लभते, आगत्य चाचार्याय कथयति यदुत तत्र सर्वं लभ्यते, गतश्च तत्र गच्छो यावच्च किञ्चिल्लभते, पेलकस्येवानुकम्पया स लाभ आसीत्, अथवा न ददाति वा किञ्चिद्बालाय परिभवेनातस्त न व्यापारयेत्। वृद्धोऽपि न प्रेषणीयो, यतस्तत्रैते दोषाः—

वुड्ढोऽणुकंपणिज्जो चिरेण न य मग्गथंडिले पेहे। अहवावि बालवुड्ढा असमत्था गोयरतिअस्स ॥६९॥भा

वृद्धोऽनुकम्पनीयस्ततश्चासावेव लभते नान्यः, तथा 'चिरेणं'ति 'चिरेण' प्रभूतेन कालेन गमनं आगमनं च करोति, न च 'मार्गं' पन्थानं प्रत्युपेक्षितुं समर्थः नापि स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षितुं समर्थः । इदानीं तु द्वयोरपि बालवृद्धयोस्तुल्यदोषोद्भावनार्थमाह–अथवा बाला वृद्धाश्च 'असमर्थाः' अशक्ताः 'गोचरत्रिकस्य' त्रिकालभिक्षाटनस्येत्यर्थः । दारं । अगीतार्थेऽपि प्रेष्यमाणे एते दोषाः—

पंथं च मासवासं उवस्सयं एच्चिरेण कालेणं । एहामोत्ति न याणइ चउविहमणुण्ण ठाणं च ॥७०॥ (भा०)

'पन्थानं' मार्गं न जानाति परीक्षितुं 'मासं'ति मासकल्पं न जानाति 'वासं'ति वर्षाकल्पं न जानाति, तथा 'उपाश्रयं' वसतिं परीक्षितुं न जानाति । तथा शय्यातरेण पृष्टः–कदा आगमिष्यथ ?, ततश्च ब्रवीति–'एच्चिरेण कालेणं एहामो'त्ति इयता कालेन–अर्द्धमासादिना एष्याम इत्येवं वदतो यो दोषः अविधिभाषणजनितस्तं न जानाति, यतः कदाचिदन्या दिक् शोभनतरा शुद्धा भवति तत्र गम्यते, अतो नैव वक्तव्यम्–एतावता कालेनैष्यामः । तथा 'चउविहमणुण्ण'त्ति तत्रोपाश्रये शय्यातरश्चतुर्विधमनुज्ञाप्यते–द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चेति । तत्र द्रव्यतस्तृणडगलादि अनुज्ञाप्यते, क्षेत्रतः पात्रप्रक्षालनभूमिरनुज्ञाप्यते, कालतो दिवा रात्रौ वा निस्सरणमनुज्ञाप्यते, भावतो ग्लानस्य कदाचिद्भावप्रणिधानार्थं कायिकासञ्ज्ञादि निरूप्यते, एतां चतुर्विधामनुज्ञामनुज्ञापयितुं न जानाति । 'ठाणं च'ति वसतिः कीदृशे प्रशस्ते स्थाने भवतीत्येतन्न जानाति । द्वारं । योगिनमपि न प्रेषयेत्, कस्मात् ?—

१ नान्य 'चिरेण'ति ल २ नान्यथा 'चिरेण'ति ल. १ । २ वक्ष्यमाणं आ. पु ३ अविधिभाषण° आ. ल. २ पा. १ २ । ४ कस्यचिद्भाव°पा. १. २ ।

तूरतो व ण पेहे पथ पादट्ठिओ न थिर हिंडे। विगइ पडिसेहेइ य तम्हा जोगिं न पेसिज्जा ॥ ७१ ॥ (भा०)

स्वरमाणः सन् प्रस्फुपेक्षते पन्थानं, तथा पादार्थी सन् थिरं भिक्षां हिण्डते, तथा उम्यमाना विकृतीः-दध्यादिकाः प्रतिषेधयति, तस्माद्योगिनं न प्रेषयेत्। द्वारं। क्षपकोऽपि न प्रेषणीयो यत एते दोषा भवन्ति—

ठवणकुलानि न साहे सिट्ठावि न दिंति जा विराहणया। परितावण मणुकपण तिण्ह ऽसमत्थो भवे खमगो॥

क्षपको हि प्रेष्यमाणः कदाचित्क्रुधा स्थापनाकुलानि 'न साहे'त्ति न कथयति, अथवा 'सिट्ठावि न दिंति'त्ति कथितान्यपि तानि स्थापनाकुलानि न ददति अन्यस्य, तस्यैव तानि परिचितानि, 'जा विराहणय'त्ति ततश्च स्थापनाकुलेषु अलभ्यमानेषु या विराधना ग्लानादीनां सा सर्वा आचार्यस्य दोषेण कृता भवति। द्वारं। अथ क्षपकोऽपि न प्रेष्यते, यतः परितापना-दुःखा सिका आपादिता भवति क्षपकस्य, 'अणुकम्पण'त्ति अनुकम्पया वा लोकः क्षपकस्यैव ददाति नान्यस्य, तथा 'तिण्ह ऽसमत्थो भवे खमगो' त्रयो वारा यद्भिक्षाटनं तस्य-वारत्रयाटनस्यासमर्थः क्षपकः। द्वारम्। यदा तु पुनः प्रेषणार्हा न भवन्ति—

एए चेव हविज्जा पडिलोमेण तु पेसए विहिणा। अविही पेसिज्जते ते चेव तहिं तु पडिलोम ॥ १४२ ॥

एत एव बालादयो भवेयुस्तदा किं कर्त्तव्यमित्याह-'पडिलोमेण तु पेसए विहिणा' अनुलोमः-उत्सर्गस्तद्विपरीतः प्रतिलोमः-अपवादस्तं प्रतिलोम-अपवादमङ्गीकृत्य एतानेव बालादीन् प्रेषयेत्, कथम्?-'विधिना' यतनया-वक्ष्यमाणया। यदा पुनस्त एव बालादयोऽविधिना प्रेष्यन्ते तदाऽविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः, क?, 'तहिं तु' 'तस्मिन् क्षेत्रे

प्रेष्यमाणानां, कथम् ?–'पडिलोमं'ति प्रतिलोमं अपवादमङ्गीकृत्य । अथवाऽविधिना प्रेष्यमाणेषु त एव दोषाः, तत्र 'पडिलोमं'ति अविधिप्रतिलोमो विधिस्तेन–प्रतिलोमविधिना प्रेषयेत् । इदानीं बालादीनां प्रेषणार्हत्वे प्राप्ते यतना प्रतिपाद्यते–तत्र च गणावच्छेदकः प्रेष्यते तदभावेऽन्यो गीतार्थः, तदभावेऽगीतार्थोऽपि प्रेष्यते, तस्य को विधिः ?—

सामायारिमगीए [1]जोगिमणागाढ खवग पारावे । वेयावच्चे दायणजुयलसमत्थं व सहिअं वा ॥ १४३ ॥

अगीतार्थस्य सामाचारी कथ्यते, ततः प्रेष्यते, तदभावे योगी प्रेष्यते किं विशिष्टः ?–'अणागाढे'त्ति अनागाढयोगी–बाह्ययोगी योगं निक्षिप्य '[2]पारापयित्वा' भोजयित्वा प्रेष्यते, ततस्तदभावे क्षपकः प्रेष्यते, कथं ?–'पारावे'त्ति भोजयित्वा, तदभावे वैयावृत्त्यकरः, एतदेवाह–'वेयावच्चे'त्ति वैयावृत्त्यकरः प्रेष्यते, 'दायण'त्ति स च वैयावृत्त्यकरः कुलानि दर्शयति, तदभावे 'जुअल'त्ति युगलं प्रेष्यते–वृद्धस्तरुणसहितः बालस्तरुणसहितो वा, 'समत्थं व सहिअं व'त्ति [3]समर्थो वृषभः प्रेष्यते तरुणेन सह वृद्धेन वा सह, द्वितीयो वकारः पादपूरणः । आह–प्रथमं बालादय उपन्यस्ताः, तत्कस्मात्तेषामेव प्रथमं प्रेषणविधिर्न प्रतिपादितः ?, उच्यते, अयमेव प्रेषणक्रमः, यदुत प्रथममगीतार्थः प्रेष्यते पश्चाद्योगिप्रभृतय इति । आह–इत्थमेवोपन्यासः कस्मान्न कृतः ?, उच्यते, अप्रेषणार्हत्वं सर्वेषां तुल्यं वर्त्तते ततश्च योऽस्तु सोऽस्तु प्रथममिति न कश्चिद्दोषः । इदानीं तेषां गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

१ जोगमणागाढ आ. पा. १. २. ल. १. २ । २ पारयित्वा आ. पा. १. २. पु. । ३ समर्थे वृषभे प्रेष्यमाणे तरुणेन आ. ।

पथुच्चारे उदए ठाणे भिक्खंतरा य वसहीओ । तेणा सावयवाला पच्चावाया य जाणविही ॥ १४४ ॥

'पथ'त्ति पन्थानं-मार्गं चतुर्विधया प्रत्युपेक्षणया निरूपयन्तो गच्छन्ति । 'उच्चारे'त्ति उच्चारप्रश्रवणभूमिं निरूपयन्तो व्रजन्ति । 'उदए'त्ति पानकस्थानानि निरूपयन्ति, येन बालवृद्धादीनां पानीयमानीय दीयते, 'ठाणे'त्ति विश्रामस्थानं गच्छस्य अन्तराले वसतीश्च निरूपयन्तो व्रजन्ति । 'भिक्ख'त्ति भिक्षां निरूपयन्ति, येषु प्रदेशेषु लभ्यते येषु वा न लभ्यते इति । 'अंतरा य वसहीउ'त्ति अन्तराले वसतीश्च निरूपयन्तो गच्छन्ति यत्र गच्छः सुखेन वसन् याति । स्तेनाश्च यत्र न सन्ति । यत्र व्यालाः तथा श्वापदा न सन्ति-श्वापदव्याघ्रादयो न सन्ति । 'पच्चावाय'त्ति एकस्मिन् पथि गच्छतां दिवा प्रत्यपायः, अन्यत्र रात्रौ प्रत्यपायः, तेन निरूप्य गन्तव्यम् । 'जाणविहि'त्ति अयं गमनविधिः । इदानीं भाष्यकारः एनामेव निर्युक्तिगाथां प्रति पदं व्याख्यानयन्नाह—

सो चेव उ निग्गमणे विही उ जो वण्णिओ उ एगस्स । दव्वे खित्ते काले भावे पथ तु पडिलेहे ॥७३॥ भा ॥

स एव विधिर्य एकस्य निर्गमने उक्तः 'विसज्जणा पओसे' इत्येवमादिको विधिरुक्तः, इदानीं पथि व्रजतो विधिरुच्यते—स चायं—'दव्वे खित्ते काले भावे पथ तु पडिलेहे'त्ति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च मार्गं प्रत्युपेक्षेत । इदानीं मेतानेव द्रव्यादीन् व्याख्यानयन्नाह—

१ वसिंदु वा पु, वसं पा.१ । २ तत्तो निरूप्य वा तन्निरूप्य पा १ ।

कंटगतेणा वाला पडिणीया सावया य दवंमि। समविसमउदयथंडिल भिक्खायरि अंतरा खित्ते॥७४भा.

तत्र कण्टकाः स्तेना व्यालाः प्रत्यनीकाः श्वापदाः एतेषां पथि यत्प्रत्युपेक्षणं सा द्रव्यविषया प्रत्युपेक्षणा भवतीति। द्वारं। तथा समविषमउदकस्थण्डिलभिक्षाचर्यादीनां या 'अन्तरे' पथि प्रत्युपेक्षणा सा क्षेत्रतः प्रत्युपेक्षणा। द्वारम्। इदानीं कालप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

दियराओ पच्चवाए य जाणई सुगमदुग्गमे काले। भावे सपक्खपरपक्खपेल्लणा निण्हगाईया ॥७५॥ भा.

दिवा प्रत्यपायो रात्रौ वा प्रत्यपायो न वा प्रत्यपाय इत्येतज्जानाति, तथा दिवाऽयं पन्थाः सुगमो दुर्गमो वा रात्रौ वा सुगमो दुर्गमो वा एवं यत्परिज्ञानं सा कालतः प्रत्युपेक्षणा। द्वारम्। भावतः प्रत्युपेक्षणा इयं, यदुत स विषयः स्वपक्षेण परपक्षेण वाऽऽक्रान्तो—व्याप्तः। कश्चासौ स्वपक्षः परपक्षश्चात आह—'निण्हगाईया' निह्नवकादिः स्वपक्षः, आदि-ग्रहणाच्चरकपरिव्राजकादिः परपक्षः, एभिरनवरतं प्रार्थ्यमानो लोको न किञ्चित् दातुमिच्छति इत्येवं या निरूपणा सा भावप्रत्युपेक्षणा। दारं। कथं पुनस्ते व्रजन्तीत्यत आह—

सुत्तत्थं अकरिंता भिक्खं काउं अइंति अवरण्हे। बिइयदिणे सज्झाओ पोरिसिअद्धाए संघाडो ॥१४५॥

सूत्रपौरुषीं अर्थपौरुषीं चाकुर्वन्तो व्रजन्ति तावद्यावदभिमतं क्षेत्रं प्राप्ता भवन्ति, पुनश्च ते किं कुर्वन्तीत्यत आह—'भिक्खं

काउं जइवि अवरण्हे' मिक्षां कृत्वा-सदासन्नग्रामे तत्रदिवसे भक्षयित्वा पुनश्चापराह्णे प्रविशन्ति, ततो वसतिमन्वेषयन्ति, लब्धायां च वसतौ कालं गृहीत्वा द्वितीयदिवसे किञ्चिन्न्यूनपौरुषीमात्रं कालं स्वाध्यायं कुर्वन्ति। पुनश्च 'पोरिसिअद्धाए संघाडो' 'पोरिसिअद्धाए' पौरुषीकाले सङ्घाटकं कृत्वा मिक्षार्थं प्रविशन्ति, अथवा स्वाध्याय कियन्तमपि कालं कृत्वा 'पोरिसिअद्धाए' अर्द्धपौरुष्यामित्यर्थः, सङ्घाटकं कृत्वा प्रविशन्तीति। इदानीं ते सङ्घाटकेन प्रविष्टास्तत्क्षेत्रं त्रिधा विभजन्ति, एतदेवाह—

खित्त तिहा करेत्ता दोसीणे नीणिअम्मि उ वयंति। अण्णो लद्धो बहुओ थोव दे मा य रूसिज्जा ॥ १४६ ॥

क्षेत्रं त्रिधा कृत्वा-त्रिभिर्विभागैर्विभज्य एको विभागः प्रत्युषस्येव हिण्ड्यते, अपरो मध्याह्ने हिण्ड्यते, अपरोऽपराह्णे, एवं ते भिक्षामटन्ति। 'दोसीणे नीणिअम्मि उ वयंति' 'दोसीणे' पर्युषिताहारे निस्सारिते सति वदन्ति-'अण्णो लद्धो बहुओ' अन्य आहारो लब्धः प्रचुरः, ततश्च 'थोव दे'त्ति 'स्तोकं ददस्व' स्वल्पं प्रयच्छ, 'मा य रूसिज्ज'त्ति मा रोषं ग्रहीष्य स्यनादरजनितम्। एवमसौ परीक्षार्थं करोति, किमयं लोको दानश्रीलो? न वेति।

अहव न दोसीण चिय जायामो देहि दहिं घय खीरं। खीरे गुलघयपेज्जा थोवं थोवं च सव्वत्थ ॥१४७॥

अथवा एतदसौ साधुर्ब्रवीति-न वयं दोसीणं चिय याचयामः, किन्तु 'देहि दहिं' दधि याचयामः, तथा क्षीरं याचयामः, तथा क्षीरे लब्धे सति गुड घृत पेयां ददस्व। 'सव्वत्थ' सर्वेषु कुलेषु स्तोकं स्तोकं गृह्णन्ति ते साधवः, एवं

१ भज्जिवन्ति पा १ ३ । २ विभजयन्ति भा ।

तावत्प्रत्युषसि भिक्षाटनं कुर्वन्ति । अधुना मध्याह्नाटनविधिरुच्यते—

मज्झण्हि पउरभिक्खं परिताविअपिज्जजूसपयकाढिअं । ओहट्ठमणोभट्ठं लब्भइ जं जत्थ पाउग्गं ॥१४८॥

मध्याह्ने प्रचुरा भिक्षा लभ्यते 'परिताविअ'त्ति परितलितं सुकुमारिकादि, तथा पेया लभ्यते, जूषः पटोलादेः तथा पयः-क्वथितं 'ओहट्ठमणोभट्ठं लब्भति' प्रार्थितमप्रार्थितं वा लभ्यते 'जं जत्थ' 'यद्' यद्वस्तु 'यत्र' क्षेत्रे 'प्रायोग्यं' इष्टं तदित्थंभूतं क्षेत्रं प्रधानमिति । इदानीमपराह्णे भिक्षावेलां प्रतिपादयन्नाह—

चरिमे परितावियपेज्जजूस आएस अतरणट्ठाए । एक्केक्कगसंजुत्तं भत्तट्ठं एक्कमेक्कस्स ॥ १४९ ॥

'चरिमे' चरमपौरुष्यामटन्ति, तत्र च परितलितानि पेया जूषश्च यदि लभ्यते ततः 'आएस'त्ति प्राघूर्णकः 'अतरण'त्ति ग्लानस्तदेषामर्थाय भ्रमति, ततश्च तत्प्रधानम् । एवं तेऽटित्वा 'भत्तट्ठं'ति उदरपूरणमेकस्याऽऽनयन्ति, कथम् ?–'एक्केक्कगसंजुत्तं' एकः साधुरेकेन संयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकसंयुक्तमानयन्ति, 'एक्कमेक्कस'त्ति परस्परस्य आनयन्ति, एतदुक्तं भवति–द्वौ साधू अटतः एक आस्ते प्रत्युषसि, पुनर्द्वितीयवेलायां तयोर्द्वयोर्मध्यादेक आस्ते अपरः प्रयाति प्रथमव्यवस्थितं गृहीत्वा, तृतीयवेलायां च यो द्वितीयवेलायां रक्षपालः स्थितः स प्रथमस्थितरक्षपालेन सह व्रजति, इतरस्तु येन वारद्वयमटितं स तिष्ठति । एवमेषां त्रयाणामेकैकस्य सङ्घाटककल्पनया वैारद्वयं पर्यटनं योजनीयम् । एवम्—

---

१ जूष पाटलादे आ । २ पर्यटनं द्वयोर्योजनीयम् था. पा. १ ।

ओसह भेसज्जाणि अ काल च कुले य दाणमाईणि । सग्गामे पेहित्ता पेहति ततो परग्गामे ॥१५०॥

एवं औषध-हरितक्यादि, भेषजं-पेयादि, एतच प्रार्थनाद्वारेण प्रत्युपेक्षन्ते । 'कालं च'त्ति काल प्रत्युपेक्षन्ते । 'कुले च दाणमाईणि' कुलानि च दानशाद्धकादीनि, 'ग्रामे अहिगमसड्ढे' एवमादि, एतानि कुलानि प्रत्युपेक्षन्ते । एतानि च स्वग्रामे 'पेहित्ता' प्रत्युपेक्ष्य ततः परग्रामे प्रत्युपेक्षन्ते ।

चोयगवयण दीह पणीयगहणे य नणु भवे दोसा । जुज्जइ त गुरुपाहुणगिलाणगट्ठा न दप्पट्ठा ॥१५१॥

चोदकवचन, किमित्यत आह-'दीह' दीर्घे भिक्षाटनं कुर्वन्ति ते 'पणीयगहणे य'त्ति स्नेहवद्द्रव्यग्रहणे च ननु भवन्ति दोषाः । आचार्यस्त्वाह-'जुज्जति त' युज्यते तत्सर्वं दीर्घं भिक्षाटनं प्रणीतग्रहणं च यतः 'गुरुपाहुणगिलाणगट्ठा' गुरुप्राघूर्णकग्लानार्थमसौ प्रत्युपेक्षते 'न दप्पट्ठा' न दर्पार्थं, आत्मार्थं प्रणीतादेर्ग्रहणमिति ।

जइ पुण खद्धपणीए अकारणे एक्कसिंपि गिण्हिज्जा । तहिअं दोसा तेण उ अकारणे खद्धनिद्धाइं ॥१५२॥

यदि पुनः खद्ध-प्रचुरं प्रणीत-स्निग्ध-एतानि अकारणे सकृदपि गृह्णीयात् 'तहिअं दोसा' ततस्तस्मिन् ग्रहणे दोषा भवेयुः । किं कारणम् ?-यतः 'तेण उ' 'तेन' साधुना 'अकारणे खद्धनिद्धाइं' 'अकारणे' कारणमन्तरेणैव खद्धाइं-भक्षितानि स्निग्धानि-स्नेहवन्ति द्रव्याणि, अथवा अकारणे 'खद्धनिद्धाइं' प्रचुरस्निग्धानि तेनासेवितानीति ।

1 भिक्षाटनं सए प्रणीत° खा. पा. 1 ।

एवं-रुइए थंडिल वसही देउलिअसुण्णगेहमाईणि। पाउग्गअणुण्णवणा वियालणे तस्स परिकहणा॥१५३

'एवं' उक्तेन प्रकारेण 'रुइए'त्ति 'रुचिते' अभीष्टे क्षेत्रे सति 'थंडिल'त्ति ततः स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्षन्ते, येषु मृतः परिष्ठाप्यते महास्थण्डिलं 'वसहि'त्ति वसतिं निरूपयन्ति, किं प्रशस्ते प्रदेशे आहोस्विदप्रशस्ते-सिंगक्खोडादियुक्ते इति, पत्तनमध्ये शालादि, तदभावे 'देउलिआ' देवकुलं शून्यं प्रत्युपेक्ष्यते, 'सुन्नगेहमादीणि' शून्यगृहादीनि आदिशब्देन सभा गृह्यते, तां च वसतिं लब्ध्वा किं कर्त्तव्यं ?-'पाउग्गअणुण्णवणा' प्रायोग्यानां-तृणडगलकादीनां शय्यातरोऽनुज्ञापनां कार्यते-यथा उत्संकलय एतानि वस्तूनि। अथासौ प्रायोग्यानि न जानाति 'वियालणे'त्ति विचारयति, प्रायोग्यं किमभिधीयते ? इति, एवंविधे विचारे तस्य शय्यातरस्य कथ्यते 'परिकहणा' यथाऽस्माकं तृणक्षारडगलादि उत्संकलयेति। एतां निर्युक्तिगाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्र रुचिते क्षेत्रे स्थण्डिलं परीक्ष्यते, तच्च बहुवक्तव्यादुपरिष्टाद्वक्ष्यति। वसतिस्तु कीदृशे स्थाने कर्त्तव्या कीदृशे च न कर्त्तव्येति व्याख्यानयन्नाह—

सिंगक्खोडे कलहो ठाणं पुण नत्थि होइ चलणेसुं। अहिट्ठाणि पोट्टरोगो पुच्छंमि अ फेडणं जाण॥७६ भा.
मुहमूलंमि अ चारी सिरे य कउहे य पूयसक्कारो। खंधे पिट्ठीए भरो पोट्टंमि य धायओ वसहो ॥७७॥ भा.

तत्र वामपार्श्वोपविष्टपूर्वाभिमुखवृषभरूपं क्षेत्रं बुद्ध्या कल्पयित्वा तत इदमुच्यते-'शृङ्गखोडे' शृङ्गप्रदेशे यदि वसतिं

१ उत्सकलयेत् आ। २ °नास्ति 'चरणेषु' आ.।

करोति ततः कलहो भवतीति क्रिया वक्ष्यति। 'स्थान' अवस्थितिर्नास्ति, क्व ? 'पश्चेषु' पादप्रदेशेषु, 'अधिष्ठाने' अपानप्रदेशे वसतौ क्रियमाणायामुदररोगो भवतीति क्रिया सर्वत्र योजनीया। 'पुच्छे' पुच्छप्रदेशे 'फेडणं' अपनयनं भवति वसत्याः ॥ मुखमूले घाटी भवति। शिरसि-शृङ्गयोर्मध्ये ककुदे च पूजासत्कारो भवति। स्कन्धे पृष्ठे च भारो भवति, साधुभिरागच्छ क्रिराकुला भवति। उदरप्रदेशे तु नित्यं तृप्त एव भवति क्षेत्रवृषभः। वसतिर्व्याख्याता, वक्ष्यासानाच देवकुलशून्यगृहादयोपि व्याख्यातमेव द्रष्टव्यम्। इयं च वृषभपरिकल्पना यावन्मात्रं वसतिनाऽऽक्रान्तं तस्मिन्नोपरिष्टात्, उपरिष्टात्तु तदनुसारेण कर्तव्या वसतिः। अधुना 'पावगअणुण्णवण' इत्यवयवं व्याख्यानयन्नाह, तत्र प्रायोग्यानामनुज्ञा-अनुज्ञापना कर्तव्या-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यत —

दव्वे तणडगलाई अच्छणभाणाइधोवणा खित्ते। काले उच्चाराई भावे गिलाणाइ कुरुयमा ॥ ७८ ॥ भा०

'द्रव्यतः' द्रव्यमङ्गीकृत्य तृणानां संस्तारकार्थं डगलानां च अधिष्ठानप्रोञ्छनार्थं लेष्टूनामनुज्ञापना क्रियते। 'क्षेत्रे' क्षेत्रविषयाऽनुज्ञापना 'अच्छण'त्ति आस्या यत्रास्यते यथासुखेन स्वाध्यायपूर्वकं, 'भाणादिधोवणा' भाजनादिभाजन-क्षालन पात्रकार्येयत्र क्रियते सा क्षेत्रानुज्ञा। कालविषयाऽनुज्ञा दिवा रात्रौ वा उच्चारप्रस्रवणादिव्युत्सर्जनम्। भावविषयाऽनुज्ञापना ग्लानादेः साम्यकरणार्थं निवातप्रदेशाद्यनुज्ञापना क्रियते। इदानीं 'विपालणे तस्स परिकप्प'त्ति अवयवं व्याख्यानयन्नाह-'कुरुयमा' यदा शय्यातर एव मृते-म्रियते प्रदेशे भयाऽवस्थानमनुज्ञातं भवति नोपरिष्टात्, तदा तस्य परिकल्पना

क्रियते कूरदृष्टान्तेन, यो हि भोजनं कस्यचिद्ददाति स नियमेनैव [1]भाजनोदकासनाद्यपि ददात्यनुक्तमपि सामर्थ्याक्षिप्तम्, एवं वसतिं प्रयच्छता उच्चारप्रश्रवणभूम्यादि सामर्थ्याक्षिप्तं सर्वमेव दत्तं भवति। अथवा इदमसौ शय्यातरो विचारयति–कियन्तं कालमत्र स्थास्यन्ति भवन्तः? अस्मिन् विचारे तस्स परिकहणा—

जाव गुरूण य तुज्झ य केवइया तत्थ सागरेणुवमा। केवइकालेणेहिह? सागार ठविंति अण्णेवि ॥१५४॥

यावद् गुरूणां तव च प्रतिभाति तावदवस्थानं करिष्यामः। अथैवमसौ विचारयति–वियालणा, यदुत 'केवइआ' कियन्त इहावस्थास्यन्ते?, तस्स परिकहणा क्रियते, सागरेणोपमा, यथा हि सागरः क्वचित्काले प्रचुरसलिलो भवति क्वचित्पुनर्मर्यादावस्थ एव भवति, एवं गच्छोऽपि कदाचिद्बहुप्रव्रजितो भवति कदाचित्स्वल्पप्रव्रजित इति। अथासौ पुनरपि 'विआलणे'त्ति विचारयति–यथा 'केवइकालेणेहिह'त्ति कियता कालेनागमिष्यथ?, एवमुक्ताः सन्तः साधवः तत्र 'सागार ठविंति'त्ति सविकल्पं कुर्वन्तीत्यर्थः, कथं कुर्वन्ति?–'अन्नेवि' अन्येऽपि साधवः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गता एव, ततश्च तदालोचने-नागमिष्याम इति ॥

पुव्वादिट्ठे विच्छइ अहव भणिज्जा हवंतु एवइआ। तत्थ न कप्पइ वासो असई खेत्ताणऽणुन्नाओ ॥१५५॥

यदि त्वसौ पूर्वदृष्टानेवेच्छति यैः प्राग् मासकल्पः कृत आसीत्, स्वभावेनेर्ष्यालुः स दृष्टप्रत्ययानिच्छति, नान्यान् तत्र

[1] भोजनोदकासेचनाद्यपि आ।

न कल्पते वासः । अथवा यथेदसौ एतावन्त एवात्र तिष्ठन्तु, तत्र 'न कल्पते वासः' न युज्यतेऽवस्थान, यतः साधवः कदाचित्स्तोकाः कदाचिद्बहवो भवन्ति । अथान्यानि क्षेत्राणि न सन्ति तदा 'असती खेत्ताण'त्ति क्षेत्राणामन्येषामभावे 'अणुमाउ'त्ति तस्यामेव वसतावनुज्ञातो वासः । शेषक्षेत्राभावे सति तत्र च नियमितपरिमितायां वसतौ यदि प्राघूर्णक आगच्छति ततः को विधिरित्यत आह—

सक्कारो सम्माणो भिक्खग्गहणं च होइ पाहुणए । जइ जाणउ वसइ तहिं साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई ॥

'सत्कारः' वन्दनाभ्युत्थानादिकः 'सन्मानः' पादप्रक्षालनादिकः 'भिक्षाग्रहणं' भिक्षानयनं च, एतत्प्राघूर्णके आगते सति क्रियते । पुनश्च तस्य प्राघूर्णकस्य वसतिस्वरूपं कथ्यते यथा-परिमितैरेवैषा लब्धा नान्यस्यावकाशः, ततश्च त्वयाऽन्यत्र वसितव्यम् । 'यदि जाणउ वसइ तहिं'ति एवमसावुक्तो कोपितः सन्—यदि जानन्नपि तत्र वसति ततः को दोषोऽत्र आह–'साहम्मिअवच्छलाऽऽणाई' साधर्मिकवात्सल्यं न कृतं भवति, यतोऽसौ शय्यातरो रुष्टस्तानपि निर्घाटयति, आज्ञाभङ्गश्च कृतः-आचार्यलोपश्चेन कृतो भवति सूत्रस्य, आदिग्रहणात्प्रत्यपायप्रयपच्छेदः । इदानीं ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षका आचार्य समीपमागच्छन्तः किं कुर्वन्तीत्यत आह—

जइ तिन्नि सव्वगमणं एसु न एसु त्ति दोसुं वी दोसा । अण्णपहेणऽगुणता नितियावासो हु मा गुरुणो ॥

---

१ कोऽपि वन् भा । २ दोसुवि न दोसा भा.क २ पा १ । ३ नियमायातोऽत्र भा भा ।

यदि ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षकास्त्रय एव तत सर्व एव गमनं कुर्वन्ति, अथ सप्त पञ्च वा ततः सङ्घाटकमेकं मुक्त्वा व्रजन्ति। 'एसु न एसु त्ति' शय्यातरेण पृष्टाः सन्तस्ते नैवं वदन्ति—एष्यामो न वा एष्याम इति, यत एवं भणने दोषः, किं कारणं ?, यद्येवं भणन्ति यदुत आगमिष्यामः, ततश्च शोभनतरे क्षेत्रे लब्धे सति नागच्छन्ति ततश्चानृतदोषः। अथ भणन्ति—नागमिष्यामः, ततश्च कदाचिदन्यत्क्षेत्रं न परिशुध्यति ततश्च पुनस्तत्रागच्छतां दोषोऽनृतजनितः। 'अण्णपहेणं'ति ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका गुरुसमीपमागच्छन्तोऽन्येन मार्गेणागच्छन्ति, कदाचित् स शोभनतरो भवेत्, 'अगुणंत'त्ति ते हि सूत्रपौरुषीमकुर्वन्तः प्रयान्ति, मा भून्नित्यवासो गुरोरिति, किं कारणं ?, यतस्तेषां विश्रब्धमागच्छतां मासकल्पोऽधिको भवति, ततश्च नित्यवासो गुरोरिति॥

गंतूण गुरुसमीवं आलोइत्ता कहेंति खित्तगुणा। न य सेसकहण मा होज्ज संखडं रत्ति साहंति॥ १५८॥

गत्वा गुरुसमीपं आलोचयित्वा ईर्यापथिकातिचारं कथयन्त्याचार्याय क्षेत्रगुणान्। 'न य सेसकहणं'ति न च शेषसाधुभ्यः क्षेत्रगुणान् कथयन्ति। किं कारणम् ?—'मा होज्ज संखडं' मा भवेत् स्वक्षेत्रपक्षपातजनिता राटिरिति, तस्मात् 'रत्ति साहंति'त्ति रात्रौ मिलितानां सर्वेषां साधूनां क्षेत्रगुणान् कथयन्ति। ते च गत्वा एतत्कथयन्ति—

पढमाए नत्थि पढमा तत्थ उ घयखीरकूरदहिलंभो। बिइयाए बिइअ तइआए दोवि तेसिं च धुवलंभो॥
ओहासिअधुवलंभो पाउग्गाणं चउत्थिए नियमा। इहरावि जहिच्छाए तिकालजोग्गं च सव्वेसिं॥१६०॥

---

[1] यदेव आ. पा. १।

अथ तस्मिन् गच्छे पञ्चपञ्चाशद्वर्षदेशीयाः त्रिंशद्वर्षाः चत्वारिंशद्वर्षा वा भवन्ति, ततो गम्यते चतुर्थं क्षेत्रं, यतस्ते येन केनचिद् ध्रियन्ते–यापयन्ति। तथा यदि च तरुणा 'नीरोगाः' शक्ता भवन्ति ततश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रजन्ति।

अह पुण जुण्णा थेरा रोगविमुक्का य असहुणो तरुणा। ते अणुकूलं खित्तं पेसंति न यावि खग्गूडे ॥१६५॥

अथ पुनर्वृद्धाः स्थविरा भवन्ति रोगेण च–ज्वरादिना मुक्तमात्रास्तरुणाः, नाद्यापि येषां साम्यं भवति शरीरस्य, ततस्तान् अनुकूलं क्षेत्रं प्रेषयन्त्याचार्याः। 'न यावि खग्गूडे'त्ति 'खग्गूडा' अलसा निर्द्धर्मप्रायास्तांश्च प्रेषयन्ति। कियता पुनः कालेन बलादय आप्यास्यन्ते ?, उच्यते, पञ्चभिर्दिवसैः, यत उक्तं वैद्यके—

एगपणअद्धमास सट्ठी सुणमणुयगोणहत्थीण। राइदिएहिं उ बलं पणगं तो एक्क दो तिन्नि ॥१६६॥

एकेन रात्रिन्दिवेन शुनो बलं भवति, पञ्चभिर्दिनैर्मनुजस्य बलं भवति, अर्द्धमासेन बलीवर्दस्य, षष्टिभिर्दिवसैर्हस्तिनो बलं भवति, एवमेतदयथासङ्ख्यं योजनीयम्। 'पणगं तो एक्क दो तिन्नि' एवमसौ तस्मिन् क्षेत्रे पञ्चकमेकं धार्यते। अथ तथाऽपि बलं न गृह्णाति ततो द्वौ पञ्चकौ धार्यते, त्रीन् वा पञ्चकान् धार्यते, पुनरानीयत इति। एवं ते आलोचितशिष्यगणा आचार्याः शय्यातरमापृच्छ्य क्षेत्रान्तरं संक्रामन्ति। अथ न पृच्छन्ति ततो दोष उपजायते। एतदेवाह—

सागारिअपुच्छगमणं बाहिरा मिच्छ छेय कयनासा। गिहि साहू अभिधारण तेणगसकाइ जं चऽण्णं ॥

१ येन ड.। २ °र्थीनाः षा २।

'सागारिकं' शय्यातरमनापृच्छ्य यदि गमनं क्रियते ततो 'बाहिर'त्ति बाह्या लोकधर्मस्यैते भिक्षव इत्येवं वक्ति शय्यातरः। ये च धर्म-लोकधर्मं न जानन्ति दृष्टं ते कथमदृष्टं जानन्ति ?, इत्यतः 'मिच्छ'त्ति मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते। 'छेद'त्ति अपच्छेदो वसतिदानस्य, पुनस्तेऽन्ये वा वसतिं न लभन्ते। 'कतणास'त्ति [1]कृतघ्ना ह्येते प्रव्रजिता इत्येवं मन्यते। 'गिहि साहू अभिधारण'त्ति गृही कश्चिच्छ्रावकस्तमाचार्यमभिधार्य-संचिन्त्यायातः प्रव्रज्यार्थं, तेनाप्यागत्य शय्यातरः पृष्टः-क्वाचार्यः ?, सोऽपि रुष्टः सन्नाह-यः कथयित्वा व्रजति स ज्ञायते, तं तु को जानाति ?, तमाकर्ण्य स श्रावकः कदाचिद्दर्शनमप्युज्झति, लोकज्ञानमप्येषां नास्ति कुतः परलोकज्ञानमिति ?, कदाचित्साधुः कश्चित्तमाचार्यमभिधार्य-मनसि कृत्वा उपसम्पदादानार्थमायाति, सोऽपि शय्यातरं पृच्छति, शय्यातरोऽप्याह-न जाने क्व गत इति, ततः स साधुरनाचारवानाचार्य इति विचिन्त्यान्यत्र गतः, सोऽपि निर्जराया आचार्योऽनाभागी जात इति। 'तेणग'त्ति कदाचित्तद्गृहं केनचित्तस्मिन्नेव दिवसे मुष्टं भवेत्तत एवंविधा बुद्धिर्भवेत्-यदुत ते स्तेना इत्येवं शङ्कां करोति, आदिशब्दाद्योषित् [2]केनचित्सह गता ततो गृहात् तेऽप्यनाख्याय गताः, ततश्च शङ्कोपजायते, 'जं च ऽण्णंति'त्ति यच्चान्यत् शङ्कादि जातं पत्तनगतं तत्सर्वमुपजायते इति गच्छद्भिश्च शय्यातर आपृच्छनीयः॥ स च विधिना नाऽविधिना, यतोऽविधिना [3]पृच्छने एते दोषाः—

अविहीपुच्छा उग्गाहितेण सेज्जातरीउ रोएज्जा। सागारियस्स संका कलहे य [4]सएज्झिआ खिंसे ॥१६८॥

अविधिपृच्छा इयं वर्त्तते, यदुत-'उग्गाहितेन' उत्क्षिप्तेन उपकरणेन पृच्छति, तत्र 'सेज्जातरीउ रोएज्जा' तेनाकस्मिकेन

१ अकृतज्ञा भा। २ केन केनचित्सह भा. ल.२। ३ पृच्छत भा.। ४ सएज्जिया भा.।

'प्रथमायां' पूर्वस्यां दिशि नास्ति प्रथमा–नास्ति सूत्रपौरुषीस्यर्थः, किन्तु तत्र घृतक्षीरक्षरदघिलाभोऽस्ति, अन्ये त्वन्यस्यां दिशि कथयन्ति, द्वितीयायां दिशि नास्ति द्वितीया–नास्त्यर्थपौरुषी, यतस्तत्र द्वितीयायां पौरुष्यामेव भोजनं, घृतादिकस्तु लभ्यत एव, 'तइआए दोवि'त्ति तृतीयायां दिशि द्वे अपि सूत्रार्थपौरुष्यौ विद्येते 'तेसिं च घुवलंभो'त्ति तेषां घृतादीनां निश्चित लाभः ॥ 'ओभासियघुवलंभो'त्ति प्रार्थितस्य ध्रुवो लाभः, केषां ? आयोग्यानां घृतादीनां 'चउत्थीए' चतुर्थ्यां दिशि 'नियमात्' अवश्यं 'इहरावि'त्ति अप्रार्थितेऽपि परेच्छया त्रिकालयोग्य प्रातर्मध्याह्नापराह्णेषु त्रिकालमपि 'सव्वेसिं'ति 'सर्वेषां' बालादीनां योग्यं प्राप्यत इति । एवं तैः सर्वैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैराख्याते सत्याचार्यः किं करोतीत्यत आह—

मयगहण आयरिओ करय वयामो ।त्ति तत्थ ओयरिआ। खुहिआ भणंति पढमं तं चिअ अणुओगतत्तिच्छा ॥

'मतग्रहणं' अभिप्रायग्रहणं आचार्यः शिष्याणां करोति, यदुत भो आयुष्मन्तः ! के व्रजामः ?–कया दिशा गच्छामः ? तत्रैवमामन्त्रिते शिष्यगणे आचार्येण 'तत्र औदरिका' उदरभरणैकचित्ताः 'क्षुधिताः' आकुला भणन्ति–यदुत 'पढमं'ति प्रथमां दिशं व्रजामः, यत्र प्रथमपौरुष्यां भुज्यते, 'तं चिय'त्ति तामेव दिशं 'अणुओगतत्तिच्छा' व्याख्यानार्थिन इच्छन्ति, यतस्ते सूत्रग्रहणनिरपेक्षाः केवलमर्थग्रहणार्थिनः एव, स चार्थग्रहणप्रयत्नो द्वितीयायां पौरुष्यां भवतीत्यतस्तामेवेच्छन्तीति ॥

बिइयं च सुत्तग्गाही उभयग्गाही अ तइयय खित्त। आयरिओ उ चउत्थं सो उ पमाणं हवइ तस्स ॥१६२॥

1 चरप्युप्ता वयवा सवेच्छया पा २। २ प्रातर्मध्याह्नापराह्णेषु आ । ३ मतग्रहणं क १ २। ४ तस्सत्थ आ पा १।

द्वितीयां च दिशं सूत्रग्राहिण इच्छन्ति, यतः प्रथमपौरुष्यामेव स्वाध्यायो भवति, स च तेषामस्ति, 'उभयग्राहिणश्च' सूत्रार्थग्राहिणस्तृतीयं क्षेत्रमिच्छन्ति, आचार्यस्तु चतुर्थं क्षेत्रमिच्छति, यतस्तत्र चतुर्थ्यामपि पौरुष्यां प्राघूर्णकादेः प्रायोग्यं लभ्यत इति, 'स एव प्रमाणं' आचार्य एव च सर्वेषां प्रमाणं भवति 'तत्थ'त्ति तत्रेति शिष्यगणमध्ये, किं पुनः कारणं आचार्यश्चतुर्थमेव क्षेत्रमिच्छति ?, अत आह—

मोहुब्भवो उ बलिए दुब्बलदेहो न साहए जोए । तो मज्झबला साहू दुट्ठऽस्सेणेत्थ दिट्ठंतो ॥ १६३ ॥

प्रथमद्वितीययोः क्षेत्रयोः प्रचुरभक्तपानकेभ्यः सकाशाद्बलवान् भवति, बलिनश्च मोहोद्भवो भवति-कामोद्भवो भवतीत्यर्थः । आह-एवं तर्हि यत्र भिक्षा न लभ्यते तत्र प्रयान्तु, उच्यते, 'दुर्बलदेहः' कृशशरीरो न साधयति-नाराधयति 'योगान्' व्यापारान् यतस्ततो मध्यमबलाः साधव इष्यन्ते । दुष्टाश्वेन चात्र दृष्टान्तः, दुष्टाश्वो-गर्दभ उच्यते, स यथा प्रचुरभक्षणाद्दर्पिष्टः सन् कुम्भकारारोपितभाण्डकानि भनक्ति दर्पोत्सेकादुत्प्लुत्य पुनस्तेनैव कुम्भकारेण निरुद्धाहारः सन्नतिदुर्बलत्वात्प्रस्खलितः सन् भनक्ति, स एव च गर्दभो मध्यमाहारक्रियया सम्यग् भाण्डकानि वहति, एवं साधवोऽपि संयमक्रियां मध्यमबला वहन्ति ।

पणपणगस्स हाणी आरेणं जेण तेण वा धरइ । जइ तरुणा नीरोगा वच्चंति चउत्थगं ताहे ॥१६४॥

---

१ यत आह ल. १-२।

अथ तस्मिन् गच्छे पञ्चपञ्चाशद्वर्षदेशीयाः त्रिंशद्वर्षाः चत्वारिंशद्वर्षा वा भवन्ति, ततो गम्यते चतुर्थं क्षेत्रं, यतस्ते येन केनचिद् ध्रियन्ते–यापयन्ति। यथा यदि च तरुणा 'नीरोगाः' शक्ता भवन्ति ततश्चतुर्थमेव क्षेत्रं व्रजन्ति।

अह पुण जुण्णा थेरा रोगविमुक्का य असहुणो तरुणा। ते अणुकूल खित्त पेसति न यावि खग्गूडे ॥१६५॥

अथ पुनर्जीर्णा स्थविरा भवन्ति रोगेण च–ज्वरादिना मुक्तमात्रास्तरुणाः, नाद्यापि येषां साम्यं भवति शरीरस्य, ततस्ताननुकूलं क्षेत्रं प्रेषयन्त्याचार्याः। 'न यावि खग्गूडे'त्ति 'खग्गूडा' अलसा निर्धर्मप्रायास्तांश्च प्रेषयन्ति। कियता पुनः कालेन ग्लानाद्य आप्याय्यन्ते?, उच्यते, पञ्चमात्रैर्दिवसैः, यत उक्तं वैद्यके—

एगपणअद्धमास सट्ठी सुणमणुयगोणहत्थीण। राइंदिएहिं उ बल पणग तो एक दो तिन्नि ॥ १६६ ॥

एकेन रात्रिन्दिवेन शुनो बलं भवति, पञ्चभिर्दिनैर्मनुष्यस्य बलं भवति, अर्द्धमासेन बलीवर्दस्य, षष्टिभिर्दिवसैर्हस्तिनो बलं भवति, एवमेवमयासस्य योजनीयम्। 'पणग तो एग दो तिण्णि' एवमसौ तस्मिन् क्षेत्रे पञ्चकमेकं धार्यते। अथ तथाऽपि बलं न गृह्णाति द्वौ पञ्चकौ धार्यते, त्रीन् वा पञ्चकान् धार्यते, पुनरानीयत इति। एवं ते आलोचितशिष्यगणा आचार्याः शय्यातरमापृच्छ्य क्षेत्रान्तरं संक्रामन्ति। अथ न पृच्छन्ति ततो दोष उपजायते। एतदेवाह—

सागारिमपुच्छगमण बाहिरा मिच्छ छेय कयनासा। गिहि साहू अभिधारण तेणगसकाइ जं च उण्ण ॥

१ येषु इ० । २ °णीताः भा० २ ।

'सागारिकं' शय्यातरमनापृच्छय यदि गमनं क्रियते ततो 'बाहिर'त्ति बाह्या लोकधर्मस्यैते भिक्षव इत्येवं वक्ति शय्यातरः। ये च धर्मं-लोकधर्मं न जानन्ति दृष्टं ते कथमदृष्टं जानन्ति ?, इत्यतः 'मिच्छ'त्ति मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते। 'छेद'त्ति अपच्छेदो वसतिदानस्य, पुनस्तेऽन्ये वा वसतिं न लभन्ते। 'कतणास'त्ति कृतघ्ना ह्येते प्रव्रजिता इत्येवं मन्यते। 'गिहि साहू अभिधारण'त्ति गृही कश्चिच्छ्रावकस्तमाचार्यमभिधार्य-संचिन्त्यायातः प्रव्रज्यार्थं, तेनाप्यागत्य शय्यातरः पृष्टः-क्वाचार्यः ?, सोऽपि रुष्टः सन्नाह-यः कथयित्वा व्रजति स ज्ञायते, तं तु को जानाति ?, तमाकर्ण्य स श्रावकः कदाचिद्दर्शनमप्युज्झति, लोकज्ञानमप्येषां नास्ति कुतः परलोकज्ञानमिति ?, कदाचित्साधुः कश्चित्तमाचार्यमभिधार्य-मनसि कृत्वा उपसम्पदादानार्थमायाति, सोऽपि शय्यातरं पृच्छति, शय्यातरोऽप्याह-न जाने क्व गत इति, ततः स साधुरनाचारवानाचार्य इति विचिन्त्यान्यत्र गतः, सोऽपि निर्जराया आचार्योऽनाभागी जात इति। 'तेणग'त्ति कदाचित्तद्गृहं केनचित्तस्मिन्नेव दिवसे मुष्टं भवेत्तत एवंविधा बुद्धिर्भवेत्-यदुत ते स्तेना इत्येवं शङ्कां करोति, आदिशब्दाद्योषित्[2] केनचित्सह गता ततो गृहात् तेऽप्यनाख्याय गताः, ततश्च शङ्कोपजायते, 'जं चऽण्णंति'ति यच्चान्यत् शङ्कादि जातं पत्तनगतं तत्सर्वमुपजायते इति गच्छद्भिश्च शय्यातर आपृच्छनीयः॥ स च विधिना नाऽविधिना, यतोऽविधिना पृ[3]च्छने एते दोषाः—

अविहीपुच्छा उग्गाहितेण सेज्जातरीउ रोएज्जा। सागारियस्स संका कलहे य स[4]एज्झिआ खिंसे ॥१६८॥

अविधिपृच्छा इयं वर्त्तते, यदुत-'उग्गाहितेन' उत्क्षिप्तेन उपकरणेन पृच्छति, तत्र 'सेज्जातरीउ रोएज्जा' तेनाकस्मिकेन

१ अकृतज्ञा आ । २ केन केचित्सह आ. छ २ । ३ पृच्छत आ. । ४ सएज्जिया आ. ।

गमनेन शय्यातर्यो रोदनं कुर्यु, ततश्च 'सागारिकस्य' शय्यातरस्य प्रद्वेषो जायते, कलहे च सति 'उपज्झिआ खिस'त्ति सैव मण्ज्जिया 'खिसेति' यथा न शोभना त्वं येन त्वया तदा काले मिथोर्भेच्छतो रुदित, किं च ते स पिता भवति ? येन रोदिषीति । अथ अनागतमेव कथयन्ति—अमुकदिवसे गमिष्यामः, तत्राप्येते दोषाः—

हरिअच्छेयण छप्पइय घच्चण किच्चणं च पोच्चाण । छण्णेयर च पगय इच्छमणिच्छे य दोसा उ ॥१६९॥

यदि शय्यातरकुटुम्ब साधवो यास्यन्तीति निमुक्तसेवण्णापारं सत् गृह एव तिष्ठति, कृष्यादिप्रतिजागरणं न करोति, ततश्च घर्मिकं सत् स्वगृहजातहरितच्छेदं करोति । तथा निर्व्यापारत्वादेव च ता रण्डाः षट्पदीनां परस्परनिरूपणेनोपमर्दनं कुर्वन्ति । 'किषण च पोचाण'त्ति यत्र दिवसे ठायिका विमुक्तकपिलवत्सव्यापारा वस्त्राणि शोधयन्ति । 'छण्णेयरं च पगयं' प्रकृतं—भोजनं छन्न कुर्वन्ति, अप्रकटमित्यर्थः, 'इतरं च'त्ति प्रकटमेव भोजनं संयतार्थं कुर्वन्ति, तत्र येच्छतामनिच्छतां च दोषा भवन्ति, कथं ?, यदि तद्भोजनं गृह्णाति ततोऽयुक्तत्वात्संयमबाधा स्यात्, अथ न गृह्णन्ति ततो रोषभावं कदाचित्स्यादिति पयते । एते दोषा अनागतकथने, ततश्च कः पृच्छाविधिरित्याह—

जइआ चेव य खेत्त गया उ पडिलेहगा तओ पाए । सागारियस्स भाव तेणुइन्ति गुरू इमेहिं तु ॥१७०

परेष क्षेत्र गताः प्रत्युपेक्षकाः 'तओ पाए'त्ति ततः प्रभृति 'सागारिकस्य' शय्यातरस्य 'भाव' स्नेहप्रतिबन्ध तनूकुर्वन्ति,

१ शतिअपं' गह तथिकियमा खिस'त्ति भा. । २ ततस्ततस्तनीयम् [illegible] । ३ तनुएंति भा. तनुर्वेति [illegible] ।

के ?–गुरवः 'एभिः' वक्ष्यमाणैर्गाथाद्वयोपन्यस्तैर्वचनैरिति—

उच्छू वोलिंति वइं तुंबीओ जायपुत्तभंडाओ। वसभा जायत्थामा गामा पव्वायचिक्खल्ला ॥१७१॥

सुगमा।

अप्पोद्गा य मग्गा वसुहावि अ पक्कमट्टिआ जाया। अण्णक्कंता[1] पंथा साहूणं विहरिउं कालो ॥१७२॥

सुगमा। एतद्गाथाद्वयं शृण्वतः शय्यातरस्य पठन्ति, ततः सोऽपि श्रुत्वा भणति–किं यूयं गमनोत्सुकाः?, आचार्योऽप्याह–

समणाणं सउणाणं भमरकुलाणं च गोउलाणं च। अनियाओ वसहीओ सारइआणं च मेहाणं ॥१७३

सुगमा। ततश्चैतां गाथां पठित्वा इदमाचरन्ति—

आवस्सगकयनियमा कल्लं गच्छामो[2] तओ उ आयरिआ। सपरिजणं सागारियं वाहरिउं[3] दिंति अणुसट्ठिं॥

'आवश्यककृतनियमाः' कृतप्रतिक्रमणा इत्यर्थः, विकालवेलायां कृतावश्यका इदं भणन्ति–यदुत कल्लं गच्छामः। पुनश्च तत आचार्याः सपरिजनं 'सागारिकं' शय्यातरं आहूय 'अनुशास्तिं ददति' धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः।

पवज्ज सावओ वा दंसण भद्दो जहण्णयं वसहिं। जोगंमि वट्टमाणे अमुगं वेलं गमिस्सामो ॥१७५॥

१ अण्णोक्कता ल १। २ गच्छाम आ., गच्छामु ल.२। ३ वाहिरिउ आ.।

सोऽपि सागारिको धर्मकथां श्रुत्वा एवंविधो भवति—प्रव्रज्यां प्रतिपद्यते श्रावको वा भवति, दर्शनधरो वा भवति, भद्रको वा भवति, सर्वथा अभव्यतो वसतिमात्रमवकाशं ददाति। पुनश्च धर्मकथां कृत्वाऽऽचार्या एवं ब्रुवते—यदुत 'योगे वर्तमाने' योऽसौ योगो गमनाय मां प्रेरयति तस्मिन्वर्तमाने—भवति सति अमुकवेलायां गमिष्याम इति। इदानीं ते विकालवेलायां कथयित्वा प्रस्तुपसि भवन्ति, किं कृत्वेत्यत आह—

तदुभय सुत्त पडिलेहणा य उग्गयमणुग्गए वावि। पडिच्छाहिगरणतेणे नट्ठे खग्गूड संगारो ॥१७६॥

'तदुभय' सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कृत्वा व्रजन्ति, 'सुत्त'त्ति सूत्रपौरुषीं वा कृत्वा व्रजन्ति। ततः पादोनप्रहर एव पात्रप्रतिलेखनां कृत्वा व्रजन्ति। 'उग्गय'त्ति उद्गतमात्र एव वा सूर्ये गच्छन्ति, 'अणुग्गय'त्ति अनुद्गते वा सूर्ये रात्रावेव गच्छन्ति, 'पडिच्छ'त्ति ते साधवस्तस्मान्निर्गताः परस्परं प्रतीक्षन्ते। 'अधिकरण'त्ति अथ ते श्रावको न प्रतीक्षन्ते ततो मार्गमजानानाः परस्परतः पृच्छन्ति, तेन च शब्देन लोको विबुध्यते, ततश्चाधिकरणं भवति। 'तेण'त्ति स्तेनका वा विबुद्धाः सन्तो मोषणार्थं पश्चाद्व्रजन्ति। 'नट्ठ'त्ति कश्चिदेकाकी भ्रश्यति, ततश्च प्रदोष एव संस्कारः क्रियते, अमुकत्र विश्रमणं करिष्यामः अमुकत्र भिक्षां अमुकत्र वसतिमिति, ततश्च रात्रौ गच्छद्भिः संकेतः क्रियते। 'खग्गूड'त्ति कश्चित् खग्गूडप्रायो भवति, स इदं ब्रूते—यदुत साधूनां रात्रौ न युज्यत एव गन्तुं, पुनः स आस्ते, ततश्च 'संगारो'त्ति संकेतं खग्गूडाय प्रयच्छन्ति, यदुत त्वयाऽमुकत्र प्रदेशे आगन्तव्यमिति। इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकृद् कांचिद्

1 °भिवनामकृत्वा क॰। 2 'पडिच्छ'त्ति भा॰ क॰ १ भा॰ २।

वयवान् व्याख्यानयति, तत्र प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

पडिलेहंतच्चिअ बिंटियाउ काऊण पोरिसि करिंति। चरिमा उग्गाहेउं सोच्चा मज्झण्हे वच्चंति ॥७९ भा०

ते हि साधवः प्रभातमात्र एव प्रतिलेखयित्वा उपधिकां पुनश्च वेण्टलिकां कुर्वन्ति-संवर्त्तयन्तीत्यर्थः, ततश्चानिक्षिप्तोपधय एव 'पोरिसिं करिंति'त्ति सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति । 'चरिमा उग्गाहेउं'ति चरिमवेलायां पादोनपौरुष्यां पात्रकाणि उद्ग्राह्य-संयन्त्रयित्वा पुनश्चानिक्षिप्तैरेव पात्रकैः 'सोच्च'त्ति श्रुत्वा अर्थपौरुषीं कृत्वेत्यर्थः, ततो मध्याह्ने व्रजन्तीति । ते च शोभन एवाह्नि व्रजन्तीति । अत एवाह—

तिहिकरणंमि पसत्थे नक्खत्ते अहिवइस्स अणुकूले। घेत्तूण निंति वसभा अक्खे सउणे परिक्खंता ॥८०॥

'तिथौ' प्रशस्तायां 'करणे' च बवादिके प्रशस्ते नक्षत्रे वा 'अधिपतेः' आचार्यस्य अनुकूले सति गृहीत्वा अक्षान् प्राग् वृषभा निर्गच्छन्ति, किं कुर्वाणा अत आह—'सउणे परिक्खंता' 'शकुनान्' प्रशस्तान् परीक्षमाणाः सन्तो वृषभा निर्गच्छन्तीति पश्चादाचार्याः । किं पुनः कारणं पश्चादाचार्या निर्गच्छन्ति ?, तत्र कारणमाह—

वासस्स य आगमणे अवसउणे पट्ठिआ निवत्तंति। ओभावणा पवयणे आयरिआ मग्गओ तम्हा ॥८१॥

वर्षणं वर्षस्तस्यागमनं कदाचिद्भवति, अपशकुने वा दृष्टे प्रस्थिता अपि निवर्त्तन्ते वृषभाः । यदि पुनराचार्या एव प्राग् निर्गच्छन्ति ततोऽपशकुनदर्शने वृष्टौ च निवर्त्तमानस्य सतः किं भवति ?, अत आह—'ओहावणा पवयणे' प्रवचने हीलना

भवति, परुत-यदपि ज्योतिषिकाणां विज्ञान तथाप्येतेषां नास्तीति । 'आयरिया मग्गओ'त्ति अत आचार्या 'मार्गतः' पृष्ठतो निर्गच्छन्तीति । मध्यमिह अपशकुना शकुना वा निरूपणीयाः, तत्रापशकुनान् प्रतिपादयन्नाह—

मइल कुचेले अब्भंगिपल्लए साण खुज्जवडभे य । एए उ अप्पसत्था हवंति खित्ताउ निंताण ॥८२॥

नारी पीवरगब्भा वडुकुमारी य कट्ठभारो य । कासायवत्थ कुच्चधरा य कज्जं न साहेति ॥८३॥

मलिनः शरीरकर्पटैः कुचेलो-जीर्णकर्पटः 'अब्भंगिपल्लए'त्ति स्नेहाभ्यक्तशरीरः श्वा यदि वामपार्श्वाद्दक्षिणपार्श्वे प्रयाति, कुब्जो-वक्रः, वडभो-वामनः, एतेऽप्रशस्ताः, 'पीवरगब्भा' आसन्नप्रसवकाला । शेषं सुगमम्—

[चंकमणे समाइसे सुक्खा मारो य पहुरगमि । तत्थासि रुहिरपडण थोडियमसिए धुवं मरणं]

[चङ्क्रमणे अमर्षं क्षुधा मरणं च पाण्डुरागे । वधनिके रुधिरपातः थोटिकेऽशिते ध्रुवं मरणं]

जंबू य चासमउरे भारद्दाए तहेव नउले अ । दंसणमेव पसत्थं पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥८४॥ (भा)

सुगमा

नंदी तूरं पुण्णस्स दंसणं संखपडहसद्दो य । भिंगारछत्तचामर धयप्पडागा पसत्थाइं ॥८५॥ (भा)

---

1 इयं गाथा ॥ 1 पा. 1-2 प्रतिषु नास्ति ।

सुगमा, नवरं—पूर्णकलशदर्शनं, ध्वज एव पताका ध्वजपताका।

समणं संजयं दंतं सुमणं मोयगा दहिं। मीणं घंटं पडागं च सिद्धमत्थं विआगरे ॥ ८६ ॥ (भा.)

'श्रमणः' लिङ्गमात्रधारी 'संयतः' सम्यक् संयमानुष्ठाने यतः—यत्नपरः 'दंत'त्ति 'दान्तः' इन्द्रियनोइन्द्रियैः 'सुमनसः' पुष्पाणि, शेषं सुगमम्। गच्छंश्चासौ—

सेज्जातरेऽणुभासइ आयरिओ सेसगा चिलिमिणीए। अंतो गिण्हन्तुवहिं सारविअपडिस्सया पुव्विं॥८७॥

व्रजनसमये शय्यातराननुभाषते—व्रजाम इत्येवमादि आचार्यः। 'सेसगा चिलिमिणीए अंतो' शेषाः साधवः 'चिलिमिण्याः' जवनिकाया 'अन्तः' अभ्यन्तरे, किम्?—उपधिं 'गृह्णन्ति' संयन्त्रयन्तीत्यर्थः। 'सारविअपडिस्सया पुव्विं'ति किंविशिष्टाः सन्तस्ते साधवः उपधिं गृह्णन्ति?—संमार्जितः—उपलिप्तः प्रतिश्रयो यैस्ते संमार्जितप्रतिश्रयाः 'पुव्विं' प्रागेव, प्रथममेवेत्यर्थः। इदानीं कः कियदुपकरणं गृह्णातीत्याह—

बालाई उवगरणं जावइयं तरति तत्तिअं गिण्हे। जहण्णेण जहाजायं सेसं तरुणा [1]विरिंचंति ॥८८॥भा.॥

बालादयः, आदिशब्दाद्वृद्धा गृह्यन्ते, तेह्युपकरणं यावन्मात्रं 'तरन्ति' शक्नुवन्ति तावन्मात्रं गृह्णन्ति, तैश्च बालादिभिः 'जघन्येन' जघन्यतः 'जहाजायं'ति रजोहरणं चोलपट्टकश्च, एतदशक्नुवद्भिरपि ग्राह्यं, शेषं उपकरणं तरुणाः आभिग्रहिकाः

१ विरचति ल.१ पा.१-२.।

'विरिञ्चन्ति' विसमन्ति मालाविस्तरकम् । यदा तु पुनरामिग्राहिका न सन्ति तदा—

आयरिओवहि वालाइयाण गिण्हति संघयणजुत्ता। दो सोत्ति उण्णिसंथारओ य गहणेक्कपासेण ॥८९॥

आचार्योपधिं 'बालाइयाण'त्ति बालादीनां च संबन्धिनमुपधिं गृह्णन्ति, के?—'संघयणजुत्ता' येऽन्ये शेषा अनाभिग्राहिकाः संहननोपेतास्ते गृह्णन्ति, कथं पुनर्गृह्णन्ति ते उपधिं?—'दो सोत्ति उण्णि'त्ति द्वौ सौत्रिकौ कल्पौ एक और्णिकः कल्पः संस्तारकश्चञ्चदावुत्तरपट्टकश्च, एषां 'गहणेक्कपासेणं'ति ग्रहणं एकस्मिन् पार्श्वे—एकत्र स्कन्धे ग्रहणं कुर्वन्ति, द्वितीये तु 'पार्श्वे' स्कन्धे पात्रकाणि गृह्णन्ति, आत्मीयां तूपधिं वेष्टयित्वा कृत्वा यत्र स्कन्धे उपधिः कृतस्तस्यैव दिशा कक्षायां कुर्वन्ति। इदानीं 'अधिकरणदोषे'त्ति अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह—

आउज्जोवण वणिए अगणि कुडुंबी कुकम्म कुम्मरिए। तेणे मालागारे उब्भामग पंथिए जंते ॥९०॥

ते हि यदि सचम्दं भवन्ति ततश्च लोको विबुध्यते, विबुद्धश्च सन् 'आउज्जोवण'त्ति अप्कायजन्त्राणि 'योत्रिज्यन्ते' वहनाय सज्जीक्रियन्ते। अथवा 'आउ'त्ति अप्कायाय योषितो विबुद्धा भवन्ति। 'जोवणं'त्ति धान्यप्रकारः तदर्थं लोको याति, प्रकरो—मर्दनं धान्यस्य, लाटविषये 'खोवणं भणपहरणं भण्णइ'। 'वणिय'त्ति वणिजो—धान्यस्तुका विभातमिति कृत्वा भवन्ति। 'अगणि'त्ति लोहकारशालादिषु अग्निः प्रज्वाल्यते। 'कुडुंबि'त्ति कुटुम्बिनः स्वकर्मणि लगन्ति। 'कुकम्म'त्ति ठारिसत कर्म

१ कपोवि ब १-२. । २ योजयन्ते पा २ ।

येषां ते कुकर्माणः मात्सिकादयः[1]। 'कुम्मरिए'त्ति कुत्सिता माराः कुमाराः—सौकरिकाः, एषां बोधो भवति रात्रौ पूत्कारयतां, 'तेणे'त्ति स्तेनकानां च। 'मालाकार'त्ति मालिका विबुध्यन्ते। 'उब्भामग'त्ति पारदारिका विबुध्यन्ते, 'पंथिए'त्ति पथिका विबुध्यन्ते, 'जंते'त्ति यान्त्रिका विबुद्धाः सन्तो यन्त्राणि वाहयन्ति चाक्रिकादयः। तत्र यदुक्तं प्राक् "नट्ठे खग्गूडसिंगारो" तत्रेदमुक्तं निर्युक्तिकृता सङ्गारकरणमात्रम्, इह पुनः स एव निर्युक्तिकारः स सङ्गारः कया यतनया कर्त्तव्यः? कस्यां वा वेलायां कर्त्तव्यः? इत्येतदाह—

संगार बिइय वसही तइए सण्णी चउत्थि साहम्मी। पंचमगंमि अ वसही छट्ठे ठाणट्ठिओ होति॥१७७

'संगार'त्ति सङ्केतोऽभिधीयते[2] ततः प्रथमद्वारे तद्विधिर्वक्तव्यः, 'बितिय वसहि'त्ति द्वितीये द्वारे वसतिः वक्तव्या[3], पूर्वप्रत्युपेक्षितायास्तस्या व्याघाते वा वसतेरन्यवसतिग्रहणविधिर्वक्तव्यः। 'ततिए सण्णि'त्ति तृतीये द्वारे सञ्ज्ञी श्रावको वक्तव्यः। 'चउत्थि साहम्मि'त्ति चतुर्थे द्वारे साधर्मिका वक्तव्याः। 'पंचमगंमि अ वसहि'त्ति पञ्चमे द्वारे वसतिर्वक्तव्या—'विच्छिण्णा खुड्डलिआ' इत्येवमादि। 'छट्ठे ठाणट्ठिओ होति' षष्ठे द्वारे स्थानस्थितो भवति। द्वारगाथेयम्। इदानीं निर्युक्तिकृतोपन्यस्तं सङ्गारद्वारं भाष्यकृत् व्याख्यानयन्नाह—

आओसे संगारो अमुई वेलाए निग्गए ठाणं। अमुगत्थ वसहिभिक्खं बितिओ खग्गूडसंगारो ॥९१॥

१ मात्स्यकादयः आ. ल.१–२। २ °धीयते, तद्विधिर्वक्तव्य आ. ल २ पा.१–२। ३ कर्त्तव्या आ. पु।

'आओसे'त्ति प्रदोषे 'संगारो'त्ति सङ्केतः आचार्येण वक्तव्यः, कथम्? 'अमुई वेलाए'त्ति अमुकया वेलया यास्यामः। पुनश्च 'निग्गए ठाण अमुगत्थ' निर्गतानां सतामयुकत्र स्थान-विश्रामस्थानं करिष्यामः। 'वसहि'त्ति अमुकत्र वसतिर्भविष्यति-ग्रामको भविष्यतीत्यर्थः। 'भिक्ख'त्ति अमुकग्रामे भिक्षाटनं कर्त्तव्यम्। एकस्तावदयं 'प्रकारः' सङ्केतः। 'बितिओ त्वग्गूरसंगारो'त्ति द्वितीयः सङ्केतः खग्गूरस्य दीयते। स चैवमाह—

राईं न चेव कप्पइ नीयदुवारे विराहणा दुविहा। पण्णवण बहुतरगुणा अणिच्छ [1]बितिओ व उवही वा॥

'राइं न चेव कप्पति'त्ति रात्रौ साधूनां गमनं न कल्पते, द्विविधविराधनासंभवात्, यत उक्तं दिवापि तावत्-'नीयदुवारे विराहणा दुविह'त्ति दिवाऽपि तावदयं दोषः, "नीयदुवारं तमसं, कोट्ठगं परिवज्जए" [द. वै. अ. ५ उ. १ गा. २०] [नीचद्वारं तामसं कोष्ठकं परिवर्जयेत्] इति वचनात्, नीचद्वारे द्विविधा विराधना सतमस्कत्वात् आस्तां तावद्रात्रौ, एवं च धर्मश्रद्धया नेच्छति 'पण्णवण बहुतरगुण'त्ति पुनश्च तस्य प्रज्ञापना-प्ररूपणा क्रियते, यत्र रात्रिगमने बहवो गुणा इत्यन्ते बालवृद्धादयः सुखेन गच्छन्ति रात्रौ, न तृषा बाध्यन्ते इति, 'अणिच्छ'त्ति अथ तथाऽपि नेच्छति गमनम् 'बितिओ व'त्ति द्वितीयस्तस्य दीयते-उद्भ्रमं पुरुषो इति। 'उवही व'त्ति उपधिस्तस्य दीयते भीर्णः, तदीयश्च शोभनो गृह्यत इति, मा भूत्सार्धे स्थितमुपधिं स्तेनका आच्छेत्स्यन्ति। इदानीमसावेकाकी यदि स्वपिति ततो दोषः प्रमादत्वनितस्ततश्चोपधि गवेष्यते, उपस्तथाकल्पो भवति, एतदेवाह—

1 वर्त्तमं भा. पा.१ पु। २ बीओ व पा १ बीउच भा क.२ पा २। ३ न निर्गच्छति भा म गच्छति पा १-२।

सुवणे वीसुवघातो पडिबज्झंतो व जो उ न मिलिज्जा। जग्गण अप्पडिबज्झण जइवि चिरेणं न उवहम्मे॥

स्वापे 'वीसुं' एकाकिनो निद्रावशे सति को दोषः ?–'उवघातो'त्ति तस्यैकाकिनः सुप्तस्य उपधिरुपहन्यते, स ह्येकाकी स्वपन् प्रमादवान् भवति स्त्र्याद्यभियोगसंभवात्, ततश्च निद्रावशं प्राप्तस्य उपधिरुपहन्यते, अतोऽकल्पनीयो भवति परिष्ठापनीयश्चासौ। गच्छे तु स्वपतोऽपि नोपहन्यते, किं कारणम् ?, यतस्तत्र केचित्सूत्रपौरुषीं कुर्वन्ति, अन्ये द्वितीयप्रहरेऽर्थानुचिन्तनं कुर्वन्ति, तृतीये तु प्रहरे आचार्य उत्तिष्ठति ध्यानाद्यर्थं, चतुर्थे तु प्रहरे सर्व एव भिक्षव उत्तिष्ठन्ति, ततश्च रात्रौ नैकोऽपि प्रहरः शून्यः, अतो नोपहन्यते उपधिः, एकाकिनस्तु जागरणं नास्त्यत उपघातः। 'पडिबज्झंतो व जो उ न मिलिज्ज'त्ति प्रतिबध्यमानो वा व्रजादिषु क्षीरयाचनेच्छया प्रतिबध्यमानो यो न मिलेत् तस्याप्युपहन्यते उपधिः। किं कारणम् ?, एकाकिनः पर्यटनं नोक्तम्, एकाकी च पर्यटन् प्रमादभाग् भवति, अतो व्रजादिप्रतिबन्धेऽप्युपधिरुपहन्यते। यस्तु पुनर्जागर्त्ति तस्मिन् दिवसेऽभुक्तो न च व्रजादिषु प्रतिबध्यते स एवंविधस्तस्मिन् दिवसेऽमिलन्नपि नोपधिमुपहन्ति। 'जइवि चिरेणं'ति किं बहुना ?, जाग्रन्निशि गोकुलादिषु वाऽप्रतिबध्यमानो यद्यपि चिरेण मिलति बहुभिर्दिवसैस्तथाऽप्युपधिस्तस्य नोपहन्यते, अप्रमादपरत्वात्तस्येति। इदानीं गच्छस्य गमनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

पुरओ मज्झे तह मग्गओ य ठायंति खित्तपडिलेहा। दाएंतुच्चाराई भावासणाइरक्खट्ठा ॥१७८॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षका एषु विभागेषु भवन्ति–केचन 'पुरतः' अग्रतो गच्छस्य, केचन मध्ये गच्छस्य। ते हि मार्गाभिज्ञाः[1]

---

१ मार्गानभिज्ञाः खा. पा २।

'मार्गतम' पृष्ठतम गच्छस्य तिष्ठन्ति क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः । किमर्थं पुनरेत एव तिष्ठन्ति ?, 'दायंतुच्चाराई' उच्चारप्रश्रवणस्थानानि दर्शयन्ति गच्छस्य, 'मावासण्णादिरक्खट्ठ'त्ति मावासण्णो–प्रमहियासओ, तद्रक्षणार्थम्, एतदुक्तं भवति–उच्चारादिना बाध्यमानस्य ते मार्गज्ञाः स्थण्डिलानि दर्शयन्ति ।

डहरे भिक्खग्गामे अंतरगाममि ठावए तरुणे । उवगरणगहण असहू व ठावए जाणग चेग ॥ १७९ ॥

'डहरे भिक्खग्गामे'त्ति यत्र ग्रामे वासकोऽभिप्रेतः भिक्षा च अटितुमभिप्रेता तस्मिन् 'डहरे' क्षुल्लके ग्रामे सति किं कर्तव्यमत आह–'अंतरगाममि' अपान्तराल एव यो ग्रामस्तस्मिन् भिक्षार्थं तरुणान् स्थापयेत्, 'उवगरणगहणं' ति तदीयमुपकरणमन्ये भिक्षवो गृह्णन्ति, 'असहू व ठावए' त्ति अथ ते तस्यापितरुणभिक्षुसत्कमुपकरणं गृहीतुं न शक्नुवन्ति ततोऽसहिष्णव एव तत्रान्तरालग्रामे भिक्षार्थं स्थाप्यन्ते 'जाणग चेगं' ति स चैक–मार्गज्ञ चैक तेषां मध्ये स्थापयेत् येन सुखेनैवाऽऽगच्छन्ति ।

दूरट्ठिअ खुड्डलए नव भड अगणी य पंत पडिणीए । संघाडेगो धुवकम्मिओ व सुण्णे नवरि रिक्खा ॥

अथवाऽसौ वासकभिक्षार्थमभिप्रेतो ग्रामो दूरे स्थितः स्यात् तस्थितो वा–उद्वसितः, क्षुल्लको वा, आह संपूर्णो स इदानीमर्धसमुद्वसितमतः क्षुल्लकः, 'नव' प्राग् यस्मिन् स्थाने स्थितस्ततः स्थानादन्यत्र प्रवेशे जातः, 'भड'त्ति भटाक्रान्तो जातः । 'अगणि'त्ति अग्निना वा इदानीं दग्धः, 'प्रान्तः' आह शोभनो एव इदानीं प्रान्तीभूतो विरूपो जातः । 'पडिणीए' त्ति

१ पुरत एव तिष्ठन्ति । क०. ।

प्रत्यनीकाक्रान्त इदानीं जातः, प्राक् प्रतिलेखनाकाले प्रत्यनीकस्तत्र नासीत् इदानीं तु आयातः, पूर्वप्रतिलेखिते ग्रामे एवंविधे जाते सति दूरस्थितादिदोषाभिभूते सति किं कर्त्तव्यं ?–'संघाड'त्ति तत्र सङ्घाटकः स्थाप्यते, पाश्चात्यप्रव्रजितमीलनार्थम् । 'एगो'त्ति सङ्घाटकाभावे एकः स्थाप्यते साधुः । 'धुवकम्मिओ व'त्ति ध्रुवकार्मिको–लोहकारादिस्तस्य कथ्यते–यथा वयमन्यत्र ग्रामे यास्यामः, त्वया पाश्चात्यसाधुभ्यः कथनीयं–यथाऽनेन मार्गेणागन्तव्यमिति । एवं तावत् वसतिग्रामे एस विही । 'सुण्णे नवरि रिक्ख'त्ति यदा त्वसौ शून्यो ग्रामस्तदा किं कर्त्तव्यं ?–'नवरि रिक्ख'त्ति वर्त्मनि–अनभिप्रेते तिरश्चीनं रेखाद्वयं पात्यते, येन तु वर्त्मना गतास्तत्र दीर्घां रेखां कुर्वन्ति । यदा तु पुनरेभिरुक्तदोषैर्युक्तो न भवति स ग्रामस्तदा तत्रैव या वसतिस्तस्यां प्रविश्यते । ततश्च ये ते भिक्षार्थमन्तरालग्रामे स्थिता आसन् तेषां मध्ये यदि वसतिमार्गज्ञो भवति ततस्तस्यामेव वसतौ आगच्छन्ति, न कश्चित्प्रतिपालयति । एतदेवाह—

जाणंतट्ठिए ता एउ वसहीए नत्थि कोइ पडियरइ । अण्णाएऽजाणंतेसु वावि संघाड धुवकम्मी ॥१८१

'जाणंतट्ठिए' मार्गाभिज्ञे स्थिते तस्यां वसतावागच्छन्ति, 'नत्थि कोइ पडियरइ'त्ति न कश्चित्तान् प्रतिपालयति बहिःस्थितः । 'अण्णाए'त्ति यदा तस्याः पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातः संजातः किन्त्वन्या, तस्यामन्यस्यां वसतौ जातायां 'अजाणंतेसु वावि, अथवा ये ते भिक्षानिमित्तं स्थिताः पश्चादागमिष्यन्ति तेषु अजानत्सु सत्सु 'संघाडधुवकम्मि'त्ति

१ दूरोत्थितादि° आ., दूरट्ठियादि° ल.१ । २ 'सघाडग'त्ति ल.१. पा.२ । ३ 'एगोवि'त्ति आ ल. १–२ । ४ वसंते पा., १–२ । ५ प्रविशति आ. पा.१ ।

यमतिपरिज्ञापनार्थं सङ्गाटको बहिः स्थाप्यते धुवकर्मिको—लोहकारस्तस्य कथ्यते—ये[1] पुनः साधव आगमिष्यन्ति तेषामिय यमतिर्दर्शनीया कथनीया चेति । इदानीं ये ते भिक्षार्थं पथाग्रामे स्थापितास्तैः किं कर्त्तव्यमत आह—

जइ अब्भासे गमण दूरे गतु दुगाउय पेसे । तेवि असंथरमाणा एती अहया विसज्जति ॥१८२॥

यदि 'अभ्यासे' आसन्ने गच्छस्ततस्ते 'गमण'ति गच्छसमीपमेव गच्छन्ति, 'दूरे'त्ति अथ दूरे गच्छस्ततो 'गतुं दुगाउय' गत्वा द्विगव्यूत क्रोशद्वय, किं ?–'पेसे'त्ति एकं श्रमणं गच्छसमीपं प्रेषयन्ति, 'तेवि असंथरमाणा एति' तेऽपि गच्छगताः साधवः 'असंस्तरमाणाः' अतृप्ताः सन्तः किं कुर्वन्ति ?–'एंति' आगच्छन्ति, क ?–यत्र ते साधवो भिक्षया गृहीतया तिष्ठन्ति, 'अहवा विसज्जति'त्ति अथवा तृप्तास्ततस्तं साधुं विसर्जयन्ति; वदन्ति–पर्याप्तमस्माकं, यूयं भक्षयित्वा ऽऽगच्छत । संगारेत्ति द्वारं व्याख्यातं, तत्समाप्तौ च व्याख्यातम्, इदानीं वसतिद्वारमुच्यते, तत्प्रतिपादनायेदमाह—

पढमबितियाए गमण गहण पडिलेहणा पवेसो य । काले सघाडेगो वऽसंथरताण तह चेव ॥१८३॥

'पढम'त्ति तस्यां च वसतौ 'गमनं' प्राप्तिः कदाचित्प्रथमपौरुष्यां भवति कदाचित् 'बितियाए'त्ति द्वितीयपौरुष्यां 'गमनं' प्राप्तिरित्यर्थः । 'गहणं' ति दण्डकच्छयणदोरयचिलिमिलीर्णं कृत्वा गृहणं श्रमणाः प्रविशन्ति । पुनश्च 'पडिलेहणा' तां वसतिं प्रमार्जयन्ति । 'पवेसो'त्ति ततो गच्छः प्रविशति । 'काले'त्ति कदाचिद्भिक्षाकाल एव प्राप्तास्तत्र को विधिः ?,

1 परीक्षणार्थं अ॰ प॰ २ । २ बहुत्र वाक्यं आ॰ पा॰ १-२. पु॰ ।

घ-
कः
या
:
॥

अत आह—'संघाड'त्ति सङ्घाटक एको वसतिं प्रमार्जयति, अन्ये भिक्षार्थं व्रजन्ति। 'एगो व'त्ति यदा सङ्घाटको न पर्याप्यते तदा एको गीतार्थो वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, यदा तु पुनरेकोऽपि न पर्याप्यते तदा किम्?—'असंथरंताणं' अणुघट्टंताणं अवृप्यन्तः सर्व एवाटन्ति, या तु वसतिः पूर्वलब्धा तां कथमन्विषन्ति?—'तह चेव'त्ति, यथा भिक्षामन्विपन्ति एवं वसतिमपि सर्वे प्रत्युपेक्षितामन्विषन्ति अन्विष्य च तत्रैव प्रविशन्ति। यदा तु पूर्वप्रत्युपेक्षिताया वसतेर्व्याघातो जातस्तदाऽपि 'तह चेव'त्ति यथा हि भिक्षां मार्गयन्ति तथा वसतिमपि, लब्धायां च तत्रैव परस्परं हिण्डन्तः कथयन्ति, 'एत्थ वसहीए निअट्टिअव्वं'ति। इदानीं 'पढमबिइयाए'त्ति इदं द्वारं भाष्यकृद् व्याख्यानयन्नाह—

पढमाबितियाए गमणं बाहिं ठाणं च चिलिमिणी दोरे। घित्तूण इंति वसहा वसहिं पडिलेहिउं पुव्विं ९४ भा.

प्रथमपौरुष्यां 'गमनं' प्राप्तिर्भवति तत्र क्षेत्रे, कदाचिद्द्वितीयायां प्राप्तिस्ततः को विधिरित्यत आह—'बाहिं ठाणं च' बहिरेव तावदवस्थानं कुर्वन्ति, स्थिताश्चोत्तरकालं ततः 'चिलिमिणी दोरे'—जवनिकां दवरकां च गृहीत्वा प्रविशन्ति वसतौ वृषभाः, ग्रहणद्वारं व्याख्यातम्। किं कर्त्तुं?—'वसतिं प्रत्युपेक्षितुं' वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्राग् वृषभा गृहीतचिलिमिलिन्याद्युपकरणा आगच्छन्ति, 'पडिलेहण'त्ति द्वारं भणितं। दारं। एवं तावत्पूर्वप्रत्युपेक्षितायां वसतौ विधिः, यदा तु पुनः पूर्वप्रत्युपेक्षिताया व्याघातस्तदा—

वाघाए अण्णं मग्गिऊण चिलिमिणिपमज्जणा वसहे। पत्ताण भिक्खवेलं संघाडेगो परिणओ वा ॥१८४॥

पूर्वप्रत्युपेक्षितायां वसतेर्व्याघाते सति अन्यां वसतिं मार्गयित्वा ततः 'किं ? 'चिलिमिलिपमज्जणा वसहे'त्ति ततो प्रथमा चिलिमिलिन्यादीनि गृहीत्वा प्रमार्जयन्ति । 'पत्ताण भिक्खवेल' यदा तु पुनर्भिक्षावेलायामेव प्राप्तास्तदा किं कर्तव्य ?– कालेपि भणित, 'संघाडे'त्ति सङ्घाटको वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं प्रेष्यते, संघाडेपि भणितं, 'एगो व'त्ति सङ्घाटकाभावे एको वा प्रेष्यते, किंविशिष्टः ?–'परिणतः' गीतार्थः, 'एगो त्ति' भणितं, यदा तु पुनरेको नास्ति तदा किम् ?—

सवे वा हिंडता वसहिं मग्गति जह उ समुयाण। लद्धे संकलिअनिवेअण तु तत्थेव उ नियट्ठे ॥ १८५ ॥

सर्वे वा हिण्डयन्त एव वसतिं 'मार्गयन्ति' अन्विषन्ति, कथ ?–'जह उ समुदाण' यथा 'समुदानं' भिक्षां 'प्रार्थयन्ति' निरूपयन्ति एव वसतिमपि अन्विषन्ति, 'तह चेव'त्ति अध्याहारो भणितः । 'लद्धे संकलिअनिवेअण तु' भिक्षामटद्भिर्लब्धायां वसतौ संकलिकया निवेदन–यो यथा यं पश्यति स तथा तं कथित–यदुत इह वसतिर्लब्धा इह निवर्तनीय, तस्यामेव च वसतौ निवर्तन्ते । तत्र च प्रवेशे को विधिः ?—

एको घरेइ भाण एको दोण्हत्ति पवेसए उवहिं । गच्छो उवेइ वसहिं सबालवुड्ढाउलो ताहे ॥ १८६ ॥

एको 'धारयति' संधारयति 'भाजन' पात्रकम् 'एकः' अपरस्तस्य द्वितीयः वहिर्व्यवस्थितगच्छात् सकाशात् भिक्षा मटतूर्णां द्वयोरुपधिं द्वयोरपीति आत्मनः संघाटिनी तस्य च पात्रकसंधारयितुः संबन्धिनीमुपधिं प्रवेशयति, तत उपर

१ विधिद विलि भा द, १–२ । २ सम्मोचि एह सफ्को पा ३ सफ्को सवेह सफ्को भा ।

कालं गच्छः 'उपैति' प्रविशति सबालवृद्धत्वादाकुलः 'तदा' तस्मिन् काले । दारं ।

चोयगपुच्छा दोसा मंडलिबंधंमि होइ आगमणं । संजमआयविराहण वियालगहणे य जे दोसा ॥१८७

चोदकस्य पृच्छा चोदकपृच्छा—चोदक एवमाह—यदुत बाह्यत एव भुक्त्वा प्रवेशः क्रियते, किं कारणम् ?, उपधिमानयतः क्षुधार्त्तस्य तृषितस्य च ईर्यापथमशोधयतः संयमविराधना उपधिभाराक्रान्तस्य कण्टकादीननिरूपयत आत्मविराधना, ततश्च बहिरेव भुक्त्वा विकाले प्रविशन्तु, आचार्यस्त्वाह—बहिर्भुञ्जतां दोषाः, कथं ?—मण्डलिबन्धे सति आगमनं भवति सागारिकाणां, तत्र च संयमात्मविराधना भवति 'वियालगहणे'त्ति विकालवेलायां च वसतिग्रहणे ये दोषा भवन्ति ते वक्ष्यन्ते । द्वारगाथेयं । चोदकपृच्छेति व्याख्यानयन्नाह—

अइभारेण व इरिअं न सोहए कंटगाइ आयाए । भत्तट्ठिअ वोसिरिआ अइंतु एवं जढा दोसा ॥१८८॥

चोदक एवमाह—यदुत गच्छसमीपादुपधिं प्रवेशयन् तदतिभारेण बुभुक्षया च पीडितः सन्नीर्यापथिकां न शोधयति यतोऽतः संयमविराधना भवति, तथा कण्टकादीनि च न पश्यति बुभुक्षितत्वादेव यतोऽत आत्मविराधना भवति, तस्माद् 'भत्तट्ठिय'त्ति बहिरेव भुक्ताः सन्तः, तथा 'वोसिरिय'त्ति उच्चारप्रश्रवणं कृत्वा ततः 'अइंतु'त्ति प्रविशन्तु, क ?—वसतौ, 'एवं जढा दोस'त्ति एवं क्रियमाणे दोषाः—आत्मविराधनादयः परित्यक्ता भवन्ति । एवमुक्ते सत्याहाचार्यः—

१ °गमणे ल. १–२ । २ °गमणे'त्ति ल १–२ ।

आयरिअवयण दोसा दुविहा नियमा उ संजमायाए। वच्चह न तुब्भे सामी असखड मंडलीए वा ॥१८९

आचार्यस्य वचन आचार्यवचन, किं तदित्यत आह–'दोसा' ससतो अकुर्वतां दोषा भवन्ति द्विविधाः 'नियमाद्' अवश्य तथा 'संजम'त्ति संयमविराधनादोषः 'आयाए'त्ति आत्मविराधनादोषः। तत्र संयमविराधनादोष एवं भवति–यत्र भोजन स्थाने सागारिका यदि पश्चात्स्थिष्ठन्ति ततस्ते साधवो भिक्षामटित्वाऽऽगताः सन्तो यथेव भणन्ति–यदुत वदह–हे सागारिकाः! गच्छतास्मात् स्थानात्, ततश्चैवमुच्यमाने संयमविराधनादोषो भवति। आत्मविराधना चैव भवति–यदि ते सागारिका उच्यमाना न गच्छन्ति, किन्त्वेव भणन्ति–'न तुब्भे सामी' नास्य प्रदेशस्य भवन्तः स्वामिनः, ततश्च असंखडं भवति। 'मंडलीए वा' इति अथ मण्डल्यां बातायां सत्याम्—

कोऊहल आगमण संखोभेण अकंठगमणाई। ते चेव संखडाई वसहिं य न देंति जं चेऽन्न ॥१९०॥

मण्डल्यां बातायां कौतुकेन सागारिका आगमन कुर्वन्ति, ततश्च 'संखोभेण'त्ति संक्षोभेण तेषां प्रव्रजितानां अकण्ठगमनादि–कण्ठेन भक्तकवलो नोपक्रामति, 'ते चेव संखडाई'त्ति त एव वा संखडादयो दोषा भवन्ति 'वसहिं य न देंति'त्ति एवं च सागारिका रुष्टाः सन्तो वसतिं न प्रयच्छन्ति, तत्र ग्रामे 'जं चेऽन्न'ति प्रद्रमाकर्षणादि कुर्वन्ति। इदानीं तस्माद्ग्रामाद न्यत्र ग्रामे भोजन गृहीत्वा गन्तव्य, तत्र चैते दोषाः—

१ पठवं का.। २ नउर्न्वं'ति का.।

भारेण वेयणाए न पेहए थाणुकंटआयाए। इरियाइ संजमंमि अ परिगलमाणे य छक्काया ॥ १९१ ॥

उपधिभिक्षाभारेण या वेदना क्षुद्वेदना वा तया न 'पेहए'त्ति न पश्यति स्थाणुकण्टकादीन्, ततश्चात्मविराधना भवति। 'इरियाइ'त्ति संयमविषया विराधना ईर्यादि, तथा परिगलमाने च पानादौ षट्कायविराधना भवति। तथा चैते चान्यत्र ग्रामे गच्छतां दोषा भवन्ति—

सावयतेणा दुविहा विराहणा जा य उवहिणा उ विणा। तणअग्गिगहणसेवण वियालगमणे इमे दोसा ॥

श्वापदभयं भवति, तथा तेणा दुविहा भवन्ति-शरीरापहारिण उपध्यपहारिणश्च, 'विराहणा जा य उवहिणा उ विणा' या च 'उपधिना' संस्तारकादिना विना विराधना भवति, का चासौ ?-'तणअग्गिगहणसेवण' यथासङ्ख्यं तृणानां ग्रहणे आत्मविराधना अग्नेश्च सेवने संयमविराधनेति। द्वारम्। एवं तावद्बाह्यतो भुञ्जतामन्यग्रामे च गच्छतां दोषा व्याख्याताः, इदानीं यदुक्तमासीच्चोदकेन यदुत विकाले प्रवेष्टुं युज्यते तन्निरस्यन्नाह-'वियालगमणे इमे दोसा' विकालगमने वसतौ 'एते' वक्ष्यमाणलक्षणा दोषा भवन्ति, ते चामी—

पविसणमग्गणठाणे वेसित्थिदुगुंच्छिए य बोद्धव्वे। सज्झाए संथारे उच्चारे चेव पासवणे ॥ १९३ ॥

'पविसण'त्ति तत्र ग्रामे विकाले प्रविशतां ये दोषास्तान् वक्ष्यामः। 'मग्गण'त्ति वसतिमार्गणे-अन्वेषणे विकाल-

---

१ परिगलमाणेण छक्काया आ. ल.२ ।

संयमतो विराधना षट्कायोपमर्दे सति रात्रौ भवति। 'गमणे'त्ति कायिकाव्युत्सर्जनार्थं गमने दोषः। 'पवे'त्ति कायिकामुत्र प्राप्तस्य व्युत्सृजतः 'अइंते य'त्ति पुनः कायिकां व्युत्सृज्य वसतिं प्रविशतो षट्कायोपमर्दो भवतीति। अथ तु पुनर्निरोधं करोति, ततश्चैते दोषा भवन्ति—

मुत्तनिरोहे चक्खू वच्चनिरोहे य जीवियं चयइ। उड्डनिरोहे कोट्ठं गेलन्नं वा भवे तिसु वि ॥ १९८ ॥

गमना ॥ 'उच्चारपासवणे'त्ति गयं। इदानीमपवाद उच्यते—

जइ पुण वियालपत्ता पए व पत्ता उवस्सयं न लभे। सुन्नघरदेउले वा उज्जाणे वा अपरिभोगे ॥ १९९ ॥

यदि पुनर्विकाल एव प्राप्ताः, ततश्च तेषां विकालवेलायां वसतौ प्रविशतां प्रमादकृतो दोषो न भवति, 'पए व पत्त'त्ति प्रागेव प्रत्यूषस्येव वा प्राप्ताः किन्तु उपाश्रयं न लभन्ते ततः क समाश्रयन्तु ?—शून्यगृहे देवकुले वा उद्याने वा 'अपरिभोगे' लोकपरिभोगरहिते समाश्रयन्तीति क्रिया वक्ष्यति।

आवाय चिलिमिलीए रणे वा निब्भए समुद्दिसण। सभए पच्छन्नाऽसइ कमढय कुरुया य सतरिआ २००

अथ शून्यगृहादौ सागारिकाणामापातो भवति तत आपाते सति चिलिमिली—यवनिका दीयते, 'रण्णे व'त्ति अथ शून्यगृहादि सागारिकाक्रान्तं ततः अरण्ये निर्भये समुद्देशनं क्रियते, सभएऽरण्ये प्रच्छन्नस्य वा 'असति' अभावे

१ आवाय चिलि° अ.१ आवायचिलि° च २। २ "सुन्ने देवकुले वा उज्जाणे वा आणा" पा २।

ततो वसिमसमीप एव कमढकेषु शुष्केन लेपेन सबाह्याभ्यन्तरेषु लिप्तेषु भुज्यते, 'कुरुकुआ य'त्ति कुरुकुचा—पादप्रक्षालनादिका क्रियते 'संतरित'त्ति सान्तराः—सावकाशा बृहदन्तराला उपविशन्ति । इदानीं भुक्त्वा बहिः पुनर्विकाले वसतिमन्विषन्ति, सा च कोष्ठकादिका भवति, तत्र लब्धायां वसतौ को विधिरित्यत आह—

कोट्ठग सभा य पुव्विं काल वियाराइभूमिपडिलेहा। पच्छा अइंति रत्तिं पत्ता वा ते भवे रत्तिं ॥ २०१ ॥

कोष्ठकः—आवासविशेषः सभा—प्रतीता कोष्ठके सभायां वसतौ लब्धायां प्रागेव 'काले'त्ति कालभूमिं प्रत्युपेक्षन्ते यत्र कालो गृह्यते तथा 'वियारभूमिपडिलेहा' विचारभूमिः—सञ्ज्ञाकायिकाभूमिस्तस्याश्च प्रत्युपेक्षणा क्रियते । तत एवं प्रत्युपेक्षितायां विकाले वसतौ 'पच्छा अतिंति रत्तिं'ति पश्चाच्छेषाः साधवो रात्रौ प्रविशन्ति । 'पत्ता वा ते भवे रत्तिं'ति यदा पुनस्त आगच्छन्त एव कथमपि रात्रावेव प्राप्तास्तदा रात्रावपि प्रविशन्ति ॥ तत्र च प्रविशतां—

गुम्मिअभेसण समणा निब्भय बहिठाणवसहिपडिलेहा। सुन्नघर पुव्वभणिअं कंचुग तह दारुदंडेणं ॥२०२

गुलिमकाः—स्थानकरक्षपालाः 'भेसणं'ति यदि ते कथञ्चित्त्रासयन्ति ततश्चेदं वक्तव्यं—यदुत श्रमणा वयं, न चौराः, 'निब्भय'त्ति अथ तु स सन्निवेशो निर्भय एव भवेत्तदा 'बहिठाणं'ति बहिरेव गच्छस्तावत्तिष्ठति, वृषभास्तु वसतिप्रत्युपेक्षणार्थं व्रजन्ति । किंविशिष्टाऽसौ वसतिरन्विष्यते ?—'शून्यगृहादि' पूर्वोक्तं, 'कंचुग तह दारुदंडेणं'ति दण्डकपुञ्छनं तद्धि

१ शुक्लेन आ. ल २ पा १–२ । २ कोष्ठकसभा वसतौ आ ल. १–२ ।

कम्बुक परिभाय सर्पपवनभयाएचकपुञ्छनकेन मसतिमुपरिष्टात्प्रस्फोटयन्ति, गच्छश्च प्रविशति, ततः को विधिः स्वापे ?—

सथारगभूमितिग आयरियाण तु सेसगाणेगा । रुद्राए पुप्फइमा मडलिआ आवली इयरे ॥ २०३ ॥

संस्तारकभूमित्रयमाचार्याणां निरूप्यते, एका निवाता संस्तारकभूमिरन्या प्रवाता अन्या निवातप्रवाता, 'सेसगाणेग'त्ति शेषाणां साधूनामेकैका संस्तारकभूमिर्दीयते, 'रुद्राए'त्ति यदसौ वसतिर्विस्तीर्णा भवेत् तत्र पुष्पावकीर्णाः स्वपन्ति—पुष्पप्रकरवद्‌यथा च स्वपन्ति येन सागारिकानकाशो न भवति, 'मडलिय'त्ति अथाऽसौ वसतिः क्षुल्लिका भवति ततो मध्ये पात्रकाणि कृत्वा मण्डलया पार्श्वे स्वपन्ति । स्थापना चेयम् 'आवलिय'त्ति प्रमाणयुक्तायां वसतौ 'आवलया' पङ्क्त्या स्वपन्ति, 'इयरे'त्ति क्षुल्लिकाप्रमाणयुक्तयोरेतयोरेव विधिः—

सेयारग्गहणीए वेंटिअउक्खेवण तु कायव्व । सथारो घेत्तव्वो मायामयविप्पमुक्केण ॥ २०४ ॥

'सयारग्गहणीए' संस्तारकभूमिग्रहणकाले एतदुक्तं भवति—यदा स्थविरादिः संस्तारकभूमिविभजनं करोति तदा साधुभिः किं कर्तव्यमत आह—'वेंटिअउक्खेवण तु कायव्व' वेंटिआ–उपधिवेण्टलिकास्तासां सर्वैरेव साधुभिरात्मीयात्मीयानामुत्क्षेपणं कर्तव्यं येन सुखेनैव दृष्टायां भुवि विभक्तुं संस्तारकाः शक्यन्ते । स च संस्तारको यो यस्मै दीयते साधवे स कथं तेन ग्राह्य इत्याह—'मायामयविप्रमुक्तेन' तेन न माया कर्तव्या यदुताहं पातायी ममैव प्रवरक, नापि मदः—अहमाचार्यः कार्यो,

१ संथारम्गहणाए आ. क. १ ग १ । २ संथारकमहणाय खा ।

यदुताहमस्यापि पूज्यो येन मम शोभनसंस्तारकभूर्दत्तेति ॥ ^Aजइ रत्तिं आगया ताहे कालं न गिण्हंति, निज्जुत्तीओ संगहणीओ य सणिअं गुणंति, मा वेसित्थिदुगुंछिआदओ दोसा होहिंति, काथिकां मत्तएसु छड्डेंति उच्चारंपि जयणाए। जइ पुण कालभूमी पडिलेहिआ ताहे कालं गिण्हंति, यदि सुद्धो कालो करेंति सज्झायं, अह न सुद्धो न पडिलेहिआ वा वसही ताहे निज्जुत्तीओ गुणिंति, पढमपोरिसिं काऊणं बहुपडिपुण्णाए पोरिसीए गुरुसगासं गंतूण भणंति–इच्छामि खमासमणो! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहिआए मत्थएण वंदामि, खमासमणा! बहिपडिपुण्णा पोरिसी, अणुजाणह राईसंथारयं, ताहे पढमं काइयाभूमिं वच्चंति, ताहे जत्थ संथारगभूमी तत्थ वच्चंति, ताहे उवहिंमि उवओगं करेंता पमज्जंता उवहीए दोरयं उच्छोडिंति,

A यदा रात्रावागतास्तदा कालं न गृह्णन्ति, निर्युक्तीः संग्रहणीश्च शनैर्गुणयन्ति, मा वेश्यास्त्रीकुत्सितादयो दोषा भूवन्, कायिकीं मात्रकेषु व्युत्सृजन्ति उच्चारमपि यतनया। यदि पुनः कालभूमयः प्रतिलेखितास्तदा कालं गृह्णन्ति, यदि शुद्धः कालः कुर्वन्ति स्वाध्यायं, अथ न शुद्धो न प्रतिलेखिता वा वसतिस्तदा निर्युक्तीर्गुणयन्ति। प्रथमां पौरुषीं कृत्वा बहुप्रतिपूर्णायां पौरुष्यां गुरुसकाशं गत्वा भणन्ति–इच्छामि क्षमाश्रमण! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिक्या मस्तकेन वन्दे, क्षमाश्रमणाः! बहुप्रतिपूर्णा पौरुषी, अनुजानीत रात्रिसंस्तारकं, तदानीं प्रथमं कायिकीभूमिं व्रजन्ति, ततो यत्र संस्तारकभूमिस्तत्र व्रजन्ति, तदोपधावुपयोगं कुर्वन्तः प्रमार्जयन्त उपधेर्दवरकमुच्छोटयन्ति, तदा संस्तारकपट्टकमुत्तरपट्टकं च प्रतिलिख्य द्वे अप्येकत्र लात्वोरुणि स्थापयन्ति, तदा संस्तारकभूमिं प्रतिलेखयन्ति, तदा संस्तारकमास्तृण्वन्ति सोत्तरपट्टकं, तत्र च लग्ना मुखवस्त्रिकयोपरितनं कायं प्रमार्जयन्ति, अधस्तनं रजोहरणेन, कल्पांश्च वामपार्श्वे स्थापयन्ति, पुनः संस्तारकमारोहन्तो भणन्ति ज्येष्ठार्यादीनां पुरतस्तिष्ठतां अनुजानीत, पुनः सामायिकं त्रीन् वारान् कृत्वा (उच्चार्य) स्वपिति, एष तावत् क्रमः।

ताहे संथारगपट्टयं उत्तरपट्टयं च पडिलेहित्ता दोवि एगत्थ लाएत्ता ऊरुमि ठवेंति, ताहे संथारगभूमिं पमज्जयंति, ताहे संथारए अत्थुरंति सउत्तरपट्टं, तत्थ य लग्गा मुहपोत्तियाए उवरिल्लं कायं पमज्जंति, हेट्ठिल्लं रयहरणेणं, कप्पे य वामपासे ठवेंति, पुणो संथारए चडतो भणइ जिट्ठज्जाईणं पुरतो चिट्ठताण—अणुजाणिज्जह, पुणो सामाइयं तिण्णि वारे कड्ढिऊण सोवइ एस ताव कमो। इदानीं गाथा व्याख्यायते—

पोरिसिआपुच्छणया सामाइय उभयकायपडिलेहा। साहणिअ दुवे पट्टे पमज्ज पाए जओ भूमिं ॥२०५॥

पौरुष्यां निर्युक्तौ[1] गुणयित्वा 'आपुच्छण'त्ति आचार्यसमीपे मुखवस्त्रिकां प्रतिलेख्य भणति बहुपडिपुण्णा पोरिसी संदिसह संस्तारकं तिष्ठामीति, 'सामाइयं'ति सामायिकं वाराश्रयमाकृष्य स्वपिति, 'उभय'त्ति सव्याकायिकोपयोगं कृत्वा 'कायपडिलेह'त्ति सकलं कायं प्रमृज्य 'साहणिअ दुवे पट्टे'त्ति साहणिय—एगत्थ लाएत्ता दुवे पट्टे—उत्तरपट्टो संथारपट्टो च, तत ऊर्वोः स्थापयति, 'पमज्ज पाए जओ भूमिं'ति पादौ यतस्तेन भूमिं प्रमृज्य ततः सोत्तरपट्टं संस्तारकं मुञ्चति, प्रस्ताव सामाचार्यनुक्रमेण गाथायां सम्बन्धो न कृत, किन्तु स्वबुद्ध्या यथाक्रमेण व्याख्येया। एवमसौ संस्तारकमा रोहन् किं भणतीत्याह—

अणुजाणह संथारं बाहुवहाणेण वामपासेण। कुक्कुडिपायपसारण अतरंत पमज्जए[2] भूमिं ॥ २०६ ॥

१ पडिलेहित्ता आ॰ पा १। २ बहुपमेज्जए पा॰ २—१ पु.।

अनुजानीध्वं संस्तारकं, पुनश्च बाहूपधानेन वामपार्श्वेन स्वपिति, 'कुक्कुडिपायपसारण'त्ति यथा कुक्कुटी पादावाकाशे प्रथमं प्रसारयति एवं साधुनाप्याकाशे पादौ प्रथममश(मं श)क्नुवता प्रसारणीयौ, 'अतरंतो'त्ति यदा आकाशन्यत्रस्थिताभ्यां पादाभ्यां न शक्नोति स्थातुं तदा 'पमज्जए भूमिं'ति भुवं प्रमृज्य पादौ स्थापयति ।

संकोए संडासं उव्वत्तंते य कायपडिलेहा । दव्वाईउवओगं णिस्सासनिरुंभणालोयं ॥ २०७ ॥

यदा तु पुनः सङ्कोचयति पादौ तदा 'संडासं'ति संदंसं-ऊरुसन्धिं प्रमृज्य सङ्कोचयति 'उव्वत्तंते य'त्ति उद्वर्त्तयंश्चासौ साधुः कायं प्रमार्जयति, एवमस्य स्वपतो विधिरुक्तः । यदा पुनः कायिकार्थमुत्तिष्ठति स तदा किं करोतीत्याह-'दव्वाई-उवओगं' द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोपयोगं ददाति, तत्र द्रव्यतः कोऽहं प्रव्रजितो गृहस्थो वा ? क्षेत्रतः किमुपरितलेऽन्यत्र वा ?, कालतः किमियं रात्रिर्दिवसो वा ?, भावतः कायिकादिना पीडितोऽहं न वेति, एवमुपयोगे दत्तेऽपि यदा निद्रयाऽभिभूयते तदा 'णिस्सासनिरुंभण'त्ति 'निःश्वासं निरुणद्धि' नासिकां दृढं गृह्णाति निःश्वासनिरोधार्थं, ततोऽपगतायां निद्रायां 'आलोयं'ति आलोकं पश्यति, द्वारम् । यतः—

दारं जा पडिलेहे तेणभए दोण्णि सावए तिण्णि । जइ य चिरं तो दारे अप्पणं ठावित्तु पडिअरइ ॥ २०८ ॥

तदाऽसौ द्वारं यावत् 'प्रत्युपेक्षयन्' प्रमार्जयन् व्रजति, एवमसौ निर्गच्छति तत्र च यदि स्तेनभयं भवति ततः

१ उस्सास °ल १.-पा २ । २ उस्सास° पा.२ ।

क्षुण्णोऽक्षुण्णश्च, तत्र भवता विहृते श्रावके भवति, यद्यसौ संविग्नविहृत प्रवेशः क्रियते, अथ पार्श्वस्थादिविहृतस्ततो न प्रवेष्टव्य, 'मविहृतो जो विहरितो' तत्र संविग्ने साम्भोगिकैरसाम्भोगिकैश्च यो विहृतस्तत्राचार्यसंदिष्टः प्रविशति आचार्यप्रायोग्य ग्रहणार्थ, 'अविहरिअविही इमो होति'त्ति अविहृते ग्रामे सन्निनि वा अथ विधिः–वक्ष्यमाणलक्षणः सप्तमगाथायाम्, "अविहरिअमविहृतो गेतिअ पाहुडिअ" अस्यां गाथायामिति। इदानीं भाष्यकार एतामेव गाथां व्याख्यानयन्नाह—

अविहरिअ विहरिओ वा जइ सड्ढो नत्थि नत्थि उ नियोगो। नाए जइ ओसण्णा पविसंति तओ उ पण्णरस

अविहृतो विहृतो वा ग्रामः, तत्र विहृते यदि श्रावको नास्ति ततो नास्ति नियोगः–न नियुज्यते साधुः आचार्यप्रायोग्यानयनाय। 'नाए'त्ति अथ तु 'ज्ञाते' विज्ञाते एव यदुतास्ति श्रावकः, तत्र च 'यदि ओसन्ना पविसंति' यथाच्छन्दाः प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति नियोगः, अथ तु प्रविशन्ति 'तओ उ पन्नरस'त्ति पञ्चदशोद्गमदोषा भवन्ति, ते चामी–"आहाकम्मुद्देसिअ पूईकम्मे य मीसजाए अ। ठवणा पाहुडिआए पाओयरकीय पामिच्चे ॥१॥ परिअट्टिए अभिहडुब्भिन्ने मालोहडे इय। अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए अ सोलसमे ॥२॥" ननु चामी षोडश उच्यन्ते–"अज्झोयरतो मीसजाए य दोण्हंपि एक्को चेव भेदो। अथवेयमपि गाथा सम्प्रिनमेवार्थीकस्य व्याख्यायते–द्विविधः श्रावको–विहृतोऽविहृतो वा, यदि 'सड्ढो नत्थि नत्थि उ नियोगो' तत्र विहृतो यदि श्राद्धो नास्ति ततो नास्ति नियोगः साधोः। 'नाए'त्ति अथ ज्ञाते सति श्रावके यदुताऽस्ति श्रावक तत्र ज्ञाते सति 'यदि ओसण्णा पविसंति' यथाच्छन्दाः प्रविशन्ति तथाऽपि नास्ति

१ वडि भा. क १–२। २ संविग्गे विहरितोऽत्र न संविग्गो भा पा ११। ३ साम्भोगिकैश्च भैविहृत भा क. १। ४ तओ भा क १–२।

नियोगः । अथैवंविधेऽपि प्रविशन्ति ततश्च पञ्चदश दोषा उद्गमादयो नियमाद्भवन्ति यद्यपि तत्रावसन्ना न गृह्णन्ति ॥

संविग्गमणुण्णाए अइंति अहवा कुले विरिंचंति[1] । अण्णाउंछं व सहू एमेव य संजईवग्गे ॥ ९६ ॥ (भा.)

अथ तु से[2] सञ्ज्ञी संविग्नैर्विहृतः—अमनोज्ञैर्वसद्भिर्भावितः ततः 'अणुण्णाए अइंति'त्ति तैरेवानुज्ञाते सति श्रावकगृहे प्रविशन्ति। अथवा श्रावककुलानि '[3]विरिंचन्ति' विभजन्ति, एते एवान्यसाम्भोगिकाः संविग्नाः 'अण्णाउंछं व सहू' अण्णाय उंछं व सहू जत्थ सावगा नत्थि तहिं हिंडंति वत्थवा जइ सहू समत्था इयरे, पाहुणगा जप्पसरीरा सावगकुलानि हिंडंति, अह वत्थवा जप्पसरीरगा पाहुणगा य सहू ततो अण्णायउंछं हिंडंति । ' एमेव य संजईवग्गे' एवमेव संयतीवर्गे विधिः, यदुत ताभिरनुज्ञातेषु श्रावककुलेषु प्रवेष्टव्यम् । बहुषु च कुलेषु सत्सु ता एव [4]विरिंचंति, "अण्णाउंछं व सहू" इति, अयं च विधिर्द्रष्टव्यः ।

[5]एमेव अण्णसंभोइयाण संभोइयाण ते[6] चेव । जाणित्ता निब्बंधं वत्थवेणं स उ पमाणं ॥ ९७ ॥ (भा०)

एवमन्यसाम्भोगिकानां सम्भवे उक्तलक्षणो विधिर्द्रष्टव्यः । 'संभोइयाण ते चेव'त्ति अथ साम्भोगिकास्तत्र ग्रामे भवन्ति ततः 'ते चेव'त्ति ते एव वास्तव्याः साधवो भैक्ष्यमानयन्ति, अथ तत्र साम्भोगिकसमीपे प्राप्तमात्राणां कश्चिच्छ्रावक आयातः, स च प्राघूर्णकवत्सल एवं भणति यदुत मदीयगृहे भिक्षार्थं साधुः प्रहेतव्यः, तत्रोच्यते—वास्तव्या एवागमिष्यन्ति, अथैवमुक्तेऽपि 'निब्बंधं'त्ति निर्बन्धं करोति आग्रहं करोत्यसौ श्रावकस्ततः 'वत्थवेणं' वास्तव्येन सहैकेन गन्तव्यं, यतः स एव

१ विरंचति आ. पा १–२ । २ ससञ्ज्ञी सविग्नैश्च विहृत आ । ३ 'विरचति' आ पा १–२ । ४ विरचन्ति आ. पा १ । ५ एव तु अण्ण° आ. ल.२ पा १–२ । ६ तइ चेव ल १ पा १ ।

वास्तव्यः प्राघूर्णकानां प्रमाणमवशाधिकृतवस्तुग्रहणे । अथासौ साम्भोगिकवसतिः संकुला भवति ततः—

असइ वसहीए वीसु राइणिए वसहि भोयणागम्म । असहू अपरिणया वा ताहे वीसु सहू वियरे ॥९८॥

'असति' अभावे विस्तीर्णाया वसतेः 'वीसु'ति पृथक्–अन्यत्र वसतौ अवस्थानं कुर्वन्ति, तत्र च तेषां को भोजनविधि रित्यत आह–'राइणिए वसहि भोयणागम्म' रत्नाधिकस्य वसतौ भोजनमागम्य कर्तव्यं, स च रत्नाधिकः कदाचिद्वास्तव्यो भवति कदाचिदागन्तुक इति । अथ 'असहू'त्ति अथान्यतरो रत्नाधिकः 'असहू' भिक्षावेलां प्रतिपालयितुमशक्तः तथाऽपरि णता वा मायया सेहमाया मा भूत् राटिं करिष्यन्ति ततः 'वीसु' पृथग् वसतिर्भवति । तथा यदि च ते वास्तव्यसाधवः 'सहू' समर्थास्ततो 'वियरे'त्ति भिक्षामटित्वा प्राघूर्णकेभ्यो प्रयच्छन्ति ॥

तिण्ह एक्केण समं भत्तट्ठो अप्पणो अवड्ढ तु । पच्छा इयरेण समं आगमणं विरेगो सो चेव ॥भा० ॥९९॥

अथ तत्र त्रय आचार्या भवन्ति, द्वावागन्तुकौ एको वास्तव्यः, तदा 'एक्केण समं'ति एकेनागन्तुकाचार्यप्रव्रजितेन सह वास्तव्यः पर्यटति तावद्यावत् 'भत्तट्ठो'त्ति एकस्य प्राघूर्णकाचार्यस्य भक्तार्थो भवति–उदरपूरणमात्रमित्यर्थः अतः 'अप्पणो अवड्ढ तु'त्ति आत्मनार्थार्थं वाऽसौ वास्तव्यः 'अवड्ढ तु' अर्धक्षुन्मात्रं श्रावककुलेभ्योऽन्यकुलेभ्यो वा गृह्णाति । 'पच्छा इयरेण समं'ति पश्चादितरेण द्वितीयागन्तुकाचार्यप्रव्रजितेन समं पर्यटति, तत्रापि भक्तार्थो यावद्भवति प्राघूर्णकस्य तावत्पर्यटति,

1 भिक्षावेलायां वा ।

आत्मनश्चार्द्धध्रुवमात्रं गृह्णाति, एवं पूर्णो ध्रुवो भवति वास्तव्याचार्यस्य, 'आगमण'त्ति एवं ते पर्यटित्वा आत्मीयात्मीयवसतौ आगमनं कुर्वन्ति । 'विरेगो सो चेव'त्ति स एव 'विरेगो' विभजनं श्रावककुलेषु, योऽसौ भिक्षामटद्भिः कृतः, न तु पुनर्वसतिकायां आगतानां भवतीति । "असति वसहीए वीसुं राइणिए वसहि भोयणागम्म । असहू अपरिणया वा ताहे वीसुं सहू वियरे ॥ १ ॥"त्ति यो विधिरुक्तः, अयं च द्वितीयाद्याचार्येष्वभ्यागतेषु द्रष्टव्य इति । एवं तावद्विहृते क्षेत्रे यत्र साधुषु तिष्ठत्सु यो विधिः स उक्तः, इदानीमविहृते[1] क्षेत्रे साधुरहिते[2] च यो विधिस्तत्प्रतिपादनायाह—

चेइअवंदनिमंतणगुरूहिं संदिट्ठ जो वऽसंदिट्ठो । निब्बंध जोगगहणं निवेय नयणं गुरुसगासे ॥१००॥

एवं विहरन्तः क्वचिद्ग्रामादौ प्राप्ताः, तत्र च यदि सञ्ज्ञी विद्यते ततश्चैत्यवन्दनार्थमाचार्यो व्रजति, ततश्च श्रावको गृहमागतमाचार्यं निमन्त्रयति, यथा—प्रायोग्यं गृह्णीत, ततश्च यो 'गुरूहिं संदिट्ठ'त्ति गुरुभिः यः संदिष्टः सङ्घाटकः स गृह्णाति । 'जो व असंदिट्ठो'त्ति यो वा 'असंदिष्टः' अनुक्तः स वा गृह्णाति श्रावकनिर्बन्धे सति, एतदुक्तं भवति—योऽसावाचार्येण संदिष्टः स यावन्नागच्छत्येव तावत्तेन श्रावकेणान्यसङ्घाटको दृष्टः, स च निर्बन्धे ग्राहे[3] कृते सति योग्यग्रहणं—प्रायोग्योपादानं करोति । पुनश्च 'निवेय'त्ति अन्येभ्यः सङ्घाटकेभ्यो निवेदयति, यथा यदुत मया श्रावकगृहे प्रायोग्यं गृहीतं न तत्र भवद्भिः प्रवेष्टव्यम् । ततश्च 'नयणं गुरुसगासे'त्ति तत्प्रायोग्यं गृहीत्वा गुरुसमीपं नयति तत्क्षणादेव येनासावुपभुङ्क्ते इति । इदानीं यदुक्तं प्राक् 'अविहरिअविही इमो होति'त्ति, तद्व्याख्यानयन्नाह—

१ इदानीं विहृते ल. १ । २ साधुरहिते यो ल १, साधुविहरिते पा १–२ । ३ निर्बन्धग्रहणे कृते अ. ।

अविहरिअमसादिट्ठो चेइय पाहुडिअमित्त गिण्हति। पाउग्गपउरलभे नऽम्हे किं वा न मुंजाति ? ॥१०१॥

मविहरिते प्रामादौ असदिष्टा एव सर्वे भिक्षार्थं प्रविष्टाः, तत्र च भिक्षामटन्तः श्रावकगृहे प्रविष्टाः, तत्र च 'चेइए' त्ति चैत्यानि वन्दन्ते, तत्र च 'पाहुडिअमित्त गिण्हन्ति' प्राभृतिकामात्रं यदि तत्र लभ्यते ततो गृह्णन्त्येव। यथाचार्यप्रायोग्य लभ्यते प्रचुरं वा लभ्यते ततः 'पाउग्गपउरलभे' सति इदमुच्यते 'नऽम्हे' त्ति न वयमाचार्यप्रायोग्यग्रहणे नियुक्ताः, किन्त्वन्ये, एवमुक्ते श्रावकोऽप्याह–'किं वा न मुंजति' त्ति किं भवद्भिर्नीतं न भुञ्जते आचार्याः ?, एवं निर्बन्धे सति त एव गृह्णन्ति। किंपस्तुनर्गृह्णन्तीत्यत आह–

गच्छस्स परीमाणं नाउं घित्तूण तओ निवेयति। गुरुसंघाडग इयरे मा वच्चह गिण्ह गुरुजोग्गं ॥१०२॥

गच्छस्य परिमाणं ज्ञात्वा गृह्णन्ति, गृहीत्वा च ततो निवेदयन्ति, कस्मै ?, अत आह–गुरुसंघाटकाय, यदुताचार्यप्रायोग्यमन्येषां च गुडघृतादि लब्धं प्रचुरम्, 'इयरे' इतरसंघाटकेभ्यः–शेषसंघाटकेभ्यो निवेदयति, 'मा वच्चह' त्ति मा व्रजत गृहीतं गुरुयोग्यं, ततश्च लब्धमात्रमेव गुरुसमीपं नेतव्यम्। तथा चाह–

एगागिससमुद्दिसगा मुत्ता उ पहेणएण दिट्ठंतो। हिंडणदव्वविणासो निद्ध महुरं च पुव्व तु ॥१०३॥भा०॥

'एगागिससमुद्दिसगा' ये श्रमणस्तुपजीविन पृथग् भुञ्जन्ते व्याख्यायाक्रान्ताश्च तेषां भुक्तानां सतां पश्चादानीत

१ अर्द्ध नेमं गुरुणीयं आ. इ २ ग १। २ हिंडणि इ १ हिंडणे पु.।

नोपयुज्यते, अत्र च 'पहेणएण' दिट्ठंतो 'काले दिण्णस्स पहेणयस्स अग्घो न तीरए काउ । तस्सेवऽथक्कपणामियस्स गिण्हंतया नत्थि ॥ १ ॥' तथाऽनानयनेऽयमपरो दोषः-'येन द्रव्येण घृतादिना गृहीतेन हिण्डतां द्रव्यविनाशो भवति, कथञ्चित्प्रमादात्पात्रकविनाशे सति क्षीरादि च विनश्यत्येव, तथा 'निद्धमहुराइं पुव्विं' यदुक्तमागमे तच्च कृतं न भवति । 'सण्णि'त्ति दारं गयं । इदानीं साधर्मिकद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

भत्तट्ठिअ आवस्सग सोहेउं तो अइंति अवरण्हे । अब्भुट्ठाणं दंडाइयाण गहणेक्कवयणेणं ॥२१२॥

इदानीं ते साधर्मिकसमीपे प्रविशन्तः 'भत्तट्ठिअ'त्ति भुक्त्वा तथा 'आवस्सग सोहेउं'ति आवश्यकं च कायिकोच्चारादि 'शोधयित्वा' कृत्वेत्यर्थः, अतोऽपराह्णसमये आगच्छन्ति, येन वास्तव्यानां भिक्षाटनाद्याकुलत्वं न भवति, वास्तव्या अपि किं कुर्वन्ति ?, इत्यत आह-'अब्भुट्ठाणं'ति तेषां प्रविशतामभ्युत्थानादि कुर्वन्ति 'दंडादिताण गहणं'ति दण्डकादीनां ग्रहणं कुर्वन्ति, कथं ?-'एक्कवयणेणं'ति एकेनैव वचनेन उक्ताः सन्तः पात्रकादीन् समर्पयन्ति, वास्तव्येनोक्ते मुञ्चस्वेति ततश्च मुञ्चन्ति, अथ न मुञ्चत्येकवचनेन ततो न गृह्यन्ते, मा भूत् प्रमाद इति ॥

खुड्डलविगिट्ठतेणा उण्हं अवरण्हि तेण उ पएवि । पक्खित्तं मोत्तूणं निक्खिवमुक्खित्तमोहेणं ॥२१३॥

यदा तु पुनस्तैः साधुभिरभिप्रेतो यो ग्रामः स क्षुल्लको न तत्र भिक्षा भवति ततश्च प्रत्यूषस्येवागच्छन्ति, 'विगिट्ठ'त्ति

---

१ तेन पा.२-१ ।

निकटमभ्याने यत्र साधर्मिकास्तिष्ठन्ति ततः प्रत्युपस्येवागच्छन्ति। 'तेण'त्ति अथ ततः अपराह्णे आगच्छन्तो स्तेनमय मवेयतम प्रत्युपस्येवागच्छन्तीति । उभ्य वा अपराह्णे आगच्छन्तो भवति यतोऽतः प्रत्युपस्येवागच्छन्ति । एष ते प्रत्युपसि तस्माद् प्रभातग्रहणाः साधवो भोजनकाले तु प्राप्ताः साधर्मिकसमीप निषीधिकां (नैषेधिकीं) कृत्वा प्रविशन्ति । पुनश्च तेषां प्रविशतां वास्तव्यसाधुभिः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–'पक्खिव मोपूय'त्ति प्रक्षिप्त–आस्यगत मुखे प्रक्षिप्य कवल भुक्त्वा 'निक्खित्तमुक्खित्त'त्ति पदुरिक्षप्त भाजनगत तत् ''निक्षिप्य' मुखन्ति नैषेधिकीश्रवणानन्तरमेव, ततस्ते प्राघूर्णकाः 'ओघेम'त्ति संक्षेपेण आलोचना प्रयच्छन्ति । ततो भुञ्जते मण्डल्यां, सा चेयम्—

अप्पा मूलगुणेसु विराहणा अप्प उत्तरगुणेसु । अप्पा पासत्थाइसु दाणग्गहसपओगोहा ॥ २१४ ॥

अल्पा मूलगुणेषु, एतदुक्तं भवति–मूलगुणविषया न काचिद्विराधना, अल्पा न काचिदुत्तरगुणविषया विराधना, अल्पा पार्श्वस्थादिषु दाने ग्रहणे वा विराधना 'संपओगो'त्ति तैरेव पार्श्वस्थादिभिः सह संप्रयोगे–संपर्के, एतदुक्तं भवति–न पार्श्वस्थादिभिः सह संप्रयोग आसीत् । 'ओघ'त्ति इयं 'ओघतो' संक्षेपत आलोचना दीयते, यदा चालोचना यदि न भुक्तास्ततो भुञ्जते । अथ भुक्तास्ते साधवस्तत इदं भणन्ति—

भुजह भुत्ता अम्हे जो वा इच्छे अभुत्त सह भोज्जं । संघ च तेसिं दाउ अन्न गिण्हति वत्थव्वा ॥२१५॥

१ प्रभुमोजनकाले प्राप्ताः खा पा.१–२ पु. । २ ततश्च तेषां खा । ३ निक्खिवन्ति' खा क २. पा.१–२ । ४ अल्पा उत्तर' खा । ५ दाने ग्रहणे दानग्रहणविराधना खा । ६ पर्व खा. ।

भुञ्जीध्वम् यूयं भुक्ता वयम्', 'यो वा इच्छे'त्ति यो वा साधुर्भोक्तुमिच्छति ततः 'अभुत्त सह भोज्जं'ति तेनाभुक्तेन सह भोज्यं कुर्वन्ति। एवं यदि तेषामात्मनश्च पूर्वानीतं भक्तं पर्याप्यते ततः साध्वेव। अथ न पर्याप्यते ततः सर्वं 'तेभ्यः' प्राघूर्णकेभ्यो दत्त्वा भक्तमन्यद्व्रजन्ति–पर्यटन्ति वास्तव्यभिक्षवः। एवमानीय कति दिनानि भक्तं प्राघूर्णकेभ्यो दीयते इत्यत आह—

तिण्णि दिणे पाहुन्नं सव्वेसिं असइ बालवुड्ढाणं। [1]जे तरुणा सग्गामे वत्थव्वा बाहि हिंडंति ॥२१६॥

त्रीणि दिनानि प्राघूर्णकं सर्वेषां असति बालवृद्धानां कर्त्तव्यम्। ततश्च ये प्राघूर्णकास्तरुणास्ते स्वग्रामे एव भिक्षामटन्ति, वास्तव्यास्तु बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति। अथ ते प्राघूर्णकाः केवला हिण्डितुं न जानन्ति ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह–

संघाडगसंजोगो आगंतुगभद्दएयरे बाहिं। आगंतुगा व बाहिं वत्थव्वगभद्दए हिंडे ॥ २१७ ॥

सङ्घाटकसंयोगः क्रियते, एतदुक्तं भवति–एको वास्तव्यः एकश्च प्राघूर्णकः, ततश्चैवं सङ्घाटकसंयोगं कृत्वा भिक्षामटन्ति। 'आगंतुगभद्दएयरे'त्ति अथासौ ग्राम आगन्तुकानामेव भद्रकस्ततः 'इयरे'त्ति वास्तव्या 'बाहिं'ति बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति, आगन्तुका वा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति वास्तव्यभद्रके सति ग्रामे। उक्तं साधर्मिकद्वारम्, इदानीं वसतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह–

वित्थिण्णा खुड्डलिआ पमाणजुत्ता य तिविह वसहीओ। पढमाबिइयासु ठाणे तत्थ य दोसा इमे होंति ॥

विस्तीर्णा क्षुल्लिका प्रमाणयुक्ता वा त्रिविधा वसतिः 'पढमबितियासु ठाणे'त्ति यदा प्रथमायां वसतौ स्थानं भवति

[1] जई ल १–२.

विस्तीर्णायामिरयर्थः, द्वितीया क्षुल्लिका तस्यां वा स्थाने यदा भवति तदा तत्र तयोर्वसत्योः 'एते वक्ष्यमाणका' दोषा भवन्ति—

खरकम्मियवाणियगा कप्पडिअसरक्खगा य पंठा य। समीसावासेण दोसा य हवंति णेगविहा ॥२१९॥

तत्र विस्तीर्णायां वसतौ 'खरकम्मिय'त्ति दण्डपाशिका रात्रिं भ्रान्त्वा स्वपन्ति, तथा कार्पटिकाः स्वपन्ति, सरजस्काश्च—भौताः स्वपन्ति, वण्ठाश्च स्वपन्त्यागत्य 'अकयविवाहा भितिंजीविणो य पंठ'त्ति। एभिः सह यदा संमिश्र आवासो भवति तदा तेन संमिश्रावासेन दोषा वक्ष्यमाणका अनेकविधा भवन्ति ॥ ते चामी—

ओवासगअहिगरणे तदुभय उच्चारकाइयनिरोहे। संयमआयविराहण संका तेणे नपुंसित्थी ॥२२०॥

आवश्यके—प्रतिक्रमणे क्रियमाणे सागारिकाणामग्रतस्त एव उड्डाहकान् कुर्वन्ति, ततश्च केचिदसहना राटिं कुर्वन्ति, ततश्चाधिकरणदोषः। 'तदुभए'त्ति सूत्रपौरुषीकरणे अर्थपौरुषीकरणे च दोष उड्डाहकान् कुर्वन्ति। निरोधश्च उच्चारस्य कायिकायाश्च निरोधे दोषः। अथ करोति तथाऽपि दोषः संयमात्मविराधनाकृतोऽप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले। 'संका तेणे'त्ति स्तेनशङ्का दोषश्च चौराशङ्का, नपुंसककृतो दोषः संभवति, तत्र स्त्रीदोषश्च भवतीति द्वारगाथासंक्षेपार्थः। इदानीं प्रतिपदं व्याख्यानमाह—

आवस्सय करिंति पवयण झाणजोगवाघाओ। असहण अपरिणओ वा भोयणभेओ य छक्काया ॥२२१॥

'आवश्यके' प्रतिक्रमणं कुर्वताम् 'पवयण'त्ति ते सागारिका उड्डाहकान् कुर्वन्ति, तथा ध्यानयोगव्याघातश्च भवति—

१ वसिज्झमाण भा.। २ सउवस्सगा भा. प.१। ३ भीतिजीविणो य भड'त्ति भा प १। ४ आयावसमतिरिक्ता क १-२। ५ [illegible] भा. क १। ६ भगवन्तेकार क १-२।

चलतामापद्यते चेतो यतः । दारं । 'अहिगरणे'त्ति भण्णइ–'असहण'त्ति कश्चिद् 'असहनः' कोपनो भवति 'अपरिणतो वा' सेहप्रायः, एते राटिं सागारिकैः सह कुर्वन्ति, ततश्च भाजनानि पात्रकाणि तच्छेदो–विनाशो भवति, षट्कायाश्च विराध्यन्ते । दारं । 'तदुभयं'ति व्याख्यायते—

सुत्तत्थऽकरण नासो करणे उड्डुंचगाइ अहिगरणं। पासवणिअरनिरोहे गेलन्नं दिट्ठे उड्डाहो ॥२२२॥

'सुत्तत्थअकरण'त्ति सूत्रार्थपौरुष्यकरणे नाशः–तयोरेव विस्मरणम् । अथ सूत्रार्थपौरुष्यौ क्रियेते ततश्च 'उड्डुंचकादि' उद्घट्टकादि कुर्वन्ति । ततश्चासहना राटिं कुर्वन्ति, ततोऽधिकरणदोष इति । दारं । 'उच्चारकाइअनिरोहे'त्ति व्याख्यायते– 'पासवणे'त्ति 'प्रश्रवणस्य' कायिकायाः 'इयर'त्ति पुरीषस्य च निरोधे 'गेलन्नं' ग्लानत्वं भवति । अथ व्युत्सृजन्ति ततश्च 'दिट्ठे उड्डाहो'त्ति सागारिकैर्दृष्टे सति 'उड्डाहः' उपघातः प्रवचनस्य भवति । दारं । 'संजमआयविराहण'त्ति व्याख्यायते—

मा दच्छिहिंति तो अप्पडिलेहिए(थंडिल्ले) दूरे[1] गंतु वोसिराति। संजमआयविराहणगहणं आरक्खितेणेहिं॥

अथ सागारिका मां मा द्राक्षुरितिकृत्वाऽस्थण्डिल एव दूरे गत्वा व्युत्सृजति ततः संयमात्मनोर्विराधना भवति, ग्रहणं चारक्षिकाः कुर्वन्ति । 'तेण'त्ति स्तेनका वा ग्रहणं कुर्वन्ति । दारं । 'संका तेण'त्ति व्याख्यायते—

ओणयपमज्जमाणं दट्ठुं तेणोत्ति आहणइ कोइ। सागारिअसंघट्टण अपुमित्थी गिण्ह साहइ वा ॥२२४॥

---

१ दूरि ल १, दूर आ ल.२ ।

विस्तीर्णायामित्यर्थः, द्वितीया क्षुल्लिका तस्यां वा स्थानं यदा भवति तदा तत्र तयोर्वसत्योः 'एते वक्ष्यमाणका' दोषा भवन्ति—

खरकम्मियवाणियगा कप्पडिअसरक्खगा य वडा य। संमीसावासेण दोसा य हवंति णेगविहा ॥२१९॥

तत्र विस्तीर्णायां वसतौ 'खरकम्मिय'त्ति दण्डपाशिका रात्रिं भ्रान्त्वा स्वपन्ति, वाणिजकाश्च वाणिज्यकृतकार्या आगत्य स्वपन्ति, तथा कार्पटिकाः स्वपन्ति, सरजस्काश्च-भौताः स्वपन्ति, वण्ठाश्च स्वपन्त्यागत्य 'अकयविवाहा भित्तिजीविणो य वढ'त्ति। एभिः सह यदा संमिश्र आवासो भवति तदा तेन संमिश्रावासेन दोषा वक्ष्यमाणका अनेकविधा भवन्ति ॥ ते चामी—

ओवासगअहिगरणे तदुभय उच्चारकाइयनिरोहे। संजमआयविराहण संका तेणे नपुंसित्थी ॥२२०॥

आवश्यके-प्रतिक्रमणे क्रियमाणे सागारिकाणामभद्रास्त एव उपहासम् कुर्वन्ति, ततश्च केचिदसहना राटिं कुर्वन्ति, तत्राधिकरणदोषः। 'तदुभए'त्ति वस्त्रपोट्टलीकरणे अर्धपोट्टलीकरणे च दोषं उपहासकान् कुर्वन्ति। निरोधश्च उच्चारस्य कायिक्याश्च निरोधे दोषः। अथ करोति तथाऽपि दोषाः संयमात्मविराधनाकृतोऽप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले। 'संका तेणे'त्ति स्तेनशङ्का दोषश्च चौराशङ्का, नपुंसकस्त्री दोषः संभवति, तत्र स्त्रीदोषश्च भवतीति द्वारगाथासंक्षेपार्थः। इदानीं प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

आवस्सय करिंति पवंचए झाणजोगवाघाओ। असहण अपरिणओ वा भोयणसेओ य छक्काया ॥२२१॥

'आवश्यकं' प्रतिक्रमणं कुर्वताम् 'पवंचए'त्ति ते सागारिका उपहासकान् कुर्वन्ति, तथा ध्यानयोगव्याघातश्च भवति—

१ वाणियगा य भा. । २ भाजुस्सयमा भा. ता.१ । ३ भित्तिजीविणो य वढिं'त्ति भा. ता.१ । ४ आवस्सगनिरुद्धे भा. १-२ । ५ वेसमकाय भा. ता.१ । ६ मतयदेसाह भा. १-२ ।

पात्रकं मण्यते । उक्ता क्षुल्लिका वसतिः, यस्मात्क्षुल्लिकायामेते दोषास्तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या । एतदेवाह—

तम्हा पमाणजुत्ता एक्किक्कस्स उ तिहत्थसंथारो । भायणसंथारंतर जह वीसं अंगुला होंति ॥२२७॥

तस्मात्प्रमाणयुक्ता वसतिर्ग्राह्या, तत्र चैकैकस्य साधोर्बाहुल्यतस्त्रिहस्तप्रमाणः संस्तारकः कर्त्तव्यः, तुशब्दो विशेषणार्थः, किं विशिनष्टि ?–संस्तारकोऽत्र भूमिरूप इति, तत्र तेषु त्रिषु हस्तेषु ऊर्णामयः संस्तारको हस्तं चत्तारि अ अंगुलाइं रुंभइ मायणाइ य हत्थं रुंधंति । इदानीं संस्तारकभाजनयोर्यदन्तरालं तत्प्रमाणं प्रतिपादनायाह–'भायणसंथारंतरे' भाजनसंस्तारान्तरे–अन्तराले यथा विंशतिरङ्गुलानि भवन्ति तथा कर्त्तव्यम् । एवं त्रिहस्तप्रमाणोऽपि संस्तारकः पूरितः, किं पुनः कारणमिह यद्दूरे भाजनानि न स्थाप्यन्ते ? उच्यते—

मज्जारमूसगाइ य वारए नावि अ जाणुघट्टणया । दो हत्थे य अबाहा नियमा साहुस्स साहूओ ॥२२८॥

मार्जारमूषकादीन् पात्रकेषु लगतो वारयेत् । अथ कस्मादासन्नतराणि न क्रियन्ते ? उच्यते–'नवि य जाणुघट्टणय'त्ति तावति प्रदेशे तिष्ठति पात्रके जानुकृता घट्टना–जानुकृतं चलनं न भवति । इदानीं प्रव्रजितस्य प्रव्रजितस्य चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह–द्वौ हस्तौ अबाधा–अन्तरालं नियमात्साधोः साधोश्च भवति, साधुश्चात्र त्रिहस्तसंस्तारकप्रमाणो ग्राह्यः । स्थापना चेयम्–उण्णामओ संथारओ २८ अट्ठावीसंगुलप्पमाणो, संथारभायणाणं अंतरालं वीसंगुला २०, भायणाणि अ हत्थप्पमाणे

१ पात्रकेषु जानुकृतोद्घट्टना आ. ।

स हि रात्रौ कायिकार्थमुत्थितः समयनतः प्रमार्जयन्निर्गच्छति ततस्तमवनतकायं दृष्ट्वा स्तेन इति मत्वा आहन्यात् कश्चित् । द्वारं । 'नपुंसित्थि'त्ति व्याख्यायते—'सागारिअसंघट्टण'त्ति सागारिकसंस्पर्शे सति, स हि रात्रौ हस्तेन परामृशन् गच्छति, यतस्ततः स्पर्शने सति कश्चित्सागारिको विपुद्ध एव चिन्तयति—पद्भुताय 'अपुम'त्ति नपुंसकं तेन कारणेन मां स्पृशति, ततः सागारिकस्तं साधुं नपुंसकबुद्ध्या गृह्णाति । अथ कदाचित्स्त्री स्पृष्टा ततः सा ब्रूते, पद्भुताय मम समीपे आगच्छति, ततः सा 'सादति' कथयति निजभर्तुः सौभाग्यं ख्यापयन्ती परमार्थेन वा ॥

ओरालसरीरं वा इत्थि नपुंसा बलावि गिण्हंसि । संथारए ठाणे निसे आवडणपडणाई ॥२२५॥

औदारिकशरीरं वा तं साधुं दृष्ट्वा दिवा ततो रात्रौ स्त्री नपुंसकं वा बलादपि गृह्णातीति, औदारिकं—सश्रीकम् । एते विस्तीर्णवसतिदोषा व्याख्याताः । इदानीं क्षुल्लिकावसतिदोषान् प्रतिपादयन्नाह—'संथारए'त्ति सङ्कटायां वसतौ स्थाने—नवस्थाने सति 'निते आवडणपडणादि'त्ति साधौ निर्गच्छति प्रस्खलनपतनादयो दोषाः, तथा—

तेणोत्ति मण्णमाणो इमोवि तेणोत्ति आवडइ जुद्धं । संजमआयविराहणभायणभेयाइया दोसा ॥२२६॥

एवं साधोरुपरि प्रस्खलिते साधौ यस्योपरि प्रस्खलितः स तं स्तेनकमिति मन्यमानः, अयं च सुप्तोत्थितः अमुं प्रस्खलितं स्तेनकं मन्यमानः सन् 'आपतति युद्धं' युद्धं भवति ततश्च संयमात्मनोर्विराधना भाजनभेदादयश्च दोषाः, भाजन

१ संथारए भा । २ 'पर्कमेदौ'ति निर्भेदावसतिदोषा भा० पी १-२ । ३ निर्भेदावसतिदोषप्रतिपादनीयगाथा भा० गा० १ पा १०९ पृ० ।

द्विहस्तान्तरालेन मुच्यमानेन 'भुत्ताभुत्तसमुत्था' इति 'भुक्त' इति यो भुक्तभोगः 'अभुक्त' इति यः कुमार एव प्रव्रजितः। तत्र भुक्तभोगस्य आसन्नस्य स्वपतोऽन्यसाधुसंस्पर्शात्पूर्वक्रीडितानुस्मरणं भवति, यदुतास्मद्योषितोऽप्येवंविधः एव स्पर्श इति। अभुक्तभोगस्याप्यन्यसाधुसंस्पर्शेन सुकुमारेण कौतुकं स्त्रियं प्रति भवति, अयमभिप्रायः–तस्याः सुकुमारतरः स्पर्श इति। ततश्च द्विहस्ताबाधायां स्वपतामेते दोषाः परिहृता भवन्ति। तथा भंडणं–कलहः परस्परहस्तस्पर्शजनित आसन्नशयने, ते च दोषा एवं वर्जिता भवन्ति, 'सीसंतेण व कुड्डं तु हत्थं मोत्तूण ठायंति' त्ति शिरो यतो यत्र कुड्यं तत्र हस्तमात्रं मुक्त्वा 'ठायंति'त्ति स्वपन्ति, पादान्तेऽनुगमनमार्गं विमुच्य हस्तमात्रं स्वपन्ति। अथवाऽन्यथा पाठः–'सीसंतेण व कुड्डं तिहत्थं मुत्तूण ठायंति' तत्र प्रदीर्घायां वसतौ स्वापविधिरुक्तः, यदि पुनश्चतुरस्रा भवति तदा 'सीसंतेण व कुड्डं' ति शिरो यतः कुड्यं तस्मात्कुड्यात् हस्तत्रयं मुक्त्वा स्वपन्ति, तत्र कुड्यं हस्तमात्रेण प्रोज्झ्य ततो भाजनानि स्थाप्यन्ते, तानि च हस्तमात्रे पादप्रोञ्छने क्रियन्ते ततो हस्तमात्रं व्याप्नुवन्ति, भाजनसाध्वोश्चान्तरालं हस्तमात्रमेव मुच्यते, ततः साधुः स्वपिति। एवमनया भङ्गया स्वपतां तिर्यक् साधोः साधोश्चान्तरालं हस्तद्वयं द्रष्टव्यम्।

पुव्वुद्दिट्ठो उ विही इहवि वसंताण होइ[1] सो चेव। आसज्ज तिन्नि वारे निसन्नो[2] आउंटए सेसा ॥२३०॥

अत्र स्वापकाले पूर्वोद्दिष्ट एव विधिर्द्रष्टव्यः, कश्चासौ ?, "पोरिसिआपुच्छणया सामाइयउभयकायपडिलेहा। साहणिय दुवे पट्टे पमज्ज पाए जओ भूमिं ॥ १ ॥ अणुजाणह संथारं" इत्येवमादिकः। इहापि वसतौ स्वपतां भवति स एव विधिः,

१ तहा चेव ल. २ पा २। २ निसन्न आ. पा. १

पार्उछप्पे ठविज्जति २४। एव तिहिं पत्तएहिं सव्वेवि तिण्णि हत्था, साहुस्स य साहुस्स य अंतर दो हत्था '२८। २०। २४–ह २। एवमेतत्प्रमाणाद्वय व्याख्यातम्। अत्र च द्विहस्तप्रमाणायामबाधायां महदन्तराल साधोः साधोश्च भवति; ततश्च तद् न्तराल शून्य मत्वा दृष्ट्वा सागारिको बलात्स्वपिति, तस्मादन्यथा व्याख्यायते–समा पमाणजुत्ता एक्केकस्स उ तिहत्थ-संथारो। अत्र हस्त साधू स्वपिति, मायनानि संस्तारकार्द्धिंशत्यङ्गुलानि भवन्ति। एतदेवाह–'मायणसपार्रंतर वाह वीसं अंगुला होंति'। पात्रकसप्ताङ्गुलानि स्थापि, पात्रकाद्विंशत्यङ्गुलानि मुक्त्वा परतोऽन्यः साधुः स्वपिति। एतच्च कुतो निश्ची यते? यतुत पात्रकस्तरतो विंशत्यङ्गुलान्यतीत्य अन्यः साधुः स्वपिति, यत उक्तम्–'दो हत्थे य अबाहा नियमा साहुस्स साहूओ'। स्थापना चेयम्–साहू सरीरेण हत्थं रुवइ २४, साधुसरीरप्पमाण, संथारयस्स पत्तयाणं च अंतरं वीसंगुला २०, अट्ठहिं अंगुलेहिं पत्तयाइं ठंति ८, पत्तस्स बितियसाहुस्स य अंतरं वीसंगुलाइ २०, एव एते सव्वेऽवि तिण्णि हत्था, एसो बितिओ साहू। २४। २०। ८। २०। एव सम्बन्ध। अत्र चोण्णामयः संस्तारकः अष्टाविंशत्यङ्गुलप्रमाण एव साधुत्वेन ग्रहण्यः, किन्तु साधुना शरीरेण चतुर्विंशत्यङ्गुलानि रुद्धानि, अन्यानि ऊर्णामयसंस्तारकसम्बन्धीनि यानि चत्वार्यङ्गुलानि तैः सह शेषाणि यानि विंशत्यङ्गुलानि, तत्परतः पात्रकाणि भवन्ति। अत्र हस्तद्वयमबाधा साधुशरीरादावदन्यसाधुशरीरं यावद्ग्रहण्यम्। 'मज्झाय' इत्येतद्व्याख्यातमेव।

सुत्तासुत्तसमुत्थ। मवप्पदोसा य वज्जिआ होंति। सीसतेण य कुड्ड तु हत्थं मोत्तूण ठायति ॥ २२९ ॥

1 २८-२८-२४-ह-१-ह २ खं.। २ एवं मा. क २ पा. १ पु.।

सभायणाइं मज्झे विसमे अहाकडा उवरिं। ओवग्गाहिओ दोरो तेण य वेहासिलंबणया ॥२३३॥

उपशीर्षकाणां मध्ये भाजनानि–पात्रकाणि क्रियन्ते। स्थापना चेयम् । 'विसमे'त्ति विषमा भूः गर्तोपेता भवति, ततश्च तस्यां गर्त्तायां पात्रकाणि पुञ्जीक्रियन्ते। 'अहागडा उवरिं'ति प्रासुकानि–अल्पपरिकर्माणि च यानि तान्यन्येषां पात्रकाणामुपरि क्रियन्ते, माङ्गलिकत्वात्तेषाम्। अथातिसङ्कटत्वाद् वसतेर्भूमौ नास्ति स्थानं पात्रकाणां ततश्च 'ओवग्गहितो दोरो' औपग्रहिको यो दवरको यवनिकार्थं गृहीतः ओवग्गहितो–गच्छसाहारणो तेन 'विहायसि' आकाशे 'लंबणय'त्ति तेन दवरकेन लम्ब्यन्ते–कीलिकादौ क्रियन्ते।

खुड्डलियाए असई विच्छिन्नाए उ मालणा भूमी। बिलधम्मो चारभडा साहरणेगंतकडपोत्ती ॥२३४॥

क्षुल्लिकाया वसतेरभावे 'विच्छिन्नाए उ'त्ति विस्तीर्णायां वसतौ स्थातव्यं, तत्र च को विधिरित्यत आह–'मालणा भूमी' विस्तीर्णवसतेर्भूमिर्मल्यते–व्याप्यते पुष्पप्रकरसदृशैः स्वपद्भिः, 'बिलधम्मो चारभड'त्ति अवलगकादय आगत्य इदं भणन्ति–यदुत बिलधर्मोऽयं बिले यावतामवस्थानं भवति तावन्त एव प्रविशन्ति, ततः साधवः किं कुर्वन्ति ?, 'साहरणे'त्ति संहृत्य उपकरणजातं विरलत्वं च 'एगंत'त्ति एकान्ते तिष्ठति। 'कडपोत्ती'त्ति यदि कटोऽस्ति ततस्तमन्तराले ददति, अथ स नास्ति तत 'पोर्त्ति' चिलिमिनीं ददति।

---

१ °धर्मो यस्मिन् विले आ.।

किन्त्वय विशेषः–'आसज्ञ तिथि वारे निसभो'त्ति आसज्ञ त्रयो वाराः करोति 'निसभो'त्ति तत्रैव संस्तारके उपविष्टः सन्, शेषास्तु साधवः किं कुर्वन्तीत्याह–'आउट्टए सेसा' शेषाः साधवः पादान् आकुञ्चयन्तीति। 'पुनभासो' कायिकार्थं व्रजन् किं करोतीत्यत आह—

आवस्सिआसज्ञ नीइ पमज्जतु जाव उ च्छाए। सागारिय तेणुब्भामए य सका तउ परेण ॥ २३१ ॥

आवश्यिकीं आसज्ञं च पुनः पुनः कुर्वन् प्रमार्जयन्निर्गच्छति, कियद्दूरं यावदित्यत आह–'जाव उ च्छाए, यावच्छाया– यावद्वसतेरभ्यन्तरमित्यर्थः, बाह्यतस्तु नैवं प्रमार्जनादि कर्तव्यं, यतः 'सागारिय तेणुब्भामए य सका तउ परेण' सागारिकस्तेनेनाशङ्कोपजायते, यदुत किमयं चौरः? 'उब्भामओ' पारदारिकस्ततस्तदाशङ्कोपजायते, अतस्तत्परेण–छायायाः बाह्यतो नेह प्रमार्जनादि कर्तव्यमिति। एवं प्रमाणयुक्तायां वसतौ वसतां विधिरुक्तः। यदा तु पुनः—

नत्थि उ पमाणजुत्ता खुड्डलियाए वसति जयणाए। पुरहत्थ पच्छ पाए पमज्ज जयणाए निग्गमणा॥२३२

यदा तु प्रमाणयुक्ता वसतिर्नास्ति तदा क्षुल्लिकायामेव वसतौ वसन्ति यतनया, का चासौ यतना?–'पुरहत्थ' पच्छ पाए' 'पुरतः' अग्रतो हस्तेन परामृशति पश्चात्पादौ प्रमृज्य न्यस्यति, तयैव यतनया बाह्यतो निर्गच्छति। एवं तावत्कायिकार्थं गमनागमने विधिरुक्तः, इदानीं स्वपनविधिं प्रतिपादयन्नाह—

1 खाडिम्या भेद वसति अवकाश वा।

उस्सीसभायणाइं मज्झे विसमे अहाकडा उवरिं। ओवग्गहिओ दोरो तेण य वेहासिलंबणया ॥२३३॥

उपशीर्षकाणां मध्ये भाजनानि—पात्रकाणि क्रियन्ते। स्थापना चेयम् [⁘]। 'विसमे'त्ति विषमा भूः गर्तोपेता भवति, ततश्च तस्यां गर्तायां पात्रकाणि पुञ्जीक्रियन्ते। 'अहागडा उवरिं'ति प्रासुकानि—अल्पपरिकर्माणि च यानि तान्यन्येषां पात्रकाणामुपरि क्रियन्ते, माङ्गलिकत्वात्तेषाम्। अथातिसङ्कटत्वाद् वसतेर्भूमौ नास्ति स्थानं पात्रकाणां ततश्च 'ओवग्गहितो दोरो' औपग्रहिको यो दवरको यवनिकार्थं गृहीतः ओवग्गहितो—गच्छसाहारणो तेन 'विहायसि' आकाशे 'लंबणय'त्ति तेन दवरकेन लम्ब्यन्ते—कीलिकादौ क्रियन्ते।

खुड्डुलियाए असई विच्छिन्नाए उ मालणा भूमी। बिलधम्मो चारभडा साहरणेगंतकडपोत्ती ॥२३४॥

क्षुल्लिकाया वसतेरभावे 'विच्छिन्नाए उ'त्ति विस्तीर्णायां वसतौ स्थातव्यं, तत्र च को विधिरित्यत आह—'मालणा भूमी' विस्तीर्णवसतेर्भूमिर्माल्यते—व्याप्यते पुष्पप्रकरसदृशैः स्वपद्भिः, 'बिलधम्मो चारभड'त्ति अवलगकादय आगत्य इदं भणन्ति—यदुत बिलधर्मोऽयं[1] बिले यावतामवस्थानं भवति तावन्त एव प्रविशन्ति, ततः साधवः किं कुर्वन्ति ?, 'साहरणे'त्ति संहृत्य उपकरणजातं विरलत्वं च 'एगंत'त्ति एकान्ते तिष्ठति। 'कडपोत्ती'त्ति यदि कटोऽस्ति ततस्तमन्तराले ददति, अथ स नास्ति तत 'पोत्तिं' चिलिमिनीं ददति।

1 °धर्मो यस्मिन् बिले आ.।

असई य चिलिमिणीए भए य पच्छन्न भूइए लक्खे। आहारा नीहारो निग्गमणपवेस वज्जेह ॥२३५॥

'असति' अभावे चिलिमिलिन्याः 'भए य'त्ति चिलिमिनीहरणभए वा न ददाति। किं कुर्वन्त्यत आह–'पच्छण्णे'त्ति ततः प्रच्छन्नतरे प्रदेशे तिष्ठन्ति। 'भूइए लक्खे'त्ति स च प्रदेशो भूत्या 'लक्ष्यते' चिह्नयते अयोटोऽस्य प्रदेश इति कथ्यते। इद च तेऽभिधीयन्ते–आहाराभीहारो ममस्यतयमतो निर्गमप्रवेशौ वर्जनीयाविति। इद च कर्तव्य साधुभिः—

पिंडेण सुत्तकरण आसज्ज निसीहिय च न करिति। कासण न पमज्जणया न य हत्थो जयण वेरत्ती ॥२३६॥

'पिण्डेन' समवायेन 'सूत्रकरण' सूत्रपौरुषीकरणं कर्तव्य, मा भूत् कश्चित्तव वाक्यं वा कण्ठादिदिस्तिविधि। तथा मासज्ज निसीहियं च तत्र न कुर्वन्ति। किं वा कर्तव्यमित्यत आह–'कासण'त्ति कासन–खात्करणं करोति, न च प्रमार्जन करोति 'ण य हत्थो'त्ति न च हस्तेन पुरस्तात्परामृश्य निर्गच्छति, यतनया च वेरत्तियं कुर्वन्ति। वेरत्तिओ कालो घिप्पइ दोण्ह पहराण उवरिं, ततो सज्झाओ कीरति, यदि वा ताए वेलाए सज्झाओ। उक्त वसतिद्वारम्, इदानीं स्थानस्थित द्वारमुच्यते, तत्राह—

पत्ताण खित्त जयणा काऊणावस्सय ततो ठवणा। पडिणीयपतमामग भद्दगसड्ढे य अचियत्ते ॥२३७॥

एव तेषां विहरतां प्राप्तानामभिमतक्षेत्रे 'जयण'त्ति यथा यतना कर्तव्या तथा वक्ष्यति, 'काऊणावस्सय' कृत्वा चाव श्यक–प्रतिक्रमणं 'ततो ठवण'त्ति ततः स्थापना क्रियते केषाञ्चित्कुलानां, कानि च तानीत्यत आह–'प्रत्यनीकः' शासनादेः,

'प्रान्तः' अदानशीलः, स मामगो य एवं वक्ति–मा मम समणा घरमइंतु, भद्रकश्राद्धकौ प्रसिद्धौ 'अचियत्ते'त्ति यः साधुभिरागच्छद्भिर्दुःखेनास्ते, शोभनं भवति यद्येते नायान्ति गृहे । एतेषां कुलानां यो विभागः क्रियते प्रतिषेधाप्रतिषेधरूपः स स्थापनेत्युच्यते । इदानीं भाष्यकार एनां गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह—

वाहिरगामे वुच्छा उज्जाणे ठाण वसहिपडिलेहा। इहरा उ गहिअभंडा वसही वाघाय उड्डाहो १०४(भा.)

एवं ते बाह्यग्रामे आसन्नग्रामे पर्युषिताः सन्तोऽभिमतं क्षेत्रं प्राप्य तावदवतिष्ठन्ते । 'उज्जाणे ठाणं'ति उद्याने तावत्स्थानमास्थां कुर्वन्ति । 'वसहिपडिलेह'त्ति पुनर्वसतिप्रत्युपेक्षकाः प्रेष्यन्ते । 'इहरा उ'त्ति यदि प्रत्युपेक्षका वसतेर्न प्रेष्यन्ते ततः 'गृहीतभाण्डाः' गृहीतोपकरणाः वसतेर्व्याघाते सति निवर्त्तन्ते ततश्च उड्डाहो भवति–उपघात इत्यर्थः । तत्र च प्रविशतां शुकनापशुकननिरूपणायाह—

मइलकुचेले अब्भंगिएल्लए साण खुज्ज वडभे या। एए उ अप्पसत्था हवंति खित्तं अइंतस्स ॥ १०५ ॥
नारी पीवरगब्भा वड्डकुमारी य कट्ठभारो य। कासायवत्थ कुच्चंधरा य कज्जं न साहिंति ॥१०६॥ (भा०)
चक्कयरंमि भमाडो भुक्खा मारो य पंडुरंगंमि । तच्चन्निरुहिरपडणं बोडियमसिए धुवं मरणं ॥१०७॥
जंबूअ चास मउरे भारद्दाए तहेव नउले अ । दंसणमेव पसत्थं पयाहिणे सव्वसंपत्ती ॥१०८॥ (भा०)

१ खित्ताउ निताण आ, खित्त अयताण क २ ।

पडिलेहण संथारग आयरिए तिण्णि सेसर्ग कमेण । विंटिअउक्खेवणया पविसइ ताहे य धम्मकही ॥११५

तत्र च वसतौ प्रविष्टाः सन्तः पात्रकादिप्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, संस्तारकग्रहणं च क्रियते, ततः आचार्यस्य त्रयः संस्तारका निरूप्यन्ते, शेषाणां साधूनां क्रमेण यथारत्नाधिकतया, ते च साधव आत्मीयात्मीयोपधिवेष्टलिकानामुत्क्षेपणं कुर्वन्ति येन भूमिभागो ज्ञायते, अस्मिन्नवसरे सावतो धर्मकथी संस्तारकग्रहणार्थं प्रविशति ॥

उच्चारे पासवणे लाउय निल्लेवणे य अच्छणए । पुव्वट्ठिय तेसि कहेऽकहिए आयरण वोच्छेओ ॥११६॥ भा

ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका उच्चारभुवं दर्शयन्ति ग्लानाद्यर्थं, 'पासवणे'त्ति कायिकाभूमिं दर्शयन्ति, 'लाउए'त्ति तुम्बकलेपन भुवं दर्शयन्ति, निर्लेपस्थानं च दर्शयन्ति, 'अच्छणए'त्ति यत्र स्वाध्यायं कुर्वद्भिरास्यते 'पूर्वस्थिताः' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः एव 'तेषां' आगन्तुकानां कथयन्ति । 'अकहिए'त्ति यदि न कथयन्ति ततः 'आयरण वोच्छेओ'त्ति अस्थाने कायिकादेराचरणे सति व्यवच्छेदस्तद्‌द्रव्यापद्रव्ययोः, वसतेर्निर्धाटयतीति ॥

भत्तट्ठिआ व खमगा अमंगलं चोयए जिणाहरणं । जइ खमगा वंदित्ता दावित्तियरे विहिं वोच्छं ॥११७॥

ते हि श्रमणाः क्षेत्रं प्रविशन्तः कदाचिद्भक्तार्थिनः कदाचित्क्षपका उपवासिका इत्यर्थः, तत्रोपवासिकानां प्रविशतां 'अम गल चोयए'ति चोदक इदं वक्ति, यदुत क्षेत्रे प्रविशतां अमङ्गलमिदं यदुपवासः क्रियते, तत्र 'जिनाहरणं' मिति जिनोदाहरणं,

१ क्षेत्र इ ग्रमेण श्र. इ. २ श्र १-पु.

यथा हि जिना निष्क्रमणकाले उपवासं कुर्वन्ति न च तत्तेषां अमङ्गलं, किन्तु प्रत्युत मङ्गलं तत्तेषामेवमिदमपीति । इदानीं यदि क्षपकास्तस्मिन्दिवसे साधव उपवासिकास्तत्र च सन्निवेशे यदि श्रावकाः सन्ति ततस्तद्गृहेषु चैत्यानि वन्दन्तो दर्शयन्ति, कानि ?–स्थापनादीनि कुलानि आगन्तुकेभ्यः, 'इयरे'त्ति भक्तार्थिषु यो विधिस्तं वक्ष्ये । कश्चासौ विधिरित्यत आह—

सव्वे दट्ठुं उग्गाहिएहिं[1] ओयरिअ भयं समुप्पज्जे । तम्हा ति दु एगो वा उग्गाहिअ चेइए वंदे ॥११८॥

ते हि भक्तार्थिनः श्रावककुलेषु चैत्यवन्दनार्थं व्रजन्तः यदि सर्व एव पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रविशन्ति ततः को दोष इत्यत आह–'दट्ठुमुग्गाहिएहिं ओदरिअ'त्ति दृष्ट्वा तान् साधून् पात्रकैरुद्ग्राहितैः औदरिका एत इति–भट्टपुत्रा[2] इति, एवं श्रावकश्चिन्तयति । 'भयं समुप्पज्जे'त्ति भयं च श्रावकस्योत्पद्यते, यदुत कस्याहमत्र ददामि ? कस्य वा न ददामीति ?, कथं वा एतावतां दास्यामीति, यस्मादेवं तस्मात् 'ति दु एगो वा' त्रय उद्ग्राहितेन प्रविशन्ति आचार्येण सह द्वौ वा एको वा उद्ग्राहितेन प्रविशति चैत्यवन्दनार्थमिति ॥

सद्धाभंगोऽणुग्गाहियंमि ठवणाइया भवे[3] दोसा । घरचेइअ आयरिए कइवयगमणं च गहणं च ॥११९॥

अथानुद्ग्राहितपात्रका एव प्रविशन्ति, दातव्ये च मतिर्जाता श्राद्धस्य, ततश्च पात्रकाभावेऽग्रहणमग्रहणाच्च श्रद्धाभङ्गो भवति । अथैवं भणन्ति–पात्रकं गृहीत्वाऽऽगच्छामि ततश्च स्थापनादिका दोषा भवन्ति, आदिशब्दात्[4]कदाचित्किञ्चित्संस्कार-

१ उग्गाहिएण आ. पा. २ पु । २ पेट्टपुत्ता ल १ पा १. २ । ३ य दोसा उ आ ल १–२. पा. १–२ । ४ कदाचित्सस्कारमपि आ ।

पडिलेहण सथारग आयरिए तिण्णि सेसगं कमेण । विंटिअउक्खेवणया पविसइ ताहे य धम्मकही ॥११५

तत्र च समतो प्रविष्टाः सन्तः पात्रकादिप्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, संस्तारकग्रहणं च क्रियते, ततः आचार्यस्य त्रयः संस्तारका निरूप्यन्ते, शेषाणां साधूनां क्रमेण यथारत्नाधिकतया, ते च साधव आत्मीयात्मीयोपधिवेण्टलिकानामुत्क्षेपणं कुर्वन्ति येन भूमिभागो ज्ञायते, अस्मिन्नवसरे यावतो धर्मकथी संस्तारकग्रहणार्थं प्रविशति ॥

उच्चारे पासवणे लाउय निल्लेवणे य अच्छणए । पुव्वट्ठिय तेसि कहेऽकहिए आयरण वोच्छेओ ॥११६॥ भा

ते हि क्षेत्रप्रत्युपेक्षका उच्चारभुवं दर्शयन्ति ग्लानाद्यर्थं, 'पासवणे'त्ति कायिकाभूमिं दर्शयन्ति, 'लाउए'त्ति तुम्बकलेपन द्रवं दर्शयन्ति, निर्लेपस्थानं च दर्शयन्ति, 'अच्छणए'त्ति यत्र स्वाध्यायं कुर्वन्निरास्यते 'पूर्वस्थिताः' क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः एव 'तेषां' आगन्तुकानां कथयन्ति । 'अकहिए'त्ति यदि न कथयन्ति तत 'आयरण वोच्छेओ'त्ति अस्थाने कायिकादेराचरणे मति व्यवच्छेदस्तद्रूप्या यद्व्ययोः, समतेर्निराटपतीति ॥

मचट्ठिआ व खमगा अमगल चोयए जिणाहरण । जइ खमगा वदसा दाएतियरे विहिं वोच्छं ॥११७॥

ते हि श्रमणाः क्षेत्रं प्रविशन्तः कदाचिद्भक्तार्थिनः कदाचित्क्षपका उपवासिका इत्यर्थः, तत्रोपवासिकानां प्रविशतां 'अमगल चोयए'त्ति नोदक इदं वक्ति, यदुत क्षेत्रे प्रविशतां अमङ्गलमिदं यदुपवासः क्रियते, तत्र 'जिणाहरण' मिति जिनोदाहरणं,

1 वेब्र ३ श्लोक आ अ. २ गा. १-५.

सत्सु एकतरः–अन्यतमो दोषः–संयमात्मविराधनाजनितः, कथिते च सति स्थापनादिकुलानां स्थापना क्रियते। पुनश्च स्थापनाकुलेषु गीतार्थसङ्घाटकः प्रविशति ॥

गच्छंमि एस कप्पो वासावासे तहेव उउबद्धे। गामागरनिगमेसुं अइसेसी ठावए सड्ढी ॥१२३॥ (भा.)

गच्छे 'एष कल्पः' एष विधिरित्यर्थः, यतः स्थापनाकुलानां स्थापना क्रियते, कदा ?–'वासावासे तहेव उउबद्धे' वर्षाकाले शीतोष्णकालयोश्च। केषु पुनरयं नियमः क्रियते ? इत्यत आह–'गामागरनिगमेसुं' ग्रामः–प्रसिद्धः आकरः–सुवर्णादिरुत्पत्तिस्थानं निगमो–वाणिजकप्रायः सन्निवेशः, एषु स्थापनाकुलानि स्थापयेत्। किंविशिष्टानीत्यत आह–'अतिसेसि'त्ति स्फीतानीत्यर्थः 'सड्ढि'त्ति श्रद्धावन्ति कुलानि स्थापयेदिति ॥

किं कारणं चमढणा दव्वक्खओ उग्गमोऽवि अ न सुज्झे। गच्छे य नियय कज्जं आयरियगिलाणपाहुणए ॥

किं कारणं तानि कुलानि स्थाप्यन्ते ?, यतः 'चमढण'त्ति अन्यैरन्यैश्च साधुभिः प्रविशद्भिश्चमढ्यन्ते–कदर्थ्यन्त इत्यर्थः। ततः को दोष इत्यत आह–'दव्वक्खओ' आचार्यादियोग्यानां द्रव्याणां क्षयो भवति। 'उग्गमोऽवि अ न सुज्झे' उद्गमस्तत्र गृहे न शुद्ध्यति। 'गच्छे य'त्ति गच्छे च नियतं कार्यं योग्येन, केषामित्यत आह–'आयरिअगिलाणपाहुणए' आचार्यग्लानप्राघुर्णकानामर्थाय नियमेन कार्यं भवति इति निर्युक्तिगाथेयम्, इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्र 'चमढण'त्ति व्याख्यानयन्नाह–द्वारगाथा—

मपि कुर्वन्ति, तस्मात्गुरुचैत्यवन्दनार्थे आचार्येण कतिपयैः साधुभिः सह गमनं कार्यं, ग्रहणं घृतादेः कर्तव्यमिति । 'पसाय सिंचमयप'त्ति व्याख्यात इदानीं 'भत्तमावस्सय ततो ठवण'त्ति व्याख्यायते—

खित्तम्मि अपुव्वमी तिट्ठाणत्था कहिंति दाणाइ । असई अ चेइयाण हिंडता चेव दायति ॥ १२० ॥ (भा०)

यदि तत्क्षेत्रमपूर्वकं न तत्र मासकल्पः कृत आसीत् ततः 'तिट्ठाणत्थ'त्ति त्रिषु स्थानेषु श्रावकगुरुचैत्यवन्दनवेलायां भिक्षामटन्तः प्रतिक्रमणावसाने वा कथयन्ति दानादीनि कुलानि । 'असई य चेइयाण' यदा पुनस्तत्र श्रावककुलेषु चैत्यानि न सन्ति ततोऽसति चैत्यानां भिक्षामेव हिण्डन्तः कथयन्ति । कानि पुनस्तानि कथयन्तीत्यत आह—

दाणे अभिगमसड्ढे समत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते । मामाए अचियत्ते कुलाइ दायति गीयत्था ॥१२१॥ भा०

दानश्राद्धका अभिगमश्राद्धा अभिनवाः सम्यक्त्वश्राद्धाः तथा मिथ्यादृष्टिकुलानि एतानि कथयन्ति । शेषं सुगमम् । इदानीं यदि तत्र चैत्यानि न सन्ति उपवासिकैर्भिक्षा न पर्यटिता तत आवश्यकान्ते क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः कथयन्त्याचार्याय, एतदेवाह—

काउस्सग्गामंतण पुच्छणया अकहिए गयरदोसा । ठवणकुलाण य ठवणा पविसइ गीयत्थसंघाडो ॥१२२

आवश्यककायोत्सर्गस्यान्ते 'आमंतण'त्ति आचार्य आमन्त्र्य तान् क्षेत्रप्रत्युपेक्षकान् 'पुच्छणय'त्ति पृच्छति, यदुत कान्यत्र स्थापनाकुलानि ? कानि चेतराणि ?, पुनश्च ते पृष्टाः कथयन्ति, 'अकहिए गतरदोस'त्ति तैः क्षेत्रप्रत्युपेक्षकैरकथितेषु कुलेषु

१ चेव ठवण'त्ति व्याख्यायते—का. पु. । २ अविनवसम्यक्त्वश्राद्धाः तथा खा च २. । ३ उपवासैर्भिक्षा पर्य खा । ४ कथयन्त्याचा खा पु. ।

सत्सु एकतरः—अन्यतमो दोषः—संयमात्मविराधनाजनितः, कथिते च सति स्थापनादिकुलानां स्थापना क्रियते । पुनश्च स्थापनाकुलेषु गीतार्थसङ्घाटकः प्रविशति ॥

गच्छंमि एस कप्पो वासावासे तहेव उउबद्धे । गामागरनिगमेसुं अइसेसी ठावए सड्ढी ॥१२३॥ (भा.)

गच्छे 'एष कल्पः' एष विधिरित्यर्थः, यतः स्थापनाकुलानां स्थापना क्रियते, कदा ?—'वासावासे तहेव उउबद्धे' वर्षाकाले शीतोष्णकालयोश्च । केषु पुनरयं नियमः क्रियते ? इत्यत आह—'गामागरनिगमेसुं' ग्रामः—प्रसिद्धः आकरः—सुवर्णादिरुत्पत्तिस्थानं निगमो—वाणिजकप्रायः सन्निवेशः, एषु स्थापनाकुलानि स्थापयेत् । किंविशिष्टानीत्यत आह—'अतिसेसि'त्ति स्फीतानीत्यर्थः 'सड्ढि'त्ति श्रद्धावन्ति कुलानि स्थापयेदिति ॥

किं कारणं चमढणा दव्वक्खओ उग्गमोऽवि अ न सुज्झे । गच्छे य निययकज्जं आयरियगिलाणपाहुणए ॥

किं कारणं तानि कुलानि स्थाप्यन्ते ?, यतः 'चमढण'त्ति अन्यैरन्यैश्च साधुभिः प्रविशद्भिश्चमढ्यन्ते—कदर्थ्यन्त इत्यर्थः । ततः को दोष इत्यत आह—'दव्वक्खओ' आचार्यादियोग्यानां द्रव्याणां क्षयो भवति । 'उग्गमोऽवि अ न सुज्झे' उद्गमस्तत्र गृहे न शुद्ध्यति । 'गच्छे य'त्ति गच्छे च नियतं कार्यं योग्येन, केषामित्यत आह—'आयरिअगिलाणपाहुणए' आचार्यग्लानप्राघूर्णकानामर्थाय नित्यमेव कार्यं भवति इति निर्युक्तिगाथेयम्, इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्र 'चमढण'त्ति व्याख्यानयन्नाह—दारगाहा—

पुव्विंपि वीरसुणिआ छिक्का छिक्का पहावए तुरिअं। सा चमढणाए सिग्गा संत पि न इच्छए घित्तुं ॥१२४

जहा काचित् वीरसुणिका केणइ आहेडएण तित्तिरमयूराईण गहणे छिकारिआ छिकारिआ तित्तिराईसि गिण्हइ, एव पुणो तित्तिराईहिं विणावि सो छिछिक्कारेइ, सा य पहाविआ जया न किंचि पिच्छइ तया विआरिआ संती कलेवि न धावति, एवं मज्झपहुलाइं अण्णमण्णेहिं चमढिज्जताइं पाहुणगकारणे समुप्पण्णेऽवि संतपि न देंति। किं कारण ?, जतो अकारणा एव निवेदेयासि तेण कारणे समुप्पण्णेवि न देंतित्ति। इदानीं गाथाक्षरार्थ उच्यते—पूर्वमपि वीरशुनी छीत्कृत्वा छीत्कृत्वा प्रधावती त्वरितं, पुनश्चासौ अलीकचमढणतया 'सिग्गा'त्ति श्रान्ता सदपि मयूरादि नेच्छति ग्रहीतुम् ॥

एव सङ्ढकुलाइं चमढिज्जंताइं अण्णमण्णोहिं। नेच्छंति किंचि दाउं संत पि तोहिं गिलाणस्स ॥१२५॥

सुगमा ॥ 'चमढण'त्ति गयं, 'दव्वक्खय'त्ति व्याख्यायते—

दव्वक्खएण पंतो इत्थिं घाएज्ज कीस ते दिण्णं ?। भद्दो हट्ठपहट्ठो करिज्ज अन्नंपि सोऊण ॥१२६॥(भा०)

बहूनां साधूनां घृतादिद्रव्ये दीयमाने तद्रव्यक्षयः संजातस्ततस्तेन द्रव्यक्षयेण यदि प्रान्तो गृहपतिस्ततः स्त्रियं घातयेत्, पतत्र भणति—किमिति तेरूपः प्रव्रजितेभ्यः दत्तम् ?। 'दव्वक्खय'त्ति गयं, 'उग्गमोऽवि अ न सुज्झे'त्ति व्याख्यायते,

१ जिआ आ. पा १.२. । महा धावि प. १ धइ कोइ पा २। ३ आहिंडगेणं आ पा १२। ४ पओमेवे भरते आ। ५ मिचोइणाणि आ। ६ पुणरवि आ। ७ विका-गिलाणत्ता आ। ८ ताई अण्णेहिं आ.। ९ तर्ग आ. पा १ पु.। १० समणट्ठा आ. पा १ पु.।

तत्राह–'भद्दो हट्ठपहट्ठो करिज्ज अन्नंपि साहूणं' भद्रो यदि गृहपतिस्ततो दत्तमपि मोदकादि पुनरपि कारयेत् । 'उग्गमोऽवि य न सुज्झे'त्ति गयं । 'गच्छे य निययकज्जं आयरिय'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

आयरियअणुकंपाए गच्छो अणुकंपिओ महाभागो । गच्छाणुकंपयाए अव्वोच्छित्ती कया तित्थे ॥१२७भा.

सुगमा ॥ इदानीं 'गिलाण'त्ति व्याख्यायते—

परिहीणं तं दव्वं चमढिज्जंतं तु अण्णमन्नेहिं । परिहीणंमि य दव्वे नत्थि गिलाणस्स पाउग्गं ॥ १२८ (भा.)

सुगमा ॥ तथा चात्रायं दृष्टान्तो द्रष्टव्यः—

चत्ता होंति गिलाणा आयरिया बालवुड्ढसेहा य । खमगा पाहुणगावि य मज्जायमइक्कमंतेणं ॥१२९॥(भा.)

सारक्खिया गिलाणा आयरिया बालवुड्ढसेहा यं । खमगा पाहुणगावि य मज्जायं ठावयंतेणं ॥१३०॥ (भा.)

सुगमे ॥

जड्डे महिसे चारी आसे गोणे अ तेसि जावसिआ । एएसिं पडिवक्खे चत्तारि य संजया होंति ॥ २३९ ॥

जहा एक्कं महावीयं परिस्सअं, तत्थ य चारीओ नाणाविहाओ अत्थि, तंजहा–जड्डस्स–हत्थिस्स जा होउ सा होउ सा तत्थ अत्थि, महिसस्स सुकुमारा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, आसस्स महुरा जोग्गा सावि तत्थ अत्थि, गोणस्स सुयंधा

१ वि ल. १ । २ होइ आ ल २ पा १ ।

ओग्गा मावि तत्थ अत्थि, त च रायपुरिसेहिं रक्खिज्जइ ताण चेव अड्डाईण, जइ पुण कारणे चोसिआ आणिति, अह पुण त मोक्कलए मुयइ ताहे पट्टणगोपेहिं गामगोवेहिं च चमढिजइ, चेमढिज्जते अ तर्सि महापरिसए ताण रायकेराण अड्डाईण मणुस्सा चारी न लब्भइ, विश्वसितत्वात् गोपनेस्तस्य, एव सड्डयकुलाणिवि जइ न रक्खिज्जति तओ अममगोहिं चमढिज्जंति, तेसु य चमढिएसु जं अड्डाइसम्माणाण पाहुणयाण पाउग्ग त न देंति)। इदानीमक्षरार्थ उच्यते-जोत्थो-हस्ती महिषः प्रसिद्धस्तयोरनुरूपा चारीं घासिका-घासवाहिका ददति, तथा अश्वस्य गोणो-बलीवर्दस्तस्य च चारीमानयन्ति घासिकाः। 'एतेषां' आढ्यादीनां प्रतिरूपः-अनुरूपः पक्ष -प्रतिपक्षः तुल्यपक्ष इत्यर्थः तस्मिन् चत्वारः सपक्षाः प्राघूर्णका भवन्ति। इदानीमेतेषामेव आढ्यादीनां यथाक्रमेण भोजन प्रतिपादयन्नाह—

जेडो ज वा तं वा सुकुमार महिसओ महुरमासो। गोणो सुयघद्य इच्छइ एमेव साहूवि ॥१३१॥ (भा)

सुगमा॥ नवरं साधुरप्येवमेव द्रष्टव्य'-तत्थ पढमो पाहुणसाहू भणइ-मम वा दोसीण उप्फग वा कढिअं वा ज लब्भइ त चेव आणेह, तेण एव भणिते किं दोसीण चेव आणेअव्वं ?, न, विसेसेण सोहण तस्स आणेअव्वं। बितिओ पाहुणसाहू भणइ-परं मे पेहरहियावि एगलिआ सुकुमाला होउ। ततिओ भणति-महुरं नवरि मे होउं अंब मा होउ। चउत्थो भणति-निप्पडिसेध अस्स वा पाण वा होउ। एव ताण भणताण ज जोग्ग त सड्डयकुलेहिंतो विसेसियं आणिज्जइ। एवमुक्ते सत्याह

१ घंसिआ खा क. ३। २ चमढिए अ खा. क २ पा १-२। ३ जोत्थो-हस्ती खा। ४-५ बड्डारीनं खा पा २। ६ महा खा क. २। ७ सम्पूर्ण खा. क. २ पा. १-२। ८ होउ। चउत्थो खा क २। ९ अंबपाणं वा खा क २।

परः—यस्मादेवं तस्मान्न कदाचित्केनचित्प्रवेष्टव्यं प्राघूर्णकागमनमन्तरेण श्रावककुलेषु, यदैव प्राघूर्णका आगमिष्यन्ति तदैव तेषु प्रवेशो युक्तः, एवमुक्ते सत्याहाचार्यः—

एवं च पुणो ठविए अप्पविसंते इमे भवे दोसा। वीसरण संजयाणं विसुक्खगोणीव आरामो ॥१३२॥(भा)

एवं च पुनः 'ठविते' स्थापिते स्थापनाकुले यदि सर्वथा न प्रवेशः क्रियते तदैते दोषाः—अप्रविशत्सु एते दोषाः—'वीसरण संजयाणं' विस्मरणं संयतविषयं तेषां श्रावकाणां भवति। अत्र च विशुष्कगोण्या—गवा आरामेण च दृष्टान्तः, जहा एगस्स माहणस्स गोणी, सा कुडवदोहणी, ताहे सो चिंतेति—एसा गावी बहुअं खीरं देइ, मज्झ य मासेण पगरणं होहि त्ति तो अच्छउ तहिं चेव एकवारिआए दुज्झिहि त्ति, एवं सो न दुहति, ताहे सा तेण कालेण विसुक्का तद्दिवसं बिंदुंपि न देइ। एवं संजया अणल्लिअंता तेसिं सड्ढाणं पम्हुट्ठा ण चेव जाणंति किं संजया अत्थि न वा ?, तेवि संजया जंमि दिवसे कज्जं जायं तद्दिवसे गया जाव नत्थि ताणि दव्वाणि, तम्हा तत्थ दोण्हं वा तिण्हं वा दिवसाणं अवस्स गंतव्वं। अथवा आरामदिट्ठंतो, एगो मालिओ चिंतेइ—अच्छंतु एयाणि पुप्फाणि अहं कोमुईए एकवारिआए उच्चिणेहामि[1] जेण बहूणि होंति, ताहे सो आरामो उप्फुल्लो कोमुईए न एकंपि फुल्लं जायं। एवं सावगकुलेसु एए चेव दोसा एकवारिआए पविसणे तम्हा पविसिअव्वं कहिंचि कहिंचि दिवसित्ति। इदानीं योऽसौ आचार्यादीनां वैयावृत्त्यकरः श्राद्धकुलेषु प्रविशति स एभिर्दोषैर्विरहितो नियोक्तव्यः—

अलसं घसिरं सुविरं खमगं कोहमाणमायलोहिल्लं। कोऊहलपडिबद्धं वेयावच्चं न कारिज्जा ॥१३३॥ भा.[2]

१ उव्वेहामि आ.ल २ पा.१-२।

अलसो आलसितो सो वेयावच्चं न कारेयव्वो, जदि कारवेइ असमायारी, सो आलस्सेण ताव अच्छइ जाव फिडिओ देसकालो, ताहे पच्छा सड्डा वि ण किंचि देंति तेण आयरिमाईण विराहणा, अहवा सो अप्पए चयइ कम्म निंसारित[1] होउवि, ताहे तत्थ अकाले वसंतस्स तस्स ते चेव दोसा, अहवा ताणि धम्मसड्डियआणि उस्सक्कणदोसे अवसक्कणदोसे वा करिआ ठवियगदोसा वा, अहवा आयरियनिमित्तं पए वा उस्सूरे वा उवक्खडिआ, एते एवमाइया अलसे दोसा)। घसिरो घडुमक्खणो, सोवि न पट्ठवेयव्वो, सो पढम चेव अप्पणो अट्ठाए हिंडइ पज्जत्त, जाव सो अप्पणो पज्जत्त हिंडइ ताव फिडिआ वेला, अहवा तत्थेव पढम चयइ पच्छा तत्थ य न चेव वेला होइ, ते चेवोस्सक्कणादिआ दोसा, अहवा तत्थ सड्डकुले पमुय गिण्हइ ताहे उग्गमदोसा न मुच्चंति। सुविरो ताव सुयइ जाव फिडिआ भिक्खावेला, अहवा पढम तत्थ गंतु अवेलाए पच्छा सुयइ ते चेव दोसा। खमओ जाव अप्पणो हिंडइ ताहे आयरिआ परितावणादि पावति, अह खमओ पढमओ आयरिआण गिण्हइ ततो अप्पणो परितावणादि पावइ। कोहिल्लो पुव्वलाभाओ फिडितो कसाविओ संतो भणइ-अम्हे अप्पतो लभामः, तपि तुच्छंपवएण न गिण्हामो, अहवा जेण लब्भइ तत्थ भंडइ, अहवा उग्ग पायेण वा खेमेणेण वा तत्थवि रिअं मोचा पत आयोचि। लोभिल्लो अतिरं लभति त सव्वं गिण्हति, एसणं वा लोभेण पेल्लिआ, कोऊहल्लिलो तत्थ नडादि पेच्छइ तत्थ पेच्छतो अच्छइ। पडिबद्धो सो सुत्तत्थेसु जेभितव्वो सो ताव अच्छइ जाव कालवेला जाया एए दोसा सम्हा

1 निस्सारितं आ. पा १। 2 तुच्छपएण क १ पा १-२। 3 तेणमेव पा आ। 4 एए, आ। 5 जहिओ आ।

तम्हा एरिसं साहुं वेयावच्चं न कारिज्जा । कीदृशं पुनः कारयेद्वैयावृत्त्यम् ? इत्यत आह—

एयद्दोसविमुक्कं कडजोगिं नायसीलमायारं । गुरुभत्तिमं विणीयं वेयावच्चं तु कारिज्जा ॥ १३४ ॥ (भा०)

एभिरुक्तदोषैर्विमुक्तं, किं विशिष्टं ? इत्यत आह—'कडजोगि'ति कृतो योगो—घटना ज्ञानदर्शनचारित्रैः सह येन स कृतयोगी गीतार्थ इत्यर्थः तं, पुनरप्यसावेव विशेष्यते—ज्ञातं शीलमाचारश्च यस्य तं वैयावृत्त्यं कारयेत् । गुरौ भक्तिः—भावप्रतिबन्धः विनीतो—बाह्योपचारेण ॥

साहंति अ पिअधम्मा एसणदोसे अभिग्गहविसेसे । एवं तु विहिग्गहणे दव्वं वड्ढंति गीयत्था ॥१३५॥ (भा.)

ते चेव वैयावृत्त्यकराः श्राद्धकुलेषु प्रविष्टाः सन्तः कथयन्ति 'एषणादोषान्' शङ्कितादीन् अभिग्रहविशेषांश्च साधुसंबन्धिनः, कीदृशास्ते वैयावृत्त्यकराः ? प्रियः—इष्टो धर्मो येषां ते प्रियधर्माणः 'एवं' उक्तेन प्रकारेण विधिग्रहणे द्रव्यं घृतादि वृद्धिं नयन्ति अव्यवच्छित्तिलाभेन, के ?—गीतार्थाः । तैश्च गीतार्थैर्भिक्षां गृह्णद्भिः श्राद्धकुलेषु इदं ज्ञातव्यम्—

दव्वपमाणं गणणा खारिअफोडिअ तहेव अद्धा य । संविग्ग एगठाणे अणेगसाहूसु पन्नरस ॥१३६॥ (भा.)

द्रव्यं—गोधूमादि तद्विज्ञेयं कियत्सूपकारशालायां प्रविशति दिने दिने ततश्च तदनुरूपं गृह्णाति, 'गणण'त्ति एतावन्मात्राणि घृतपलादीनि प्रविशन्त्यस्मिन् इत्येतावन्मात्रं च ग्राह्यम् । 'खारिअ'त्ति सलवणानि कानि ?—व्यञ्जनानि—सलवणकरीरादीनि

१ गुरुभत्तिसविणीय आ. पा.१ । २ ज्ञातौ शील° आ. । ३ खेयषा पु । ४ विधिग्रहण द्रष्टव्य, घृतादि आ. । ५ घृतगुडादीनि आ. ।

कियन्ति सन्ति ? इति, ततश्च ज्ञात्वा यथाऽनुरूपाणि गृह्णाति। 'फोडिय'त्ति वाईगणानि मस्थाफोडिआणि किंचिथाणि घरे संजिअति नाऊण जहाणुरूवाणि घेप्पति। तथा 'अद्धा य'त्ति काल उच्यते, किमत्र प्रहरे वेला आहोस्विरप्रहरद्वये पतद्विज्ञातव्य, 'सविग्ग एगठाये'त्ति संविग्नो-मोक्षाभिलाषी 'एगठाणे'त्ति एकः सङ्घाटकः प्रविशति, 'अणेगसाहुसु'त्ति अनेकेषु साधुषु प्रविशत्सु 'पण्णरस'त्ति पञ्चदश दोषा नियमाद्भवन्ति "आहाकम्मुद्देसिय" इत्येवमादयः। अज्झोयरओ मीसजाय च एको भेओ, यस्मादनेकेषु साधुषु दोषास्तस्मात्—

सघाडेगो ठवणाकुलेसु सेसेसु बालवुड्ढाई। तरुणा बाहिरगामे पुच्छा दिट्ठतऽगारीए ॥१३७॥ (भा)

सङ्घाटकः एकः स्थापनाकुलेषु प्रविशति, शेषेषु कुलेषु बालवृद्धाश्च प्रविशन्ति, आदिशब्दात्क्षपकाश्च। तरुणाः—शक्तिमन्तो बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति। 'पुच्छ'त्ति अत्र चोदकः पृच्छति—पूर्वमेव क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं यत्र सबालवृद्धस्य गच्छस्य भक्तपानं पर्याप्त्या भवति तत्रैव स्थीयते तत्कस्मात्तरुणा बहिर्ग्रामे हिण्डन्ति ?, आचार्य आह—'दिट्ठतऽगारीए' अगारी दृष्टान्तो ज्ञातव्यः, त च तृतीयगाथायां भाष्यकारो वक्ष्यति। तथा इयमपरा द्वारगाथा—

पुच्छा गिहिणो चिंता दिट्ठतो तत्थ खुज्जचारीए। आपुच्छिऊण गमण दोसा य इमे अणापुच्छे ॥ २४० ॥

'पुच्छ'त्ति चोदकः पृच्छति, ननु च तस्या अगार्या घृतादिसम्भवः कथं युक्तो मर्षुप्रदत्तवधिमध्यात् येन प्राघूर्णकादेः

१ चिन्तियपि का.। २ मिस्सेयमादरहा क.१-२। ३ तरुण्य का. क.१ [illegible] १-२ पु.। ४ खज्जचोरीए का. घ १-२।

सुखेनैव[1] तेनोपचारः क्रियते, साधूनां च पुनः स्थापनाकुलसंरक्षणे न किञ्चित्प्रयोजनं यतस्तत्र यावन्मात्रस्याहारस्य पाकः क्रियते स[2] सर्वः प्रतिदिवसमुपयुज्यते, न तु तानि कुलानि संचयित्वा साधुप्राघूर्णकागमने सर्वमेकमुखेनैव प्रयच्छन्ति, एवं चोदकेनोक्ते आचार्य आह–'गिहिणो चिंता' गृहिणश्चिन्ता भवति, यदुत एते साधवः प्राघूर्णकाद्यागमने आगच्छन्ति ततश्च एतेभ्यो यत्नेन देयमिति, एवंविधामादरपूर्विकां चिन्तां करोति। यच्चोक्तं तरुणा बहिर्ग्रामे किमति हिण्डन्ति ?, 'दिट्ठंतो तत्थ खुड्डगोरीए' स च दृष्टान्तो वक्ष्यमाणः। 'आपुच्छिऊण गमणं'ति तत्र च बहिर्ग्रामादौ आचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यं, यतः 'दोसा य इमे अणापुच्छे'त्ति दोषा अनापृच्छायामेते च वक्ष्यमाणलक्षणा दोषाः। इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदमेतानि द्वाराणि व्याख्यानयति, तत्र च यदुक्तं दृष्टान्तोऽगार्याः, स उच्यते–एगो वाणिओ परिमिअं भत्तं अप्पणो महिलाए देइ, सा य तैतो[3] नेहाइ दिणे दिणे थोवं थोवं अवणेइ, किं निमित्तं ?, जदा एयस्स अवेलाए मित्तो वा सही वा एँस्सइ[4] तदा किं सक्का आवणाउ आणेउं ?, एवं सवतो संगहं करोति, अण्णया तस्स अवेलाए पाहुणगो आगतो, ताहे सो भणइ–किं कीरउ ? रयणी वट्टइ णीसंचाराओ रत्थाओ, ताहे ताए भणिअं–मा आतुरो होहि, ताहे तस्स पाहुणगस्स उँवक्खडिअं[5], भुंजिउं च गतो तग्गुणसहस्सेहिं वँड्ढंतो[6], भत्तारोऽवि से परितुट्ठो। एवं आयरिआवि ठवणकुलाणि ठविंति, जेण अवेलागयस्स पाहुणयस्स तेहिंतो आणेउं दिज्जइ, तेण तरुणा संतेसु वि कुलेसु बाहिरगामे हिंडंतित्ति। इदाणिं एँस[7] चेव विवरीओ भण्णइ, अण्णो अण्णाए अगारीए परिमिअं देइ,

1 सुखेनैवोपचार आ. ल १–२। 2 तत्सर्वं आ ल २ पा १–२। 3 ततो दिणे आ. ल २। 4 एइस्सइ आ. ल २। 5 उवक्खडिअ, गतो आ. ल.२ पा १–२। 6 वड्ढतो ल १–२। 7 एसिं आ.।

सा य तओ मन्नाओ थोव थोव न गेण्हइ, तओ पाहुणे आगए विसुरचि, अमुमेवार्थं गाथाद्वयेनोपसंहरन्नाह—

परिमिअभत्तपदाणे नेह्यादवहरइ थोव थोव तु। पाहुण वियाल आगम विसन्न आसासणा दाणं ॥१३८॥

परिमितभक्तप्रदाने सति साऽगारी स्नेहादेः-घृतादेरपहरति स्तोकं स्तोकमिति। पुनश्च प्राघूर्णकस्य विकाले आगमने विषण्णोऽगारः, पुनश्च स्त्रिया आश्वासितः 'दाण'ति तया स्त्रिया भक्तपानं दत्तं प्राघूर्णकायेति ॥

एवं पीइविवड्डी विवरीयण्णेण होइ विद्वत्तो। लोउत्तरे विसेसो असंचया जेण समणा उ ॥१३९॥ (भा)

एवं तयोर्दम्पत्योः प्रीतिवृद्धिः संजाता, विपरीतमन्येन प्रकारेण भवति दृष्टान्तः। एवं यदि तावद्गृहस्था अपि सञ्चयपरा भवन्ति-अनागतमेव चिन्तयन्ति, साधुना पुनः कुशिष्यबलेन सुतरामनागतमेव चिन्तनीयं, यदि परं लोकोत्तरेऽयं विशेषः, यदुत निःसञ्चयाः सुतरां चिन्तामाचार्या वहन्तीति। "पुच्छा दिट्ठऽगारीए"त्ति भणियं, इदानीं 'पुच्छा गिहिमो चिंत'त्ति गाथायाः प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

जणलावो परगामे हिंडन्ताऽऽणेंति वसहि इह गामे। दिज्जइ बालाईणं कारणजाए य सुलभं तु ॥१४०॥

पञ्चोदकेन पृष्टमासीद्यदुत-जनानामालापो अनालापो-लोक एवं ब्रवीति, यदुत 'परगामे हिंडन्ताणेंति' परग्रामे हिण्डयित्वाऽऽनयन्ति-भत्र भुञ्जते। 'वसहि इह गामे'त्ति वसतिः केवलमस्मिन् ग्रामे एतेषां साधूनां, ततश्च 'दिज्जइ'त्ति

१ भक्तप्रदाने का। २ स्नेहादि-घृतादि स्तोकं का। ३ प्राघूर्णकस्य प्र.१ पा. १२। ४ विषण्णः स्त्रिया का।

बालादीनां ददध्वम् , आदिशब्दात्प्राघूर्णकादयो गृह्यन्ते, एवंविधां चिन्तां गृहस्थः करोति । ततश्च 'कारणजाते य सुलभं तु'त्ति एवंविधायां चिन्तायां प्राघूर्णकादिकारणे उत्पन्ने घृतादि सुलभं भवतीति । आह–किं पुनः कारणं प्राघूर्णकानां दीयते ?, तथा चायमपरो गुणः—

पाहुणविसेसदाणे निज्जर कित्ती अ इहर विवरीयं । पुव्विं चमढणसिग्गा न देंति संतंपि कज्जेसु॥१४१॥(भा)

प्राघूर्णकाय विशेषदाने सति निर्जरा कर्मक्षयो भवति, इहलोके कीर्तिश्च भवति । 'इहर विवरीयं'ति यदि प्राघूर्णकविशेषदानं न क्रियते ततश्च निर्जराकीर्त्ती न भवतः, एवं च प्राघूर्णकविशेषदानं न भवति, यस्मात् 'पुव्विं चमढणसिग्गा' ततश्च न देंति संतंपि कज्जेसु गिहिणो । चिंत'त्ति वक्खाणिअं, इदानीं कुब्जबदरीदृष्टान्तं व्याख्यानयन्नाह—

गामब्भासे बयरी नीसंदकडुप्फला य खुज्जा य । पक्कामालसडिंभा खायंतितरे गया[1] दूरं॥१४२॥ (भा.)[2]

एगो गामो तत्थ खुज्जबोरी सा य गामणिज्जासेण[3] कडुया तत्थ चेडरूवाणि भणंति वच्चामो बोराणि खामो, तत्थ खुज्जबोरीविलग्गाइं ताणि डिंभरूवाणि तूवरतुवराणि खायंति, न य पज्जत्तीए होइ, अण्णाणि भणंति, किं एएहिं, ताहे अडविं[4] गता तत्थ बोराणि घेणिए[5] खाइऊण सुइरं बहूणि पोट्टलगाइं[6] बंधिऊण आगया सिग्घतरं जाव इमे झाडेंता चेव अच्छंति, न

1 घायति घरे गया दूर आ ल २ । २ इयं गाथा वृत्तिकारेण केन हेतुना भाष्यत्वेन द्विर्व्याख्याता तन्न ज्ञायते । ३ नाम निज्जासेण ल. १. पा १-२ । ४ अडविंगतया तत्थ आ. । ५ घरणीए आ. पा. १ । ६ बहूणि पोट्टलगा आ. ल २ पा. १-२ ।

सिग्घी भाषा, ताहे ते तेसिं अन्नेसिं च दिंति । एवं चेव इमं खेत्तं पमाणियं, एत्थ औपिलक्खणो, त घेत्तूण चेव आगच्छन्ति दिवसं च हिंडियं, एव किलेसो अप्पम च मय होति, जहा ते अणलसपेहा तहा आयपरहिआवहा तरुणा ते बाहिरगामे भिक्खापरियं अवि ताहे अणमहिअमामाओ खीरं दहिमाइयाइं घेत्तूण लहु आगया उग्गमदोसाई य जढा होंति, बालवुड्ढा य अणुकंपिया होंति, वीरियायारो य अणुचिन्नो होइ, तम्हा मतव बाहिरगामे हिंडएहिं तरुणएहिं । इदानीमयमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

गामब्भासे बयरी नीसदकडुप्फला य खुब्भा य । पक्कामालसडिंभा खायतियरे गया दूरं ॥१४३॥ (भा)

सिग्घयर आगमण तेसिमण्णेसिं च देंति सयमेव । खायती एमेव उ आयपरहिआवहा तरुणा ॥१४४॥ भा

खीरदहिमाइयाण लंभो सिग्घतरग च आगमण । पइरिक्क उग्गमाई विजढा अणुकंपिआ इयरे १४५ भा

गामब्भासे बदरी सा च अमनिस्यन्दकटुकफला कुब्जा च, सा च फलिता, तत्र च फलानि 'पक्काम'त्ति पक्कानि च आमानि च पक्कमानि—अर्धपक्कानीत्यर्थः, येऽलसप्रायास्ते भक्षयन्ति । 'इयरे'त्ति अनलसाः—उत्साहवन्तो डिम्भरूपास्ते दूरंगताः । तेषां च शीघ्रतरमागमनं संजात, ततश्च पश्चात् आगत्य 'तेसिं अण्णेसिं च देंति' तेषामलसडिम्भानामन्येषां च ददति स्वयमेव च भक्षयन्ति, एवमेव तरुणा अपि आत्मपरयोर्हितमावहन्तीति आत्मपरहितावहास्तरुणाः, एवं तरुणानां

1 अणुकंपया क. ख. २ । २ निस्सन्दकटुकफला क. ख २ । ३ ये अलसा डिम्भास्ते क पा १–२ ।

क्षीरदध्यादीनां लम्भः शीघ्रतरं चागमनं 'पइरिक'त्ति प्रचुरं लभन्ते, उद्गमादयश्च दोषाः परित्यक्ता भवन्ति, तथाऽनुकम्पिताश्चेतरे–बालादयो भवन्तीति। उक्तः कुब्जबदरीदृष्टान्तः, इदानीं 'आपुच्छिऊण गमणं'ति व्याख्यानयन्नाह—

आपुच्छिअ उग्गाहिअ अण्णं गामं वयं तु वच्चामो। अण्णं च अपज्जत्ते होंति अपुच्छे इमे दोसा ॥१४६भा.

आपृच्छ्य गुरुमुद्ग्राहितपात्रका एवं भणन्ति, यदुत अन्यं ग्रामं वयं व्रजामः, 'अण्णं च अपज्जत्ते'त्ति यदि तस्मिन् ग्रामे पर्याप्त्या न भविष्यति ततस्तस्मादपि ग्रामादन्यं ग्रामं गमिष्यामः। 'आपुच्छिऊण गमणं'ति भणियं, इदानीं 'दोसा य इमे अणापुच्छे'त्ति व्याख्यानयन्नाह, दोषा एतेऽनापृच्छ्य गतानां भवन्ति, के च ते दोषाः? तान् व्याख्यानयन्नाह—

तेणाएसागिलाणे सावय इत्थी नपुंसमुच्छा य। आयरिअबालवुड्ढा सेहा खमगा य परिचत्ता ॥१४७॥भा०

कदाचिदन्यग्रामान्तराले व्रजतां स्तेना भवन्ति, ततश्च तद्ग्रहणे उपधिशरीरापहरणं भवति, आचार्योऽप्यकथिते न जानाति कया दिशा गता इति, ततश्च दुःखेनान्वेषणं करोति। अथवा आएसो–प्राघूर्णक आयातः, ते चानापृच्छ्य गताः, ते य आयरिया एवं भणंता जहा पाहुणयस्स वट्टावेह, अहवा गिलाणपाओग्गं गिण्हह, अहवा अंतराले सावयाणि अत्थि तेहिं भक्खिया होंति, अहवा तत्थ गामे इत्थिदोसा नपुंसगदोसा वा, अहवा मुच्छाए पडेज्जा ताहे न नज्जइ, अपुच्छिए कयराए दिसाए गयत्ति न नज्जति। ततश्चानापृच्छ्य गच्छतां आचार्यबालवृद्धसेहक्षपकाः परित्यक्ता भवन्ति, यत आचार्यादीनां प्रायोग्यमन्नं[1] नानयन्ति अनुक्तत्वात् न च प्रच्छनं कृतं येनोच्यन्ते[2], यत एते दोषाः परित्यागजनितास्तस्मादेतद्दोषभयात्—

---

१ प्रायोग्यमात्रं आ.। २ येनाप्येतें दोषा परित्याजनीयास्तं° ल १।

आयरिए आपुच्छा तस्सादिट्ठे व तमि उ असते । चेइयगिलाणकज्जाइएसु गुरुणो उ निग्गमणं ॥ २४१ ॥

तस्मादाचार्यमापृच्छ्य गन्तव्यम् । यदाचार्यः कथञ्चिन्न भवति ततः 'तस्सदिट्ठे व'त्ति तेनाचार्येण यः संदिष्टः यथा त्वमापृच्छ्य गन्तव्य ततस्तमापृच्छ्य व्रजन्ति । तस्मिन्नसति-आचार्येऽविद्यमाने कचिन्निर्गते, केन पुनः कारणेनाचार्यो निर्गच्छति ? अत आह-'चेइय' चैत्यवन्दनार्थं ग्लानादिकार्येषु गुरोर्निर्गमन भवति । यदाचार्येण गच्छता न कश्चिन्नियुक्तस्ततः ?—

जेमणिए पुव्वनिउत्ते आपुच्छित्ता वयति ते समणा । अणभोगे आसन्ने काइयउच्चारभोमाई ॥ २४२ ॥

यमपि ते वैनियुक्ते कस्मिंश्चिद्विधौ प्रागेव यो नियुक्त आस्ते तमापृच्छ्य व्रजन्ति ते श्रमणा भिक्षार्थं । 'अणभोगे'त्ति अनाभोगेन अत्यन्तविस्मृतिप्रसंगेन गताः तथा 'आसन्ने'त्ति आसन्ने भूमिप्रदेशे यदि स्मृत ततश्च आगत्य पुनः कथयित्वा यान्ति, 'काइय'त्ति कायिकार्थं यो निर्गतः साधुस्तस्मै कथयन्ति, येतुत नयमभुक्त्वा गताः । 'उच्चारभोमादि'त्ति सञ्ज्ञाभूमिं यो गतस्तस्मै कथयन्ति, पतुत कैयनीय ययमभुक्त्वा गता इति, आदिग्रहणात्स्वयपालिकार्थं वा यो गतस्तस्य वा हस्ते संदिशन्ति ।

दवमाइनिग्गय वा सेज्जायर पाहुणं च अप्पाहे । असइ दूरगमोवि य नियत्त इहरा उ ते दोसा ॥२४३॥

ग्रह-पानकं दत्त्वा निर्गतो यः साधुस्तं दृष्ट्वा कथयन्ति 'सेज्जायर पाहुणं च अप्पाहे'त्ति शय्यातरं वा दृष्ट्वा संदिशन्ति प्राघूर्णक

१ वनपंडे ना । २ भव्वइ आ प्र. २ । ३ पूर्वनियुक्तार ना. । ४ "स्मिनेव्वनो नः प्रागेव नियुक्त ना । ५ यथासमभुक्त पा° प्र १ । ६ अनीप्समभुक्त पठ इति ना पा. १-२ । ७ संदिशति पा. १-२ । ८ पतुर्थ नि° ना पा ।

वा–साध्वादिकं दृष्ट्वा संदिशन्ति, यतः कथनीयं मम विस्मृतमिति। यदा त्वेतान् गच्छन्न पश्यति तदा दूरगतः 'विणियत्त'त्ति दूरमपि गतः सन्निवर्त्तते, 'इहरा उ'त्ति यदि न निवर्त्तते ततः 'ते दोस'त्ति ते पूर्वोक्ताः स्तेनादयो दोषाः भवन्तीति ॥

अण्णं गामं च वए इमाइं कज्जाइं तत्थ नाऊणं। तत्थावि अप्पाहणया नियत्तणं वा सई काले ॥ २४४ ॥

अथाऽसौ साधुस्तस्माद् ग्रामादन्यं ग्रामं व्रजेत्, एतानि कार्याणि–वक्ष्यमाणलक्षणानि "दूरट्ठिअखुड्डलए" इत्येवमादीनि 'तत्रे'ति तस्मिन् ग्रामे योऽसावभिप्रेतो 'ज्ञात्वा' विज्ञाय, ततश्च किं कर्त्तव्यमित्यत आह–'तत्रापि' अन्यस्मिन् ग्रामे व्रजता 'अप्पाहणया' संदेशकस्तथैव दातव्यः, अथ कश्चिन्नास्ति यस्य हस्ते संदिश्यते ततो निवर्त्तनं वा क्रियते, कदा?, अत आह–'सति काले' विद्यमाने पहुप्पंति काले ऐतदनुष्ठीयते[1], यदुक्तं एतानि कार्याणि तत्र ज्ञात्वाऽन्यत्र ग्रामे व्रजन्ति तानि प्रदर्शयन्नाह—

दूरट्ठिअखुड्डलए[2] नव भड अगणी य पंत पडिणीए। पाउग्गकालइक्कम एक्कगलंभे अपज्जत्तं ॥ २४५ ॥

प्रथमं गाथार्द्धं सुगमं, एतानि दूरस्थितादीनि[3] कारणानि अर्द्धपथ एव जानाति[4], कदाचिद्दूरतः सन्, तथा 'पाउग्ग'त्ति तत्र ग्रामे प्रायोग्यमाचार्यादीनां न लब्धं ततोऽन्यत्र व्रजति, 'कालातिक्रमो' भिक्षाकालस्यातिक्रमो जातः, एकस्य वा साधोस्तत्र भोजनलम्भः जातस्ततोऽन्यग्रामे व्रजन्ति। 'अपज्जत्तं'ति न वा पर्याप्त्या तत्र भक्तं संजातं अथवा भक्तं लब्धं[5]

---

१ तत्तदनुष्ठीयते आ। २ दूरुट्ठिअ° ल २। ३ दूरोत्थितादीनि ल. १–२ पा १–२। ४ ज्ञातानि आ. ल १–२। ५ लब्ध पानकं वा न लब्ध आ.।

पानक न लभ्य, एभिरनन्तरोक्तैः कारणैरन्यग्राम मग्र वीति ॥

पाउग्गाईणमसई संविग्ग सण्णिमाइ अप्पाहे। जइ य चिर तो इयरे ठविन्तु साहारण भुंजे॥ २४६ ॥

प्रायमो प्रायोग्यादीनां असति अन्यग्राम गच्छति, गच्छंश्च 'संविग्ग'त्ति संविग्न साधु यदि पश्यति ततस्तस्य हस्ते संदिशति, 'सण्णिमाई'त्ति संज्ञी-श्रावकस्तस्य हस्ते संदिशत्यन्यस्य वा हस्ते, आदिशब्दात् पूर्ववच्छेषम्। एवं तावद्भिक्षामटतां विधिरुक्तः, ये पुनरमतो तिष्ठन्ति साधवस्तैः किं कर्तव्यमित्यत आह–'जइ य चिरं' यदि च चिरं तेषां ग्राम गतानां तत इतरे–वसतिनिवासिनः साधवः 'ठविन्तु साहारण' यदुच्छसाधारण विशिष्ट किञ्चित्तस्थापयित्वा शेषमपरं प्रान्तप्राय भुञ्जते। अथ यथापि विरयन्ति ततः—

जाए दिसाए उ गया भत्तं घित्तु तओ पडियरंति। अणपुच्छिनिग्गयाणं चउद्दिसिं होइ पडियरणा॥२४७

'जाए दिसाए उ गया' यया दिशा भिक्षाटनार्थं गतास्तया दिशा गृहीतभक्तपानकाः साधवः 'पडियरंति'त्ति प्रतिजागरणा-निरूपणां कुर्वन्ति, अथ तु ते भिक्षाटका अनाभोगेनाकथयित्वैव गतास्ततः किं कर्तव्यमित्यत आह–अनापृच्छ्य निर्गतानां भिक्षाटकानां चतसृष्वपि दिक्षु 'प्रतिजागरणं' निरूपणं कर्तव्यं साधुभिः। प्रतिजागरणगमनविधिः कः?,—

पंथेणेगो दो उप्पहेण सद् करेंति अच्छंता। अक्खपरिसाडणया पडियरणिअरेसिं मग्गेण ॥ २४८ ॥

१ पर्हेषत भा. प १।

'पथा' मार्गेण प्रसिद्धेन एकः साधुः प्रयाति, द्वौ साधू 'उत्पथेन' उन्मार्गेण व्रजतः, वर्त्तन्या एक एकया दिशाऽन्यश्चाऽन्यया, ते च त्रयोऽपि व्रजन्तः शब्दं कुर्वन्ति, ते च व्रजन्तः स्तेनादिना गृहीताः सन्तः साधवः किं कुर्वन्तीत्यत आह—'अक्खर' त्ति वर्त्तन्यामक्षराणि लिखन्तः पादादिना व्रजन्ति, 'परिसाडणय'त्ति परिशात(ट)नं वस्त्रादेः कुर्वन्तो व्रजन्ति येन कश्चित्तेन मार्गेणान्विषति। 'पडियरणिअरेसिं'ति इतरेषामन्वेषणार्थं निर्गतानां साधूनां मार्गेण तत्कृतेन चिह्नेन प्रतिजागरणं कर्त्तव्यम् ॥

गामे व गंतुं पुच्छे घरपरिवाडीए जत्थ उ न दिट्ठा। तत्थेव बोलकरणं पिंडियजणसाहणं चेव ॥२४९॥

यदा तु पुनस्तेषां स्तेननीतानां चिह्नं न किञ्चित्पश्यति तदाऽपि ग्राममेव गत्वा पृच्छति, कथं ?, गृहपरिपाट्या, 'जत्थ उ न दिट्ठ'त्ति यत्र न दृष्टास्तस्मिन् ग्रामे, न च तद्ग्रामनिर्गतानां वार्त्ता, तत्रैव 'बोलकरणं'ति रोलं कुर्वन्ति, पश्चाच्च 'पिंडियजनसाहणं' पिण्डितो–मिलितो यो जनस्तस्य कथनीयं यदुत अस्मिन् ग्रामे प्रव्रजिता भिक्षार्थं प्रविष्टाः न च तेषां पुनरस्माद् ग्रामाद्वार्त्ता श्रुतेति। एवं तैस्तरुणैरन्यग्रामेऽटद्भिरेतच्च कृतं भवति—

एवं उग्गमदोसा विजढा पइरिक्कया अणोमाणं। मोहातिगिच्छा अ कया विरियायारो य अणुचिण्णो॥२५०

'एवं' अन्यग्रामे भिक्षाटनेन 'उद्गमदोषाः' आधाकर्मादयः 'विजढा' परित्यक्ता भवन्ति, 'पइरिक्कय'त्ति प्रचुरस्य भक्तादेर्लाभो भवति 'अणोमाणं'ति न वा 'अपमानं' अनादरकृतं भवति लोके, तथा मोहचिकित्सा च कृता भवति, श्रमातपवैया—

१ नीयमानाः साधव आ. पा. १२।

पानक न लब्ध, एभिरनन्तरोक्तैः कारणैरन्यग्राम गमन्तीति ॥

पाउग्गाईणमसई संविग्ग सण्णिमाइ अप्पाहे । जइ य चिर तो इयरे ठविंतु साहारण भुंजे ॥ २४६ ॥

प्रथमतो प्रायोग्यादीनां असति अन्यग्राम व्रजति, गच्छंश्च 'संविग्गं'ति संविग्न साधु यदि पश्यति ततस्तस्य हस्ते संदिशति, 'सण्णिमाइ'त्ति संज्ञी-श्रावकस्तस्य हस्ते संदिशत्यन्यस्य वा हस्ते, आदिग्रहणात् पूर्ववच्छेषम् । एव यावद्भिक्षाटका विधिरुक्तः, ये पुनवसतौ तिष्ठन्ति साधवस्तैः किं कर्तव्यमित्यत आह-'जइ य चिरं' यदि च चिरं तेषां ग्रामं गतानां तत इतरे-वसतिनिवासिनः साधवः 'ठविंतु साहारणं' यद्गच्छसाधारण विशिष्ट किञ्चित्तत्स्थापयित्वा शेषंमपरं प्रान्तप्राय भुञ्जते । अथ तथाऽपि चिरयन्ति ततः—

जाए दिसाए उ गया भत्तं घित्तुं तओ पडियरंति । अणपुच्छिनिग्गयाणं चउद्दिसिं होइ पडियरणा ॥ २४७ ॥

'जाए दिसाए उ गया' यया दिशा भिक्षाटनार्थं गतास्तया दिशा गृहीतभक्तपानकाः साधवः 'पडियरंति'त्ति प्रतिजागरणां-निरूपणां कुर्वन्ति, अथ तु ते भिक्षाटका अनाभोगेनाकथयित्वैव गतास्ततः किं कर्तव्यमित्यत आह-अनापृच्छ्य निर्गतानां भिक्षाटकानां चतसृष्वपि दिक्षु 'प्रतिजागरणा' निरूपणं कर्तव्यं साधुभिः । प्रतिजागरणगमनविधिः कः ?,—

पएणेगो दो उप्पहेण सद्दं करेंति वच्चंता । अक्खरपरिसाडणया पडियरणिआ रेसिं मग्गेण ॥ २४८ ॥

१ परिशिष्ट ना पा १ ।

चोयगवयणं अप्पाणुकंपिओ ते अ भे परिचत्ता । आयरियणुकंपाए परलोओ इह पसंसणया ॥१४८॥भा.

चोदकस्य वचनं चोदकवचनं, किं तद् ?, आत्मैवैवमनुकम्पित आचार्येण, ते च भे भवता परित्यक्ता भवन्ति । आचार्योऽप्याह–आचार्यानुकम्पया परलोको भवति इहलोके च प्रशंसा भवति । 'अणुकंपा आयरियाई' वक्खाणिअं, इदानीं 'दोस'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

एवंपि अ परिचत्ता काले खवणे अ असहुपुरिसे य । कालो गिम्हो उ भवे खमगो वा पढमबिइएहिं।१४९।

चोदकः पुनरप्याह–एवमपि ते परित्यक्ता एव, यतः क्षुधादिना बाध्यन्ते, आचार्योऽप्याह–'काले'त्ति काले–उष्णकाले करोति 'खवणे'त्ति क्षपको यदि भवति ततः स करोति प्रथमालिकामसहिष्णुश्च पुरुषो यदि भवति ततः स करोति प्रथमालिकां, तत्र कालो ग्रीष्मो यदि भवेत्पुरुषः क्षपको यदि भवति, 'पढमबिइएहिं'ति अत्र पुरुषः असहिष्णुः केन कारणेन भवति ?–'पढमे'त्ति प्रथमपरीषहेण बाध्यमानः, क्षुधित इत्यर्थः, 'बितिएहिं'ति द्वितीयपरीषहेण–तृषा बाध्यमानः, पिपासया बाध्यमानोऽसहिष्णुर्भवतीति । अत्राह परः—

जइ एवं संसट्ठं अप्पत्ते दोसिणाइणं गहणं । लंबणभिक्खा दुविहा जहण्णमुक्कोस तिअपणए।१५०।भा.

यद्येवमसौ बाह्यत एव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तं संसृष्टं कृतं भवति, आचार्योऽप्याह–'अप्पत्ते दोसिणादिणं गहणं' अप्राप्तायामेव भिक्षावेलायां पर्युषितान्नग्रहणं कृत्वा प्रथमालयति, कियत्प्रमाणां पुनः प्रथमालिकां करोत्यसौ ?, द्विविधा

२०

श्म्यादिमिर्मोऽस्य निग्रहः कृतो भवति-ममक्षमो वधो न भवतीति, 'विरियायारो य' वीर्याचारश्च 'अनुचीर्णः' अनुष्ठितो भवति । एवमुक्ते सति चोदक आह—

अणुकंपायरियाई दोसा पइरिक्कजयणसंसट्ठ । पुरिसे काले खमणे पढमालिय तीसु ठाणेसु ॥२५१॥

सत्यमाचार्यादयोऽनुकम्पिता भवन्ति, किन्तु ये एव दुमकाः परित्यक्ता भवन्ति, आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येन प्रत्युत्तर ददाति कथम्-'अणुकंपायरियाई'त्ति एवमाचार्यादीनामनुकम्पा, तयाऽनुकम्पया त एव परलोके इहलोके चानुकम्पिता भवन्ति यत एव परलोके निर्जरा इहलोके च प्रशंसा, पुनरप्याह परः-'दोसा' इति भवतु नाम परलोका (आचार्या) नुकम्पादि किन्तु सुस्थिता च तवस्यैव, आचार्योऽप्याह-क्रियत एव प्रथमालिका, किन्तु त्रिषु स्थानेषु, कानि च तानि ?, अत आह 'पुरिसे' त्ति पुरुषः किं सहिष्णुरुत असहिष्णुः ?, पुरुषो यद्यसहिष्णुस्ततः करोति, काले-उष्णकालादौ, यद्युष्णकालस्ततः करोति, 'खवणे'त्ति कृताविस्मपको भवति अक्षपको वा, यदि क्षपकस्ततः करोति, एवमेतेषु त्रिषु स्थानकेषु प्रथमालिकां करोति, क्व करोति ? कथं वा करोति ? अत आह-'पतिरिक्कजयण'त्ति प्रविविक्ते—एकान्ते यतनया करोति, पुनरप्याह परः-आचार्या दीनां तेन तक्रस्य संसृष्ट एव भवति, आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति-'पतिरिक्कजयणसंसट्ठं' एकान्ते यतनयाऽसंसृष्ट च यथा भवति तथा प्रथमालियत्ति-मात्रके पृथगाकृष्य सृष्टे हस्तेन वा द्वितीयहस्ते कृत्वा, अकारप्रश्लेष आचार्यवाक्ये द्रष्टव्यः । इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह, तत्र प्रथमावयवं व्याख्यानयन्नाह—

१ त एव द्रुमकाः आ. । २ यत एव आ. प.१-२ । ३ 'पुरुषः असहिष्णुः पुरुषो आ. । ४ आचार्योऽप्यनेनैव वाक्येनोत्तरं ददाति, कथं आ ।

चोयगवयणं अप्पाणुकंपिओ ते अ भे परिच्चत्ता। आयरियणुकंपाए परलोओ इह पसंसणया ॥१४८॥भा.

चोदकस्य वचनं चोदकवचनं, किं तद् ?, आत्मैवैवमनुकम्पित आचार्येण, ते च भे भवता परित्यक्ता भवन्ति। आचार्योऽप्याह–आचार्यानुकम्पया परलोको भवति इहलोके च प्रशंसा भवति। 'अणुकंपा आयरियाई' वक्खाणिअं, इदानीं 'दोस'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

एवंपि अ परिच्चत्ता काले खवणे अ असहुपुरिसे य। कालो गिम्हो उ भवे खमगो वा पढमबिइएहिं।१४९।

चोदकः पुनरप्याह–एवमपि ते परित्यक्ता एव, यतः क्षुधादिना बाध्यन्ते, आचार्योऽप्याह–'काले'त्ति काले–उष्णकाले करोति 'खवणे'त्ति क्षपको यदि भवति ततः स करोति प्रथमालिकामसहिष्णुश्च पुरुषो यदि भवति ततः स करोति प्रथमालिकां, तत्र कालो ग्रीष्मो यदि भवेत्पुरुषः क्षपको यदि भवति, 'पढमबिइएहिं'ति अत्र पुरुषः असहिष्णुः केन कारणेन भवति ?–'पढमे'त्ति प्रथमपरीषहेण बाध्यमानः, क्षुधित इत्यर्थः, 'बितिएहिं'ति द्वितीयपरीषहेण–तृषा बाध्यमानः, पिपासया बाध्यमानोऽसहिष्णुर्भवतीति। अत्राह परः—

जइ एवं संसट्ठं अप्पत्ते दोसिणाइणं गहणं। लंबणभिक्खा दुविहा जहण्णमुक्कोस तिअपणए।१५०।भा.

यद्येवमसौ बाह्यत एव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तं संसृष्टं कृतं भवति, आचार्योऽप्याह–'अप्पत्ते दोसिणादिणं गहणं' अप्राप्तायामेव भिक्षावेलायां पर्युषितान्नग्रहणं कृत्वा प्रथमालयति, कियत्प्रमाणां पुनः प्रथमालिकां करोत्यसौ ?, द्विविधा

प्रथमालिका भवति-'नवयभिक्खा दुविहा' उच्यते –कवलैर्भिक्षाभिश्च द्विविधा प्रथमालिका भवति, इदानीं जघन्योत्कृष्टतः प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह–'जहन्नमुक्कोस तिअपणए' यथासङ्ख्येन जघन्यतस्त्रयः कवलास्तिस्रो वा भिक्षाः, उत्कृष्टतः पञ्च कवलाः पञ्च वा भिक्षाः। इदानीं तेन सङ्घाटकेन किं वस्तु केषु पात्रकेषु गृह्यते ? का वा प्रथमालिकाकरणे यतना क्रियते ?, एतत्प्रतिपादयन्नाह–

एगत्थ होइ भत्तं बिइयंमि पडिग्गहे दव होइ। पाउग्गायरियाई मत्ते बिइए उ संसत्तं ॥ २५२ ॥

एकस्मिन् पात्रके भक्तं गृह्णाति द्वितीये च पतद्ग्रहे द्रवं भवति। तथा 'पाउग्गायरियाई मत्ते'त्ति प्रायोग्यमाचार्यादीनामेकस्मिन् मात्रके भक्तं गृह्यते 'बितिए उ संसत्तं' द्वितीये मात्रके संसक्तं किञ्चित्पानकं गृह्यते ॥

जइ रित्तो तो दवमत्तगंमि पढमालियाए करणं तु। संसत्तगहण दवदुल्लहे य तत्थेव जं पत्तं ॥२५३॥

यदि रिक्तः संसक्तद्रवमात्रकस्ततस्तस्मिन् प्रथमालिकायाः करणं 'संसत्तगहणे'त्ति, अथ तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्तद्रवग्रहणं कृतं ततस्तत्रैव पात्रके पतद्ग्राह्ये समुद्दे। 'दवदुल्लहे य'त्ति अथवा दुर्लभं पानकं तत्र क्षेत्रे ततश्च तत्रापि संसक्तमायुक्तं पानकेनाचमितं मलि 'तत्थेव'त्ति तस्मिन्नेव भक्तपतद्ग्रहे तत्प्राप्तं तदहस्तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति। एवं चासौ सङ्घाटकः प्रथमालिकां करोति—

1 ओघनि. भा. च २।

अंतरपल्लीगहिअं पढमागहियं व सव्व भुंजेज्जा । धुवलंभो संखडीयं व जं गहिअं दोसिणं वावि ॥२५४

अन्तरपल्ली–तस्माद्ग्रामात्परतो योऽन्य आसन्नग्रामस्तत्र यद्गृहीतं तद्भुङ्क्ते, पुनस्तत्क्षेत्रातिक्रान्तत्वादभोज्यं भवति, पढमागहिअं व'त्ति प्रथमायां वा पौरुष्यां यद्गृहीतं तत्सर्वं भुङ्क्ते तृतीयायां पौरुष्यामकल्प्यं यतस्तद्भवति । 'धुवलंभो संखडीयं व' अथवा ध्रुवो वाऽवश्यंभावी–अत्र सङ्खड्यां लाभो भविष्यतीति मत्वा, ततश्च यद्गृहीतं 'दोसिणं वावि' पर्युषितमन्नं तत्सर्वं भुञ्जते ॥

दरहिंडिए व भाणं भरियं भोच्चा पुणोवि हिंडिज्जा । कालो वाऽइक्कमई भुंजेज्जा अंतरा सव्वं ॥२५५॥

अर्द्धहिण्डिते वा यत्पात्रकं गृहीतं तद्भृतं, ततश्च तद्भुक्त्वा पुनरपि हिण्डेत । 'कालो वाऽतिक्कमति'त्ति भोजनकालो वा प्रव्रजितानामतिक्रामति यावदसौ तद्भक्तं गृहीत्वा गच्छति ततश्चान्तराल एव तत्सर्वं भुक्त्वा प्रविशति ।

एसो विही भणिओ तंमि वसंताण होइ खित्तंमि । पडिलेहणंपि एत्तो वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥२५६

एष विधिः 'भणितः' उक्तस्तस्मिन् क्षेत्र वसतां भवति, प्रतिलेखनामपीत ऊर्ध्वं वक्ष्ये, किं विशिष्टाम् ?–अल्पाक्षरां महार्थां चेति । उक्तं स्थानस्थितद्वारं, तत्प्रतिपादनाच्च व्याख्यातेयं गाथा, यदुत "संगार बितिय वसही ततिए सण्णी" इत्येवमादिका, तत्प्रतिपादनांचोक्ता 'जतमाणा विहरंता ओहाणाहिंडका चउद्ध'त्ति, तत्प्रतिपादनाच्चोक्ता अनेके प्रत्युपेक्षकाः,

१ °च्चोक्ता अनेके आ. ।

प्रथमालिका भवति-'लयमभिग्रसा तृतिया' लम्बनैः-कवलैर्भिक्षाभिश्च त्रिविधा प्रथमालिका भवति, इदानीं जघन्योत्कृष्टतः प्रमाण प्रतिपादयन्नाह-'जहन्नुक्कोस विभयणए' यथासङ्ख्येन जघन्यतस्त्रयः कवलास्तिस्रो वा भिक्षाः, उत्कृष्टतः पञ्च कवलाः पञ्च वा भिक्षाः। इदानीं तेन सङ्घाटकेन किं वस्तु केषु पात्रकेषु गृह्यते ? का वा प्रथमालिकाकरणे यतना क्रियते ?, एतत्प्रतिपादयन्नाह—

एगत्थ होइ भत्तं बिइअंमि पडिग्गहे दवं होइ। पाउग्गायरियाई भत्ते बिइए उ संसत्तं ॥ २५२ ॥

एकस्मिन् पात्रके भक्तं गृह्णाति द्वितीये च पतद्ग्रहे द्रवं भवति। तथा 'पाउग्गायरियाई भत्ते'त्ति प्रायोग्यमाचार्यादीनामेकस्मिन् मात्रके भक्तं गृह्यते 'बिइए उ संसत्त' द्वितीये मात्रके संसक्तं किञ्चित्पानकं गृह्यते ॥

जइ रित्तो तो दवमत्तगंमि पढमालियाए करण तु। संसत्तगहण दवदुल्लहे य तत्थेव जं पत्तं ॥२५३॥

यदि रिक्तः भक्तद्रवमात्रकस्ततस्तस्मिन् प्रथमालिकायाः करणं 'संसत्तगहणे'त्ति, अथ तस्मिन् प्रथममात्रके संसक्तद्रवं गृहीतं ततस्तत्रैव पात्रके प्रथमालिकां कुर्यात्। 'दवदुल्लहे य'त्ति अथवा दुर्लभं पानकं तत्र क्षेत्रे ततश्च तत्रापि संसक्तमात्रके पानकेनाधमित्रं भवति 'तत्थेव'त्ति तस्मिन्नेव भक्तपतद्ग्रहे यत्प्राप्तं तदसौ तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा सङ्घाटकः प्रथमालिकां करोति—

1 संघाटक० ल० च २।

संसज्जइ धुवमेअं अपेहिअं तेण पुव पडिलेहे । पडिलेहिअंपि संसज्जइत्ति संसत्तमेव जिणा ॥ २५९ ॥

'संसज्यते' प्राणिभिः सह संसर्गमुपयाति 'ध्रुवं' अवश्यं 'एतत्' वस्त्रादि अप्रत्युपेक्षितं सत् तेन पूर्वमेव केवलिनः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, यदा तु पुनरेवं संविद्रते–इदमिदानीं वस्त्रादि प्रत्युपेक्षितमपि उपभोगकाले संसज्यते तदा 'संसत्तमेव जिण'त्ति संसक्तमेव 'जिनाः' केवलिनः प्रत्युपेक्षन्ते न त्वनागतमेव, पलिमन्थदोषात् । उक्ता केवलिद्रव्यप्रत्युपेक्षणा, इदानीं केवलिन एव भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

नाऊण वेयणिज्जं अइबहुअं आउअं च थोवागं। कम्मं पडिलेहेउं वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥ २६० ॥

ज्ञात्वा 'वेदनीयं' कर्म अतिप्रभूतं तथाऽऽयुष्कं च स्तोकं कर्म 'प्रत्युपेक्ष्य' ज्ञात्वेत्यर्थः । किमित्यत आह 'वच्चंति जिणा समुग्घायं' 'जिनाः' केवलिनः समुद्घातं व्रजन्ति, अत्र च भावः–कर्मण उदयः औदयिको भाव इत्यर्थः । उक्ता केवलिभावप्रत्युपेक्षणा, इदानीं छद्मस्थद्रव्यप्रत्युपेक्षणामाह—

संसत्तमसंसत्ता छउमत्थाणं तु होइ पडिलेहा। चोयग जह आरक्खी हिंडिताहिंडिया चेव[1] ॥ २६१ ॥

'संसत्त'त्ति संसक्तद्रव्यविषया 'असंसत्त'ति असंसक्तद्रव्यविषया च छद्मस्थानां भवति प्रत्युपेक्षणा, अत्र चोदक आह–युक्तं तावत् संसक्तवस्त्रादेः प्रत्युपेक्षणां[2] कर्त्तुं, असंसक्तस्य तु कस्मात् प्रत्युपेक्षणा क्रियते ?, आचार्य आह–यथा आरक्षकयो-[3]

---

१ तहओ ल १–२ । २ प्रत्युपेक्षणाकरण आ । ३ आरक्षिकयोर्हिण्डताहिण्डतयो° ल. १ ।

यस्मिन्प्रतिपादनायोक्तं प्रत्युपेक्षणाद्वारमिति, तत्र यदुक्तम्-"पढो, पडिलेहण वोच्छं" तामिदानीं व्याख्यानयन्नाह—

दुविहा खलु पडिलेहा छउमत्थाण च केवलीण च । अब्भिंतर बाहिरिआ दुविहा दव्वे य भावे य ॥ २५७ ॥

द्विविधा प्रत्युपेक्षणा भवति, कथमेन द्वैविध्येनेत्यत आह-छद्मस्थानां संबन्धिनी केवलिनां च, सा चैकैका द्विविधा अभ्यन्तरा बाह्या च । याऽसौ छद्मस्थानां सा द्विविधा-अभ्यन्तरा बाह्या च, याऽपि केवलिनां साऽपि अभ्यन्तरा बाह्या च । 'दव्वे य भावे य'त्ति याऽसौ बाह्या प्रत्युपेक्षणा सा द्रव्यविषया, याऽप्यसौ अभ्यन्तरा सा भावविषयेति । तत्र केवलिप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

पाणेहि उ संसत्ता पडिलेहा होइ केवलीण तु । संसत्तमसंसत्ता छउमत्थाण तु पडिलेहा ॥ २५८ ॥

प्राणिभिः संसक्तं यद्द्रव्यं तद्विषया प्रत्युपेक्षणा भवति केवलिनां, 'संसत्तमसंसत्त'त्ति संसक्तद्रव्यविषया तथा असंसक्तद्रव्यविषया च छद्मस्थानां प्रत्युपेक्षणा भवतीति । आह-'यथोपन्यासस्तथा निर्देश' इति न्यायात्प्रथमं छद्मस्थानां व्याख्यातुं युक्तं पश्चात्केवलिनामिति, उच्यते, प्रधानत्वात्केवलिनो प्रथमं व्याख्या [redacted] पश्चाच्छद्मस्थानामिति, आह-तत्कथं प्रथममेवैवमुपन्यासो न कृतः ? उच्यते, तत्पूर्वकाः केवलिनो भवन्तीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमिति ॥ अनेन वा कारणेन केवलिनः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्तीति प्रतिपादयन्नाह—

१ [illegible] च केवलिनो भा । २ 'कृत' ? इति, उच्यते भा पा १-२ ।

संसज्जइ धुवमेअं अपेहिअं तेण पुव्व पडिलेहे । पडिलेहिअंपि संसज्जइत्ति संसत्तमेव जिणा ॥ २५९ ॥

'संसज्यते' प्राणिभिः सह संसर्गमुपयाति 'ध्रुवं' अवश्यं 'एतत्' वस्त्रादि अप्रत्युपेक्षितं सत् तेन पूर्वमेव केवलिनः प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ति, यदा तु पुनरेवं संविद्रते–इदमिदानीं वस्त्रादि प्रत्युपेक्षितमपि उपभोगकाले संसज्यते तदा 'संसत्तमेव जिण'त्ति संसक्तमेव 'जिनाः' केवलिनः प्रत्युपेक्षन्ते न त्वनागतमेव, पलिमन्थदोषात् । उक्ता केवलिद्रव्यप्रत्युपेक्षणा, इदानीं केवलिन एव भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

नाऊण वेयणिज्जं अइबहुअं आउअं च थोवागं । कम्मं पडिलेहेउं वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥ २६० ॥

ज्ञात्वा 'वेदनीयं' कर्म अतिप्रभूतं तथाऽऽयुष्कं च स्तोकं कर्म 'प्रत्युपेक्ष्य' ज्ञात्वेत्यर्थः । किमित्यत आह 'वच्चंति जिणा समुग्घायं' 'जिनाः' केवलिनः समुद्घातं व्रजन्ति, अत्र च भावः–कर्मण उदयः औदयिको भाव इत्यर्थः । उक्ता केवलिभावप्रत्युपेक्षणा, इदानीं छद्मस्थद्रव्यप्रत्युपेक्षणामाह—

संसत्तमसंसत्ता छउमत्थाणं तु होइ पडिलेहा । चोयग जह आरक्खी हिंडिताहिंडिया चेव[1] ॥ २६१ ॥

'संसत्त'त्ति संसक्तद्रव्यविषया 'असंसत्त'ति असंसक्तद्रव्यविषया च छद्मस्थानां भवति प्रत्युपेक्षणा, अत्र चोदक आह–युक्तं तावत् संसक्तवस्त्रादेः प्रत्युपेक्षणां[2] कर्तुं, असंसक्तस्य तु कस्मात् प्रत्युपेक्षणा क्रियते ?, आचार्य आह–यथा आरक्षकयो-[3]

१ तहओ ल १–२ । २ प्रत्युपेक्षणाकरण आ । ३ 'आरक्षिकयोर्हिण्डताहिण्डतयो°' ल. १ ।

हिण्डिताहिण्डितयोर्यथासङ्ख्येन प्रमादविनाशौ संजातो तथाऽऽपि प्रदर्श्य, तथाहि–किंचिणगरं, तत्थ राया, तेने चोरनिग्गहत्थ आरक्खिओ ठविओ, सो एग दिवसं हिंडइ बिइए तइएवि एवं हिंडतो चोरं न किंचि पासति ताहे ठिओ निविण्णो, चोरेहिं आगमिअं जहा वीसत्थो जाओ आरक्खिओ, ताहे एक्कदिवसेण सव्वं नगरं मुट्ठं, ताहे नागरा रायसमुवट्ठिआ मुट्ठा, तो राया भणइ–वाहरह आरक्खिअं, वाहिया पुच्छिओ–किं तुमए अज्ज हिंडिअं नगरे ?, सो भणति–न हिंडिअंति, ताहे रुट्ठो राया भणइ–जइ नाम इत्तिए दिवसे चोरेहिं न मुट्ठं सो ताव चेव गुणो, तए पुण पमाय करितेण मुसाविअं, ततो सो निग्गहिओ राइणा, अण्णो य ठविओ सो पुण जइवि न दिक्खति चोरे तहवि रत्तिं सयलं हिंडति। अह तत्थ एगदिवसे अण्णरत्थाए गयं नाऊण चोरेहिं खत्तं खणिअं, सो य नागरओ रायउले उवट्ठिओ, राइणा पुच्छिओ आरक्खिओ–जहा तुम किं हिंडसि ?, सो भणइ आम हिंडामि, ताहे राइणा लोगो पुच्छिओ भणइ–आम हिंडइत्ति, ताहे सो निद्दोसो कीरति। एव चेव रायत्थाणिया तित्थयरा आरक्खिअत्थाणिआ साहू उवगरणं नगरत्थाणिअं कुप्पकीचियत्थाणिया चोरा पाणदसणचारित्ताणि हिरण्णत्थाणियाणि संसारो दंडो। एवं कयावि आयरिएण भणितो सीसो दिवसे दिवसे पडिलेहइ, जाहे न पेच्छइ ताहे न पडिलेहइ, एवं छस्स अपडिलेहतस्स सो संसओ उवरी न सक्को सोहेउ, ततो तेण तित्थयराणाभंगो कतो, तं च दव अपरिभोग जाय, एव अण्णो भणितो, तेण य सव्व कय तित्थयराणा य कया, तेत्थ च परिभोग जाय॥ अमुमेवार्थमुपसंहरन्नाह–

१ तत्थ पा. १-२-मु. । २ नागरगा उवट्ठिआ मुट्ठा भा प १-२ । ३ अज्जाहिंडिअं नगरे ? भा । ४ पडुविओ भा । ५ एवं परिमोगं ● १-२ । ६ सव्वं मासमपुत्र भा. पा. १-२ ।

तित्थयरा रायाणो साहू आरक्खि भंडगं च पुरं । तेणसरिसा य पाणा तिगं च रयणा भवो दंडो ॥

सुगमा ॥ उक्ता छद्मस्थविषया द्रव्यप्रत्युपेक्षणा ॥ इदानीं भावप्रत्युपेक्षणां प्रतिपादयन्नाह—

किं कय किं वा सेसं किं करणिज्जं तवं च न करेमि । पुव्वावरत्तकाले जागरओ भावपडिलेहा ॥२६३॥

सुगमा ॥ नवरं 'पुव्वावरत्तकाले'त्ति पूर्वरात्रकाले रात्रिप्रहरद्वयस्याद्यस्यान्तः उपरिष्टादपररात्रकालस्तस्मिन् जाग्रतः—चिन्तयतः। एवमुक्ता छद्मस्थविषया भावप्रत्युपेक्षणा, तद्भणनाच्च भणिता प्रत्युपेक्षणा, इदानीं प्रत्युपेक्षणीयमुच्यते, तत्प्रतिपादयन्नाह—

ठाणे उवगरणे या थंडिलअवट्ठंभमग्गपडिलेहा[1] । किंमाई पडिलेहा पुव्वण्हे चेव अवरण्हे ॥ २६४ ॥

'स्थानं' कायोत्सर्गादि त्रिविधं वक्ष्यति, तथा 'उपकरणं' पात्रकादि 'स्थण्डिलं' यत्र कायिकादि क्रियते, अवष्टम्भनं अवष्टम्भस्तत्प्रत्युपेक्षणा 'मार्गः' पन्था, यदेतत्पञ्चकमुपन्यस्तम्, एतद्विषया प्रत्युपेक्षणा भवति । 'किंमाई पडिलेहा पुव्वण्हे' किमादिका प्रत्युपेक्षणा पूर्वाह्णे ?, मुखवस्त्रिकादिकेति, अपराह्णे किमादिका ?, तत्रापि मुखवस्त्रिकादिका । द्वारगाथेयं, इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्र सामान्येन तावत्सर्वाण्येव द्वाराणि व्याख्यानयन्नाह—

ठाणनिसीयतुयट्टणउवगरणाईण गहणनिक्खेवे । पुव्वं पडिलेहे चक्खुणा उ पच्छा पमज्जिज्जा ॥१५१॥ भा.

स्थानं—कायोत्सर्गस्तं कुर्वन् प्रथमं चक्षुषा प्रत्युपेक्षते पश्चात्प्रमार्जयति, तथा निषीदनम्—उपवेशनं, त्वग्वर्त्तनं—स्वपनं,

1 °उवथभमग्ग° आ. पा १–२ ।

तथोपकरणादीनां ग्रहणे निक्षेपे च, आविर्ग्रहणास्थण्डिलमवष्टम्भश्च गृह्यते, एतानि सर्वाण्येव पूर्वं चक्षुषा-प्रत्युपेक्ष्य पश्चाद्रजोहरणेन प्रमृज्यन्ते ॥ इदानीमेतामेव द्वारगाथां विक्षेपेण व्याख्यानयन्नाह—

उड्डनिसीयतुयट्टण ठाण तिविहं तु होइ नायव्वं । उड्ड उच्चाराई गुरुमूलपडिक्कमागम्म ॥१५२॥ (भा)

तत्र स्थानं त्रिविधं ज्ञातव्यं—ऊर्ध्वस्थानं निषीदनस्थानं त्वग्वर्तनस्थानं च, तत्राद्यमूर्ध्वस्थानं व्याख्यानयन्नाह—'उड्ड उच्चाराई' ऊर्ध्वस्थानकं कायोत्सर्गः, स च उच्चारादीन् कृत्वा, आविर्ग्रहणासमर्पणं कृत्वा, ततश्च गुरुमूले आगत्य प्रतिक्रामतः, काम् ?—ईर्यापथिकां प्रतिक्रामतो भवति ऊर्ध्वस्थानम् ॥

पक्खे उस्सासाई पुरतो अविणीय मग्गओ वाऊ । निक्खमपवेसवज्जण भावासण्णे गिलाणाई ॥१५३ भा

कायोत्सर्गं च कुर्वता भावायपक्षके—पक्षप्रदेशे न स्थातव्यं यतो गुरुरुच्छ्वासेनाभिहन्यते, नापि पुरतः स्थातव्यं, यत पुरतोऽविनीतत्वमुपजायते गुरुमाच्छाद्य तिष्ठतः, नापि मार्गतो—गुरोः पृष्ठतो यतो गुरोरधोवायुनिरोधेन ग्लानता भवति, वायुत्सर्गेनेन निर्गच्छति, कथं पुनः स्थातव्यं ?, येन निष्क्रमणप्रवेशस्थानं तद्वर्जयित्वा कायोत्सर्गं करोति । 'भावासन्ने'त्ति च उच्चारादिना पीडितः स च निर्गमे रुद्धे संज्ञानिरोधं करोति, ततश्च ग्लानता भवति, अथ निर्गच्छति ततः कायोत्सर्गभङ्गः ॥

भारे वेयणखमगुण्हमुच्छपरियावछिद्दणे कलहो । अवावाहे ठाणे सागारपमज्जणा जयणा ॥१५४॥ (भा)

---

१ भयुर्वोऽनेन क १ प १-२ पु. । २ तत्र भा क १-२ । ३ वर्जयित्वा भा. क २ पा. १-२ ।

तथा च मार्गे कायोत्सर्गकरणे एते दोषाः, भिक्षामटित्वा कश्चिदायातः साधुः स च भारे सति यदि प्रतिपालयति ततो वेदना भवति, तथा क्षपकः कश्चिद्भक्तं गृहीत्वाऽऽयातस्तथाऽन्य उष्णसंतप्त आयातः, अनयोर्द्वयोरपि प्रतिपालयतोः सतोर्यथासङ्ख्यं मूर्च्छापरितापौ भवतः, क्षपकस्य मूर्च्छा उष्णतप्तस्य परितापः, अथैते कायोत्सर्गं छित्त्वा प्रविशन्ति ततः परस्परं कलहो भवति, तस्मादव्याबाधे स्थाने कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः एतद्दोषभयात्। 'सागारपमज्जणा जयण'त्ति यदा तु पुनः सागारिको भवति कायोत्सर्गं कुर्वतस्तदाऽप्रमार्जनमेव करोति, यतनया वा प्रमार्जयति, कथं ?, रजोहरणबाह्यनिषद्यया प्रमृज्य कायोत्सर्गस्थानं ततस्तां निषद्यां सागारिकपुरतः एकान्ते मुञ्चति, गते च तस्मिन् गृह्णाति। उक्तमूर्ध्वस्थानं, इदानीं निषीदनस्थानं प्रतिपादयन्नाह—

संडास पमज्जित्ता पुणोवि भूमिं पमज्जिआ निसीए। राओ य पुव्वभणिअं तुयट्टणं कप्पई न दिवा ॥१५५॥

संदंशं-जङ्घोर्वोरन्तरालं तं प्रमृज्य उत्कुटुकः स्थित्वा पुनर्भूमिं प्रमृज्य निषीदेत्। उक्तं निषीदनस्थानं, इदानीं त्वग्वर्त्तन-स्थानं प्रतिपादनायाह-रात्रौ पूर्वोक्तमेव त्वग्वर्त्तनं, दिवा पुनस्त्वग्वर्त्तनं न कल्पते, नोक्तं भगवद्भिः, किं सर्वथैव न कल्पते ? इति, न इत्याह—

अद्धाणपरिस्संतो गिलाणवुड्ढा अणुण्णवित्ताणं। संथारुत्तरपट्टे अत्थुरण निवज्जणालोयं ॥१५६॥ (भा.)

१ सण्डासं आ १।

भवन्ति परिमान्लस्तया ग्लानो भवेय, एते त्रयोऽप्यनुज्ञाप्याचार्यास्ततश्च संस्तारकोत्तरपट्टौ आस्तीर्य 'निवजण'त्ति स्वपन्ति 'भाणेय'ति भाजनस्य प्रदेशं मुक्त्वाऽभ्यन्तरे स्वपन्ति, मा भूत् सागारिकस्य शङ्का स्यात्, यदुत–नूनं रात्रौ सुरतप्रसङ्गे स्थितोऽपयामीन्, कुतोऽन्यथाऽस्य निद्रेति ?। स्वप्नवर्तनस्थानमुक्तं तत्प्रतिपादनाय स्थानद्वारमुक्तम्। इदानी मुपकरणद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

उवगरणाईयाणं गहणे निक्खेवणे य संकमणे। ठाणं निरिक्खपमज्जणं काउं पडिलेहए उवहिं १५७ (भा)

उपकरणादीनां 'ग्रहणे' आदाने यत्स्थानं तन्निरीक्ष्य–निरूप्य प्रमृज्य च उपधिः प्रत्युपेक्षणीय इत्यत्र सम्बन्धः, तथा उपकरणादीनां निक्षेपणे च यत्स्थानं तन्निरीक्ष्य प्रमृज्य चोपधिः प्रत्युपेक्षणीयः, तथा उपकरणादीनामेव यत्संक्रमणं स्थानात्स्थानान्तरसंक्रमणं तस्मिन् यत्स्थानं तन्निरीक्ष्य प्रमार्जनं कृत्वा उपधिं प्रत्युपेक्षेत, योऽयमादिशब्दः स उपधिप्रकार प्रतिपादकः। उपकरणादिग्रहणनिक्षेपसंक्रमणेषु यत्स्थानं तस्य निरीक्ष्य प्रमार्जनमुक्तं इदानीमुपकरणप्रत्युपेक्षणाप्रतिपादयन्नाह—

उवगरणं वत्थपाए वत्थे पडिलेहणं तु वोच्छामि। पुव्वण्हे अवरण्हे मुहपोत्तियमाइ पडिलेहा॥१५८ भा

उपकरणप्रत्युपेक्षणा द्विविधा–'वत्थे पाए'त्ति वस्त्रविषया पात्रविषया चेति, तत्र तावदहं वस्त्रविषयां प्रत्युपेक्षणां वक्ष्ये, आदौ वस्त्रप्रत्युपेक्षणा उच्यते, यतः प्रव्रजितस्य प्रथमं वस्त्रोपकरणमेव दीयते न पात्रोपकरणं, सा च वस्त्रप्रत्युपेक्षणा कस्मिन्

१ °र्यास्तरका भा. पा १–२। २ तावद्द्विविधा प्रत्युपेक्षणा उच्यते भा.। ३ प्रव्रजतः भा. पा १–२।

काले भवतीत्यत आह–'पुव्वण्हे अवरण्हे' पूर्वाह्ने वस्त्रप्रत्युपेक्षणा भवत्यपराह्ने च, किमादिका पुनः प्रत्युपेक्षणा भवतीत्यत आह–'मुहपोत्तियमादि पडिलेह'त्ति मुखवस्त्रिका आदौ यस्याः प्रत्युपेक्षणायाः सा मुखवस्त्रिकादिका प्रत्युपेक्षणा, कदा ?, पूर्वाह्नेऽपराह्ने चेति, तत्र मुखवस्त्रिकाऽऽदिवस्त्रप्रत्युपेक्षणायामयं विधिः—

उड्ढं थिरं अ तुरिअं सव्वं ता वत्थ पुव्व पडिलेहे । तो बिइयं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जिज्जा ॥ २६५ ॥

तत्र वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं च आचार्यमतेन भविष्यति, चोदकमतेन च वक्ष्यमाणं, तत्र वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं च यथा भवति तथा प्रत्युपेक्षेत, 'थिरं'ति यथास्थिरं सुगृहीतं कृत्वा प्रत्युपेक्षेत, 'अतुरियं'ति अत्वरितं स्तिमितं प्रत्युपेक्षेत–चक्षुषा निरीक्षेत, 'सव्वं'ति सर्वं–कृत्स्नं वस्त्रं तावत्पूर्वं–प्रथमं प्रत्युपेक्षेत–चक्षुषा निरीक्षेत, एवं तावदर्वाग्भागः, परभागोऽपि परावृत्त्य एवमेव चक्षुषा निरीक्षेत, 'तो बिइयं पप्फोडे'त्ति ततो द्वितीयायां वारायां प्रस्फोटयेद्वस्त्रं षट् पुरिमाः कर्त्तव्या इत्यर्थः, 'तइयं च पुणो पमज्जिज्ज'त्ति तृतीयायां वारायां हस्तगतान् प्राणिनः प्रमार्जयेदिति। इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह–

वत्थे काउड्ढंमि अ परवयण ठिओ गहाय दसियंते। तं न भवति उक्कुडुओ तिरिअं पेहे जह विलित्तो ॥१५९

तत्रोर्ध्वं द्विधा–वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं चेति, एतस्मिन्नुक्ते 'परवयणं'ति परः–चोदकस्तस्य वचनं परवचनं, किं तद् ? इत्याह–'ठिओ गहाय दसियंते'त्ति स्थितस्य–ऊर्ध्वस्य गृहीत्वा दशान्ते वस्त्रं प्रस्फोटयतः वस्त्रोर्ध्वं कायोर्ध्वं च च यथा भवति, एवमुक्ते सत्याचार्य आह–'तन्न भवति' तन्न भवति यच्चोदकेनाभिहितं कुतः ? यस्मात् 'उक्कुडुओ तिरिअं पेहे'

उत्कुटुकस्थितस्तिर्यक् प्रसार्य वस्त्रं प्रत्युपेक्षेत, एतदेव च नः कायोर्ध्वं वस्त्रोर्ध्वं च, नान्यत्, यथा चन्दनादिना विलिप्ताङ्गः परस्परमङ्गानि न लगयति एवं सोऽपि प्रत्युपेक्षते। तत्रैवमुत्कुटुकस्य कायोर्ध्वं भवति, तिर्यक्प्रसारितवस्त्रस्य च वस्त्रोर्ध्वं भवति। 'तत्रु'त्ति भणितं, इदानीं स्थिरादीनि पदानि भाष्यकार एव व्याख्यानयन्नाह—

घित्तुं थिरं अतुरिअं तिभागबुद्धीए चक्खुणा पेहे। तो बिइयं पप्फोडे तइयं च पुणो पमज्जिज्जा॥१६०॥(भा०)

'घित्तुं' गृहीत्वा 'स्थिरं' निबिडं 'अत्वरितं' स्तिमितं एवं वस्त्रं ततः प्रत्युपेक्षेत वेला ततः प्रत्युपेक्षेत 'तिभागबुद्धिए' त्ति भागत्रयबुद्ध्या इत्यर्थः, चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, ततो द्वितीयवारायां प्रस्फोटयेत् तृतीयवारायां प्रमार्जयेदिति पूर्ववत्। इदानीं प्रत्युपेक्षणां कुर्वता इदं कर्त्तव्यम्—

अणच्चाविअं अवलिअं अणाणुबंधिं अमोसलिं चेव। छप्पुरिमा नव खोडा पाणी पाणिपमज्जणं ॥२६६॥

तत्र प्रत्युपेक्षणां कुर्वता वस्त्रमात्मा वा न नर्त्तयितव्यः, तथा अवलितं च वस्त्रं शरीरं च कर्त्तव्यं, 'अणाणुबंधि'त्ति न अनुबन्धः अननुबन्धः सोऽस्मिन्नस्तीति अननुबन्धि प्रत्युपेक्षणं नानवरतं प्रस्फोटनादि कर्त्तव्यं, किं तर्हि सान्तरं—सविच्छेद मित्यर्थः, 'अमोसलि'त्ति न मोसली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमोसलि प्रत्युपेक्षणं, यथा मुसलं झटिति ऊर्ध्वं लगति अधस्तिर्यक् च, न एवं प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या, किन्तु यथा प्रत्युपेक्षमाणस्य ऊर्ध्वं पीरिपु न लगति न च तिर्यक्कुड्ये न च भूमौ

१ प्रयुप्रेक्षेत आ. प. १-२। प्रत्युपेक्षेत आ क १ पा. २ पु.। ३ नवल्याप्रोत्स्फोटनादि कर्त्तव्यं आ। ४ सान्तरं भ क १-२।

तथा कर्त्तव्यं । 'छप्पुरिमा' तत्र वस्त्रं[1] चक्षुषा निरूप्य–अर्वाग्भागं निरूप्य त्रयः पुरिमाः कर्त्तव्याः, तथा परावर्त्य–अपरभागं निरूप्य पुनरपरेऽपि त्रयः पुरिमाः कर्त्तव्याः, एवं एते[2] षट् पुरिमाः, षड्वाराः प्रस्फोटनानीत्यर्थः[3], 'नव खोड'त्ति नव वाराः खोटकाः कर्त्तव्याः पाणेरुपरि 'पाणी पाणिपमज्जणं'[4]ति प्राणिनां–कुन्थ्वादीनां पाणौ–हस्ते प्रमार्जनं नवैव वाराः कर्त्तव्याः । इयं द्वारगाथा, इदानीं भाष्यकारः पूर्वार्द्धं व्याख्यानयन्नाह—

वत्थे अप्पाणंमि अ चउहा अणच्चाविअं अवलिअं च। अणुबंधि निरंतरया तिरिउड्ढह य घट्टणा मुसली

वस्त्रे आत्मनि चेत्यनेन पदद्वयेन भङ्गचतुष्टयं सूचितं भवति, ततश्चानेन प्रकारेण अनर्त्तापितं चतुर्द्धा भवति, कथं ?, वत्थं अणच्चाविअं अप्पाणं च अणच्चाविअं एगो भंगो १, तथा वत्थं अणच्चाविअं अप्पाणं च णच्चाविअं २, तहा वत्थं णच्चाविअं अप्पाणं अणच्चाविअं ३, तथा वत्थंपि नच्चाविअं अप्पाणंपि नच्चाविअं ४, एस चउत्थो, एत्थ पढमो भंगो सुद्धो । एवं अवलिअंपि–अवलितेऽपि चत्वारो भङ्गाः यथा, वत्थं अवलिअं अप्पाणं च अवलिअं एगो १, तहा वत्थं अवलिअं अप्पाणं च वलिअं २, तहा अप्पाणं अवलिअं वत्थं वलिअं ३, अप्पाणंपि वलिअं वत्थंपि वलिअं ४, एत्थवि पढमो भंगो सुद्धो । 'अणुबंधि निरंतरय'त्ति अनुबन्धो निरन्तरतोच्यते, ततश्च न अनुबन्धेन–नैरन्तर्येण प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या । इदानीममोसलिं व्याख्यानयन्नाह–'तिरिउड्ढह य घट्टणा मुसलि'त्ति त्रिविधा मुसली–तिर्यग्घट्टना १, ऊर्ध्वघट्टना २, अधोघट्टना ३ चेति, तत्र प्रत्युपेक्षणां कुर्वन् वस्त्रेण तिर्यक् कुड्यादि घट्टयति–स्पृशति, ऊर्ध्वं कुटिकादिपटलादि[5] घट्टयति, अधो भुवं घट्टयति,

---

१ वस्त्रस्य ल १ । २ एतेषु पुरिमा. आ. । ३ प्रस्फोटनमित्यर्थः पा. १–२ । ४ पाणपमज्जण'ति आ ल १. पा. २. पु । ५ कुट्टिकादिपटलानि आ.

परं न मेदनी छिन्नमुन्नती–न किमिस्यत्युपेक्षणां कुर्वन् वस्त्रेण घट्टयति । इद यावत्पूर्वोक्तमनर्पापितादि कर्त्तव्य, इद तु प्रत्नमार्गं न कर्त्तव्यं, कि तद् ? इत्याह—

आरभडा संमद्दा वज्जेयव्वा य मोसली तईया । पप्फोडणा चउत्थी विक्खित्ता वेइया छट्ठी ॥ २६७ ॥

'आरभडे'ति आरभटा प्रत्युपेक्षणा न कार्या, 'संमद्द'त्ति संमर्दा न कार्या, वर्जनीया च मोसली तृतीया, प्रस्फोटना चतुर्थी, विक्षिप्ता पञ्चमी, वेदिका षष्ठी विवर्जनीयेति द्वारगाथेयं । इदानीं प्रतिपदं भाष्यकारो व्याख्यानयति, गरायारचरणागिण्णमणाऽप्र—

वितहकरणं च तुरियं अण्णं अण्णं च गिण्हणाऽऽरभडा । अंतो व होज्ज कोणा निसियण तत्थेव संमद्दा ॥

वितथं-विपरीतं करणं तदारभटाशब्देनोच्यते, सा चारभटा प्रत्युपेक्षणा न कार्या, विपरीता प्रत्युपेक्षणा न कर्त्तव्या, त्वरितं वा-शीघ्रं, इदं चाऽऽरभटोच्यते चतुर्थं सेरितमाकुलं परं चान्यवस्तुग्रहणं तदारभटाशब्देनोच्यते, सा च प्रत्युपेक्षणा न कर्त्तव्या, त्वरितमन्यान्यवस्त्रग्रहणं न कर्त्तव्यमित्यर्थः । 'आरभडे'ति भणिता, इदानीं संमर्दा व्याख्यायते, तदाह- अंतो व होज्ज कोणा निसियण तत्थेव संमद्दा' अन्तः-मध्यप्रदेशे वस्त्रस्य संवलिताः कोणा यत्र भवन्ति सा संमर्देत्युच्यते, सा प्रत्युपेक्षणा वा नासौ क्रिया न कार्या, 'निसीयण तत्थ'त्ति तत्रैव-उपधिकायां उपविश्य प्रत्युपेक्षणं

१ सर्व-४ सा. ॥ २॥ २ तवि–आङ्ग सा. । ३ भेदन सारणी न कार्या सा ।

करोति सा वा संमर्दोऽच्यते, सा च न कर्त्तव्या । 'संमद्दे'ति भणिअं, इदानीं मोसलीवर्जनं प्रतिपादनायाह—

मोसलि पुव्वुद्दिट्ठा पप्फोडण रेणुगुंडिए चेव। विक्खेवं तुक्खेवो वेइयपणगं च छद्दोसा ॥१६३॥ (भा०)

मोसली पूर्वोद्दिष्टा[1]–पूर्वमेव भणितेत्यर्थः, "मोसलि"त्ति गयं, इदानीं पप्फोडणत्ति व्याख्यायते तत्राह–'पप्फोडण[2]–रेणुगुंडिए चेव' प्रकर्षेण धूननं–स्फोटनं तद्रेणुगुण्डितस्येव वस्त्रस्य करोति, यथाऽन्यः कश्चिद्गृहस्थः रेणुना गुण्डितं सद्वस्त्रं प्रस्फोटयति एवमसावपि, इयं च न कर्त्तव्या । 'पप्फोडण'त्ति गयं, "विक्खित्त"त्ति भण्यते, तत्राह–' विक्खेवं तुक्खेवो' विक्षेपां तु तां विद्धि यत्र वस्त्रस्यान्यत्र क्षेपणं, एतदुक्तं भवति–प्रतिलेखयित्वा वस्त्रमन्यत्र जवनिकादौ क्षिपति, अथवा विक्षेपो–वस्त्राञ्चलानामूर्ध्वं यत्क्षेपणं स उच्यते, स च प्रत्युपेक्षणायां[3] न कर्त्तव्यः । 'विक्खित्त'त्ति गयं, 'वेदिय'त्ति व्याख्यायते तत्राह–' वेदिअपणगं ' च वेदिका पञ्चप्रकारा, तंजहा–उड्ढवेइया अहोवेइया तिरिअवेइया दुहओवेइया एगओवेइआ, तत्थ उड्ढवेइआ उवरि जण्णुयाणं हत्थे काऊण पडिलेहइ, अहोवेइया अहोजण्णुयाणं हत्थे काऊण पडिलेहइ, तिरियवेइया संडासगाणं मज्झे हत्थे णेऊण पडिलेहेति, दुहतोवेदिया बाहाणं अंतरे दोवि जण्णुगा काऊण पडिलेहेति, एगतो वेदिया एगं जण्णुअं बाहाणं अंतरे काऊण पडिलेहेति, इदं वेदिकापञ्चकं प्रत्युपेक्षणां कुर्वता न कर्त्तव्यम् । 'छद्दोसा' इति एत आरभटादयः षड् दोषाः प्रत्युपेक्षणां कुर्वता न कर्त्तव्या इति । तथा एते च दोषाः प्रत्युपेक्षणायां न कर्त्तव्याः—

---

1 पूर्वमेवोद्दिष्टा आ. ल. २ पा. १–२–पु. । २ पप्फोडण आ. ल. २ । ३ °पेक्षणायां न आ. पा. १ ।

पसिढिल पलंब लोला एगामोसा अणेगरूवधुणणा। कुणइ पमाणपमायं संकिए गणणोवगं कुज्जा ॥२६८

पसिढिल–दृढं न गृहीतं 'पलंब'त्ति प्रलम्बमानाञ्चलं एकान्ते गृहीतं वस्त्रं प्रलम्बते, 'लोला' इति भूमौ लोलते हस्ते वा पुनः पुनर्लोलयति प्रत्युपेक्षयन्। 'लोलत्ति गयं, 'एगामोसं'त्ति मज्झे गहिऊण हत्थेहिं वत्थं घसंतो विभागावसेसं जाव नेइ दोहिं वा पासेहिं आव तिण्हा इत्यर्थः। अहवा तिहिं अंगुलीहिं घेत्तव्व व एक्काए चेव घिप्पइ, अथवा 'घेगामोसा' इति केचित्पठन्ति, तत्र न एके आमर्शाः अनेकामर्शा अनेकरूपा इत्यर्थः। 'अणेगरूवधुणण'त्ति अणेगपगारं कंपेइ, अथवा अणेगाणि वत्थाणि एगओ काऊण धुणइ। तथा 'कुणइ पमाणपमायं'ति पुरिमेषु खोटकेषु वा यत्प्रमाणमुक्तं तत्र प्रमादं करोति, एतदुक्तं भवति–तान् पुरिमादीन् न्यूनानधिकान् वा करोति, 'संकिए गणणोवगं कुज्ज'त्ति शङ्किता चासौ गणना च शङ्कितगणना तां शङ्कितगणनामुपगच्छति या प्रत्युपेक्षणा सा शङ्कितगणनोपगा तामेवगुणविशिष्टां न कुर्यात्, एतदुक्तं भवति–पुरिमादयः शङ्किता–न जानाति कियन्तो गता इति ततो गणनां करोति, अथवाऽनाभोगात् शङ्किते सति गणनोपगा–गणनामुपगच्छतीति गणनोपगा तां गणनोपगां–गणनायुक्तां प्रत्युपेक्षणां करोति पुरिमादीन् गणयतीत्यर्थः। द्वारगाथेयम्, इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह–

पसिढिलमघणं अतिरोयियं च विसमगेहलयकोण वा। भूमीकरलोलणया कड्ढणगहणेगआमोसा १६४भा

प्रशिथिलं अघनं अदृढं गृह्णाति 'अँसिरायतं वा' अंतरादिमं वा प्रशिथिलमुच्यते। 'पसिढिल'त्ति गयं, पलंबत्ति भण्णते–

१ मण्डले गृहीतं वा.। २ दृढं वा. पा १। ३ मज्झे व घेत्तुं वा.। ४ अतिरायितं वा.। ५ भवत्विदं च ब १. पा. २. पु.।

'विसमगेहलंबकोणं व'त्ति विषमग्रहणे सति लम्बकोणं भवति वस्त्रं। 'पलंब'त्ति गयं, लोला भण्यते, अत्राह—'भूमीकरलोलणया' भूमौ लोलयति करे—हस्ते वा लोलयति प्रत्युपेक्षयन्। 'लोल'त्ति गयं, 'एगामोस'त्ति भण्यते, तत्राह—'कड्ढणगहणेगआमोसा' मध्ये वस्त्रं गृहीत्वा तावदाकर्षणं करोति यावत्रिभागशेषग्रहणं जातं, इयं 'एगामोसा' एकाघर्षणमित्यर्थः, अथवाऽऽकर्षणे ग्रहणे चानेके आमोसा अनेकानि स्पर्शनानि, एतदुक्तं भवति—तद्वस्त्रमनेकधा स्पृशति ॥ एगामोसत्ति गयं 'अणेगरूवधुणण'त्ति भण्यते—

धुणणा तिण्ह परेणं बहूणि वा घित्तु एक्कई धुणइ। खोडणपमज्जणासु य संकियगणणं करि पमाई १६५ भा.

'धुनना' कम्पना 'त्रयाणां' पुरिमाणां परत[2] उपरिष्टाद्यत्करोति, अत्र च त्रयाणां परत इति यदुक्तं तदेकवस्त्रापेक्षया, बहूनि वा गृहीत्वा वस्त्राणि 'एकीकृत्य' यौगपद्येन 'धुनाति' प्रस्फोटयति। 'अणेगधुणण'त्ति भणिअं, 'कुणइ पमाणपमायं'ति भण्णइ, तत्राह—'खोडणपमज्जणासु य' खोटकेषु नवसु प्रमार्जनासु च नवसु प्रमादं करोति। "कुणइ पमाणपमायं"ति गयं, "संकिए गणणोवगं"ति भण्णइ, अत्राह—संकियगणणं करि पमाई' शङ्किते सति गणनां करोति यः प्रमादी भवति, एवमियमित्थम्भूता प्रत्युपेक्षणा न कर्त्तव्येति स्थितं। किंविशिष्टा पुनः कर्त्तव्या इति ?, अत आह—

अणूणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा तहेव य। पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ[3] अप्पसत्थाणि ॥२६९॥

---

१ °गहण व कोण आ। २ परत इति आ.। ३ अ आ।

पसिढिल पलंब लोला एगामोसा अणेगरूवधुणणा। कुणइ पमाणपमायं संकिए गणणोवगं कुज्जा ॥२६८॥

पसिढिल–दृढं न गृहीतं 'पलंब'त्ति प्रलम्बमानाञ्चलं एकान्ते गृहीतं ततश्च प्रलम्बते, 'लोला' इति भूमौ लोलते हस्ते वा पुनः पुनर्लोलयति प्रत्युपेक्षयन्। 'लोल'त्ति गयं, 'एगामोस'त्ति मज्झे गहिऊण हत्थेहिं वत्थं घसंतो तिभागावसेसं जाव नेइ दोहिं वा पासेहिं ताव गिण्हमा इत्यर्थः। अहवा तिहिं अंगुलीहिं घेत्तव्वं तं एक्काए चेव गिण्हइ, अहवा 'णेगामोसा' इति केचित्पठन्ति, तत्र न एके आमर्शाः अनेकामर्शा अनेकस्पर्शा इत्यर्थः। 'अणेगरूवधुणण'त्ति अणेगपगारं कंपेइ, अथवा अणेगाणि वत्थाणि एगओ काऊण धुणइ। तथा 'कुणइ पमाणपमायं'ति पुरिमेषु खोटकेषु वा यत्प्रमाणमुक्तं तत्र प्रमादं करोति, एवदुक्तं भवति–तान् पुरिमादीन् न्यूनानधिकान् वा करोति, 'संकिते गणणोवगं कुज्ज'त्ति शङ्किते सति यासौ गणना च शङ्कितगणना तां शङ्कितगणनामुपगच्छति या प्रत्युपेक्षणा सा शङ्कितगणनोपगा तामेवंगुणविशिष्टां न कुर्यात्, एवदुक्तं भवति–पुरिमादयः शङ्किताः–न जानाति कियन्तो गता इति ततो गणनां करोति, अथवाऽनाभोगात् शङ्किते सति गणनोपगां–गणनामुपगच्छतीति गणनोपगा तां गणनोपगां–गणनायुक्तां प्रत्युपेक्षणां करोति पुरिमादीन् गणयन्नित्यर्थः। द्वारगाथेयम्, इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयन्नाह–

पसिढिलमघणं अतिरोयियं च विसमगेहलधकोण वा। भूमीकरलोलणया कड्डणगहणेगआमोसा ॥१६४॥ भा॰

पसिढिलं अघनं अदृढं गृह्णाति 'अंतिरायतं वा' आयाडितं वा प्रशिथिलमुच्यते। 'पसिढिल'त्ति गयं, पलंबत्ति भण्णते–

1 मायाकर्ण ग्रहीतं वा। 2 गहणं वा. पा 1। 3 कट्टणं च कोणं वा.। 4 अतिरायितं वा। 5 नार्थिः वा क 1 पा 2 छु।

वस्त्रं । 'पलंब'त्ति गयं, लोला भण्यते, अत्राह—'भूमी-
'विसमगहलंबकोणं व'त्ति विषमग्रहणे सति लम्बकोणं भवति वस्त्रं । 'पलंब'त्ति गयं, 'एगामोस'त्ति भण्यते, तत्राह—
करलोलणया' भूमौ लोलयति करे-हस्ते वा लोलयति प्रत्युपेक्षयन् । 'लोल'त्ति गयं, 'एगामोसा' एकाघर्षण-
'कड्ढणगहणेगआमोसा' मध्ये वस्त्रं गृहीत्वा तावदाकर्षणं करोति यावत्रिभागशेषग्रहणं जातं, इयं 'एगामोसा' एकाघर्षण-
मित्यर्थः, अथवाऽऽकर्षणे ग्रहणे चानेके आमोसा अनेकानि स्पर्शनानि, एतदुक्तं भवति—तद्वस्त्रमनेकधा स्पृशति ॥ एगा-
मोसत्ति गयं 'अणेगरूवधुणण'त्ति भण्यते—

धुणणा तिण्ह परेणं बहूणि वा घित्तु एक्कई धुणइ । खोडणपमज्जणासु य संकियगणणं करि पमाई १६५ भा.

'धुनना' कम्पना 'त्रयाणां' पुरिमाणां परत उपरिष्टाद्यत्करोति, अत्र च त्रयाणां परत इति यदुक्तं तदेकवस्त्रापेक्षया,
बहूनि वा गृहीत्वा वस्त्राणि 'एकीकृत्य' यौगपद्येन 'धुनाति' प्रस्फोटयति । 'अणेगधुणण'त्ति भणिअं, 'कुणइ पमाणपमायं'ति
भण्णइ, तत्राह—'खोडणपमज्जणासु य' खोटकेषु नवसु प्रमार्जनासु च नवसु प्रमादं करोति । "कुणइ पमाणपमायं"ति गयं,
"संकिए गणणोवगं"ति भण्णइ, अत्राह—संकियगणणं करि पमाई' शङ्किते सति गणनां करोति यः प्रमादी, भवति, एव-
मियमित्थम्भूता प्रत्युपेक्षणा न कर्त्तव्येति स्थितं । किंविशिष्टा पुनः कर्त्तव्या इति ?, अत आह—

अणूणाइरित्तपडिलेहा अविवच्चासा तहेव य । पढमं पयं पसत्थं सेसाणि उ[3] अप्पसत्थाणि ॥२६९॥

१ °गहण व कोण आ । २ परत इति आ. । ३ अ आ. ।

अन्यूनातिरिक्ता अविपर्यासेन प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या, एभिश्च त्रिभिः पदैरष्टौ भङ्गाः सूचिताः तेषां चेयं स्थापना— एतेषां प्रथम पद प्रशस्त शेषाणि तु 'अप्रशस्तानि' अनादेयानि। इदानीं भाष्यकारः शुद्धाशुद्धपद प्रदर्शनायाह—

ऽ	ऽ	ऽ
।	ऽ	ऽ
ऽ	।	ऽ
।	।	ऽ
ऽ	ऽ	।
।	ऽ	।
ऽ	।	।
।	।	।

नवि ऊणा नवि रित्ता अविवच्चासा य पढमओ सुद्धो। सेसा होंति असुद्धा उवरिल्ला सत्त जे भगा॥

नापि न्यूना नाप्यतिरिक्ता अविपर्यासेन च, अय प्रथमो भङ्गः शुद्धः, शेषं सुगमम्। इदानीं ये तेऽशुद्धाः सप्त भङ्गकाः प्रदर्शितास्त एवं भवन्ति—

खोडणपमज्जणवेलासु चेव ऊणाहिआ मुणेयव्वा। अरुणावासग १ पुव २ परोप्पर ३ पाणिपडिलेहा॥२७०

खोटका यदि ऊना अधिका वा क्रियन्ते ततोऽशुद्धता भवति, प्रमार्जना च नवसंख्यया यदूना अधिका वा क्रियते ततोऽशुद्धता भवति, वेलायां च न्यूनायामधिकायां वा प्रत्युपेक्षणायां क्रियमाणायामशुद्धा भङ्गका भवन्ति। एवं च वे न्यूनाधिका भवन्ति विक्षेपाः। आह—वेलायां न्यूनाधिकायां प्रत्युपेक्षणायां क्रियमाणायां दोष उक्तस्तत्कस्यां पुनर्वेलायां प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या?, तत्र केचनाहुः—'अरुणावासग पुव' अरुणोदयावश्यक पूर्वमेव कृत्वा ततः अरुणोद्गमनसमये—प्रभास्फुट नवेलायां प्रत्युपेक्षणा क्रियते १, अपरे त्वाहुः—अरुणोद्गमे सति—प्रभायां स्फुटितायां तस्यामावश्यक 'पूर्वं' प्रथम कृत्वा ततः प्रत्युपेक्षणा क्रियते २, अन्ये त्वाहुः—'परोप्परं'ति परस्परं यदा मुखानि दिशाव्यन्ते तदा प्रत्युपेक्षणा क्रियते ३, अन्ये

१ वड्वणाया न्यूना भा.। २ स्फुटत्व° भा। ३ स्फाटितायां भा।

त्वाहुः–'पाणिपडिलेहा' यस्यां वेलायां पाणिरेखा दृश्यन्ते तस्यां वेलायां प्रत्युपेक्षणा क्रियते ४। सिद्धान्तवाद्याह—

एते उ अणाएसा अंधारे उग्गएविहु न दीसे। मुहरयनिसिज्जचोले कप्पातिगदुपट्टथुई सूरो ॥ २७१ ॥

एते सर्व एव 'अनादेशाः' असत्पक्षाः, यतः 'अंधारे उग्गएविहु न दीसे' अन्धारे प्रतिश्रये उद्गतेऽपि सूर्ये रेखा न दृश्यन्ते तस्मादसत्पक्षोऽयं, शेषं पक्षत्रयं सान्धकारत्वादेव दूषितमेव द्रष्टव्यं, तत्कस्यां वेलायां प्रत्युपेक्षणा कार्या ? इत्यत आह– 'मुहरयनिसिज्जचोले कप्पतिगदुपट्टथुई सूरो' 'मुख' इति मुखवस्त्रिका 'रय' इति रजोहरणं 'निसिज्जा' रजोहरणस्योपरितनपट्टो 'चोले'त्ति चोलपट्टकः 'कप्पतिग'त्ति एक और्णिको द्वौ सौत्रिकौ, 'दुपट्ट'त्ति संस्तारकपट्ट उत्तरपट्टश्च 'थुइ'त्ति प्रतिक्रमणसमाप्तौ ज्ञानदर्शनचारित्रार्थं स्तुतित्रये दत्ते सति एतेषां मुखवस्त्रिकादीनां प्रत्युपेक्षणासमाप्त्यनन्तरं यथासूर्य उद्गच्छति एष प्रत्युपेक्षणाकालविभाग इति। यदुक्तं प्रागुपधेर्विपर्यासः प्रत्युपेक्षणायां न कर्त्तव्य इत्युत्सर्गतोऽभिहितं, तस्यापवादमाह—

पुरिसुवहिविच्चासो सागारिए करिज्ज उवहिविच्चासं। आपुच्छित्ता[1] व गुरुं पहुवमाणेयरे वितहं ॥२७२

तत्र विपर्यासो द्विविधः–पुरुषविपर्यासः उपधिविपर्यासश्च, तत्रोपधिविपर्यासप्रतिपादनायाह–'सागारिए करिज्ज उवहिविच्चासं' 'सागारिके' स्तेनादिके सत्यागते विपर्यासः क्रियते प्रत्युपेक्षणायां[2], प्रथमं पात्रकाणि प्रत्युपेक्ष्यन्ते पश्चाद्वस्त्राणि। एवमयं प्रत्युषसि विपर्यासः प्रत्युपेक्षणायां[3], एवं विकालेऽपि सागारिकानागन्तुकान् ज्ञात्वा। इदानीं पुरुषविपर्यास उच्यते,

---

१ आपुच्छित्ताण गुरु आ. पा.१ । २ प्रत्युपेक्षणाया. भा ल.२ । ३ प्रत्युपेक्षणायाः आ. ।

तत्राह–'आपुच्छिऊणं व गुरुं पडुवमाणे' आपृच्छ्य गुरुमात्मीयामुपधिं ग्लानसत्कां वा प्रत्युपेक्षते, कदा ? अत आह–'पडुप्पमाणे' यदा आभिग्रहिका उपधिप्रत्युपेक्षकाः 'पडुवंति' पर्याप्यन्ते सदैव करोति 'इतरे वितह'त्ति इतरेऽनाभिग्रहिका यदा न मन्ति तदा प्रथममात्मीयामुपधिं प्रत्युपेक्षमाणस्य 'वितथं' अनाचारो भवति इत्यर्थः, तत्र न केवलं प्रत्युपेक्षणाकाले उपधिविपर्यासे क्रमो वितथ–अनाचारो भवति, एवं च वितथं भवति–

पडिलेहणं करेंतो मिहो कहं कुणइ जणवयकहं वा। देइ व पच्चक्खाणं वाएइ सयं पडिच्छइ वा ॥२७३

प्रत्युपेक्षणां कुर्वन् मिथः कथां मैथुनसंबद्धां करोति जनपदकथां वा, प्रत्याख्यानं वा श्रावकादेर्ददाति, 'वाचयति' अन्यस्मायु पाठयतीत्यर्थः, 'सयं पडिच्छति वा' स्वयं वा प्रतीच्छति–आत्मना वाऽऽलापकं दीयमानं प्रतीच्छति–गृह्णाति। एतच्च वक्ष्यमाणं कुर्वन् षण्णामपि जीवनिकायानां विराधको भवति, अत आह–

पुढवी आउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं। पडिलेहणापमत्तो छण्हंपि विराहओ होइ ॥ २७४ ॥

सुगमा ॥ कथं पुनः षण्णामपि कायानां विराधकः ?, अत आह–

घडगाइपलोट्टणया मट्टिअ अगणी य बीय कुंथाई। उदगगया व तसेयर उम्मुग संघट्ट झावणया ॥२७५॥

1 षड्प्रमाण इति वा. ॥ २ । २ एतच्च कुर्वन् वा. पा.१–२ । ३ षण्णामपि कायानां वा. पा.१–२ । ४ भोइय वा., मम्मुय क १ ।

स हि साधुः कुम्भकारादिवसतौ प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्ननुपयुक्तस्तोयघटादि प्रलोठयेत्, स च तोयभृतो घटो मृत्तिकाग्नि-बीजकुन्थ्वादीनामुपरि प्रलुठितस्ततश्चैतान् व्यापादयेत्, यत्राग्निस्तत्र वायुरप्यवश्यंभावी, अथवाऽनया भङ्ग्या षण्णां कायानां व्यापादकः 'उदगगता व तसेतर'त्ति योऽसौ उदकघटः प्रलोठितस्तदुद्भवा एव त्रसा भवन्ति पूतरकादयः 'इतर'त्ति वनस्पतिकायश्च, तथा वस्त्रान्तेन चोल्मुकं 'संघट्टयेत्' चालयेत् ततश्च 'झावणय'त्ति तेनोल्मुकेन चालितेन सता प्रदीपनकं संजातं ततश्च संयमात्म-विराधना जातेति। अथोपयुक्तः प्रत्युपेक्षणां करोति ततश्च एतेषां एव षण्णां जीवनिकायानामाराधको भवति, एतदेवाह—

पुढवी आउक्काए तेऊवाऊवणस्सइतसाणं। पडिलेहणमाउत्तो छण्हंऽपाराहओ होइ ॥ २७६ ॥

सुगमा ॥ नवरम् 'आराधकः' अविराधको भवति। न केवलं प्रत्युपेक्षणा, अन्योऽपि यः कश्चिद् व्यापारो भगवन्मते सम्यक् प्रयुज्यते स एव दुःखक्षयायालं भवति, एतदेवाह—

जोगो जोगो जिणसासणंमि दुक्खक्खया पउंजंतो। अण्णोण्णमबाहाए असवत्तो होइ कायव्वो ॥२७७॥

योगो योग इति वीप्सा, ततश्च व्यापारो व्यापारो जिनशासने प्रयुज्यमानो दुःखक्षयाय 'प्रयुज्यमानः' क्रियमाणः कथम्? 'अन्योऽन्याबाधया' परस्परापीडया, एतदुक्तं भवति—यथा क्रिया क्रियमाणाऽन्येन क्रियान्तरेण न बाध्यते एव-मन्योऽन्याबाधया प्रयुज्यमानः 'असवत्तो' असपत्नः अविरुद्धो भवति कर्त्तव्य इति। इदानीं फलं प्रदर्शयन्नाह—

1 °कारशालादौ वसतौ आ. पा.1–2। 2 °स्तद्गता एव आ. पा 1–2।

जोगे जोगे जिणसासणमि दुक्खक्खया पउजते । एक्किकमि अणता वट्टता केवली जाया ॥ २७८॥

सुगमा । नवरम्-एकस्मिन् 'योगे' व्यापारे वर्त्तमाना अनन्ताः केवलिनो जाता इति ॥

एव पडिलेहता अईयकाले अणतगा सिद्धा । चोयगवयण सयय पडिलेहेमो जओ सिद्धी ॥ २७९॥

एव प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्तोऽतीतकालेऽनन्ताः सिद्धाः । एवमाचार्येणोक्ते सति 'चोयगवयण' अत्र चोदकवचन—चोदक एव, किं नु ? इत्याह—'सतत पडिलेहेमो' यदेव प्रत्युपेक्षणाप्रमाणादनन्ताः सिद्धास्ततः सततमेव प्रत्युपेक्षणामेव कुर्मः, किमन्येन योगेनानुष्ठितेन ?, यतस्तत एव सिद्धिर्भवति । आचार्यः प्राह—

सेसेसु अवट्टतो पडिलेहतोवि देसमाराहे । जइ पुण सव्वाराहणमिच्छसि तो ण निसामेहि ॥ २८०॥

शेषेषु योगेषु अवर्त्तमानः सम्यक् यथोक्तेन न्यायेन प्रत्युपेक्षणां कुर्वन्नपि देशत आराधक एवासौ, न तु सर्वमाराधितं भवति, तत यदि पुनः संपूर्णाराधनामिच्छसीत्यादि सुगम । कथ च सर्वाराधको भवति ?, अत आह—

पचिंदिएहिं गुत्तो मणमाईतिविहकरणमाउत्तो । तवनियमसजमंमि अ जुत्तो आराहओ होइ ॥२८१॥

पञ्चभिरिन्द्रियैर्गुप्तो मनआदिना त्रिविधेन करणेन 'आयुक्तः' यत्नवान् तपसा—द्वादशविधेन युक्तः नियमः—इन्द्रियनियमो नोइन्द्रियनियमश्च तेन युक्तः, संयमः—सप्तदशप्रकारः पुढविकाओ आउकाओ तेउकाओ वाउकाओ वणस्सइकाओ

१ धर्मसंग्र० प० ११ ।

बेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदियअजीवकायसंजमो पेहाउप्पेहापमज्जणं परिट्ठावणं मणवइकाए। अत्र संयतः सन् मोक्षस्याराधको भवति प्रव्रज्याया वाऽऽराधकः। द्वारगाथेयम्। इदानीं भाष्यकार एतां गाथां प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्र 'पंचिंदिएहिं गुत्तो'त्ति प्रथममवयवं व्याख्यानयन्नाह—

इंदियविसयनिरोहो पत्तेसुवि रागदोसनिग्गहणं। अकुसलजोगनिरोहो कुसलोदय एगभावो वा ॥१६७

इन्द्रस्यामूनि इन्द्रियाणि तेषां विषयाः—शब्दादयः तेषां यो निरोधः सा पञ्चेन्द्रियगुप्तिरभिधीयते, अयमप्राप्तानां शब्दादिविषयाणां निरोधः, तथा 'पत्तेसुवि रागदोसनिग्गहणं'ति तथा 'प्राप्तेषु' गोचरमागतेष्वपि शब्दादिविषयेषु रागद्वेषयोर्निग्रहणं यत्सा पञ्चेन्द्रियगुप्तता, तत्रेष्टशब्दादिविषयप्राप्तौ रागं न गच्छति अनिष्टशब्दादिविषयप्राप्तौ द्वेषं न गच्छति, भणिता पञ्चेन्द्रियगुप्तता, इदानीं 'मणमाईतिविहकरणमाउत्तो' भन्नति, तत्राह—'अकुसलजोगनिरोहो' अकुशलानाम्—अशोभनानां मनोवाक्काययोगानां—व्यापाराणां यो निरोधः सा त्रिविधकरणायुक्तता, तथा 'कुसलोदय'त्ति कुशलानां—प्रशस्तानां मनोवाक्कायव्यापाराणां य उदयः सा त्रिविधकरणायुक्तता, तथा 'एगभावो व'त्ति न कुशलेषु योगेषु प्रवृत्तिर्नाप्यकुशलेषु योगेषु प्रवृत्तिर्या मध्यस्थता सा[1] वा त्रिविधकरणगुप्तता[2]। भणिता त्रिविधकरणगुप्तता इदानीं 'तव'त्ति भण्णति—

अब्भिंतरबाहिरगं तवोवहाणं दुवालसविहंपि[3]। इंदियतो पुव्वुत्तो नियमो कोहाइओ बिइओ ॥१६८॥

१ °करणगुप्तता आ. पा १। २ सा त्रिविध° आ. पा. १–२। ३ तु आ. पा.१, ति क १।

अभ्यन्तरं बाह्य च चशब्द उपधानम्–उपदधातीत्युपधानम्–उपकरोतीत्यर्थः, तपोपधान द्वादशविधमपि तप उच्यते। तवो गओ, नियमो भण्णति, स च द्विविधः–इन्द्रियनियमो नोइन्द्रियनियमश्च, तत्रेन्द्रियतः–इन्द्रियाण्यङ्गीकृत्य पूर्वोक्तो नियमः, 'कोहाइओ विरमो'त्ति द्वितीयो नोइन्द्रियनियमः क्रोधादीनां, आदिग्रहणान्मानमायालोभा गृह्यन्ते, एतेषां नियमो–निरोधः। नियमोत्ति गय, इदानी संजमो भण्णइ, स च सप्तदशप्रकारस्तत्राह—

पुढविदगअगणिमारुअवणस्सईबितिचउपणिंदी। अज्जीवे पोत्थगाइसु गहिएसु असंजमो जेण ॥१६९॥

पुढविदगअगणिमारुअवणस्सइबिइतिचउरिंदियपंचिंदिया। तथा अजीव'त्ति 'अजीवेषु' पनकसंसक्तपुस्तकादिषु गृहीतेषु असंयमो भवति येन तस्य ग्राह्य, आदिशब्दात् दूसपणग तणपणग चम्मपणग च, एतेषु अपरिगृहीतेषु संयमः, परिगृहीतेषु असंयमः। तथा—

पेहित्ता संजमो वुत्तो उपेहित्तावि संजमो। पमज्जित्ता संजमो वुत्तो परिट्ठवित्तावि संजमो ॥ १७० ॥ भा०

पेक्षासंयमः–चक्षुषा प्रतिरूपणं, तत्रैव पूर्वं चक्षुषा निरूपयतः प्रेक्षासंयम उक्तः। 'उपेहित्तावि संजमो'त्ति उपेक्षा द्विप्रकारा तां कुर्वतः संयम उक्तस्तां च वक्ष्यति। 'पमज्जित्ता संजमो वुत्तो'त्ति प्रमार्जयतः संयम उक्तः। 'परिट्ठवित्तावि संजमो'त्ति 'परिष्ठापयतः' परित्यजतोऽपि पानकादि अतिरिक्तं संयम उक्तः, एवमेते चतुर्दश, मनोवाक्कायसंयमश्च त्रिविध

१ दसोवधान भा., तव उव हवधानं पा १। २ क्रोधादिरूः भा पा.१–२ पु.। ३ निवमिति क १ पा.२। ४ तणपणगं च भा।

उक्त एव द्रष्टव्यः। इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति–प्रथमगाथार्थः एकाकिकारणिकगमनयतनायामुक्तः, अजीवपुस्तकादिसंयमोऽपि अचित्तवनस्पतिगमनयतनायां व्याख्यात एव द्रष्टव्यः, इदानीं यदुपन्यस्तं 'पेहित्ता संयम' इत्यादि तत्र कचिद्व्याख्यातमिति व्याख्यानयन्नाह—

ठाणाइ जत्थ चेए पुव्वं पडिलेहिऊण चेएज्जा। संजयगिहिचोयणाचोयणे य वावारओवेहा ॥१७१॥ भा०

स्थानं–ऊर्ध्वस्थानं कायोत्सर्गादि, आदिग्रहणान्निषीदनं त्वग्वर्त्तनस्थानं च गृह्यते, तत्स्थानादि यत्र चेतयते 'चिती संज्ञाने' जानाति चेष्टते करोति कर्त्तुमभिलषतीत्यर्थः, तत्र पूर्वं–प्रथमं प्रत्युपेक्ष्य–चक्षुषा निरीक्ष्य ततश्चेतयते स्थानं कायोत्सर्गादि, आदिग्रहणान्निषीदनस्थानं त्वग्वर्त्तनस्थानं च, उक्तः प्रेक्षासंयमः, इदानीं उपेक्षासंयम उच्यते, सा चोपेक्षा द्विविधा, कथं ?–संयतव्यापारोपेक्षा गृहस्थव्यापारोपेक्षा च, तत्र च यथासङ्ख्यं[1] चोदनाचोदनविषया, संयतस्य चोदनविषया व्यापारोपेक्षा, गृहस्थस्य चाऽचोदनविषया व्यापारोपेक्षा, एतदुक्तं भवति–साधुं विषीदन्तं दृष्ट्वा संयमव्यापारेषु चोदयतः संयतव्यापारोपेक्षा, उपेक्षाशब्दश्चात्र 'ईक्ष दर्शने' उप–सामीप्येनेक्षा उपेक्षा, तथा गृहस्थव्यापारोपेक्षा, गृहस्थमधिकरणव्यापारेषु प्रवृत्तं दृष्ट्वाऽचोदयतो गृहस्थव्यापारोपेक्षा उच्यते, उपेक्षाशब्दश्चात्रावधीरणायां वर्त्तत इति। इदानीं 'परिट्ठवित्ताविसंजमो'त्ति व्याख्यायते, तत्राह—

---

१ °सङ्ख्य समतस्य आ. ल. २।

उवगरण अइरेग पाणाई वाऽवहट्टु सजमणा। सागारियऽपमज्जण सजम सेसे पमज्जणया ॥ १७२ ॥

'उपकरण' वस्त्रादि यदतिरिक्तं गृहीतं तथा 'पाणाई वा' तथा पानकादि वा यदतिरिक्तं गृहीतं तद् 'अवहट्टु'त्ति परित्यज्य, किं?–'सजमणा' संयमो भवतीति, आदिग्रहणान्नक्त वाऽतिरिक्तं परित्यज्य संयमः। इदानीं "पमज्जि णावि संजमो" व्याख्यायते–'सागारियऽपमज्जण संजमो' सागारिकाणामग्रतो यस्मादप्रमार्जनमसावेव संयमः, 'सेसे पमज्जणय'त्ति 'शेषेषु' सागारिकाभावेषु प्रमार्जनेनैव संयमः। इदानीं योगत्रयसंयमप्रतिपादनायाह–

जोगतिग पुव्वभणिअ समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ। चरिमाए पोरिसीए पडिलेहे ताहे पत्तदुग ॥१७३॥

योगत्रय पूर्वमेव 'व्याख्यात, 'मणमाइतिविहकरणमाइओ' इत्यस्मिन् ग्रन्थे, अत्रापि तथैव द्रष्टव्य। उक्तः सप्तदशप्रकारः संयमः, तत्प्रतिपादनायोक्ता वस्त्रप्रत्युपेक्षणा, तत्समाप्तौ च किं कर्तव्यमित्यत आह–'समत्तपडिलेहणाए सज्झाओ' समाप्तायां प्रत्युपेक्षणायां स्वाध्यायः कर्तव्यः सूत्रपौरुषीत्यर्थः पादोनप्रहरं यावत्। इदानीं पात्रप्रत्युपेक्षणामाह–'चरिमाए' चरिमायां पादोनपौरुष्यां प्रत्युपेक्षेत 'ताहे'त्ति तदा तस्मिन् काले स्वाध्यायानन्तरं पात्रकद्वितय प्रत्युपेक्षते। इदानीं यदुक्त 'चरमपौरुष्यां पात्रकद्वितयं प्रत्युपेक्षणीय' तत्र पौरुषी एव न ज्ञायते किंप्रमाणा? अतस्तत्प्रतिपादनायाह–

पोरिसिपमाणकालो निच्छयववहारिओ जिणक्खाओ। निच्छयओ करणजुओ ववहारमतो परं वोच्छं ॥

पौरुष्याः प्रमाणकालो द्विविधः, निश्चयतो व्यवहारतश्च ज्ञातव्यः, तत्र 'निश्चयतो' निश्चयनयाभिप्रायेण करणयुक्त–

गणितन्यायात्, अतः परं 'व्यावहारिकं'[1] व्यवहारनयमतेन वक्ष्ये। तत्र निश्चयपौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाह—

अयणाईयदिणगणे अट्ठगुणेगट्ठिभाइए लद्धं। उत्तरदाहिणमाई पोरिसि पयसुज्झपक्खेवा[2] ॥ २८३ ॥

A दक्खिणानयने उत्तरायणदिनानि उत्तरायणे दक्खिणायनदिनानि मीलयित्वा गण्यन्ते, स च राशिरष्टभिर्गुण्यते, एकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धेऽङ्गुलानि, द्वादशाङ्गुलैः पादः, यावत्पुनरपि[3] मकरदिने ४ पदाः। (दाहिणत्ति—कर्कदिने २ पादौ, शेषेषु पदशुद्धिप्रक्षेपौ) इदानीं व्यवहारतः पौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाह—

आसाढे मासे दुपया पोसे मासे चउप्पया। चेत्तासोएसु[4] मासेसु तिपया होइ पोरिसी ॥ २८४ ॥

---

१ व्यावहारिको आ. ल. १ पा. १। २ °सोज्झा° ल. १। ३ यावता भवति उत्तरति मकरदिने ४ पादाः आ. ल. २। ४ चित्तासोएसु आ. ल. २।

A अयनं—उत्तरायणं दक्षिणायनं च तस्य अतीतदिनानि—अतीतदिवसाः तेषां गणः सर्वोत्कृष्टतः त्र्यशीतिशतं तच्चाष्टगुणं जातं चतुर्दशशतानि चतुःषष्ट्यधिकानि तत्र चैकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि चतुर्विंशत्यङ्गुलानि, तत्रापि द्वादशभिरङ्गुलैः पादमिति द्वे पादे जाते, एतयोश्चोत्तरायणादौ दक्षिणायनादौ च 'पय'त्ति पदोः शुद्धिः प्रक्षेपश्च, तत्र उत्तरायणप्रथमदिने चत्वारि पदानि आसन् ततस्तन्मध्यात् पदद्वयोत्सारणे कर्कसंक्रान्तिदिने पदद्वयं संजातं, दक्षिणायने द्वे पदे अभूतां तन्मध्ये च द्वयोः प्रक्षिप्तयोर्मकरसंक्रान्तौ जातानि चत्वारि पदानि, इदमुत्कृष्टदिनयोः पौरुषीमानं, मध्यमदिनेष्वपि स्वधिया भावनीयं। इदानीं व्यवहारतः पौरुषीप्रमाणकालप्रतिपादनायाह-(प्रत्यन्तरे सुगमो यथार्थबोधको ग्रन्थोऽयमिति)

आषाढे मासे पौर्णमास्यां द्विपदा पौरुषी भवति, पद च द्वादशाङ्गुलं प्राप्त, पौषे मासे पौर्णमास्यां चतुष्पदा पौरुषी भवति तथा चैत्राश्वयुजपौर्णमास्यां त्रिपदा पौरुषी भवति ॥ इदानीं कियती वृद्धिः कियत्सु दिनेषु ? कियती वा हानिरेतत्प्रतिपादयन्नाह—

अंगुल सत्तरत्तेण पक्खेण तु दुअंगुलं । वड्ढए हायए वावि मासेण चउरंगुलं ॥ २८५ ॥

आषाढपौर्णमास्या आरभ्याङ्गुलं सप्तरात्रेण वर्धते, पक्षेण अङ्गुलद्वयं वर्धते, तथा मासेनाङ्गुलचतुष्टयं वर्धते, इय च वृद्धिरुत्तरोत्तरं तावज्ज्ञेया यावत्पौषमासपौर्णमास्यां पदचतुष्टयेन पौरुषी भवतीति, हानिरपि पौषपौर्णमास्याः परत एवमेव द्रष्टव्या, पश्चादङ्गुलं सप्तरात्रेणापह्रियते, पक्षेणाङ्गुलद्वयं, मासेनाङ्गुलचतुष्टयमपह्रियते, एवमियं हानिरुत्तरोत्तरं तावज्ज्ञेया यावदाषाढपौर्णमास्यां द्विपदा पौरुषी जायेत । स्थापना चेयम्—आसाढपुण्णिमाए पद २ पौरुषी, सावणपुण्णिमाए पद २ अंगुल ४, भद्दवयपुण्णिमाए पद २ अंगुल ८, आसोयपुण्णिमाए पद ३, कत्तियपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ४, मग्गसिरपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ८, पोसपुण्णिमाए पद ४, एवंपि जाव वुड्ढी होइ । माहपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ८, फग्गुणपुण्णिमाए पद ३ अंगुल ४, चेत्तपुण्णिमाए पद ३, वइसाहपुण्णिमाए पद २ अंगुल ८, ज्येष्ठ(जेट्ठ)पुण्णिमाए पद २ अंगुल ४, आसाढपुण्णिमाए पद २, एवंपि जाव हाणी । संवच्छरे दिन ३६६, अयणे दि १८३ उउदि. ६१, मासे दि ३०, भावत्थो इमो—सावणस्स पढमदिवसाओ आरब्भ वुड्ढी जदा भवति तदा दिवसे दिवसे अंगुलस्स सत्तमो भागो किंचूणो वड्ढइ, जदा उण हाणी तदा एवमेव अंगुलस्स सत्तमो भागो किंचूणो हायति, इमं भणियं होइ—सावणस्स पढमदिवसे वोरिंसि पयंमि पोरिसी अंगुलस्स स

१ आषाढे आ. क २ । २ इतो आरभ्य हाणी जाव पर्यन्तं पा १ । ३ भावत्थो आ. पा १ । ४ किंचिण्णो आ क. २ । ५ इमं भणितं आ क २ ।

सत्तमभागेणं किंचूणेण अहिया, एवं वितियदिवसे दो पयाइं दो अ सत्तमभागा अंगुलस्स किंचूणा, एवं तइये दिवसे दो पयाइं अंगुलस्स य सत्तभागा तिण्णि किंचूणा, एवं एयाए वुड्ढिए ताव जाव सावणपुण्णिमाए दो पयाइं चत्तारि य अंगुलाइं वुड्ढी जाया, एवं इमाए कमवुड्ढीए ताव नेयवं जाव पोसमासपुण्णिमा। तत्थ य चउप्पया पोरिसी, ततो परं माहपढमदिवसाउ आरब्भ हाणी एतेन चेव कमेण नायवा जाव आसाढपुण्णिमा। आह–इदमुक्तं सप्तभिर्दिवसैरङ्गुलं वर्द्धते, तथा पक्षेणाङ्गुलद्वयं वर्द्धते इत्युक्तं, तदयं विरोधः, कुतो?, यदा पक्षेणाङ्गुलद्वयं वर्द्धते तदाऽङ्गुलं सप्तभिः सार्द्धदिवसैर्वर्द्धते?, आचार्य आह, सत्यमेतत्, किन्त्वनेनैतत्प्रख्याप्यते–वरं किञ्चिद्वृद्धायां पौरुष्यां पारितं मा भून्न्यूनायां, प्रत्याख्यानभङ्गभयात्, न्यूनता च पौरुष्यां एवं भवति, यदि याऽसौ मातुमारब्धा छाया तस्यां यदि प्रदीर्घायां भुङ्क्ते तदा न्यूना पौरुषी, अधिका च तदा भवति यदा सा छाया स्वल्पा भवति। अधुना येषु मासेष्वहोरात्राणि पतन्ति तान् मासान् प्रतिपादयन्नाह—

आसाढबहुलपक्खे भद्दवए कत्तिए य पोसे य। फग्गुणवइसाहेसु य बोधवा ओमरत्ताओ ॥ २८६ ॥

आषाढस्य मासस्य बहुलपक्षे–कृष्णपक्षेऽहोरात्रं पतति, तथा भाद्रपदबहुलपक्षे कृष्णपक्षे अहोरात्रं पतति तथा कार्तिकबहुलपक्षे पौषबहुलपक्षे फाल्गुनबहुलपक्षे वैशाखबहुलपक्षे चैतेषु अहोरात्राणि पतन्ति। 'ओमरत्तं' अहोरात्रं, न च तैरहोरात्रैः पतद्भिः पौरुष्या न्यूनता वेदितव्या, अस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमिदमुक्तं। एवं तावत्पौरुष्याः प्रमाणमुक्तं, या तु

१ किंचिप्पूणेण आ ल २। २ किंचिप्पूणा, एव एयाए आ. ल. १ पा. १। ३ °र्यस्त्वाह आ. ल. २ पा. १। ४ °मेवैतत् ल. १। ५ नैव तत् आ ल २। ६ °ध्यामेव आ ल २। ७ °पक्षे कार्तिक° आ. ल. २. पा. १–२। ८ चाहोरात्राणि आ. ल. २ पा. १।

पुनश्चरमपौरुषी मा क्रियत्प्रमाणा भवतीत्यवस्तत्स्वरूप प्रतिपादनायाह—

जिट्ठामूले आसाढसावणे छहिँ अगुलेहिँ पडिलेहा। अट्ठहिँ बितिअतियम्मि अ तइए दस अट्ठहिँ चउत्थे॥

ज्येष्ठामूले मासे अषाऽऽषाढे श्रावणे च षड्भिरङ्गुलैर्यावद्यापि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति। 'अट्ठहिँ बितियति-यमि'त्ति भाद्रपदे अश्वयुजि कार्त्तिके च तस्मिन् द्वितीयत्रिकेऽष्टभिरङ्गुलैर्यावद्यापि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति। 'तइए दस'त्ति मार्गशिरे पौषे माघे च एतस्मिन् तृतीये त्रिके दशभिरङ्गुलैर्यावद्यापि पौरुषी न पूर्यते तावच्चरमपौरुषी भवति। 'अट्ठहिँ चउत्थे'त्ति फाल्गुने चैत्रे वैशाखे च अस्मिंश्चतुर्थे त्रिकेऽष्टभिरङ्गुलैर्यावन्न पूर्यते पौरुषी तावच्चरमपौरुषी भवति, एतस्यां चरमपौरुष्यां पात्रकाणि प्रतिलेख्यन्ते। स च पात्रकप्रत्युपेक्षणासमये पूर्वं येन व्यापारं करोतीत्यत आह—

उवउजिऊण पुव्व तल्लेसो जइ करेइ उवओग। सोएण चक्खुणा घाणओ य जीहाएँ फासेण ॥२८८॥

'उपयुज्य' उपयोग दत्वा पूर्वमेव, यदुत मयाऽस्यां वेलायां पात्रकाणि प्रत्युपेक्षणीयानीत्येवमुपयुज्य पुनः 'तल्लेश्य एव' प्रत्युपेक्षणाभिमुख एव 'जइ'त्ति 'यति'[1] प्रव्रजितः पात्रकसमीपे उपविश्य 'उपयोगं'करोति' मतिं व्यापारयति, कथ ?— 'श्रोत्रेण' श्रोत्रेन्द्रियेण पात्रके उपयोगं करोति, कदाचिदत्र भ्रमरादि गुञ्जन्त शृणोति, पुनस्त यतनयाऽपनीय तत्पात्रक प्रत्युपेक्षते, तथा चक्षुषा उपयोगं ददाति कदाचिदत्र मूषकोत्केरादिरस्ति भवति, ततस्तद्यतनयाऽपनयति, घ्राणेन्द्रियेण

1 चरोमपौरुषी पा. १। २ के व्यापारं आ. क २ पा १-२। ३ उपपत्तिरूप आ क ३।

चोपयोगं करोति कदाचित्तत्र सिरसुवकादिर्मर्दितो भवति पुनश्च घ्राणेन्द्रियेण ज्ञात्वा यतनयाऽपनयति, जिह्वया च रसं ज्ञात्वा यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपि गन्धपुद्गलैरोष्ठौ यदा व्याप्तो भवति, तदा जिह्वया रसं जानातीति, स्पर्शनेन्द्रियेण चोपयोगं ददाति कदाचित्तत्र मूषकादिः प्रविष्टस्तन्निःश्वासवायुश्च शरीरे लगति, ततश्चैवमुपयोगं दत्त्वा पात्रकाणि प्रत्युपेक्षते[2] ॥ इदानीं भाष्यकृत्किञ्चिद्व्याख्यानयन्नाह—

पडिलेहणिया काले फिडिए कल्लाणगं तु पच्छित्तं । पायस्स पास[3] बिट्ठो सोयादुवउत्त तल्लेसो ॥१७४॥ भा.

प्रत्युपेक्षणाकाले 'फिटिते' अतिक्रान्ते एकं कल्याणकं यतः प्रायश्चित्तं भवति अतः पूर्वमुपयोगं प्रत्युपेक्षणाविषयं करोति । किंविशिष्टोऽसौ उपयोगं करोतीत्यत आह—'पायस्स पास बिट्ठो' पात्रकस्य पार्श्वे उपविष्टः श्रोत्रादिभिरुपयुक्तस्तल्लेश्यः—तच्चित्तो भवतीति । कथं पुनः पात्रकप्रत्युपेक्षणां करोतीत्यत आह—

मुहणंतएण गोच्छं गोच्छगगहिअंगुलीहिं पडलाइं । उक्कुडुयभाणवत्थे पलिमन्थाईसु तं न भवे ॥२८९॥

'मुहणंतएण'त्ति रजोहरणमुखवस्त्रिकया 'गोच्छकं वक्ष्यमाणलक्षणं प्रमार्जयति, पुनस्तदेव[6] गोच्छकमङ्गुलीभिर्गृहीत्वा पटलानि प्रमार्जयति । अत्राह परः—उक्कुडुयभाणवत्थे' उत्कुटुकः सन् 'भाजनवस्त्राणि' गोच्छकादीनि प्रत्युपेक्षयेत् यतो वस्त्र-प्रत्युपेक्षणा उत्कुटुकेनैव कर्त्तव्या, आचार्य आह—'पलिमंथाईसु तं न भवे' तदेतन्न भवति यच्चोदकेनोक्तम्, यतः पलिमन्थः

१ सुरमकादि° आ. ल. १–पा. १, सुरसुरकादि° पा. २ । २ °पेक्ष्यन्ते । ३–४ पासु आ । ५ °गतिअगुलीउ ल १–२ पु. । ६ °स्तमेव पा. १–२ ।

प्रज्ञार्यपोर्भवति, कथं ? प्रथममसौ पादप्रोञ्छने निषीदति पश्चात् पात्रकवस्त्रप्रत्युपेक्षणायामुत्कुटुको भवति पुनः पात्रकप्रत्युपेक्षणायां पादप्रोञ्छने निषीदति, एवं तस्य साधोमिरयतः प्रज्ञार्थयोः पलिमन्थो भवति ततः पादप्रोञ्छने निषण्णेनैव पात्रकवस्त्रप्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्येति ॥ ततः किं करोतीत्यत आह—

चउकोण भाणकपण पमज्ज पापसैरीइ तिग्गुण तु। भाणस्स पुप्फगं तो इमेहिं कज्जेहिं पडिलेहे ॥२९०॥

पटलानि प्रत्युपेक्ष्य पुनर्गोच्छकं वामहस्तानामिकाङ्गुल्या गृह्णाति ततः पात्रककेसरिका—पात्रकमुखवस्त्रिका पात्रकस्यामेव गृह्णाति 'चउकोण'त्ति चतुरः पात्रकन्यकोणान् संवर्योपरिस्थापितान् प्रमार्जयति, पुनर्भाजनस्य कर्णं प्रमार्जयति, पुनश्च पात्रककेसरिकयैव 'तिगुणं' त्रीन् एव वारा बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्च त्रिस पुन वाराः प्रमार्जयति, ततः 'भाणस्स' पात्रकस्य 'पुप्फकं' बुध्नं ततः एतानि वक्ष्यमाणलक्षणानि कार्याणि यदि न भवन्ति ततः प्रथमं बुध्नं पात्रकस्य प्रत्युपेक्षेत। कानि पुनस्तानि कार्याणि ? अत आह—

मूसगरयउक्केरे, घणसंताणए इय। उदए मट्टिया चेव, एसेया पडिवत्तिओ ॥ २९१ ॥

कदाचित्तत्र मूषकोत्केररजो लग्नं भवति ततस्तद्यतनयाऽपनीयते, [redacted] घनः सन्तानको वा—कदाचित् तस्य कोलिकेत

१ यतः भत पार आ क २ पा. १-२ छ.। २ तीन आ क. २। ३ तिस्रो वारा आ पा २। ४ प्रत्युपेक्षते आ पा २। ५ प्रत्युपेक्षते पा २।

तुयं लग्गं होइ तद्यतनयाऽपनीयते । तथा 'उदए'त्ति कदाचिदुदकं लग्नं भवति, साद्रीया भूमेरुन्मज्ज्य लगति, तत्र यतनां वक्ष्यति, ' मट्टिआ चेव ' तथा कदाचित् मृत्तिका गृहकारिकायाः संबन्धिनी लगति तत्र यतनां वक्ष्यति, एवमेताः प्रतिपत्तयः–प्रकारा–भेदा यदि न भवन्ति ततो बुघ्नं प्रत्युपेक्षते । कुतः पुनरुत्केरादिसम्भवः ? इत्यत आह—

नवगनिवेसे दूराउ उक्केरो मूसएहिं उक्किण्णो । निद्धमहि हरतणू वा ठाणं भेत्तूण पविसेज्जा ॥२९२॥

'नवगणिवेसे' यत्र ग्रामादौ ते साधव आवासिताः स नवः–अभिनवो निवेशः कदाचिद्भवति, तत्र च पात्रकसमीपे मूषकैरुत्केर उत्कीर्णस्तेन रजसा पात्रकं गुण्ठ्यते। 'मूसगरयउक्केरे'त्ति भणियं। 'निद्धमहि हरतणू वा' तथा स्निग्धायां–साद्रीयां भुवि 'हरतणू वे'त्ति सलिलबिन्दव उन्मज्ज्य लगन्ति ततो भुव उन्मज्ज्य पात्रकस्थापनकं भित्त्वा प्रविशेत् स लग्नो भवेत् तद्यतनां वक्ष्यति। 'उदए' त्ति गयं, इह कस्मादुदकमस्थान[2] एवोक्तम्? उच्यते, पृथिवीकायस्य घनसन्तानस्य च तुल्ययतना-प्रतिपादनार्थम् । तथा—

कोत्थलगारिअघरगं घणसंताणाइया व लग्गेज्जा। उक्केरं सट्ठाणे हरतणु चिट्ठेज्ज[3] जा सुक्को ॥२९३॥

'कोत्थलकारिकागृहकं[1]' गृहकारिका गृहकं मृन्मयं करोति तत्र यतनां वक्ष्यति। 'मट्टिए'त्ति भणिअं, घनसन्तानिका वा कदाचिल्लगति घणसंतानिया लग्गा, आदिशब्दात्तदण्डकादिः। इदानीं सर्वेषामेवैतेषां यतनां प्रतिपादयन्नाह–'उक्केरं सट्ठाणे'

1 कोत्थलकारिकाया आ । 2 °दकस्थानमेवमुक्तम् ? आ. पा. २ । 3 संचिट्ठ जा आ पा. १ ।

मृषकोत्केरः स्वस्थाने मुच्यते—यतनया मूषकोत्केरमध्य एव स्थाप्यते प्रमृज्य। 'हरतणू' अथ हरतनुः अधस्तात्सलिलबिन्दव उन्मज्ज्य उपास्ततस्तावत्प्रतिपालयति यावदेते शोषमुपगच्छन्ति, ततः पश्चात्पात्रं प्रत्युपेक्षते। 'उवए'त्ति गय ॥

इयरेसु पोरिसितिग संचिक्खावेत्तु तच्चिअ छिंदे। सव्व यावि विगिंचइ पोराण महिअं ताहे ॥ २९४ ॥

'इयरेसु' त्ति कोत्थलकारिआयवर्जिताभियारीष 'पोरिसितिग संचिक्खावेत्तु' त्ति प्रहरत्रय यावत्तत्पात्रकं संचिक्खावेषु प्रतिपाल्य, यदि तावताऽपि वेलया नापैति ततः पात्रकस्थापनादेस्तावन्मात्रं छित्त्वा परित्यज्यते। 'सव्व यावि विगिं चति' अन्येषां वा पात्रकस्थापनादीनां सद्भावे सर्वमेव तत्पात्रकस्थापनादि परित्यजति। 'पोराण महिअं ताहे'त्ति अथ तत्कोत्थलकारिगृहकं न सचेतनया मृत्तिकया कृतं किन्तु पुराणमृत्तिकया ततस्तां पुराणां मृत्तिकां 'ताहे'त्ति तस्मिन्नेव प्रति लेखनाकालेऽपनयति यदि तत्र कृमिकास्तया न प्रवेशिता इति।

पच्च पमज्जिऊणं अतो बाहिं सइ तु पप्फोडे। केइ पुण तिण्णि वारे चउरङ्गुल भूमिं पडणभया ॥२९५॥

इदानीं तत्पात्रक पात्रकेसरिकया—पात्रकमुखवस्त्रिकया तिस्रो वारा बाह्यतः प्रमृज्य संपूर्णास्ततो हस्ते स्थापयित्वा अभ्यन्तरतस्त्रयो वाराः पुनः समन्ततस्तु प्रमृज्य ततः 'सइ तु पप्फोडे'त्ति सकृत्—एकां वारामधोमुखं कृत्वा भुव्ने प्रस्फोटयेत्, एष केषिदाचार्या ब्रुवते, केचित्पुनराचार्या एवं भणन्ति, यदुत तिस्रो वाराः प्रस्फोटनीयं, एतदुक्तं भवति—एकां वारां

1 हरतणु' खा। 2 थेरे क. १। 3 पाश्र्वति खा.। 4 यापनादि खा. पा. २। 5 वारा खा पा १। 6 मुखवस्त्रिकया खा। 7 स्थाः वई खा।

प्रमृज्य पश्चादधोमुखं प्रस्फोट्यते पुनरपि प्रमृज्य प्रस्फोट्यं पुनरपि प्रमृज्यते प्रस्फोट्यते, एवं एतास्तिस्रो वाराः प्रस्फोटनीयं। तत्पात्रकं भुव उपरि कियद्दूरे प्रत्युपेक्षणीयमित्यत आह 'चउरंगुल भूमिं पडणभया' चतुर्भिरङ्गुलैर्भुव उपरि धारयित्वा प्रत्युपेक्षणीयं, मा भूत्पतनभङ्गभयं स्यादिति। एवं तावत्प्रत्यूषसि वस्त्रपात्रप्रत्युपेक्षणा उक्ता, इदानीमुपधिं पात्रकं च प्रत्युपेक्ष्य किमुपधेः कर्त्तव्यं ? क्व वा पात्रकं स्थापनीयमित्यत आह—

वेंटिअबंधणधरणे अगणी तेणे य दंडियक्खोभे। उउबद्धधरणबंधण वासासु अबंधणा ठवणा ॥ २९६ ॥

उपधिविण्टिकानां बन्धनं कर्त्तव्यं, 'धरणे'त्ति पात्रकस्य चात्मसमीपे—आत्मोत्सङ्गे धरणं कार्यम्, अनिक्षिप्तमित्यर्थः, किमर्थं पुनरेतदेवं क्रियते ? यदुपधिका बध्यते पात्रकमनिक्षिप्तं क्रियत इति ?, उच्यते, 'अगणि'त्ति 'अग्निभयात्' प्रदीपनभयात् स्तेनकभयात् दण्डिकक्षोभाच्च एतदेवं क्रियते, कस्मिन् पुनः काले एतदेवं क्रियते कस्मिन् पुनः काले न क्रियते इत्यत आह—'उउबद्ध' ऋतुबद्ध उच्यते शीतकाल उष्णकालश्च, तस्मिन् पात्रकधरणमुपधेश्च बन्धनं कर्त्तव्यं, 'वासासु'त्ति वर्षाकाले 'अबंधण'त्ति उपधेरबन्धनं कर्त्तव्यं—उपधिर्न बध्यते, 'ठवण'त्ति पात्रकं च निक्षिप्यते—एकदेशे स्थाप्यते, प्रयोजनमुपधेरबन्धने पात्रकस्य च निक्षेपणे वक्ष्यति। इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

रयत्ताण भाण धरणं उउबद्धे निक्खिविज्ज वासासु। अगणीतेणभएण व रायक्खोभे[3] विराहणया॥१७५भा.

---

१ °ट्यते ३, एव आ। २ तच्च पात्रक आ ल. २ पा. १। ३ रज्जक्खोभे ल. १. पा. १. २।

रमग्रामस्य भाजनस्य च धरण-अनिक्षेपण कर्त्तव्यं, कदा ?-ऋतुबद्धे शीतोष्णकालयोः, वर्षासु पुनर्भाजन निक्षिपेदे कान्ते, किमर्थं पुनर्भाजनस्य उत्सङ्गे धरण क्रियते ? अत आह-'भयणी' अग्निभयेन-प्रदीपनभयेन स्तेनभयेन वा राजक्षोभेण वा, मा भूदाकुलस्य गृहतः पलिमन्थेनात्मविराधना संयमविराधना वा स्यात् ॥

परिगलमाणा हीरेज्ज डहणा भेया तहेव छक्काया । गुत्तो व सयं डज्झे हीरेज्ज व जं च तेण विणा ॥१७६॥

अग्न्यादिक्षोभे निर्गच्छत आकुलस्य उपधिरवद्धा परिगलति ततश्च परिगलमाना केनचिदपह्रियते 'डहण'त्ति दह्यते वा अथवा सती मषधिर्याबद् गृह्यते, 'भेया' इति आकुलस्य निर्गच्छतोऽन्यासक्त पात्रकं गृहतो "भेदो' विनाशो भवति ततश्च षट्कायस्यापि विराधना संभवति । 'गुत्तो व सयं डज्झे' संमूढो वा उपधिपात्रकग्रहणे स्वयं दह्येत, स्तेनकसंक्षोभे च सति अथविपात्रकग्रहणव्याक्षेपेण स्तेनकै-म्लेच्छैरपह्रियते, 'जं च तेण विण'त्ति यच्च 'तेन विना' उपधिपात्रकादिना विना भवति, आत्मविराधना संयमविराधना च तत्तदस्यमेवेति । आह-पुनः 'किं कारण वर्षासु उपधिर्न बध्यते पात्रकाणि वे निक्षिप्यन्ते ? उच्यते—

वासासु नत्थि अगणी नेव य तेणावि दण्डिया सुत्था । तेण अबधण ठवणा एव पडिलेहणा पाए ॥१७७॥

---

१ भ्रपरिभ्रष्ट अ । २ स्तेन वा. ख्या. पा २ । ३ 'भेदो वा' विनाशो वा भवेत् वा । ४ संभवति पात्रकस्यापि क १ २ । ५ वा ज. क १ २ प १ । ६ तेण ड आ । ७ पाया आ क. २ पा. १ ।

वर्षासु नास्ति अग्निभयं नापि च स्तेनभयं, स्तेनाश्चात्र पल्लीपतिकादयो द्रष्टव्याः, यतस्त एव वर्षासु प्रतिबन्धेन नागच्छन्तीति, दण्डिनश्च–राजानो वर्षासु स्वस्थास्तिष्ठन्ति, विग्रहस्य तस्मिन् कालेऽभावात्, अतस्तेन कारणेन 'अबंधण'त्ति अबन्धनमवधेः 'ठवण'त्ति पात्रकं च पार्श्वे निक्षिप्तं न क्रियते अपि तु स्थाप्यते–मुच्यते। एवं प्रत्युपेक्षणा पात्रविषया प्रतिपादिता, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तमुपकरणप्रत्युपेक्षणाद्वारम्, इदानीं स्थण्डिलद्वारस्य स्वरूपप्रतिपादनायाह—

अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए। आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥ २९७ ॥

'अणावायमसंलोए'त्ति न आपातः–अभ्यागमः स्वपरपक्षयोर्यस्मिन् स्थण्डिले तदनापातं, 'लोकृ दर्शने' न संलोको–न दर्शनं छन्नत्वाद्यस्मिन् स्थण्डिले तदनालोकम्, अनापातं च तदसंलोकं च अनापातासंलोकं एको भेदः स्थण्डिलस्य, तथा 'अणावाए चेव होइ संलोए' नापातः कस्यचिद्यत्र तदनापातं, अनापातं च तत्संलोकं च अनापातसंलोकं, अच्छन्नत्वात्, एतदुक्तं भवति–यत्रासौ पुरीषं व्युत्सृजति तत्र न कस्यचिदापातः किन्तु दूरस्थिताः पश्यन्ति आकाशत्वादिति अयं द्वितीयो भेदः, तथाऽन्यद् 'आवायमसंलोए'त्ति आपातसंलोकम्, आपातं यत्र कश्चिदागच्छति असंलोकं–छन्नं, आपातं च तदसंलोकं च आपातासंलोकम्, एतदुक्तं भवति–आपातोऽस्ति सागारिकाणामासन्ना एव तिष्ठन्ति न च वनादिवृत्यादितिरोहितत्वा-द्व्युत्सृजन्तं साधुं पश्यन्ति, एष तृतीयो भेदः, तथाऽन्यत्–'आवाए चेव संलोए'त्ति 'आपातः' अभ्यागमः कस्यचिद्यत्र 'संलोकः' संदर्शनं यत्र तत् आपातं च तत्संलोकं च आपातसंलोकं सागारिकागमो भवति दूरस्थिताश्च सागारिकाः पश्यन्ति साधुं व्युत्सृज-

१ दण्डिका–अन्यराजानो आ पा. १. २। २ च–अच्छन्न च, एत° आ पा. २।

रयस्त्राणस्य भाजनस्य च धरणं-भनिक्षेपण कर्तव्य, कदा ?-ऋतुबद्धे शीतोष्णकालयोः, वर्षासु पुनर्भाजनं निक्षिपेदे कान्ते, किमर्थं पुनर्भाजनस्य उत्सङ्गे धरण क्रियते ? अत आह-'भयभी' अग्निभयेन-प्रदीपनभयेन स्तेनभयेन वा राजक्षोभेण वा, मा भूदाकुलस्य गृहतः पलिमन्थेनात्मविराधना संयमविराधना वा स्यात् ॥

परिगलमाणा हीरेज्ज डहणा भेया तहेव छक्काया। गुत्तो व सय डज्झे हीरेज्ज व ज च तेण विणा ॥१७६॥

अग्न्यादिक्षोभे निर्भच्छत आकुलस्य उपधिरयवा परिगलति ततश्च परिगलमाना केनचिदपह्रियते 'डहण'त्ति देह्यते वा अथवा सती अधविधीयद् गृह्यते, 'भेया' इति आकुलस्य निर्भच्छतोऽनासन्न पात्रक ग्रहतो 'मेदो' विनाशो भवति ततश्च षट्कायस्यापि विराधना संभवति। 'गुप्तो न सय डज्झे' संमूढो वा उपधिपात्रकग्रहणे स्वय दहेत, स्तेनकसंक्षोभे च सति भवधिपात्रकग्रहणव्याक्षेपेण स्तेनकैः-म्लेच्छैरपह्रियत, 'ज च तेण विण'त्ति यच्च 'तेन विना' उपधिपात्रकादिना विना भवति, आत्मविराधना संयमविराधना च तपस्वस्यमेवेति। आह-पुनः किं कारण वर्षासु उपधिर्न बध्यते पात्रकाणि वे निक्षिप्यन्ते ? उच्यते—

वासासु नत्थि अगणी नेव य तेणाँवि दण्डिया सुत्था। तेण असयण ठवणा एव पडिलेहणा पाए ॥१७७॥

१ भपरिपत्ता खा। २ दहेत वा खा. पा २। ३ 'भेदो वा' विनाशो वा भवेत् खा। ४ संभवति पात्रकस्यापि क १ २। ५ वा खा. क १ २ पा. १। ६ तेन च खा। ७ स्वस्था खा क. २ पा १।

वर्षासु नास्ति अग्निभयं नापि च स्तेनभयं, स्तेनाश्चात्र पल्लीपतिकादयो द्रष्टव्याः, यतस्त एव वर्षासु प्रतिबन्धेन नागच्छन्तीति, दण्डिनश्च[1]–राजानो वर्षासु स्वस्थास्तिष्ठन्ति, विग्रहस्य तस्मिन् कालेऽभावात्, अतस्तेन कारणेन 'अबंधण'त्ति अबन्धनमबधेः 'ठवण'त्ति पात्रकं च पार्श्वे निक्षिप्तं न क्रियते अपि तु स्थाप्यते–मुच्यते । एवं प्रत्युपेक्षणा पात्रविषया प्रतिपादिता, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तमुपकरणप्रत्युपेक्षणाद्वारम्, इदानीं स्थण्डिलद्वारस्य स्वरूपप्रतिपादनायाह—

अणावायमसंलोए अणावाए चेव होइ संलोए । आवायमसंलोए आवाए चेव संलोए ॥ २९७ ॥

'अणावायमसंलोए'त्ति न आपातः–अभ्यागमः स्वपरपक्षयोर्यस्मिन् स्थण्डिले तदनापातं, 'लोकृ दर्शने' न संलोको–न दर्शनं छन्नत्वाद्यस्मिन् स्थण्डिले तदनालोकम्, अनापातं च तदसंल्लोकं च अनापातासंल्लोकं एको भेदः स्थण्डिलस्य, तथा 'अणावाए चेव होइ संलोए' नापातः कस्यचिद्यत्र तदनापातं, अनापातं च तत्संलोकं च[2] अनापातसंलोकं, अच्छन्नत्वात्, एतदुक्तं भवति–यत्रासौ पुरीषं व्युत्सृजति तत्र न कस्यचिदापातः किन्तु दूरस्थिताः पश्यन्ति आकाशत्वादिति अयं द्वितीयो भेदः, तथाऽन्यद् 'आवायमसंलोए'त्ति आपातसंलोकम्, आपातं यत्र कश्चिदागच्छति असंलोकं–छन्नं, आपातं च तदसंलोकं च आपातासंलोकम्, एतदुक्तं भवति–आपातोऽस्ति सागारिकाणामासन्ना एव तिष्ठन्ति न च वनादिवृत्यादितिरोहितत्वाद्व्युत्सृजन्तं साधुं पश्यन्ति, एष तृतीयो भेदः, तथाऽन्यत्–'आवाए चेव संलोए'त्ति 'आपातः' अभ्यागमः कस्यचिद्यत्र 'संलोकः' संदर्शनं यत्र तत् आपातं च तत्संलोकं च आपातसंलोकं सागारिकागमो भवति दूरस्थिताश्च सागारिकाः पश्यन्ति साधुं व्युत्सृज-

१ दण्डिका–अन्यराजानो आ. पा. १. २ । २ च–अच्छन्न च, एत° आ पा. २ ।

न्त, अथ चतुर्थः । इदानीं चतुर्थमेव तावद्भेदं व्याख्यानयति, यतस्तद्व्याख्यानेऽन्ये विधिप्रतिषेधरूपा सुज्ञाना भवन्तीति ॥

तत्थावाय दुविह सपक्खपरपक्खओ य णायव्व । दुविह होइ सपक्खे सजय तह सजईण च ॥२९८॥

तत्रापात स्थण्डिल 'द्विविध' द्विप्रकारं वर्त्तते, कथं द्वैविध्यं भवतीत्यत आह 'सपक्खपरपक्खओ य नायव्व'त्ति तत्र स्वपक्षः-संयतवर्गः परपक्षः-गृहस्थादिः, तत्र स्वपक्षापात द्विविधं संयतस्वपक्षापातं संयतीस्वपक्षापात च ।

सविग्गमसविग्गा सविग्गमणुण्णएयरा चेव । असविग्गावि य दुविहा तप्पक्खियएयरा चेव ॥ २९९ ॥

तत्र ये ते संयतास्ते संविग्नाश्च असंविग्नाश्च, ये ते संविग्नास्ते मनोज्ञा इतरे अमनोज्ञाश्च, असंविग्ना अपि द्विविधाः-'तत्पाक्षिकाः' संविग्नपाक्षिकाः इतरे च-असंविग्नपाक्षिकाः निर्द्धर्मा नैव श्लाघन्ते तपस्विनश्च निन्दन्ति । उक्तः स्वपक्षः, इदानीं परपक्ष उच्यते—

परपक्खेवि अ दुविह माणुस तेरिच्छिअ च नायव्व । एक्किक्कपि अ तिविह पुरिसित्थिनपुंसगे चेव ॥३००॥

परपक्षेऽपि च द्विविधं स्थण्डिल मानुषापात तिर्यगापात च ज्ञातव्य, यत्तन्मानुषापात तदेकैकं त्रिविध-पुरुषापात स्त्र्यापात नपुंसकापात चेति, तिर्यगापातमपि त्रिविध-तिर्यक्पुरुषस्तिर्यक्स्त्री तिर्यग्नपुंसक चेति ।

पुरिसावाय तिविह दडिअ कोडुंबिए य पागइए । ते सोयऽसोयवाई एमेवित्थी नपुंसा य ॥ ३०१ ॥

---

१ त्थीपुरिसनपुंसगं च । पु. ।

तत्र पुरुषापातं त्रिविधं–'दण्डिकः' राजा 'कौटुम्बिकः' श्रेष्ठ्यादिः, 'प्राकृतिकः' प्रकृतीनां मध्ये यः, अयं त्रिविधः पुरुषः, तेषामेकैकस्त्रयाणामपि पुरुषाणां शौचवादी अशौचवादी चेति । 'एमेवित्थी[2] नपुंसा य'त्ति एवमेव दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतिक[3]शौचवाद्यशौचवादिनः स्त्रीनपुंसका ज्ञातव्या एभिर्भेदैर्भिन्नाः । इदानीं मनुष्याणां मध्ये द्वितीयं परपक्षभेदं प्रतिपादयन्नाह—

एए चेव विभागा परतित्थीणंपि होंति[4] मणुयाणं । तिरिआणं पि विभागो अओ परं कित्तइस्सामि ॥३०२

एत एव 'विभागा' भेदा दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतिकशौचाशौचवादिरूपाः परतीर्थिकानामपि भवन्ति मनुष्याणां, इदानीं तिरश्चामपि 'विभागान्' भेदानतः परं 'कीर्त्तयिष्यामि' प्रतिपादयामीत्यर्थः[5]

दित्तादित्ता तिरिआ जहन्नमुक्कोसमज्झिमा तिविहा । एमेवित्थिनपुंसा दुगुंछिअदुगुंछिआ नेया ॥३०३॥

द्विविधास्तिर्यञ्चो–दृप्ताश्चादृप्ताश्च मारका[6]श्चामारकाश्चेति, पुनरेकैकास्त्रिविधा दृप्ता[7] अदृप्ताश्च य उक्तास्ते जघन्या उत्कृष्टा मध्यमाश्च । तत्र जघन्या मूल्यमङ्गीकृत्य मेण्ढकादयः, उत्कृष्टा हस्त्यश्वादयो मध्यमा गवादयः । 'एमेवित्थिनपुंसा' ये ते दृप्ता[8] अदृप्ताश्च ते सर्व एव प्राग्वत्[9] स्त्रियः पुमांसो[10] नपुंसकानि च, ते च पुनः सर्व एव 'जुगुप्सिताः' निन्दिताः 'अजुगुप्सिताः' अनिन्दिता ज्ञेयाः ॥ तत्रैतेषां भेदानां मध्ये केषामापाते सति गमनं कर्त्तव्यमित्यत आह—

---

१ कुडम्बिक ल १ । २ एवमेवित्थी ल १–पा १ । ३ °प्राकृतिकरूपा शौचाशौचवादिनः आ । ४ होइ आ. पा. १ । ५ °पादयिष्यामीत्यर्थः पा २ । ६ मारणाश्चामारणाश्च ल १–२ । ७ दीप्ता अदीप्ताश्च ना । ८ दीप्ता अदीप्ताश्च आ । ९ त्रिप्रकारा एवमेव प्राग्वत् ल. १–२ । १० पुरुषा नपुंसकाश्चेति, आ. ।

गमण मणुण्णे इयरे वितहायरणमि होइ अहिगरण। पउरदवकरण दट्ठु कुसील सेहऽण्णहाभावो ॥२०४

मनोज्ञानामापातो यस्मिन् स्थण्डिले तत्र गमनं कर्त्तव्यं, 'इयरे'त्ति अमनोज्ञास्तेषामापाते गमनं न कर्त्तव्यम्, यतः 'वितहायरणमि होति अहिगरण'त्ति वितथाचरणम्–अन्यसामाचार्या आचरणं तस्मिन् सति शिक्षकाणां परस्परं स्वसामाचारीपक्षपातेन रादिर्भवति तदभाधिकरणं भवति। तथा कुशीलापातेऽपि न गन्तव्यं यतः 'पउरदवकरण दट्ठुं' प्रचुरेण द्रवेण शौचकरणक्रियां पुष्कोलना दृष्ट्वा कुशीलानाम्–असंविग्नानां संबन्धिनी पुनश्च सेहादीनामन्यथाभावो भवेत्, यदुतैते न त्वस्मत्साधवः तस्मादेते एव शोभनाः पूज्याश्चेति तन्मध्ये यान्ति, संयतापातेऽप दोषः, संयतस्यापातं तु एकान्तेनैव वर्जनीयं। इदानीं परपक्षमानुषापातदोषान् दर्शयन्नाह—

जत्थऽम्हे वच्चामो जत्थ य आयरइ नाइवग्गो णे। परिभव कामेमाणा संकेयगदिण्णया वावि ॥ २०५ ॥

वत्थुरुषा एवमाहुः यदुत–यथैव दिशा वयं पुरीषम्युत्सर्जनार्थं व्रजामः यत्र चाचरति-सज्ञाम्युत्सृजनं करोति नः–अस्मदीयो ज्ञातिवर्गः–स्वजनयोपिद्वर्गः तयैव दिशा एतेऽपि व्रजन्ति, 'परिभव'त्ति तदमेते परिभवमस्माकं कुर्वन्ति, 'कामेमाण'त्ति नूनमेते 'कामयन्ति' अभिलषन्ति स्त्रियं तेन तत्र प्रयान्ति, 'संकेतगदिण्णा' दत्तसङ्केतका वा तेन स्त्र्यापाते व्रजन्ति। एते च दोषाः—

दव अप्प कलुस असई अवण्णपडिसेह विप्परीणामो। संकाईया दोसा पडिरियैसु गहिए य ज घऽण्ण॥ २०६

१ पुष्पोद्धरणा आ.। २ संस्तीर्णा त्वापातमेव्यन्ते आ. भा. १-२। ३ भाव° क १ प्र। ४ पीडित्ति नाडे न आ. भा. १।

कदाचिद्द्रवमल्पं भवति तत उड्डाहादि 'कलुस'त्ति कलुषं वा उदकं भवति, 'असई'त्ति अभावो वा द्रवस्य भवति, ततश्चैते दोषाः–अवर्णः–अश्लाघा प्रवचने भवति, प्रधानो वा कश्चिद् दृष्ट्वा प्रतिषेधं भिक्षादेः करोति, 'विपरिणामो वा' कस्यचिद्-भिनवश्राद्धस्य भवति, शङ्कादयश्च दोषाः पण्डकस्त्रीविषया भवन्ति, 'गहिए जं चऽण्णं'ति पण्डकस्त्रीभ्यां बलाद्गृहीतस्य यच्चान्यदाकर्षणोड्डाहादि भवति स च दोषः। इदानीं तिर्यगापाते दोषं दर्शयन्नाह—

आहणणाई दित्ते गरहिअतिरिएसु संकणादीणि[1]। एमेव य संलोए तिरिए वज्जित्तु मणुआणं ॥ ३०७ ॥

दृप्ततिर्यगापाते–मारणकतिर्यगापाते आहननादिदोषाः, आदिग्रहणाद्भक्षणदोषश्च मर्कटादिकृतः, गर्हितेषु–गर्दभ्यादिषु तिर्यक्षु मैथुनाशङ्काद्याः, आदिग्रहणान्निःशङ्कमेव वा भवति। एवं तावदेते आपातदोषा उक्ताः, 'एमेव य संलोए' एवमेव संलोकेऽपि 'मनुष्याणां' मनुष्यसंबन्धिनि दोषा द्रष्टव्याः, किन्तु 'तिरिए वज्जित्तु'त्ति तिरश्चो मुक्त्वा, एतदुक्तं भवति–तिर्यक्-संलोके न कश्चिद्दोषो भवतीति। इदानीं संलोके दोषानेव दर्शयन्नाह—

कलुसदवे असई य व पुरिसा लोए हवंति दोसा उ। पंडित्थीसुवि एए खद्धे वेउव्वि मुच्छा य ॥ ३०८॥

कलुषे द्रवे सति 'असति' अभावे वा द्रवस्य पुरुषालोके पुरुषो यस्मिन् स्थितः पश्यति, पण्डकस्त्रीजनिताश्च शङ्कादयो दोषाः पूर्वोक्ताः तथा 'खद्धे' बृहत्प्रमाणे शेफे 'विउव्वि'त्ति विक्रियामापन्ने शेफे दृष्टे[2] सति पण्डकस्य स्त्रिया वा मूर्च्छा

१ संकमाईआ आ. पा १। २ दृष्ट्वा आ. पा १।

मनुराणो भवति। उक्त चतुर्थं स्थण्डिलमापातसलोकरूपम्, इदानीं तृतीयमापातासलोकरूपमुच्यते, तत्राह—

आवायदोस तइए बिइए सलोयओ भवे दोसा। ते दोवि नत्थि पढमे तहिं गमण तत्थिमा मेरा ॥२०९॥

तृतीय स्थण्डिल यद्यप्यसलोक तथाऽप्यापातदोषदुष्ट वर्तते। उक्त तृतीयम्, इदानीं द्वितीयमनापातसंलोकरूपमुच्यते, तत्राह–'बिइए संलोयओ भवे दोसा' द्वितीये यद्यप्यापातदोषो नास्ति तथापि संलोकतो भवन्ति दोषाः, उक्त द्वितीय स्थण्डिल, इदानीं प्रथममनापातमसलोकमुच्यते, तत्राह–'त दोवि नत्थि पढमे'त्ति त दोषा आपातजनिताः सलोकजनिताश्च न सन्ति पढमे स्थण्डिलेऽतस्तत्रैव गमन कर्तव्य, तत्र चेय 'मेरा' मर्यादा–वक्ष्यमाणा इय नीतिरिति॥ तत्र यदुक्त प्रथमे स्थण्डिले गच्छतामिय मेरा साऽभिधीयते—

कालमकाले सण्णा कालो तइयाए सेसयमकालो। पढमा पोरिसि आपुच्छ पाणगमपुप्फियऽण्णदिसिं

अनेका काले सञ्ज्ञा भवति अन्याऽकाले सञ्ज्ञा भवति। 'कालो तत्तियाए'त्ति 'कालः' सञ्ज्ञायाः तृतीयायां पौरुष्यां भवति 'सेसयमकालो'त्ति शेषकाले या सञ्ज्ञा भवति साऽकालसञ्ज्ञेत्युच्यते, 'पढमा पोरिसि'त्ति तत्राकालसञ्ज्ञा प्रथम पौरुष्यां यदि भवति ततः 'आपुच्छ पाणग'त्ति आपृच्छय साधून्, एतदुक्त भवति–साधूनेवमसावापृच्छति यदुत–भवतां किं चयिचङ्क्रमणभूमिं यास्यति न वा ? इति, पुनः 'पाणगं'ति तदनुरूपं पानकमानयति, किं विशिष्टम् ?–'अपुप्फिय' अपुष्पिकं

1 ... सुती ... पा. १ । २ अपुष्पितं आ. क २ पु.।

तरिकारहितं येन स्वच्छतया उदकभ्रान्तिर्भवति, 'अण्णदिसिं'[1]ति अन्यया पत्तनस्य दिशा उदकं गृह्यते अन्यया च दिशा चङ्क्रमणभूमिं प्रयाति येन सागारिकाशङ्का न भवति यदुतैषे[2] काञ्जिकेन शौचं कुर्वंतीति[3] ॥

अइरेगगहण उग्गाहिएण आलोअ पुच्छिउं गच्छे। एसा उ अकालंमी अणहिंडिअ हिंडिआ कालो ॥३११॥

अतिरिक्तं च तत्पानकं गृह्यते कदाचिदन्यसाधोः कार्यं भवेत् सागारिकपुरस्ताद्वा उच्छोलनादि क्रियते। 'उग्गाहिएण'त्ति उद्ग्राहितेन–पात्रबन्धबद्धेन पात्रकेणानीयते[4] गुप्तं सत् 'आलोए'त्ति आनीय चाचार्यस्य तदालोच्यते, 'पुच्छिउं गच्छे'त्ति पुनस्तमेवाचार्यं पृष्ट्वा चङ्क्रमणिकायां[5] गच्छति, इयमकाले सञ्ज्ञा अकालसञ्ज्ञेत्यर्थः, अहिण्डितानां सतां भवति। कालसञ्ज्ञा पुनर्हिण्डितानां–भिक्षाटनकालस्योत्तरकालं भुक्त्वा या भवति सा कालसञ्ज्ञा भवति। अन्ये त्वाहुः–'अणहिंडिय हिंडिया-कालो'त्ति अहिण्डितानामर्थपौरुषीकरणोत्तरकाले या भवति सा कालसञ्ज्ञैव तथा हिण्डितानां भिक्षाभ्रमणभोजनोत्तरकालं या भवति साऽपि कालसञ्ज्ञोच्यते। भुक्तोत्तरकालं या सञ्ज्ञा भवति तत्र किं कृत्वा कथं वा गम्यते? इत्यत आह—

कप्पेऊणं पाए एक्किक्कस्स उ दुवे पडिग्गहए। दाउं दो दो गच्छे तिण्हऽट्ठ दवं तु घित्तूणं ॥ ३१२ ॥

पात्रकाणि कल्पयित्वा पत्ताई तिप्पिऊण[6] इत्यर्थः पुनरेकैकस्य साधोः पतद्ग्रहद्वय दत्त्वा, एतदुक्तं भवति–योऽसौ तिष्ठति साधुस्तस्य आत्मीयमेव पतद्ग्रहकं द्वितीयं तु पतद्ग्रहकं योऽसौ साधुश्चङ्क्रमणभूमिं प्रयाति स चात्मीयमपि तद्धस्ते समर्पयित्वा[7]

१ °दिसं आ ल २। २ °तैते आ ल २ पा २ १। ३ कुर्वन्ति आ पु। ४ °केण समानीय गुप्त आ। ५ °मणिकया आ. पु. पा. २। ६ तेप्पिऊण आ ल २ पा. १ २; तिप्पेऊण पु.। ७ समर्पयित्वा आ. पा. १ २. पु., निज पतद्ग्रह समर्प० ल. २।

भवति अत एकैकस्य द्वौ द्वौ पतद्ग्रहकौ भवतः। 'दो दो गच्छे'त्ति द्वौ द्वौ गच्छतः नैकको गच्छति, तत्र च 'तिण्हऽड्ढ दव तु घिप्पं' त्रयाणां साधूनामर्थे यावदुदकं भवति तावन्मात्रं तौ गृहीत्वा व्रजतः। ते च कथं गच्छन्ति ? अत आह—

अजुगलिआ अतुरंता विकहारहिआ वयंति पढमं तु। निसिइत्तु डगलगहणं आवडणं वच्चमासज्ज ॥२१३॥

न युगलिताः—समश्रेणिस्था व्रजन्ति किन्तु अयुगलिताः अत्वरमाणा विकथारहिताश्च व्रजन्ति, ततश्चङ्क्रमणभूमिं प्राप्य प्रथमं 'निषीदयित्वा' उपविश्य डगलकानां—अपानपुञ्छनार्थमिष्टकाखण्डलकानां लघुपाषाणकानां वा ग्रहणं करोति, 'आवडणं'ति प्रस्फोटनं तेषां डगलकानां करोति, कदाचित्तत्र पिपीलिकादिः स्यात्, तेषां च ग्रहणे किं प्रमाणमत आह—'वच्चमासज्ज' पुरीषमङ्गीकृत्य, रूक्षं कठिनं वा विज्ञाय पुरीषं ततस्तदनुरूपाणि डगलकानि गृह्णाति, ततो डगलकानि गृहीत्वो स्थण्डिले उपविशति। कीदृशे इत्यत आह—

अणावायमसंलोए परस्सणुवघाइए। समे अज्झुसिरे यावि अचिरकालकयंमि अ ॥ २१४ ॥

अनापाते असंलोके परस्य यस्मिन् तदनापातासंलोकं स्थण्डिलं लोकस्य, तथा 'अणुवघाइए'त्ति उपघातश्च यत्र न भवति उड्डाहादिस्तस्मिन्ननुपघातिके, तथा समं यत्र लुठनं न भवति, लुठिते स्थण्डिले आत्मपतनभयं पुरीषं च मूत्रं कीटिकादि प्लावयति तथा 'अज्झुसिरे यावि'त्ति यत्तृणादिच्छन्नं न भवति, तत्र हि वृश्चिकादिरागत्य दशति कीटकादि वा

१ दरीय वच्चमस्थण्डिले खं.। २ 'मणुण्णंमि' ज ख. १। ३ छूटे भा. पु. वा १-२। ४ 'कीडियाओ' भा।

प्लाव्यते, 'अचिरकालकयंमि य'त्ति अचिरकालकृतं तस्मिन्नेव द्विमासिके ऋतौ यदग्न्यादिना प्रांसुकीकृतं तस्मिन् ।

वित्थिण्णे दूरमोगाढे, नासण्णे बिलवज्जिए । तसपाणबीयरहिए उच्चाराईणि वोसिरे ॥ ३१५ ॥

तथा विस्तीर्णे, तत्र विस्तीर्णं जघन्येन हस्तप्रमाणं चतुरस्रमुत्कृष्टेन चक्रवर्त्यावासनिकाप्रमाणं द्वादशयोजनप्रमाणमिति गम्यते तस्मिन्, 'दूरमोगाढे'त्ति दूरमधोऽवगाह्य अग्न्यादितापेन प्रासुकीकृतं जघन्येन चत्वार्यङ्गुलानि अधः, 'नासण्णे'त्ति तत्रासन्नं द्विविधं भावासन्नं दव्वासन्नं च, भावासन्नं अणहियासओ अतिवेगेण आसन्ने चेव वोसिरइ, दव्वासण्णं धवलघरआरामाईणं आसन्ने वोसिरइ, न आसन्नं अनासन्नं–यद्द्रव्यासन्नं भावासन्नं वा न भवति तस्मिन् व्युत्सृजति तथा 'बिलवर्जिते' बिलादिरहिते स्थण्डिले व्युत्सृजति, तथा त्रसप्राणबीजरहिते व्युत्सृजतीति, एतस्मिन् दशदोषरहिते स्थण्डिले सति उच्चारादीनि व्युत्सृजति । इदानीमेकादिसंयोगेन यावन्ति स्थण्डिलानि भवन्ति तावन्ति प्रतिपादयन्नाह—

एगदुगतिगचउक्कगपंचगछसत्तट्ठनवगदसगेहिं । संजोगा कायव्वा भंगसहस्सं चउवीसं ॥ ३१६ ॥

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चषट्सप्ताष्टनवदशकैः संयोगाः कर्त्तव्याः, ततश्च सर्वैरेभिर्निष्पन्नं भङ्गकसहस्रं चतुर्विंशत्युत्तरं भवति । इदानीं भाष्यकार एतान्येव स्थण्डिलपदानि व्याख्यानयति, तत्राद्यमनापातमसंलोकं व्याख्यातमेव, इदानीमनुपघातिकपदव्याचिख्यासयाऽऽह—

---

१ प्राशु॰ आ । २ ॰योजनमिति गम्यते आ. पा. १ । ३ अग्न्यादिना येन पु. । ४ प्राशुकी॰ आ । १ ॰जतीति, एत॰ ल. १–२ ।

आयापवयणसंजमतिविहमुवघाइयं तु नायव्वं । आराम वच्च अगणी पिट्टण असुई य अन्नत्थ ॥ १७८ ॥

औपघातिकं त्रिविधं ज्ञातव्य–आत्मौपघातिकं प्रवचनौपघातिकं संयमौपघातिकं च, तत्रात्मौपघातिकं कं भवति ? अत आह–आरामे–आरामादौ व्युत्सृजतः, प्रवचनौपघातिकं च कं भवतीत्यत आह–'वच्च' वर्चो–गृथं तत्करीषे व्युत्सृजतः, संयमौपघातिकं च कं भवतीत्यत आह–'अगणी' अग्निः स यत्र प्रज्वाल्यते, एतच्च यथासङ्ख्येन योजनीयं । कथमात्मोपघातादि भवतीत्यत आह–यथासङ्ख्येन 'पिट्टण असुई य अन्नत्थ' आरामे व्युत्सृजतः पिट्टणं–ताडनं भवति, वर्चःकरीषे व्युत्सृजतोऽशुचिरयमिति लोकः एवं सम्भावयति, अङ्गारदहनभूमौ व्युत्सृजतः सोऽङ्गारदाहकः 'अन्नत्थ'त्ति अन्यत्राङ्गारार्थं प्रज्वालयति ततश्च संयमोपघात इति, यतश्चैते दोषा भवन्ति अतोऽनुपघातिके स्थण्डिले व्युत्सृजनीयमिति । अनुपघातिकं गतम्, इदानीं 'समे'त्ति व्याख्यानयन्नाह–

विसम पलोट्टण आया इयरस्स पलोट्टणंमि छक्काया । झुसिरंमि विच्छुगाई उभयक्कमणे तसाईया ॥१७९॥

विषमे स्थण्डिले व्युत्सृजतः प्रलुठनं साधोरेव भवति ततश्च तस्मिन् प्रलुठने सति आत्मोपघातो भवति । 'इतरस्स' इति इतरयोः कायिकापुरीषयोः, प्रलुठने सति षट् काया विराध्यन्ते, तस्मात् समे व्युत्सृजनीयम् । 'समे'त्ति गतं, 'अज्झुसिरे'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–'झुसिरंमि विच्छुगाई' शुषिरं पलालादिछन्नं तत्र व्युत्सृजतो वृश्चिकादिभक्षणं सम्भवति

---

१ पुरुषार्थं आ । २ आराम– क १–२ पा. १–२। ३ °आत्मविराधना 'उभय'त्ति मूत्रपुरीषे तदाक्रमणेन त्रसादयो विराध्यन्ते ततश्च संयमोपघातो भवति 'इयरस्स' आ ।

ततश्चात्मविराधना 'उभय'त्ति मूत्रपुरीषं तदाक्रमणेन त्रसादयो विराध्यन्ते ततश्च संयमोपघातो भवति तस्मादशुपिरे व्युत्सृजनीयम्, दारम्। इदानीं 'अचिरकालकयंमि य'त्ति व्याख्यायते—

जं जंमि उउंमि कया पयावणाईहि थंडिला ते उ। होंति इयरंमि चिरकया वासा[2] वुत्थेय बारसगं ॥१८०भा.

यानि यस्मिन् ऋतौ–शीतकालादौ प्रतापनादिभिः–अग्निप्रज्वालनादिभिः स्थण्डिलानि कृतानि[3] तानि तस्मिन्नेव च ऋतौ स्थण्डिलान्यचित्तानि, तान्येव[4] स्थण्डिलानि इतरस्मिन्–अनन्तरऋतौ चिरकृतानि मिश्रीभूतानि चायोग्यानि भवन्ति। 'वासा वुत्थेय[5] बारसगं'ति यस्मिन् प्रदेशे एकं वर्षाकालं ग्राम उषितः, स च प्रदेशो 'द्वादश' द्वादश वर्षाणि यावत्स्थण्डिलं भवति, यत्र पुनर्वर्षमात्रमुषितो[6] ग्रामस्तत्र भवत्येव स्थण्डिलं द्वादश वर्षाणीति। इदानीं 'वित्थिंण्णं'[7]ति व्याख्यायते[8]—

हत्थायामं चउरंसं[9] जहण्णं जोयणे बिछाक्कियरं। चउरंगुलप्पमाणं जहण्णयं दूरमोगाढं ॥१८१॥ (भा.)

विस्तीर्णं द्विधा–जघन्यमुत्कृष्टं च, तत्र जघन्यं हस्तायामं चतुरस्रं च जघन्यतो विस्तीर्णं स्थण्डिलं, 'जोयणे विछक्कियरं' ति इतरं–उत्कृष्टं विस्तीर्णं योजनानां द्विषट्कं[10], द्वादशयोजनविस्तीर्णमित्यर्थः। वित्थिण्णेत्ति गयं, इदानीं 'दूरमोगाढं'[11]ति व्याख्यायते, तत्राह–'चतुरंगुलप्पमाणं' चत्वार्यङ्गुलानि भुवोऽधो यदवगाढं तज्जघन्यतो दूरमोगाढमित्युच्यते, मध्यममुत्कृष्टं च चतुर्णामङ्गुलानामधस्ताद्विज्ञेयमिति। दारम्। आसन्नं व्याख्यायते तत्राह—

१ °वणाईसु ल १ पा. २। २ वुच्छेय आ। ३ कृतानि तस्मिन्नेव आ। ४ भवन्ति तानि स्थण्डि° आ। ५ वुच्छेय आ.। ६ °वर्षमात्र° आ. ल २। ७ 'विच्छिण्ण' आ.। ८ °नयत्राह आ. ल. २ पा १–२। ९ चउरस्स आ.। १० द्विषट्का आ. ल. २। ११ °गाढं°ति आ. पा. १।

न्यासण्ण मवणाइयाण तहिय सु सजमायाए। आयापवयणसजमदोसा पुण भावआसण्णे ॥१८२॥मा

मासन्न द्विविध-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यासन्नं भवनादीनामासन्ने व्युत्सृजतो द्रव्यासन्न भवति, तत्र च संयमात्मो गणातो भवति, तत्र संयमोपघात एव भवति-स गृहपतिस्तत्पुरीष साधुव्युत्सृष्ट केनचित्कर्मकरेणान्यत्र त्याजयन्ति ततश्च तत्प्रदेशनिलेपने हस्तप्रक्षालने च संयमोपघातो भवति, आत्मोपघातश्च स गृहपती रुष्टः सन् कदाचित्ताडयति ततश्चात्मो घघात इति, तस्माद्द्रव्यासन्ने न व्युत्सृजनीय। इदानीं भावासन्नं प्रतिपादयन्नाह-'आयापवयण'त्ति आत्मप्रवचनसंयमोपघात-दोषा भावासन्ने भवन्ति, कथं ?, स हि साधुरन्ययोगव्यापृत(एव)स्तावदास्ते यावदतीव भावासन्नः संजातः, ततश्च त्वरित प्रयाति, पुनश्च केनचित् पूर्वेणोपलक्ष्य भावासन्नतां धर्मप्रच्छनव्याजेनार्धपथ एव धृतः ततश्च तस्य पुरीषवेगं धारयत आत्मोपघातो भवति, अथार्धपथ एव व्युत्सृजति ततश्च प्रवचनोपघातो भवति, संयमोपघातोऽपि तत्रैवाप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले व्युत्सृजतो भवति, तस्मादनागतमेव गमनं प्रवर्तते। इदानीं बिलवदिति व्याख्यायते, तथाह—

होंति बिले दो दोसा तसेसु बीएसु वावि ते चेव। सजोगओ अ दोसा मूलगमा होंति सविसेसा ॥१८३॥मा

बिलप्रदेशे व्युत्सृजतो दोषद्वय भवति-आत्मविराधना संयमविराधना च, द्वारं। इदानीं 'तसपाणबीयरहिय'त्ति व्याख्यायते, तथाह-'तसेसु बीएसु वावि ते चेव' त्रसेषु व्युत्सृजत आत्मसंयमविराधना भवति, बीजेषु च व्युत्सृजतस्त एव दोषा भवन्ति-आत्मविराधना संयमविराधना च, तत्रात्मविराधना गोक्षुरकप्रभृतीनामुपरि व्युत्सृजतो भवति, संयम

विराधनाऽपि तथैवेति, द्वारं । एवं तावदेकैकदोषदुष्टं स्थण्डिलमुक्तम् । इदानीं द्वितीयादिसंयोगेन दोषदुष्टतां प्रतिपादयन्नाह—'संजोगओ अ' संयोगतो—द्व्यादिदोषसंबन्धेन 'मूलगमाव्' मूलदोषात् सकाशात् 'सविशेषाः' द्विगुणतरादयो दोषा भवन्ति, एतदुक्तं भवति मूलभेदस्तावदापातसंलोकदोषदुष्टता तथाऽन्यस्तत्रैव यद्युपघातदोषो भवति ततो द्विदोषसंयोगतः सविशेषा दोषा भवन्ति । एवं दोषत्रयादिसंयोगतः सविशेषा अधिका एकैकस्मिन् स्थण्डिले ज्ञेया इति । इदानीं तस्मिन् दोषरहिते स्थण्डिले प्राप्तस्य यो विधिः स उच्यते—

दिसिपवणगामसूरियछायाए पमज्जिऊण तिक्खुत्तो । जस्सोग्गहोत्ति काऊण वोसिरे आयमिज्जा वा ३१७

तत्र तेन साधुना सञ्ज्ञां व्युत्सृजता 'दिसि'त्ति उत्तरस्यां दिशि पूर्वस्यां च न पृष्ठं दातव्यं, लोकविरोधात्, तथा पवनग्रामसूर्याणां च पृष्ठं दत्त्वा न व्युत्सृजनीयं, लोकविरोधादेव । तथा छायायां प्रमार्जयित्वा 'तिक्खुत्तो'त्ति तिस्रो वाराः प्रमार्जयित्वा तत्र व्युत्सर्जनीयं, 'जस्सोग्गहो'त्ति यस्यायमवग्रहस्तेनानुज्ञातव्य इत्येवं कृत्वा व्युत्सृजनीयं 'आयमिज्जा वा' निर्लेपनं चं पानकेन एवमेव कुर्यात्, यदुत स्थण्डिलेऽनुज्ञापयित्वा चेति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

उत्तरपुव्वा पुज्जा जम्माए निसियरा अहिवडंति । घाणाऽरिसा य पवणे सूरियगामे अवण्णो उ ॥१८४॥भा.

उत्तरा दिक् पूर्वा च किल लोके एते द्वेऽपि पूज्ये, ततश्च तयोः पृष्ठं न दातव्यं, 'जम्माए निसियरा अभिवडंति'त्ति याम्या-

---

१ विराधना तथै° आं. क. १–२ । २ °दोषभेदात् भा. पा. १–२. पु. । ३ मूलभेदस्ताव° भा. पा १ । ४ चापाने भा. ।

न्वासण्ण भवणाइयाण तद्दिय सु सजमायाए। आयापवयणसजमदोसा पुण भावआसण्णे ॥१८२॥मा

मासन्ने द्विविध-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यासन्न भवनादीनामासन्ने व्युत्सृजतो द्रव्यासन्न भवति, तत्र च संयमात्मो पघातो भवति, तत्र संयमोपघात एव भवति-स गृहपतिस्तत्पुरीष साधुव्युत्सृष्ट केनचित्कर्मकरेणान्यत्र त्याजयन्ति ततश्च तत्प्रक्षेपेण हस्तप्रक्षालने च संयमोपघातो भवति, आत्मोपघातश्च स गृहपती रुष्टः सन् कदाचित्ताडयति ततश्चात्मो पघात इति, तस्माद्द्रव्यासन्ने न व्युत्स्रष्टव्यं। इदानीं भावासन्न प्रतिपादयन्नाह-'आयापवयण'त्ति आत्मप्रवचनसंयमोपघात-दोषा भावासन्ने भवन्ति, कथं ?, स हि साधुरन्ययोगव्यापृत(एव)स्तावदास्ते यावदतीव भावासन्नः संजातः, ततश्च त्वरितं प्रयाति, पुनश्च कश्चित् पूर्वेणोपलक्ष्य भावासन्नतो धर्मप्रच्छनव्याजेनार्द्धपथ एव धृतः ततश्च तस्य पुरीषवेग धारयत आत्मोपघातो भवति, अथार्द्धपथ एव व्युत्सृजति ततश्च प्रवचनोपघातो भवति, संयमोपघातोऽपि तत्रैवाप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले व्युत्सृजतो भवति, तस्मादनागतमेव गमन प्रवर्तते। इदानीं बिलवर्जितं व्याख्यायते, तत्राह—

होंति बिले दो दोसा तसेसु बीएसु वावि ते चेव। सजोगओ अ दोसा मूलगमा होंति सविसेसा ॥१८३॥मा

बिलप्रदेशे व्युत्सृजतो दोषद्वयं भवति-आत्मविराधना संयमविराधना च, द्वारं। इदानीं 'तसपाणबीयरहिय'त्ति व्याख्यायते, तत्राह-'तसेसु बीएसु वावि ते चेव' त्रसेषु व्युत्सृजत आत्मसंयमविराधना भवति, बीजेषु च व्युत्सृजतस्त एव दोषा भवन्ति-आत्मविराधना संयमविराधना च, तत्रात्मविराधना गोवृश्चिकप्रभृतीनामुपरि व्युत्सृजतो भवति, संयम

विराधनाऽपि तथैवेति, दारं । एवं तावदेकैकदोषदुष्टं स्थण्डिलमुक्तम् । इदानीं द्वितीयादिसंयोगेन दोषदुष्टतां प्रतिपादयन्नाह– 'संजोगओ अ' संयोगतो–द्व्यादिदोषसंबन्धेन 'मूलगमाउ' मूलदोषात् सकाशात् 'सविशेषाः' द्विगुणतरादयो दोषा भवन्ति, एतदुक्तं भवति मूलभेदस्तावदापातसंलोकदोषदुष्टता तथाऽन्यस्तत्रैव यद्युपघातदोषो भवति ततो द्विदोषसंयोगतः सविशेषा दोषा भवन्ति । एवं दोषत्रयादिसंयोगतः सविशेषा अधिका एकैकस्मिन् स्थण्डिले ज्ञेया इति । इदानीं तस्मिन् दोषरहिते स्थण्डिले प्राप्तस्य यो विधिः स उच्यते—

दिसिपवणगामसूरियछायाए पमज्जिऊण तिक्खुत्तो । जस्सोग्गहोत्ति काऊण वोसिरे आयमिज्जा वा २१७

तत्र तेन साधुना सञ्ज्ञां व्युत्सृजता 'दिसि'त्ति उत्तरस्यां दिशि पूर्वस्यां च न पृष्ठं दातव्यं, लोकविरोधात्, तथा पवनग्रामसूर्याणां च पृष्ठं दत्त्वा न व्युत्सृजनीयं, लोकविरोधादेव । तथा छायायां प्रमार्जयित्वा 'तिक्खुत्तो'त्ति तिस्रो वाराः प्रमार्जयित्वा तत्र व्युत्सर्जनीयं, 'जस्सोग्गहो'त्ति यस्यायमवग्रहस्तेनानुज्ञातव्य इत्येवं कृत्वा व्युत्सृजनीयं 'आयमिज्जा वा' निर्लेपनं च पानकेन एवमेव कुर्यात्, यदुत स्थण्डिलेऽनुज्ञापयित्वा चेति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह–

उत्तरपुव्वा पुज्जा जम्माए निसियरा अहिवडंति । घाणाऽरिसा य पवणे सूरियगामे अवण्णो उ ॥१८४॥ भा.

उत्तरा दिक् पूर्वा च किल लोके एते द्वेऽपि पूज्ये, ततश्च तयोः पृष्ठं न दातव्यं, 'जम्माए निसियरा अभिवडंति'त्ति याम्या-

१ विराधना तथै° आ. क. १–२ । २ °दोषभेदात् भा. पा. १–२. पु. । ३ मूलभेदस्ताव° भा. पा १ । ४ चापाने भा. ।

दव्वासण्ण भवणाइयाण तहिय तु संजमायाए। आयापवयणसंजमदोसा पुण भावआसण्णे ॥१८२॥

भा० आसन्न द्विविध–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यासन्नं भवनादीनामासन्ने व्युत्सृजतो द्रव्यासन्नं भवति, तत्र च संयमात्मोपघातो भवति, तत्र संयमोपघात एवं भवति–स गृहपतिस्तत्पुरीषं साधुव्युत्सृष्टं केनचित्कर्मकरेणान्यत्र त्याजयन्ति ततश्च तत्प्रदेशविलेपने हस्तप्रक्षालने च संयमोपघातो भवति, आत्मोपघातश्च स गृहपती रुष्टः सन् कदाचित्ताडयति ततश्चात्मोपघात इति, तस्माद्द्रव्यासन्ने न व्युत्स्रष्टव्यं। इदानीं भावासन्नं प्रतिपादयन्नाह–'आयापवयण'त्ति आत्मप्रवचनसंयमोपघाता दोषा भावासन्ने भवन्ति, कथं ?, स हि साधुरन्वयोगव्यापृत(एव)स्तावदास्ते यावदतीव भावासन्नः संजातः, ततश्च त्वरितं प्रयाति, पुनश्च केनचित् पूर्तेनोपलक्ष्य भावासन्नतां धर्मप्रच्छनव्याजेनार्द्धपथ एव धृतः ततश्च तस्य पुरीषवेगं धारयत आत्मोपघातो भवति, अथार्द्धपथ एव व्युत्सृजति ततश्च प्रवचनोपघातो भवति, संयमोपघातोऽपि तत्रैवाप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले व्युत्सृजतो भवति, तस्मादनागतमेव गमने प्रवर्तते। इदानीं बिलवर्जितं व्याख्यायते, तत्राह–

होंति बिले दो दोसा तसेसु बीएसु वावि ते चेव। संजोगओ अ दोसा मूलगमा होंति सविसेसा ॥१८३॥

भा० बिलप्रदेशे व्युत्सृजतो दोषद्वयं भवति–आत्मविराधना संयमविराधना च, द्वारं। इदानीं 'तसपाणबीयरहिय'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–'तसेसु बीएसु वावि ते चेव' त्रसेषु व्युत्सृजत आत्मसंयमविराधना भवति, बीजेषु च व्युत्सृजतस्त एव दोषा भवन्ति–आत्मविराधना संयमविराधना च, तत्रात्मविराधना गोक्षुरकप्रभृतीनामुपरि व्युत्सृजतो भवति, संयम-

विराधनाऽपि तथैवेति, द्वारं । एवं तावदेकैकदोषदुष्टं स्थण्डिलमुक्तम् । इदानीं द्वितीयादिसंयोगेन दोषदुष्टतां प्रतिपादयन्नाह— 'संजोगओ अ' संयोगतो–द्व्यादिदोषसंबन्धेन 'मूलगमात्' मूलदोषात् सकाशात् 'सविशेषाः' द्विगुणतरादयो दोषा भवन्ति, एतदुक्तं भवति मूलभेदस्तावदापातसंलोकदोषदुष्टता तथाऽन्यस्तत्रैव यद्युपघातदोषो भवति ततो द्विदोषसंयोगतः सविशेषा दोषा भवन्ति । एवं दोषत्रयादिसंयोगतः सविशेषा अधिका एकैकस्मिन् स्थण्डिले ज्ञेया इति । इदानीं तस्मिन् दोषरहिते स्थण्डिले प्राप्तस्य यो विधिः स उच्यते—

दिसिपवणगामसूरियछायाए पमज्जिऊण तिक्खुत्तो । जस्सोग्गहोत्ति काऊण वोसिरे आयमिज्जा वा ३१७

तत्र तेन साधुना सञ्ज्ञां व्युत्सृजता 'दिसि'त्ति उत्तरस्यां दिशि पूर्वस्यां च न पृष्ठं दातव्यं, लोकविरोधात्, तथा पवनग्रामसूर्याणां च पृष्ठं दत्त्वा न व्युत्सृजनीयं, लोकविरोधादेव । तथा छायायां प्रमार्जयित्वा 'तिक्खुत्तो'त्ति तिस्रो वाराः प्रमार्जयित्वा तत्र व्युत्सर्जनीयं, 'जस्सोग्गहो'त्ति यस्यायमवग्रहस्तेनानुज्ञातव्य इत्येवं कृत्वा व्युत्सृजनीयं 'आयमिज्जा वा' निर्लेपनं च पानकेन एवमेव कुर्यात्, यदुत स्थण्डिलेऽनुज्ञापयित्वा चेति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

उत्तरपुव्वा पुज्जा जम्माए निसियरा अहिवडंति । घाणाऽरिसा य पवणे सूरियगामे अवण्णो उ॥१८४॥भा.

उत्तरा दिक् पूर्वा च किल लोके एते द्वेऽपि पूज्ये, ततश्च तयोः पृष्ठं न दातव्यं, 'जम्माए निसियरा अभिवडंति'त्ति याम्या-

१ विराधना तथै° आ. क. १–२ । २ °दोषभेदात् भा. पा. १–२. ग. । ३ मूलभेदस्ताव° भा. पा १ । ४ चापाने भा. ।

दव्वासण्ण भवणाइयाण तहिय तु संजमायाए। आयापवयणसंजमदोसा पुण भावआसण्णे ॥१८२॥ भा

आसन्न द्विविध–द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यासन्नं भवनादीनामासन्ने व्युत्सृजतो द्रव्यासन्नं भवति, तत्र च संयमात्मोपघातो भवति, तत्र संयमोपघात एवं भवति–स गृहपतिस्तत्पुरीषं साधुव्युत्सृष्टं केनचित्कर्मकरेणान्यत्र त्याजयन्ति ततश्च तत्प्रदेशविलेपने हस्तप्रक्षालने च संयमोपघातो भवति, आत्मोपघातश्च स गृहपती रुष्टः सन् कदाचित्ताडयति तत आत्मोपघात इति, तस्माद्द्रव्यासन्ने न व्युत्स्रजनीयं। इदानीं भावासन्नं प्रतिपादयन्नाह–'आयापवयण'त्ति आत्मप्रवचनसंयमोपघातदोषा भावासन्ने भवन्ति, कथं ?, स हि साधुरन्यपोगम्याप्नुत(एव)स्तावदास्ते यावदतीव भावासन्नः संजातः, ततश्च त्वरितं प्रयाति, पुनश्च केनचित् पूर्वेणोपलक्ष्य भावासन्नतां धर्मप्रच्छनव्याजेनार्थ्यत एव धृतः ततश्च तस्य पुरीषवेगं धारयत आत्मोपघातो भवति, मर्यादस्य एव व्युत्सृजति ततश्च प्रवचनोपघातो भवति, संयमोपघातोऽपि तत्रैवाप्रत्युपेक्षितस्थण्डिले व्युत्सृजतो भवति, तस्मादनागतमेव गमने प्रवर्तते। इदानीं बिलवर्जितं व्याख्यायते, तत्राह–

होंति बिले दो दोसा तसेसु बीएसु वावि ते चेव। संजोगओ अ दोसा मूलगमा होंति सविसेसा ॥१८३॥ भा

बिलप्रदेशे व्युत्सृजतो दोषद्वयं भवति–आत्मविराधना संयमविराधना च, द्वारं। इदानीं 'तसपाणबीयरहिय'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–'तसेसु बीएसु वावि ते चेव' त्रसेषु व्युत्सृजत आत्मसंयमविराधना भवति, बीजेषु च व्युत्सृजतस्त एव दोषा भवन्ति–आत्मविराधना संयमविराधना च, तत्रात्मविराधना गोक्षुरकप्रभृतीनामुपरि व्युत्सृजतो भवति, संयम-

पढमासइ अमणुन्नेयराण गिहियाण वावि आलोए। पत्तेयमत्त कुरुकुय दवं च पउरं गिहत्थेसु ॥३१९॥

प्रथमस्य—अनापातासंलोकरूपस्य 'असति' अभावे अथवा प्रथमस्य संविग्नसमनोज्ञापातस्थण्डिलस्यासति क्व गन्तव्यमत आह—'अमणुण्ण'त्ति अमनोज्ञानामापाते स्थण्डिले गन्तव्यम्[1]। 'इतराण'त्ति कुशीलानां संविग्नपाक्षिकाणामसंविग्नपाक्षिकाणां चापातस्थण्डिले गन्तव्य, एतेषां चानन्तरोदितानां सर्वेषांमेवमित्थमालोको नोपात्तो[2], ते[3] दूरस्थिता नाभोगयन्त्येव। 'गिहियाण वावि आलोए'त्ति तदभावे गृहस्थालोके स्थण्डिले गन्तव्यम्[4]। 'पत्तेयमत्त'त्ति प्रत्येकं प्रत्येकं यानि मात्रकाणि गृहीतानि तैः प्रत्येकं मात्रकैः 'कुरुकुचां' पादप्रक्षालनाचमनरूपां प्रचुरद्रवेण कुर्वन्ति, 'गिहत्थेसु'त्ति गृहस्थविषये आलोके सति इदं पूर्वोक्तं कुरुकुचादि कुर्वन्तीत्यर्थः।

तेण परं पुरिसाणं असोयवाईण वच्च आवायं। इत्थिनपुंसालोए परंमुहो कुरुकुया सा उ ॥ ३२० ॥

ततः परं यदि गृहस्थालोकं नास्ति स्थण्डिलं ततः पुरुषाणामापाते तत्राप्यशौचवादिनां व्रज आपातस्थण्डिलं। अथाशौचवादिपुरुषापातस्थण्डिलं नास्ति ततः 'इत्थिनपुंसालोए' स्त्रीनपुंसकालोके स्थण्डिले पराङ्मुखो व्युत्सृजति, कुरुकुचा च सैव कर्त्तव्या।

तेण परं आवायं पुरिसेअरइत्थियाण तिरियाणं। तत्थावि अ परिहरिज्जा दुगुंछिए दित्तचित्ते य ॥३२१॥

---

1 गम्यते आ. पा. १। 2 °मेवमर्थमालोको आ. ल १ पा.१ पु.। 3 यतस्ते आ. ल. १. पा. २। 4 गम्यते आ. ल. २ पा. २ पु.।

दक्षिणा दिक् तस्यां च रात्रौ पृष्ठं न दातव्य, किमिति ?, रात्रौ निशाचराः–पिशाचादयः 'अभिपतंति'त्ति अभिमुखा आगच्छन्ति, एतदुक्तं भवति–रात्रौ दक्षिणाया दिश उत्तरस्यां दिशि देवाः प्रयान्ति(इति) लोके श्रुतिः, ततश्च तत्र पृष्ठ न दातव्य, प्रयच्छतो लोकविरोधो भवतीति । 'घाणारिसा य पवणे'त्ति पवनस्य च पृष्ठं यदि दीयते ततो घ्राणार्शो भवतीति । सूर्यग्रामयोश्च पृष्ठप्रदाने अवर्णः–अयशो भवतीति । इदानीं 'छायाए'त्ति व्याख्यानयन्नाह–

संसत्तगहणी पुण छायाए निग्गयाए वोसिरइ । छायासइ उण्हमिवि वोसिरिअ मुहुत्तय चिट्ठे॥१८५॥भा

'संसक्तग्रहणिः' कृमिसंसक्तोदर इत्यर्थः यद्यसौ साधुर्भवेत् ततो वृक्षच्छायायां निर्गतायां व्युत्सृजति, अथ छाया न भवति ततो व्युत्सृज्य मुहूर्तमात्र तिष्ठेद् येन ते कृमयः स्वयमेव परिणमन्ति । किं चासौ करोतीत्यत आह–

उवगरण वामे ऊरुगमि मैत्त च दाहिणे हत्थे । तत्थऽन्नत्थ व पुंछे तैहिं आयमण अदूरम्मि ॥ २१८ ॥

'उपकरण' रजोहरणदण्डकादि वामे ऊरुणि स्थापयेत्, मात्रकं च दक्षिणे हस्ते स्थापयति, प्रोञ्छनं च अपानस्य तत्रा(न्य)त्र वा करोति, यदि कठिन पुरीष ततस्तत्रैव प्रोञ्छयति, अथ द्रवं ततोऽन्यत्र, 'तिहि आयमन'त्ति त्रिभिश्चुलुकैर्निर्लेपन करोति, अदूरंमि'त्ति स्थण्डिलस्यासन्नप्रदेशे निर्लेपनीयमिति । इदानीं स्थण्डिलयतनोच्यते, तत्राह–

१ विधिसेनेदम् ! उच्यते रात्रौ आ. पा. १–२ । २ घ्राणार्शोऽपि भवन्ति आ पा १ । ३ अवर्णश्च पा. २ । ४ विस्मयात्त आ । ५ मत्तो च पु. । ६ तिर्हि पु., तिहि आ. । ७ स्थापयति आ. । ८ करोति आ पा १–२. ।

पढमासइ अमणुन्नेयराण गिहियाण वावि आलोए। पत्तेयमत्त कुरुकुय दवं च पउरं गिहत्थेसु ॥३१९॥

प्रथमस्य–अनापातासंलोकरूपस्य 'असति' अभावे अथवा प्रथमस्य संविग्नसमनोज्ञापातस्थण्डिलस्यासति क्व गन्तव्यमत आह–'अमणुण्ण'त्ति अमनोज्ञानामापाते स्थण्डिले गन्तव्यम्। 'इयराण'त्ति कुशीलानां संविग्नपाक्षिकाणामसंविग्नपाक्षिकाणां चापातस्थण्डिले गन्तव्यं, एतेषां चानन्तरोदितानां सर्वेषामेवमित्थमालोको नोपात्तो, ते दूरस्थिता नाभोगयन्त्येव। 'गिहियाण वावि आलोए'त्ति तदभावे गृहस्थालोके स्थण्डिले गन्तव्यम्। 'पत्तेयमत्त'त्ति प्रत्येकं प्रत्येकं यानि मात्रकाणि गृहीतानि तैः प्रत्येकं मात्रकैः 'कुरुकुचां' पादप्रक्षालनाचमनरूपां प्रचुरद्रवेण कुर्वन्ति, 'गिहत्थेसु'त्ति गृहस्थविषये आलोके सति इदं प्रागुक्तं कुरुकुचादि कुर्वन्तीत्यर्थः।

तेण परं पुरिसाणं असोयवाईण वच्च आवायं। इत्थिनपुंसालोए परंमुहो कुरुकुया सा उ ॥ ३२० ॥

ततः परं यदि गृहस्थालोकं नास्ति स्थण्डिलं ततः पुरुषाणामापाते तत्राप्यशौचवादिनां व्रज आपातस्थण्डिलं। अथा-[illegible]पातस्थण्डिलं नास्ति ततः 'इत्थिनपुंसालोए' स्त्रीनपुंसकालोके स्थण्डिले पराङ्मुखो व्युत्सृजति, कुरुकुचा न [illegible]।

[illegible]इत्थियाण तिरियाणं। तत्थावि अ परिहरिज्जा दुगुंछिए दित्तचित्ते य ॥३२१॥

१ [illegible] आ. क. २ पा. १ पु.। ३ गतास्ते आ. क. १. पा. २। ४ गम्यते आ. क. २ पा. २ पु.।

ततः परं तदभावे सति पूर्वोक्तस्थण्डिलस्य तिरश्चां सम्बन्धिनो ये पुरुषाः इतरे च नपुंसकास्तथा स्त्रियः एतेषामापात-स्थण्डिले व्युत्सृजन्ति । 'तस्य वि य'त्ति तत्रापि तिरश्चां मध्ये जुगुप्सिता दृप्ताश्चिताश्च परिहरणीयाः, यतस्तत्रात्मसंयमोप घातो भवतीति ॥

तत्तो इत्थि नपुंसा तिविहा तत्थवि असोयवाईण। तहिअं तु सद्दकरण आउलगमण कुरुकुया य ॥

ततस्तदभावे स्त्रीनपुंसकापातस्थण्डिले गन्तव्यं,तत्र स्त्री त्रिविधा—दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतभेदभिन्ना, नपुंसकमपि त्रिविध-दण्डिककौटुम्बिकप्राकृतभेदभिन्नं, तत्राप्यशौचवादीनामापाते व्युत्सृजेदिति। आह—स्थापापाइवादयस्तत्र तदवस्था एव दोषाः ? उच्यते, 'तहियं तु सद्दकरणं' तत्र स्थण्डिले व्रजन् अन्येषामाशङ्काविनिवृत्त्यर्थमुच्चैः कांक्षितादिरूपं शब्दं करोति परस्परं वा वदन्तो व्रजन्ति ततश्च ते गृहस्था नायकाः—स्थापमिळपणरूपां कुर्वते यतस्ते प्रसभं प्रयान्तीति, आकुलगमनं वा कुर्वन्ति, एकत्र मिलित्वा गच्छन्तीत्यर्थः, कुरुकुचा च पूर्ववत्कर्तव्या । उक्तं स्थण्डिलद्वारं, इदानीमवष्टम्भद्वारं प्रतिपादयन्नाह—

अवोच्छिन्ना तसा पाणा पडिलेहा न सुज्झई । तम्हा हट्ठपहट्ठस्स अवट्ठंभो न कप्पई ॥ २२३ ॥

अवष्टम्भः स्तम्भादौ न कर्तव्यः, यतः प्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन् पश्चादपि 'अव्यवच्छिन्नाः' अनवरतं त्रसाः प्राणा भवन्ति, ततश्च तत्र प्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति तस्मात् 'हृष्टप्रहृष्टस्स' हृष्टो—नीरोगः प्रहृष्टः—समर्थस्तद्यस्तस्य एवंविधस्य

१ व्युत्सृजनीयं आ. ल १ पा. २–१ पु. । २ °वाईण पा. पा. १ । ३ चर्मीयम् आ. पा १–२ । ४ कमाकुल आ पु. । ५ मिलित्वा आ. प. २ । ६ समस्तस्य ल. १–२ । ७ समस्तस्य ल १–२ । ८ °समर्थ° ल. १–२ ।

साधोरवष्टम्भो 'न कल्पते' नोक्तः। इदानीं के ते त्रसाः प्राणिन इत्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

संचर कुंथुद्देहिअलूयावेहे तहेव दाली अ। घरकोइलिआ सप्पे विस्संभरउंदुरे सरडे ॥ ३२४ ॥

तत्रावष्टम्भे-स्तम्भादौ संचरन्ति-प्रसर्पन्ति, के ते ?-कुन्थुसत्त्वा उद्देहिकाश्च लूता-कोलियकः तत्कृतो वेधो भक्षणं भवति, तथा च दाली-राजिर्भवति तस्यां च वृश्चिकादेराश्रयो भवति, तथा 'गृहकोकिलिका' घरोलिका उपरिष्टान्मूत्रयति, तन्मूत्रेण चोपघातो भवति चक्षुषः, सर्पो वा तत्राश्रितो भवेत्, विश्वम्भरो जीवविशेष उन्दुरो वा भवेत्, 'सरटः' कृकलाशः, स च दशनादि करोति। इदानीं भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

संचारगा चउद्दिसि पुव्विं पडिलेहिएवि अन्नंति। उद्देहि मूल पडणं विराहणा तदुभए भेओ ॥

'सञ्चारकाः' कुन्थ्वादयः पूर्वोक्ताश्चतसृष्वपि दिक्षु तस्मिन्नवष्टम्भे परिभ्रमन्ति, पूर्वं प्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मिन् स्तम्भाद्यवष्टम्भेऽन्ये आगच्छन्ति। दारं। 'उद्देहि'त्ति कदाचिदसौ स्तम्भादिरवष्टम्भो मूले उद्देहिकादिभक्षितः ततश्च पुनरवष्टम्भं कुर्वतः पतति, पुनश्च विराधना 'तदुभए' भवति आत्मनि संयमे च भेदश्च पात्रकादेर्भवति। दारं।

लूयाइ चमढणा संजमंमि आयाए विच्चुगाईया। एवं घरकोइलिआ अहिउंदुरसरडमाईसु ॥१८७॥(भा.)

लूतादिचमढने-मर्दने संयमे संयमविषया विराधना भवति, आत्मविराधना च वृश्चिकादिभिः क्रियते। एवं गृहकोलिका-

---

१ वीसुमर° म १ पु.। २ कुन्थव.-सत्त्वा ल. १-२। ३ उव्वीढ पु.। ४ °दावष्टम्भेऽनुयन्ति आग° भा। ५ ततश्चावष्टम्भ भा ल.२ पा. १।

मर्पउन्दरमरद्वादिविषया संयमविराधना आत्मविराधना च भवति । उक्त उत्सर्गः, इदानीमपवाद उच्यते—

अतरतस्स वे पासा गाढ दुक्खाति तेणऽवट्ठभे । सजयपट्ठी थभे सेल छुहाकुड्डवेंटीए ॥ ३२५ ॥

'अतरंतस्स' असमर्थस्य ग्लानादेः पार्श्वानि गाढ-अत्यर्थं दुःखन्ति तेन कारणेनावष्टम्भं कुर्वन्ति, केन ? अत आह—संयतपृष्ठे स्तम्भे वा 'सेल'त्ति पाषाणमये स्तम्भे सुधामार्ध्वे कुड्ये वाऽवष्टम्भं कुर्वीत अथवा वेण्टिकां वा कुड्यादौ कृत्वा ततोऽवष्टम्भं करोति । उक्तमवष्टम्भद्वारम्, इदानीं मार्गद्वारं प्रतिपादनायाह—

पय तु वच्चमाणो जुगतर चक्खुणा उ पडिलेहे । अइदूरचक्खुपाए सुहुमतिरिच्छग्गय न पेहे ॥३२६॥

पथि व्रजन् 'युगान्तरं' युग-चतुर्हस्तप्रमाणं तन्मात्रान्तरं चक्षुषा प्रत्युपेक्षेत, किं कारणं ?, यतोऽतिदूरचक्षुःपाते सति सूक्ष्मांस्तिर्यग्गतान् प्राणिनः 'न पेहे' न पश्यति, दूरे प्रहितत्वाच्चक्षुषः ।

अच्चासन्ननिरोहे दुक्ख दट्ठुपि पायसहरण । छक्कायविओरमण सरीर तह भत्तपाणे य ॥ ३२७ ॥

अथ अत्यासन्ने निरोधं करोति चक्षुषस्ततो दृष्ट्वाऽपि प्राणिनं दुःखेन पादसंहरणं, पादः प्राणिनि निपतन्त धारयतीत्यर्थः, अतिसन्निकृष्टत्वाच्चक्षुषः । 'छक्कायविओरमण'त्ति षट्कायविराधनां करोति शरीरविराधनां तथा भक्तपानविराधनां च करोतीति ।

१ ड आ. च २ । २ विद्वेषे आ. ब. १ प. १ । ३ स्त आद प. १-२. पु. । ४ माम आ ड २ । ५ व आ प. १ । ६ 'बेहा आ. । ७ ऐ ऐ आ । ८ प्रमिर्मा आ. प. १ । ९ भवानो विराधनं भवति आ. ।

इदानीमस्या एव गाथायाः पश्चार्द्धं व्याख्यानयन्नाह—

उड्ढमुहो कहरत्तो अवयक्खंतो वियक्खमाणो य। बायरकाए वहए तसेतरे संजमे दोसा ॥१८८॥ (भा.)

ऊर्ध्वमुखो व्रजन् कथासु च रक्तः—सक्तः 'अवयक्खंतो'त्ति पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयन् 'वियक्खमाणो'त्ति विविधं सर्वासु दिक्षु पश्यन्, स एवंविधो बादरकायानपि व्यापादयेत् 'त्रसेतरांश्च' पृथिव्यादीन् स्थावरकायान्, ततश्च 'संयमे' संयमविषया एते दोषा भवन्तीति। इदानीं शरीरविराधनां प्रतिपादनायाह—

निरविक्खो वच्चंतो आवडिओ खाणुकंटविसमेसु। पंचण्हइंदियाणं अन्नतरं सो विराहिज्जा ॥१८९॥ (भा.)

निरपेक्षो व्रजन् आपतितः सन् स्थाणुकण्टकविषमेषु, विषमं—उन्नतं, तेष्वापतति ततः पञ्चानामिन्द्रियाणां—चक्षुरादीनां अन्यतरत् स विराधयेत्। इदानीं 'भत्तपाणे' य त्ति अवयवं व्याख्यानयन्नाह—

भत्तं वा पाणं वा आवडियपडियस्स भिन्नपाए वा। छक्कायविओरमणं उड्डाहो अप्पणो हाणी ॥१९०॥ (भा.)

आपतितश्चासौ पतितश्च आपतितपतितस्य साधोः भिन्ने—भग्ने वा पात्रके सति भक्ते वा प्रोज्झिते पानके वा ततः षट्कायव्युपरमणा भवति, उड्डाहश्च भवति आत्मनश्च 'हानिः' क्षुधा बाधनं भवति। कथं पुनः षट्कायव्युपरमणमुड्डाहश्च?

दहि घय तक्कं पयमंबिलं व सत्थं तसेतराण भवे। खद्धंमि य जणवाओ बहुफोडा जं च परिहाणी ॥१९१॥

१ अविय° क १। २ अविय° ल. १। ३ °पतित पश्चा° आ पा. १. २ पु.। ४ °भाणे वा ल. १ २। ५ तत. आ। ६ बहि° ल. १. २। ७ °फोडो आ. पा. १।

तानि गृहीतानि कदाचिद्विषपूतककरपयः काञ्जिकानि भवन्ति, ततश्च तानि भक्ष, केषां ?—त्रसानामितरेषां च—पृथिव्यादीनां भवेत्, 'सदमि'ति प्रचुरे च तत्र भक्ते लोकेन दृष्टे सति जनापवादो भवति—उड्डाहः, यद्वा 'मडुफोड'त्ति मधुमक्षिका पत इति, या चात्मपरितापनादिका परिहाणिः सा च भवति । तथा पात्रविराधनायां पापनादोषान् प्रदर्शयन्नाह—

पाय च भग्गमाणे छविज्ज पये विराहणा दुविहा । दुविहा य भवे तेणा परिकम्मे सुत्तपरिहाणी ॥ ३२८ ॥

पात्र चान्तिपवि प्रति प्रमादो भवेत्तपि विराधना द्विविधा—आत्मविराधना संयमविराधना चेति, पथि स्तेनाश्च द्विविधा भवन्ति—उपधिस्तेनाः शरीरस्तेनाश्चेति । लब्धेऽपि कच्छ्रात्पात्रे तत्परिकर्मयतः—तत्कापारे लग्नस्य सूत्रार्थपरिहाणिः ॥

एसा पडिलेहणाविही कहिआ भे धीरपुरिसपन्नत्ता । सजमगुणड्ढगाण निग्गयाण महरिसीण ॥ ३२९ ॥

अयं च प्रत्युपेक्षणाविधिः कथितो 'भे' भवतां, किंविशिष्टः ?—'धीरपुरुषैः प्रज्ञप्तः गणधरैः प्ररूपितः, संयमगुणैराढ्यानां निर्ग्रन्थानां 'महर्षीणां' कथित इति ॥ तथा अधुनाऽस्यैवाचीर्णस्य फलमाह—

एय पडिलेहणाविहिं जुजता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचिअमणंत ॥३३०॥

एवं प्रत्युपेक्षणाविधिं 'युञ्जन्तः' कुर्वाणाः चरणकरणयोगयुक्ताः उपयुक्ताः सन्तः साधवः क्षपयन्ति कर्म, किंविशिष्टम् ?—'अनेकभवसञ्चितम्' अनेकभवोपात्तम् 'अनन्तम्' अनन्तकर्मपुद्गलनिर्वृत्तत्वादनन्तम्, अनन्तानां वा भवानां हेतुर्यत्तदनन्तं

१ उदवादिते चरित भा. ग. १ २ । २ तुला' प्रतः च. पा. ११

क्षपयन्तीति । उक्तं मार्गप्रत्युपेक्षणाद्वारम्, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तं प्रत्युपेक्षणाद्वारमिति प्रतिलेखनाद्वारं समाप्तं ॥

इदानीं पिण्डद्वारप्रतिपादनायाह—

पिंडं व एसणं वा एत्तो वोच्छं गुरूवएसेणं । गवेसणगहणघासेसणाए तिविहाइवि[1] विसुद्धं ॥३३१॥

पिण्डं वक्ष्ये एषणां च, एषणा—गवेषणादि तां चातः परं वक्ष्ये, गुरूपदेशेन न स्वमनीषिकया, सा चैषणा त्रिविधा भवति—गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा चेति, अनया त्रिविधयाऽप्येषणया विशुद्धः—शुचिर्यः पिण्डस्तं वक्ष्य इति योगः । यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात्प्रथमं पिण्डमेव व्याख्यानयन्नाह—

पिंडस्स उ निक्खेवो चउक्कओ छक्कओ य कायव्वो । निक्खेवं काऊणं परूवणा तस्स कायव्वा ॥३३२॥

तत्र पिण्डनं—पिण्डः, 'पिण्डि सङ्घाते' पिण्ड इत्यस्य पदस्य निक्षेपः कर्त्तव्यः, स च निक्षेपश्चतुष्ककः क्रियते षट्को वा, एवं निक्षेपं कृत्वा प्ररूपणा—व्याख्या तस्यैव पिण्डस्य कर्त्तव्या ॥ तत्र चतुष्ककनिक्षेपं प्रतिपादनायाह—

नामं ठवणापिंडो दव्वपिंडो य भावपिंडो य । एसो खलु पिंडस्स उ निक्खेवो चउविहो[2] होइ ॥३३३॥

नामपिण्डः स्थापनापिण्डो द्रव्यपिण्डो भावपिण्डश्चेत्येष तावच्चतुष्कको निक्षेपः, यदा तु पुनः क्षेत्रपिण्डः कालपिण्डश्च निक्षिप्यते तदाऽयमेव षट्को भवति । तत्र नामपिण्डः—पिण्ड एव[3] नाम यस्य स नामपिण्डः । तच्च नाम—

---

१ तिविहाए विसुद्धं आ. । २ छव्विहो क. २ । ३ इति आ क. २ पा. १ ।

गोण्ण समयकय वा ज वावि हविज्ज तदुभएण कय। स विंति नामपिण्ड ठवणापिण्ड अओ वोच्छं ॥३२४॥

तत्र नाम गोण्णं भवति यथा गुडपिण्ड इति, तथाऽन्यत् समयकृतं भवति, समय–सिद्धान्तस्तेन कृतं, यथा "से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठे समाणे से ज्जाणिज्जा असणं वा पाणगं वा" इत्यादि यद्यप्यसौ पानकस्य ग्रहणाय(कृते) प्रविष्टस्तथाऽप्यसौ पिण्डार्थं प्रविष्ट इत्युच्यते, एष समयसिद्धः पिण्डः, यद्वा नाम भवेत्तदुभयेन कृतं लोकलोकोत्तरकृतं वा यन्नाम भवेत्, यथा "गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविट्ठेण पिंडो चेव सगुणाणं करओ लद्धो गुडपिंडो वा" तत्र लोके गुडपिण्डको गुडपिण्डक एवोच्यते, समयेऽप्येवमेव पिण्डक एवोच्यते, तमेन गुणविशिष्टं सर्वमेव नामपिण्डं ब्रुवते, इत ऊर्ध्वं स्थापनापिण्डं वक्ष्ये इति।

अक्खे वराडए वा कट्ठे पोत्थे व चित्तकम्मे वा। सब्भावमसब्भाव ठवणापिंड वियाणाहि ॥ ३२५ ॥

स्थापना द्विविधा–सद्भावस्थापना असद्भावस्थापना चेति, तत्राक्षविषया सद्भावस्थापना असद्भावस्थापना च भवति, कथं? यदा एक एवाक्षः पिण्डकल्पनया बुद्ध्या कल्प्यते तदाऽसद्भावस्थापना, यत्र पुनस्त एवाक्षास्त्रिप्रभृतय एकत्र स्थाप्यन्ते तदा सद्भावस्थापना, एवं 'वराटकेषु' कपर्दकेषु, तथा काष्ठकर्मणि पुस्तकर्मणि चित्रकर्मणि चेति। यदेकमेव काष्ठं पिण्ड एव इत्येवं कल्प्यते तदाऽसद्भावस्थापना, यदा तु बहूनि एकत्र मिलितानि पिण्डत्वेन कल्प्यन्ते तदा सद्भावस्थापना, एवं 'पुस्ते'

१ संघवर्णं वा ॥ क ख १ अवसावर्णं वा ॥ क १। २ करओ का ख १। ३ सभाणा का। ४ चेति का।

पुत्तलिकादिष्वपि एवं चित्रकर्मण्यपि, यदैकचित्रकर्मणि पुत्तलकपिण्ड इति स्थाप्यते तदाऽसद्भावपिण्डस्थापना, यत्र त्रिप्रभृति पिण्डबुद्ध्या कल्प्यते तदा सद्भावस्थापना, एवं सद्भावपिण्डमसद्भावपिण्डं च जानीहि । इदानीं द्रव्यपिण्डस्य ज्ञशरीरभव्यशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तस्य प्रतिपादनायाह—

तिविहो य दव्वपिंडो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो । अच्चित्तो य दसविहो सच्चित्तो मीसओ नवहा ॥३३६

त्रिविधो द्रव्यपिण्डः—सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्चेति । तत्र योऽसावचित्तः स दशविधः, सचित्तो नवप्रकारः, मिश्रश्च नवधा ॥ तत्राचित्तपिपिण्डप्रतिपादनायाह—

पुढवी आउक्काए तेउवाऊवणस्सई चेव । बिअतिअचउरो पंचिंदिया य लेवो य दसमो उ ॥ ३३७ ॥

पृथिवीकायपिण्डः अप्कायपिण्डस्तेजस्कायपिण्डः वायुकायपिण्डः वनस्पतिकायपिण्डः द्वीन्द्रियकायपिण्डः त्रीन्द्रियकायपिण्डः चतुरिन्द्रियकायपिण्डः पञ्चेन्द्रियकायपिण्डः पात्रकार्थं लेपपिण्डश्चेति दशमः । एवमयं दशप्रकारोऽचित्तपिण्डः, इदानीं योऽसौ अचित्तः पृथिवीकायादिपिण्डः स सचित्तपूर्वको भवतीति कृत्वा स एव प्रथमं सचित्तपिण्डः प्रतिपाद्यते, तथोपन्यासोऽपि सचित्तस्यैव प्रथमं कृतः, तथा योऽसौ सचित्तो मिश्रश्च एकैको नवप्रकार उक्तः सोऽप्यनेनैव क्रमेण व्याख्यातो भवतीति कृत्वा पूर्वं सचित्तं व्याख्यानयन्नाह—

---

१ धीवल्लिकादौ पुत्त° आ. ल. २ पा २ । २ यदा आ. ल १ । ३ °प्यनेनैव क्रमेण आ. ल. २ ।

पुढविकाओ तिविहो सच्चित्तो मीसओ य अच्चित्तो । सच्चित्तो पुण दुविहो निच्छयववहारओ चेव ॥३३८॥

पृथिवीकायस्त्रिविधः सचित्तो मिश्रोऽचित्तश्च । तत्र सचित्तो द्विविधः—निश्चयसचित्तो व्यवहारसचित्तश्च ।

निच्छयओ सच्चित्तो पुढविमहापव्वयाण बहुमज्झे । अच्चित्तमीसवज्जो सेसो ववहारसच्चित्तो ॥ ३३९ ॥

निश्चयतः सचित्तः पृथिवीनां—रत्नशर्कराप्रभृतीनां संबन्धी यः 'महापर्वतानां' हिमवदादीनां च 'बहुमध्ये' मध्यदेशभागे । इदानीं व्यवहारसचित्तप्रतिपादनायाह—अचित्तवर्जो मिश्रवर्जश्च, एतदुक्तं भवति—योऽचित्तो न भवति न च मिश्रः स व्यवहारतः सचेतन इति, स चारण्यादौ भवति यत्र वा गोमयादिर्नास्ति । उक्तः सचित्तः पृथिवीकायः, इदानीं मिश्रपृथिवीकाय प्रतिपादनायाह—

खीरदुमहिट्ठ पंथे कट्ठोल्ला इंधणे य मीसो य । पोरिसी एगदुगतिग बहुइंधणमज्झथोवे य ॥ ३४० ॥

क्षीरद्रुमा[1]—उदुम्बरादयस्तेषामधो यः पृथिवीकायः स मिश्रः, ते हि क्षीरद्रुमाः मधुरस्वभावा भवन्ति, पथि च मिश्रः 'कट्ठोल्ला'त्ति हलकृष्टो यः पृथिवीकायस्तत्स्वभावेन आर्द्रश्च शुष्कश्च कश्चिन्मिश्रः पृथिवीकायः 'इंधणे य'त्ति इन्धनं—गोमयो भण्यते, तस्य कुम्भकारेण सह्रणो भाषितो तेण मिछितो संतो पृथिवीकायो मिश्रो भवति, कियन्तं कालं यावत्? अत आह—'पोरिसीएगदुगतिग' यथासङ्ख्येन 'बहुइंधणमज्झथोवेषु' (थोवे य) यदि बहु इन्धन स्वल्पः

[1] भन्मति च १-२ ।

पृथिवीकायस्ततः पौरुषीमात्रं यावत् मिश्रो भवति, मध्ये तु इन्धने अर्द्धमिन्धनस्य अर्द्धं पृथिवीकायस्य यत्र स पौरुषीद्वितयं यावन्मिश्रः, स्वल्पेन्धनस्तु पृथिवीकायः पौरुषीत्रयं यावन्मिश्रो भवति। उक्तो मिश्रः, इदानीमचित्त उच्यते, स चैवं भवति—

सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिले नेहे। वक्कंतजोणिएणं पओयणं तेणिमं होइ[1] ॥ ३४१ ॥

शीतशस्त्राभिहतः, उष्णशस्त्राभिहतः, क्षारः–तिलक्षारादिस्तेनाभिहतो यः, क्षत्रशस्त्रेणाभिहतः, क्षत्रं–करीषविशेषः, अग्निशस्त्राभिहतः, लवणशस्त्राभिहतः, ऊषशस्त्राभिहतः, काञ्जिकशस्त्राभिहतः[2], स्नेहेन–घृतादिना शस्त्रेणाभिहतः सन् यो व्युत्क्रान्तयोनः[3] अथवा वक्कंतजोणियेणं केचित्पठन्ति, तत्रायमर्थः–व्युत्क्रान्ता अपगता योनिः स्वयमेव यस्य पृथिवीकायस्य, तेन च 'इदं' वक्ष्यमाणं प्रयोजनं भवति। किं तत्प्रयोजनमित्यत आह—

अवरद्धिग विसबंधे लवणेण व सुरभिउवलएणं वा। अच्चित्तस्स उ गहणं, पओयणं होइ जं चऽन्नं ॥३४२

अवरद्धिगा–लूताफोडिआ तस्यां लूतास्फोटिकायामुत्थितायां दाहोपशमार्थमचेतनेन पृथिवीकायेन परिषेकः क्रियते, यदि वा अवरद्धिगा–सर्पदंशस्तस्मिन् परिषेकादि क्रियते, दंशे विषे वा पतिते सति तयाऽचेतनया मृत्तिकया बन्धो वा दीयते, लवणेन वा प्रयोजनमचित्तेन भवति, 'सुरभिउवलएणं व'त्ति गन्धारोहकेणापि किञ्चित्प्रयोजनं भवेत्[4]षामादौ, एभिः प्रयोजनैरचेतनस्य पृथिवीकायस्य ग्रहणं भवति–प्रयोजनं भवति। इदं च वक्ष्यमाणलक्षणमन्यत्—

---

1 होंति जा.। 2 (अवश्यायशस्त्राभिहत) काञ्जिक° आ.। 3 °योनिकः, आ. क. १ पा. १–२। 4 भवत्यामादौ, आ.।

ठाणनिसीयणतुयट्टण उच्चाराईण चेव उस्सग्गो। घट्टगडगललेवो एमाइ पओयण बहुहा ॥ ३४३ ॥

स्थान–कायोत्सर्गः सोऽचेतने पृथिवीकाये क्रियते, निषीदनम्–उपवेशनम् त्वग्वर्तनं च क्रियते उच्चारादीनां चोत्सर्गः क्रियते, 'घट्टग'त्ति घट्टकः–पाषाणकः येन पात्रकं लेपितं सत् घृष्यते, तथा डगलकाः अपानप्रोञ्छनार्थं लेपश्च पात्रकाणां, एवमादि प्रयोजनमचित्तेन पृथिवीकायेन भवति। उक्तः पृथिवीकायः, इदानीमप्काय उच्यते, असावपि त्रिविधः सचित्त मिश्राचित्तभेदतः, तत्र सचित्तप्रतिपादनायाह—

घणउदहीघणवलया करगसमुद्दद्दहाण बहुमज्झे। अह निच्छयसच्चित्तो ववहारनयस्स अगडाई ॥ ३४४

घनोदधयो रत्नप्रभापृथिव्यादीनां घनवलयानि च करकाश्च एतेषु निश्चयात् सचित्तोऽप्कायः समुद्रबहुमध्ये–मध्यप्रदेशे ह्रदमध्ये च निश्चयतः सचेतनः, व्यवहारनयतश्च पुनरगडादौ–कूपादौ योऽप्कायः स व्यवहारतः सचित्तः। इदानीं मिश्र प्रतिपादनायाह—

उसिणोदगमणुवत्ते दंडे वासे य पडियमेत्ते य। मोत्तूणाएसतिगं चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥ ३४५ ॥

उष्णोदकमनुद्वृत्ते दण्डे मिश्रं भवति, तत्थ य मज्झे जीवसंघाओ पिंडीभूओ अच्छइ पच्छा उवरे सो परिणमइ, सो जाव न

१–मिश्रकर्म च आ. ब २–मा १–२। २ निश्चयतः आ पा १–२। ३ निश्चयतो आ. क २ पा २। ४ समस्त आ ब १ पा १–२। ५ यैर्वा कूपादौ प. १–२। ६ चाव परि आ।

परिणमइ ताव मीसो,वासे य पडियमित्ते–वर्षे च पतितमात्रे मिश्रो भवत्यप्कायः,तन्दुलोदके व्यवस्था का? इति चेत् तदुच्यते, 'मोत्तूण' इत्यादि,तदपि मिश्रं, चाउलोदगं[1] बहु प्रसन्नं सदचेतनं भवति आदेशत्रितयं मुक्त्वा तदनेकान्तात् ॥ के च ते आदेशाः?

आएसतिगं बुब्बुय बिन्दू तह चाउला न सिज्झंति। मोत्तूण तिण्णि एए चाउलउदगं बहु पसण्णं ॥३४६

केई भणंति–जाव बुब्बुया न फिट्टंति ताव तं मीसं, अण्णे भणंति–भंडयलग्गा बिंदुणो ण सुकंति जाव ताव मीसं, अण्णे भणंति–जाव चाउला न सिज्झंति ताव मीसं, एते अणाएसा, जम्हा एयाणि तिण्णि वत्थूणि कयाइ चिरेण होंति कयाइं सिग्घतरं चेवं[3] होंति आहारवसाओ, तम्हा चाउलोदगं जदा बहुपसन्नं होइ तदा तं अचित्तं भवइ, अथवा मुक्त्वा तन्दुलोदकं बहुप्रसन्नं यदन्यदादेशत्रितयं प्रतिपादितं तन्मिश्रं द्रष्टव्यमिति। उक्तो मिश्रोऽप्कायः, इदानीमचित्तप्रतिपादनायाह—

सीउण्हखारखत्ते अग्गीलोणूसअंबिले नेहे। वक्कंतजोणिएणं पओयणं तेणिमं होंति ॥ ३४७ ॥

पूर्ववत्। तेन चाचित्ताप्कायेन इदं प्रयोजनम्—

परिसेयपियण हत्थाइधोवणे चीरधोवणा चेव। आयमण भाणधुवणं, एमाइ पओयणं बहुहा ॥३४८॥

परिषेकः–सेचनं व्रणकुष्ठाद्युत्थिते सति क्रियते, तथा पानं हस्तादिधावनं चीरधावनं च क्रियते, तथा आचमनं भाजन–

---

१ का ?, तदु° आ क १–२। २ बहु आ पा १–२। ३ चेय आधारवशात्, तम्हा आ. क. १–२ पा. १। ४ °वनं क्रियते–आ.। ५ कुष्ठा° आ पा १–२।

प्रक्षालन च क्रियते, एवमादीनि प्रयोजनानि बहुधा भवन्ति। इदानीं चीरप्रक्षालनं क्रियत इत्युक्तं तच्च ऋतुबद्धे न कर्तव्यं, अथ क्रियते तत एते दोषा भवन्ति—

उउबद्धधुवण बाउस बंभविणासो अठाणठवणं च। संपाइमवाउवहो पलवण आतोपघातो य ॥३४९॥

ऋतुबद्धः—शीतकालोष्णकालौ भिक्षावेव भण्यते, तत्र यदि चीवराणां धावनं क्रियते ततो बाकुशिको भवति विभूषणशील इत्यर्थः, यदा च विभूषणशीलो भवति तदा ब्रह्मविनाशो भवति, तथा अस्थानस्थापनं च भवति, यदुत नूनमयं कामी तेनात्मानं मण्डयति ततश्चास्थानस्थापनम्—अयोग्यतास्थापनं भवतीति, तथा संपातिमसत्त्वानां वायोश्च वधो भवति तथा प्लवनेन च सत्त्ववधो भवति, तथाऽऽत्मोपघातश्च भवति हस्ते कण्टकपतनादिति। आह—यद्येवं न धावितव्यान्येव चीवराणि, उच्यते, वर्षाकाले प्रक्षालयितव्यानि, अथ न प्रक्षाल्यन्ते तत एते दोषा भवन्ति—

अइभारचुडणपणए सीयलपाउरण अजीरगेलन्ने। ओभावणकायवहो वासासु अधोवणे दोसा॥३५०॥

मलेनातिगुरूणि भवन्ति तथा 'चुडण'त्ति जीर्यन्ते पनकश्च तत्र लगति पनकः—फुल्ली, शीतलप्रावरणे चाजीर्णं भवति, ततश्च ग्लानता भवति, तथा 'ओभावणा' परिभवो भवति कायवधश्च भवति, तानि हि आर्द्राणि क्नोपयन्ति सन्ति अप्कायादि विनाशयन्ति, एते वर्षास्वधावने दोषा भवन्तीति। कदा पुनस्तत्प्रक्षालनं कार्यमित्याह—

1 शीतोष्णकालौ भिक्षामपि नैव भण्यते खा.। 2 शीतलतरा खा.। 3 प्रक्षाल्य [illegible] च २५.।

अप्पत्ते च्चिय वासे सव्वं उवहिं धुवंति जयणाए। असइए व दवस्स उ जहन्नओ पायनिज्जोगो॥३५१॥

अप्राप्ते एव वर्षाकाले अर्द्धमासमात्रेण सर्वमुपधिं प्रक्षालयन्ति यतनया । अथोदकं प्रासुकं प्रचुरं नास्ति ततो जघन्येन 'पात्रनिर्योगं' पात्रकोपकरणं प्रक्षालनीयं येन गृहस्था भिक्षां प्रयच्छन्तो न जुगुप्सन्ते इति । आह—किं सर्वेषां वर्षपर्यन्त एवोपधिः प्रक्षाल्यते ?, न इत्यत आह—

आयरियगिलाणाणं मइला मइला पुणोवि धोवंति। मा हु गुरूण अवन्नो लोगंमि अजीरणं इयरे ॥३५२॥

सुगमा ॥ नवरं 'अजीरणं इयरे'त्ति इतरेषां ग्लानानां चीवराणि प्रक्षालनीयानि, यदि न प्रक्षाल्यन्ते ततोऽजीर्णं भवति । इदानीमुपधिप्रक्षालनकाले कानि न विश्रामणीयानि ? इत्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

पायस्स पडोयारं दुनिसिज्ज तिपट्टपोत्तिरयहरणं। एते ण उ विस्सामे जयणा संकामणा धुवणं ॥३५३॥

पात्रकस्य 'पडोयारं' परिकरं पात्रबन्धादिकं न विश्रामयेत्, तथा 'दुन्निनि(दुनि)सिज्ज'त्ति रजोहरणनिषद्याद्वयं एका औणिकी बाह्यनिषद्या द्वितीया मध्यवर्तिनी क्षौमी निषद्या, एतद्द्वयं न विश्रामणीयं । 'तिपट्ट'त्ति एकः संस्तारपट्टको द्वितीय उत्तरपट्टकः तृतीयश्चोलपट्टकः, 'पोत्ति'त्ति मुखवस्त्रिका 'रयहरणं'ति रजोहरणं प्रसिद्धमेव, एतानि न विश्रामयेत्, यतो

१ सर्वेषा आ । २ °जीरण ल १–२ । ३ इत्याह–आ पा. १–२ । ४ °करणं आ. । ५ क्षोमनिषद्या इद द्वय आ. पु पा. १–२ ।

नापान्यत्नुपमोग्यानि सन्ति। तत्र च षट्पदसंक्रामणं केन क्रियते इत्यत आह—'जयणा संकामणा' यतना पत्रान्तरितेन हस्तेनान्यस्मिन् वस्त्रे षट्पदीः संक्रामयति ततो धावनं करोतीति। इदानीं शेषमुपधिं विश्रामयतः को विधिरित्यत आह—

अब्भिंतरपरिभोगं उवरिं पाउणइ णातिदूरे य। तिन्नि य तिन्नि य एक्क निसिं तु काउं परिच्छिज्जा ॥३५४॥

'अब्भिंतरपरिभोगं' क्षौमकल्पं शेषकल्पयोरुपरि प्रावृणोति, कति रात्रयः? तिस्र इति वक्ष्यति, तथा नातिदूरे धारमासन्ने तस्मिन्नेव कल्पं रात्रित्रयमेव स्थापयति, 'तिन्नि य तिन्नि य'त्ति पदद्वयं योजितमेव द्रष्टव्यं, 'एक्क निसिं तु काउं'ति एकां रात्रिमात्मोपरि कीलकादौ तमेव कल्पं स्थापयेत्। 'परिच्छिज्ज'त्ति एवं सप्त दिनानि परीक्षा कर्तव्या। अथवा 'परिच्छिज्ज'त्ति एवं सप्तवाराः कृत्वा पुनश्च शरीरे वस्त्रं प्रावृत्य परीक्षणीयं, यदि षट्पदा न लगन्ति ततः प्रक्षालनीयमिति॥

केई एक्केक्कनिसिं संवासेउं तिहा परिच्छंति। पाउणिय जइ ण लग्गति छप्पया ताहे धोविज्जा ॥३५५॥

केचनाचार्या एवमाहुः—'एक्केक्कनिसिं संवासेउं'ति अयमत्रार्थः—तमभ्यन्तरं कल्पं क्षौममितरकल्पयोरुपरि एकां रात्रिं प्रावृणोति, पुनरपरस्यां रात्रावासन्ने करोति, पुनरपरस्यां रात्रौ आत्मोपरि कीलकादौ लम्बमानं करोति, एवं त्रिरात्रं परीक्ष्यते पश्चात् तं कल्पं पुनः प्रावृणोति, प्रावृते च कल्पे यदि न लगन्ति षट्पदास्ततो धावयेत्—प्रक्षालयेत्। ते च

१ ... का.। २ ... का. क १ पा १–२। ३ ... का। ४ ... का। ५ ... का पा १। ६ ... प्रा. पु.। ७ ... का। ८ ... का.। ९ ... का पा १–२। १० ... क १ ... पु.। ११ ... का। १२ ... का क १।

प्रक्षालयन्तः—

निव्वोद्गस्स गहणं केई भाणेसु असुइ पडिसेहो। गिहिभायणेसु गहणं ठियवासे मीसिअं छारो ॥३५६

ते च साधवश्चीवरप्रक्षालनार्थं नीव्रोदकस्य ग्रहणं कुर्वन्ति, तत्राह—'केई भाणेसु'त्ति केचनैवं ब्रुवते यदुत 'भाजनेषु' पात्रेषु नीव्रोदकग्रहणं कार्यं, आचार्य आह—'असुइ' लोका एवं भणन्ति, यदुत अशुचय एते, ततश्च प्रतिषेधं कुर्वन्ति। क्व पुनर्ग्राह्यमित्यत आह—'गिहिभायणेसु' गृहस्थसत्केषु भाजनेषु—कुण्डादिषु भाजनेषु गृह्यते, कदा?—'ठियवासे' स्थिते प्रवर्षणे—थक्के वरिसियव्वे, 'मीसगं(सिअं)'ति अथ तत्र प्रवर्षति पर्जन्ये गृह्यते ततो गृह्णतो मिश्रं भवत्यन्तरिक्षोदकपातात् तस्मात्स्थिते प्रवर्षणे ग्राह्यं, गृहीत्वा[2] च क्षारः क्षेपणीयो येन सचित्ततां न याति। कस्य पुनः प्रथममुपधिः प्रक्षालनीय इत्यत आह—

गुरुपच्चक्खाणगिलाणसेहमाईण धोवणं पुव्वं। तो अप्पणो पुव्वमहाकडे य इतरे दुवे पच्छा ॥ ३५७ ॥

प्रथमं गुरोरुपधिः प्रक्षालनीयः[3] ततः 'पच्चक्खाय'त्ति प्रत्याख्यानी[4] अनशनस्थस्तस्योपधिः प्रक्षाल्यते समाधानार्थं ततो ग्लानस्य पश्चात्सेहस्यावधिप्रक्षालनं[5] मा भून्मलपरीषहपीडया चित्तभङ्गः, एवमेतेषां पूर्वमुपधिः प्रक्षाल्यते तत आत्मनः प्रक्षालयत्युपधिम्। इदानीं कानि प्रथमं प्रक्षालनीयानि? इत्यत आह—'पुव्वमहाकडे य'त्ति यानि एकखण्डानि अतूर्णितानि यथाकृतानि[6]

---

१ अयाऽत्र आ ल २ पा १। २ गृहीते च आ पा. १। ३ प्रक्षाल्यते आ क. २ पा. २। ४ °ख्याता आ क. २ पा. २। ५ °हस्य मा आ. ल. २ पा. १। ६ च तानि यथा° आ क २ पा १–२।

एवं प्रक्षालयति, 'इयरे इमे पच्छ'त्ति इतरौ द्वौ वस्त्रभेदौ पश्चात्प्रक्षालयति, एकान्यस्पपरिकर्माणि—यानि कचिन्मनाक् तूर्णितानि अन्यानि बहुपरिकर्माणि यानि द्विधा सीवितानि संधितानि च, स्वल्पपरिकर्माणि च क्षालयित्वा ततो बहुपरिकर्माणि क्षालयति।

अच्छोडपिट्टणासु य ण धुवे धोत्रे पतावण न करे। परिभोगमपरिभोगे छाया तव पेह कल्लाण ॥२५८॥

इदानीं स साधुः प्रक्षालयन् कर्पटानि नाच्छोटयति रजकवत्, नापि च पिट्टयति काष्ठपिट्टनेन स्त्रीवत्, किन्तु हस्तेन मनाग्पतनया धावनं करोति, धौतानि च वस्त्राणि आतपे न प्रतापयति, मा एतत्र काचित् षट्पदी स्यात्, कानि पुनरातपे कर्तव्यानि कानि वा न कर्तव्यानि ? इत्याह 'परिभोगमपरिभोगे'त्ति तानि कर्पटानि द्विविधानि भवन्ति—परिभोग्यानि अपरिभोग्यानि च, तत्र यथासङ्ख्येन छायातपयोः कर्तव्यानि, परिभोग्यानि छायायां शोष्यन्ते, मा भूदत्र षट्पदी स्यात्, अपरिभोग्यान्यातपे शोषयति, 'पेह'त्ति तानि च कर्पटानि शुष्यन्ति सन्ति निरूपयत्यपहरणभयात्। 'कल्लाण'त्ति पश्चादस्य प्रक्षालनप्रत्ययमेककल्याणकं प्रायश्चित्तं दीयते उक्तोऽप्कायः, इदानीमग्निकाय उच्यते—

इट्टगपागाईण बहुमज्झे विज्जुयाइ निच्छइओ। इंगालाई इयरो मुम्मुरमाई य मीसो उ ॥ २५९ ॥

असावपि त्रिविधः सचित्तादिभेदेन,तत्र सचित्त इष्टकापाकादीनां बहुमध्ये विद्युदादिको नैश्चयिको भवति,अङ्गारादिर्व्यतरो व्यावहारिकः मुर्मुरादिकः—उल्मुकादिर्मिश्रो भवति। इदानीमग्निकायस्योपयोगमचित्ताग्निशरीरोपयोग च दर्शयन्नाह—

१ इमे पेह'त्ति बा प. १-२। २ 'बाधनं' बा.। ३ तत्र सचित्त इट्ट' बा पा ३।

ओदणवंजणपाणगआयामुसिणोदगं च कुम्मासा। डगलगसरक्खसूई पिप्पलमाई य परिभोगो ॥३६०॥

ओदनं–कूरादि व्यञ्जनं–तिम्मणं पानकं–आचाम्लं आयामं–अवश्रावणं उष्णोदकं कुल्माषाश्च, एतानि अग्नेर्निर्वर्त्यानि कार्याणि, ततश्चैभिरुपयोगः क्रियते। इदानीमग्निनिर्वर्त्तितशरीरोपभोगं दर्शयन्नाह–डगलका–इष्टकाखण्डा अतीव पक्काः सरक्खो–भस्मसूच्यः पिप्पलकः–क्षुरकः, एवमादिभिरचित्तैरग्निशरीरैरुपयोगः क्रियते, अग्निशरीराणि च द्विविधानि भवन्ति–बद्धिल्लयाणि मुक्किल्लयाणि च, तत्रात्र मुक्किल्लयाणि द्रष्टव्यानि। इदानीं वायुकाय उच्यते, असावपि त्रिविधः सचित्तादिरूपः, तत्र नैश्चयिकसचित्तप्रतिपादनायाह—

सवलयघणतणुवाया अतिहिमअतिदुद्दिणे य निच्छइओ। ववहार पाइणादी अक्कंतादी य अच्चित्तो॥३६१

सह वलयैर्वर्त्तन्त इति सवलया घनवाताश्च तनुवाताश्च सवलयाश्च ते घनतनुवाताश्च सवलयघनतनुवाता निश्चयतः सचित्ताः। तथाऽतिहिमपाते यो वायुरतिदुर्दिने च यो वायुः स नैश्चयिकः सचित्तः, व्यवहारतः पुनः प्राच्यादि–पूर्वस्यां यो दिशि, आदिग्रहणादुत्तरादिग्रहणपरिग्रहः, एतदुक्तं भवति–अतिहिमअतिदुर्दिनरहितो यः प्राच्यादिवायुः स व्यवहारतः सचित्तः। इदानीमचित्तः 'अक्कंताई य अच्चित्तो'त्ति यः कर्दमादावाक्रान्ते सति भवति सोऽचित्तः, स च पञ्चधा–अक्कंते धंते पीलिए सरीराणुगए संमुच्छिमे, तत्थ अक्कंतो चिक्खिलाइसु, धंतो दतियाइसु, पीलिओ पोत्तचम्माईसु, सरीराणुगओ ऊसासनीसासवाऊ उदरत्था-

१ °कजिभभाया° ल. २। २ पायमाई आ पा. १।

पूर्वं प्रक्षालयति, 'इयरे दुवे पच्छ'त्ति इतरौ द्वौ वस्त्रभेदौ पश्चात्प्रक्षालयति, एतदुक्तं भवति—अन्यानि बहुपरिकर्माणि यानि द्विधा सीवितानि तुर्णितानि च, स्वल्पपरिकर्माणि च क्षालयित्वा ततो बहुपरिकर्माणि क्षालयति।

अच्छोडपिट्टणासु य ण धुवे धोते पतावण न करे। परिभोगमपरिभोगे छाया तव पेह कच्छाण ॥२५८॥

इदानीं स साधुः प्रक्षालयन् कल्पानि नाच्छोटयति रजकवत्, नापि च पिट्टयति काष्ठपिट्टनेन स्त्रीवत्, किन्तु हस्तेन मनागपवनया धावनं करोति, धौतानि च वस्त्राणि आतपे न प्रतापयति, मा भूदत्र काचित् षट्पदी स्यात्, कानि पुनरातपे कर्तव्यानि कानि वा न कर्तव्यानि ? इत्याह 'परिभोगमपरिभोगे'त्ति तानि कल्पानि द्विविधानि भवन्ति—परिभोग्यानि अपरिभोग्यानि च, तत्र यथासंख्येन छायातपयोः कर्तव्यानि, परिभोग्यानि छायायां शोष्यन्ते, मा भूदत्र षट्पदी स्यात्, अपरिभोग्या यातपे शोषयति, 'पेह'त्ति तानि च कल्पानि शुष्यन्ति सन्ति निरूपयस्यपहरणभयात्। 'कच्छाणं'ति पश्चात्स्य प्रक्षालनप्रत्ययमेककल्याणकं प्रायश्चित्तं दीयते उत्कोऽप्कायः, इदानीमग्निकाय उच्यते—

इट्टगपागाईण बहुमज्झे विज्जुयाइ निच्छइओ। इंगालाई इयरो मुम्मुरमाई य मीसो उ ॥ २५९ ॥

अग्नावपि त्रिविधः सचित्तादिभेदेन, तत्र सचित्त इष्टकापाकादीनां बहुमध्ये विद्युदादिको नैश्चयिको भवति, अङ्गारादिकेतरो व्यावहारिकः मुर्मुरादिकः—उत्सुकादिर्मिश्रो भवति। इदानीमचित्ताग्निकायस्योपयोगमचित्ताग्निशरीरोपयोगं च दर्शयन्नाह—

१ तते 'पेह'त्ति आ. प. १–२। २ 'कच्छाणं' आ.। ३ तत्र सचित्त इष्ट आ पा १।

जहण्णे निद्धे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ तिण्णि पहरे जाव अचित्तो होइ, तदुवरिं सो चेव चउत्थे पहरे मिस्सो होइ, तदुवरिं पंचमे पहरे सो चेव सचित्तो होइ। एवं निद्धकाले माणं भणिअं, इदाणिं रुक्खकाले दिणेहिं परूवणा किज्जइ, तत्थ लुक्खकालोऽवि तिविहो–जहन्नलुक्खो मज्झिमलुक्खो उक्कोसलुक्खो य, तत्थ जहन्नलुक्खे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ एगदिवसं जाव अचित्तो होइ, तदुवरिं सो चेव बिईयदिवसे मिस्सो होइ तदुवरिं सो चेव ततिए दिवसे सचित्तो होइ, मज्झिमलुक्खे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ दो दिणाणि जाव अचित्तो होइ, तदुवरिं सो चेव तइए दिवसे मिस्सो होइ, तदुवरिं चउत्थे दिवसे सचित्तो, एवं सो चेव वाऊ उक्कोसलुक्खकाले दिवसतिगं जाव अचित्तो होइ, तदुवरिं सो चेव चउत्थे दिवसे मिस्सो होइ, तदुवरिं सो चेव पंचमे दिवसे सचित्तो भवति। एवं एगदुगतिसंखा पोरिसिदिणेसुं अणुवट्टावणीआ इति। इदानीमचित्तेन वायुना यत्प्रयोजनं भवति तत्प्रदर्शयन्नाह—

दइएण वत्थिणा वा पओयणं होज्ज वाउणा मुणिणो। गेलन्नंमि [4]व होज्जा सचित्तमीसे परिहरिज्जा ।३६३

सुगमा ॥ नवरं दतिएणं तरणं कीरति, गेलन्ने बत्थिणा कज्जं होइ। उक्तो वायुः, इदानीं वनस्पतिकाय उच्यते, असावपि सचित्तादिभेदात्त्रिधा, तत्र निश्चयसचित्तप्रतिपादनायाह—

सव्वो वऽणंतकाओ सच्चित्तो होइ निच्छयनयस्स। ववहाराउ अ सेसो मीसो य पव्वायरोट्टाई ॥३६४॥

१ अच्छइ आ. ल २ पा. १. २. पु. । २ होइ, सो आ. पा १ । ३ तत्प्रतिपादयन्नाह–आ. पा. १. २. । ४ य. ल. २, च. आ. ।

पीओ, संमुच्छिमो वालिपदाईहिं अचित्तो। इदानीं मिश्र उच्यते, आह-किं पुनः कारणमिह मिश्रः पश्चाद्व्याख्यायते ?, उच्यते, अचित्तेनैव मार्गुर्व्यवहारं करोति, स च गृहीतः सन्नेव मिश्रीभवति, अस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं पश्चान्मिश्र उच्यते।

हत्थसयमेग गंता दइओ अचित्तो विइए संमीसो। तइयमि उ सच्चित्तो वत्थी पुण पोरिसिदिणेहिं।३६२

अचित्तवायुप्रभृतो दतिस्तरणार्थं गृह्यते, स च क्षेत्रतो हस्तशतमेकं यावद्गतस्तावदपि अचित्त एव, तोय तीर्त्वाऽपि ततो हस्त शतादूर्ध्वं द्वितीयहस्तशतारम्भे मिश्रो भवति, तृतीयहस्तशतारम्भे सचित्तो भवति, क्षेत्रमङ्गीकृत्य यावता क्षेत्रेण मिश्रो भवति तदोक्तं, इदानीं कालमङ्गीकृत्य यावता कालेनाचित्तः सन् मिश्रः सचित्तो वा भवति तत्प्रदर्शयन्नाह-'वत्थी पुण पोरिसिदिणेहिं'ति तत्र वस्तिः-चर्ममयी सञ्ज्ञोच्यते, सा चाचित्तवायोरापूरिता उत्कृष्टस्निग्धकाले पौरुषीमात्रं कालं यावदचित्तस्यो वायुरचित्त एवास्ते, अयमत्र भावार्थः-कालो हि द्विविधः-निद्धो लुक्खो य, तत्थ निद्धो कालो तिविहो इयरो लुक्खो, तत्थ निद्धो तिविहो उक्कोसो मज्झिमो जहन्नो य, तत्थ उक्कोसनिद्धे काले एग पोरिसी जाव वत्थी वाउपूरिओ अचित्तो होइ तदुवरिं सो चेव बिइए पहरे मिस्सो होइ तदुवरिं सो चेव तइए पहरे सचित्तो होइ, मज्झिमनिद्धे काले वत्थी वाउणाऽऽपूरिओ दो पोरसीओ जाव अचित्तो होइ तदुवरिं सो चेव तइयपहरे मीसो भवति तदुवरिं सो चेव चउत्थे पहरे सचित्तो होइ,

१ भावे मिश्रः खा. । २ विइय खा. क २. मु. । ३ आरम्भेऽपि मिश्रो खा. चा १ । ४ कालेन खा. । ५ नातिस्निग्धकाले खा. । ६ एग सिस्सो खा. क २ चा. १ । ७ पौरुषीमात्रं यावद् वत्थी खा. चा. १ । ८ वाउणाऽऽपूरिओ खा. क चा १२। ९ तइए पहरे खा. चा. १ मु. । १ चउत्थे पहरे खा. ।

द्वीन्द्रियाणां परिभोगः 'अक्षाणां' चन्दनकानां सशङ्खा या शुक्तयः तदादीनां, शङ्खेषु शुक्तिषु च औषधानि क्रियन्ते। त्रीन्द्रियाणां मध्ये उद्देहिकया, आदिशब्दादन्येन वा त्रीन्द्रियेण, यद्वा वैद्यो ब्रूयाद्, उद्देहिकायाः सत्कया मृत्तिकया प्रयोजनं, स सर्वस्त्रीन्द्रियपरिभोगः। इदानीं चतुरिन्द्रियपरिभोग उच्यते—

चउरिंदियाण मच्छियपरिहारो आसमच्छिया चेव। पंचिंदिअपिंडम्मि उ अव्ववहारा उ नेरइया ॥३६८॥

चतुरिन्द्रियाणां मध्ये 'मक्षिकापरिहारेण' मक्षिकापुरीषेण ऊर्ध्वविरेकः क्रियते शरीरपाटवार्थं, अश्वमक्षिकोपयोगश्च तयाऽक्ष्णोरक्षराः पतिता उद्ध्रियंते। अयं चतुरिन्द्रियपिण्डपरिभोगः, पञ्चेन्द्रियपिण्डे तु यदि परं नारकैर्व्यवहारः—उपयोगो न कश्चित्क्रियते। शेषास्तु तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्चोपयुज्यन्ते, तत्र तिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां सत्कमुपयोगं दर्शयन्नाह—

चम्मट्ठिदंतनहरोमसिंगअविलाइच्छगणगोमुत्ते। खीरदहिमाइयाणं पंचिंदिअतिरिअपरिभोगो ॥३६९॥

तत्र चर्मणा कुष्ठिनः प्रयोजनं भवति, अस्थ्ना—गृध्रनलकेन प्रयोजनं भवति वार्य्यपहरणार्थं पादे बध्यते, दन्तेन सूकरादेः संबन्धिना प्रयोजनं नखेन वा, रोमभिः प्रयोजनमुरभ्रादीनां सत्कैस्तैः कम्बलिका भवति, शृङ्गेण किञ्चित्प्रयोजनं भवेत्, अविला उरभ्रा तत्पुरीषं पामादावुपयुज्यते पामा मर्द्यते, तेन गोमूत्रेण चोपयोगः। शेषं सुगमम्। इदानीं मनुष्योपयोगः प्रदर्श्यते—

---

१ °पिण्ड, पक्षे° आ। २ °अभिलाइ° आ. पा १ पु। ३ कार्य आ. पा. १। ४ वाय्वाद्यप° आ. पा. १। ५ अमिला आ. पा. १–२ पु.। ६ °युज्यते तेन आ.।

सर्व एवानन्तवनस्पतिकायो निश्चयनयेन सचित्तः, शेषः परित्तवनस्पतिर्व्यवहारनयमतेन सचित्तः, 'मीसो पव्वायरोट्टाई'
पि मिश्रस्तु अम्लानानि फलानि यानि कुसुमानि पर्णानि च रोट्टो-लोट्टो तन्दुलाः कुट्टिताः, तत्थ तंदुलमद्दाइ अच्छति तेण
कारणेन सो मिस्सो भण्णइ। इदानीमचित्तवनस्पतिकाय तदुपयोग च दर्शयन्नाह—

संथारपायदंडगखोमिअकप्पाइ पीढफलगाई। ओसहभेसज्जाणि य एमाइ पओयण तरुसु ॥ ३६५ ॥

तत्र संस्तारकः मृदुपरिसृष्टैः क्रियते, कल्पत्रय च कार्पासिक भवति, औषधमन्तरुपयुज्यते, भेषजं तु बहिर्लेपः। उक्तो
वनस्पतिकायः, इदानीं द्वीन्द्रियादिप्रतिपादयन्नाह—

वियतियचउरो पंचिंदिया य तिप्पभिइ जत्थ उ समिति। सट्ठाणे सट्ठाणे सो पिंडो तेण कज्जमिण ॥ ३६६

द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रिया एकैके त्रिप्रभृतयो यत्र समवाय गच्छन्ति स द्वीन्द्रियादिपिण्डः, ते चैव समवाय गच्छन्ति स्वस्थाने
स्वस्थान, एवमुक्त भवति-द्वीन्द्रिया द्वीन्द्रियैरेव मिलितैर्द्वीन्द्रियपिण्ड उच्यते, तथा त्रीन्द्रियास्त्रीन्द्रियैरेव त्रिप्रभृतिभिर्मिलि-
तैस्त्रीन्द्रियपिण्ड उच्यत, एव स्वजातीयैर्मिलितैः पिण्डो वक्तव्यो यावत्पञ्चेन्द्रिया इति स्वस्थान स्वस्थाने स पिण्डः।
अथ यावद् द्वीन्द्रियादिः पञ्चेन्द्रियपर्यन्तः सचित्तादिपिण्डो भवति, यथाचित्तपिण्डो द्वीन्द्रियादिसत्कस्तेन चैतत्कार्यम्—

बेइंदियपरिभोगो अक्खाण ससरक्ख सिप्पिमाईण। तेइंदियाण उद्देहिगाइ अ वा वए विज्जो ॥ ३६७ ॥

1 भवति वा । २ कल्पाश्च च १ पु. । ३ बहिः । वच्चे वा । ४ सिप्पमा° वा ।

द्वीन्द्रियाणां परिभोगः 'अक्षाणां' चन्दनकानां सशङ्खा या शुक्तयः तदादीनां, शङ्खेषु शुक्तिषु च औषधानि क्रियन्ते। त्रीन्द्रियाणां मध्ये उद्देहिकया, आदिशब्दादन्येन वा त्रीन्द्रियेण, यद्वा वैद्यो ब्रूयाद्, उद्देहिकायाः सत्कया मृत्तिकया प्रयोजनं, स सर्वस्त्रीन्द्रियपरिभोगः। इदानीं चतुरिन्द्रियपरिभोग उच्यते—

चउरिंदियाण मच्छियपरिहारो आसमच्छिया चेव। पंचिंदिअपिंडम्मि उ अव्ववहारा उ नेरइया ॥३६८॥

चतुरिन्द्रियाणां मध्ये 'मक्षिकापरिहारेण' मक्षिकापुरीषेण ऊर्ध्वविरेकः क्रियते शरीरपाटवार्थं, अश्वमक्षिकोपयोगश्च तयाऽक्ष्णोरक्षराः पतिता उद्ध्रियंते। अयं चतुरिन्द्रियपिण्डपरिभोगः, पञ्चेन्द्रियपिण्डे तु यदि परं नारकैर्व्यवहारः—उपयोगो न कश्चित्क्रियते। शेषास्तु तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्चोपयुज्यन्ते, तत्र तिरश्चां पञ्चेन्द्रियाणां सत्कमुपयोगं दर्शयन्नाह—

चम्मट्ठिदंतनहरोमसिंग[2]अविलाइच्छगणगोमुत्ते। खीरदहिमाइयाणं पंचिंदिअतिरिअपरिभोगो ॥३६९॥

तत्र चर्मणा कुष्ठिनः [3]प्रयोजनं भवति, अस्थ्ना—गृध्रनलकेन प्रयोजनं भवति वा[4]य्वपहरणार्थं पादे बध्यते, दन्तेन सूकरादेः संबन्धिना प्रयोजनं नखेन वा, रोमभिः प्रयोजनमुरभ्रादीनां सत्कैस्तैः कम्बलिका भवति, शृङ्गेण किञ्चित्प्रयोजनं भवेत्, [5]अविला उरभ्रा तत्पुरीषं पामादावुपयु[6]ज्यते पामा मर्द्यते, तेन गोमूत्रेण चोपयोगः। शेषं सुगमम्। इदानीं मनुष्योपयोगः प्रदर्श्यंते—

---

१ °पिण्ड, पञ्चे° आ.। २ °अमिलाइ° आ. पा १ पु.। ३ कार्यं आ. पा. १। ४ वाय्वाद्यप° आ. पा. १। ५ अमिला आ. पा. १-२ पु.। ६ °युज्यते तेन आ.।

सेच्चित्ते पवासण पथुवेदेसे य भिक्खदाणाई । सीसट्ठियअचित्ते मीसट्ठिसरक्खपहपुच्छा ॥ ३७० ॥

प्रथमार्द्धं सुगम, सचित्तमनुष्यप्रयोजनमुक्तम्, इदानीमचित्तमनुष्यपिण्डप्रतिपादनायाह—'सीसट्ठिमअचित्ते'त्ति अचित्तेन शिरःकपालेन प्रयोजन भवति, पिचाण्यसु घसितम्म विजाह, सेपपराघर्षादि क्रियते। इदानीं मिश्रमनुष्यपिण्ड उच्यते—'मीसट्ठि सरक्खपहपुच्छा' मिश्रोऽस्थिपुक्तो यः सरजस्कः कापालिकस्तस्य मिश्रस्य पथि पृच्छनोपयोगः। इदानीं देशोपयोगप्रति पादनायाह—

खमगाइकालकज्जातिएसु पुच्छिज्ज देवयं किंचि। पथे सुभासुभे वा पुच्छिज्ज य दिव्वमुवओगो ॥ ३७१ ॥

क्षपकादिः कश्चित्, आदिशब्दादाचार्यादयः कालकार्यादौ मादिप्रहमासक्षपणादिकार्ये वा उत्पन्ने पृच्छति अर्चयते काञ्चिद्देवतां, पथि वा गच्छन् शुभाशुभं पृच्छेत्, अथवा शुभाशुभं—दुर्भिक्षादि पृच्छेत्, ततश्चायं दिव्यपिण्डोपयोगः। एवं तावत्सचित्तो नवप्रकारः पिण्ड उक्तः, तदनन्तरं मिश्रोऽपि पिण्डो नवप्रकारः प्रतिपादितः, अचित्तोऽपि नवप्रकारः प्रतिपादित एव। इदानीं दशमो भेदोऽचित्तो लेपपिण्ड उच्यते, स चैतेषामेव पृथिव्यादीनां नवानां भेदानां संयोगेन भवति, एतदेव प्रदर्शयन्नाह—

---

१ सचित्ते आ क २। २ वरेवाइ स १। ३ मिश्रस्य स्यात् आ घ १। ४ दर्शनायाह आ घ १-२। ५ पृच्छनोप° आ घ १। ६ आदौ क्षपकग्रहणादौ—आदि° आ। ७ पृच्छेत् अर्चयेत् आ. क. २. घ. १-२।

अह होइ लेवपिंडो संजोगेण नवण्ह पिंडाणं । नायव्वो निप्फन्नो परूवणा तस्य कायव्वा ॥ ३७२ ॥

अथ भवति लेपपिण्डः संयोगेन नवानां पिण्डानां निष्पन्नो ज्ञातव्यः, कथं ? दुचक्का गड्डिआ, तत्थ अक्खे मक्खिए पुढविकायस्स रजो लग्गति, आउक्काओ नदीए उत्तरओ लग्गइ, तेउक्काओ तत्थ लोहं फंसइति, वायु तत्थेव, यत्राग्निस्तत्र वायुना भवितव्यम् । वणस्सई अक्खो बितिचउ संपातिमा पाणा पडंति, पंचिंदियाणवि वरत्ता घस्सति । एवं संजोएण निप्फन्नो लेवो, इदानीं तस्य प्ररूपणा कर्त्तव्या ।

अवक्कालिअलेवं भणंति लेवेसणा नवि अ दिट्ठा । ते वत्तव्वा लेवो दिट्ठो तेलोक्कदंसीहिं ॥ ३७३ ॥

पर आह–अर्वाकालिकं लेपं केचन प्रतिपादयन्ति, सदोषत्वाल्लेपस्य, तथा लेपैषणा च समये न क्वचिद् दृष्टा, यतो द्विविधैव एषणा प्रतिपादिता–वस्त्रैषणा पात्रैषणा च, ततश्चायमर्वाक्कालिको यतो न युक्त्या घटते नाऽपि समये दृष्ट इति एवमुक्ते आचार्य आह–' ते वत्तव्वा ' त एवं भणनीयाः–इदं वक्तव्याः, यदुत लेपो दृष्टस्त्रैलोक्यदर्शिभिः–जिनैः, एतदुक्तं भवति–पात्रैषणां प्रतिपादयता लेपैषणाऽपि उक्तैव द्रष्टव्या, अन्यथा तद्व्यतिरेकेण पात्रग्रहणानुपपत्तेः, पात्रं हि लेपादिसंस्कृत-मेवोपयोगभाग् भवति नान्यथेति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

आयापवयणसंजमउवघाओ दीसई जओ तिविहो । तम्हा वदंति केई न लेवगहणं जिणा बिंति॥१९२ भा०

१ घस्सति आ क २ पा. १–२ । २ भाव्यम् आ. पा १–२ । ३ °षणा उक्तैव आ. क. १–२ पा. १–२ ।

सेचित्ते पद्यावण पत्थुवेदेसे य भिक्खदाणाई । सीसट्ठियअच्चित्ते भीसट्ठिसरक्खपहपुच्छा ॥ ३७० ॥

प्रथमार्द्धं सुगमं, सचित्तमनुष्यप्रयोजनमुक्तम्, इदानीमचित्तमनुष्यपिण्डप्रतिपादनायाह–'सीसट्ठिगअचित्ते'त्ति अचित्तेन शिरःकपालेन प्रयोजनं भवति, पिशाचस्तु पलितरूप विधाय, वेषपरावर्त्तादि क्रियते । इदानीं मिश्रमनुष्यपिण्ड उच्यते–'मीसट्ठि सरक्खपहपुच्छा' मिश्रोऽस्थियुक्तो यः सरजस्कः कापालिकस्तस्य मिश्रस्य पथि पृच्छनोपयोगः । इदानीं देवोपयोगप्रतिपादनायाह—

खमगाइकालकज्जातिएसु पुच्छिज्ज देवयं किंचि । पंथे सुभासुभे वा पुच्छिज्ज व दिव्वमुवओगो ॥ ३७१ ॥

क्षपकादिः क्षपित्, आदिशब्दादाचार्यादयः कालकार्यादौ आदिग्रहणात्मरणादिकार्ये वा उत्पन्ने पृच्छति अर्थयते कामिदेवतां, पथि वा गच्छन् शुभाशुभं पृच्छेत्, अथवा शुभाशुभ–दुर्भिक्षादि पृच्छेत्, एतदेव दिव्यपिण्डोपयोगः । एवं तावत्सचित्तो नवप्रकारः पिण्ड उक्तः, तदनन्तरं मिश्रोऽपि पिण्डो नवप्रकारः प्रतिपादितः, अचित्तोऽपि नवप्रकारः प्रतिपादित एव । इदानीं दशमो भेदोऽचित्तो लेपपिण्ड उच्यते, स चैतेषामेव पृथिव्यादीनां नवानां भेदानां संयोगेन भवति, एतदेव प्रदर्शयन्नाह—

१ वर्जिते आ. ड. २ । २ चरेखाइ ल १. । ३ मिश्रस्य शाखाइ आ पा १ । ४ दर्शनायाह आ पा १–२ । ५ पृच्छनोप° आ पा १ । ६ दोसे खमगुगुरुरण्णपरो–अर्हि° आ । ७ पृच्छेत अथवा आ. ड. २. पा. १–२ ।

चिंद्र्षति ततश्चाप्कायविराधना भवति। अथ रजःसंपातो भवति ततश्च पृथिवीकायविराधना भवति, एवमुक्ते सत्याह सूरिः[2]—

दोसाणं परिहारो चोयग ! जयणाए कीरए[3] तेसिं। पाए उ अलिप्पंते ते दोसा होंति[4] णेगगुणा॥१९५॥ भा.

दोषाणां परिहारस्तेषां चोदकोक्तानां क्रियत इति संबन्धः, कथं क्रियते ? इत्यत आह—हे चोदक ! यतनया[5] लेपस्य ग्रहणं क्रियते, ततश्च यतनया ग्रहणे सत्यात्मोपघातादयो दोषा न भवन्ति, पात्रे चालिप्यमाने त एव दोषा यत्त्वयोदिता आत्मोपघातादयोऽनेकगुणा—अनेकप्रकारा भवन्ति। इदानीं आचार्य एवात्मोपघातादि दर्शयन्नाह—

उड्डाई विरसंमी भुंजमाणस्स हुंति आयाए। दुग्गंधि भायणंमि य गरहइ लोगो पवयणंमि॥१९६॥ भा.

ऊर्ध्वादि—छर्दनादि दोषो भवति विरसे तस्मिन् पात्रे भुञ्जतः ततश्चात्मविराधनैव भवति। तथा 'दुग्गंधि' तस्मिन् भाजने भिक्षां गृह्णतो लोको गर्हां करोति ततश्च 'प्रवचने' प्रवचनविषये उपघातो भवति। यच्चोक्तं चोदकेन "जक्खुल्लिहणे पवयणंमि" तत्रेदमुच्यते—

पवयणघाया अन्नेवि अत्थि जयणा उ कीरई तेसिं। आयमणभोयणाई लेवे तव मच्छरो को णु॥१९७ भा.

प्रवचनोपघातोऽन्योऽप्यस्ति किन्तु यतना क्रियते तेषां, के च ते प्रवचनोपघाताः ? अत आह—'आचमनभोजनादयः' आचमनं—निर्लेपनादि भोजनं चैकमण्डल्यां, एतानि प्रवचनोपघातानि कुर्वन्ति यदि प्रकटानि क्रियन्ते, किन्तु यतनया करणान्न

१ 'द्वर्षं भवति तत' आ पा. १–२। २ सूरिराह आ पा. २। ३ कीरई आ. पा. १। ४ होंति आ पा १–पु०। ५ यतनया आ. क १–२।

पर आह—आत्मप्रवचनसंयमोपघातो दृश्यते यतस्त्रिविधस्तस्मान्नवन्ति केचन न लेपग्रहणं जिना ब्रुवते। इदानीं पर एवात्मोपघातादि प्रदर्शयन्नाह—

रहपडणउत्तिमगाइभजण घट्टणे य करघाओ। अह आयविराहणया जक्खुच्छिहणे पवयणंमि ॥१९३॥ भा०

तस्य साधोर्लेपं गृह्णतो दुःस्थितरथपतनेनोत्तमाङ्गादिभङ्गो भवति, घट्टने च–चलने सति रथस्य करस्य–हस्तस्य घातो भवति–संपीडनं भवतीत्यर्थः, अथैषाऽऽत्मविराधनोक्ता, इदानीं प्रवचनोपघातं प्रदर्शयन्नाह–'जक्खुच्छिहणे पवयणंमि' यक्षः–श्वा स हि यक्षोऽक्षप्रदेशमुच्छिहति ततश्च तस्मिन् यक्षोच्छिहने सति 'प्रवचने' प्रवचनविषये उपघातो भवति। इदानीं संयमविराधनां प्रदर्शनायाह—

गमणागमणे गेहणे तिट्ठाणे संजमे विराहणया। महिसरिउम्मुगहरिआ कुंथू वासं रओ व सिया॥१९४॥ भा०

लेपार्थं गमने च आगमने च ग्रहणे च लेपस्य संयमविराधना भवति, कथं? 'महिसरिउम्मुगहरिआ कुंथु'त्ति तत्र गच्छतो मही सचित्ता भवति, तथा सरिदुत्तरणेऽप्कायविराधना भवति, तथा ग्रहणे चाग्निविराधना भवति, स हि गृह्णन् कदाचिदुल्मुकं चालयति ततश्चाग्निविराधना, यत्राग्निस्तत्र वायुना भवितव्यं, तथा कदाचिदसौ यन्त्री हरितकुन्थ्वादिमध्ये व्यवस्थिता भवति ततश्चासौ लेपं गृह्णन् तानि विराधयति, अथवाऽनया भङ्ग्या संयमविराधना भवति–'वासं रओ व सिया' तत्र गतस्य कदा

१ स पतेत् आ। २ यक्षाणि आ। ३ च विराधना च १–२ पा. १–२।

चिद्दर्षति ततश्चाप्कायविराधना भवति। अथ रजःसंपातो भवति ततश्च पृथिवीकायविराधना भवति, एवमुक्ते सत्याह सूरिः[1][2]—

दोसाणं परिहारो चोयग! जयणाए कीरए[3] तेसिं। पाए उ अलिप्पंते ते दोसा होंति[4] णेगगुणा॥१९५॥ भा.

दोषाणां परिहारस्तेषां चोदकोक्तानां क्रियत इति संबन्धः, कथं क्रियते? इत्यत आह—हे चोदक! यतनया लेपस्य[5] ग्रहणं क्रियते, ततश्च यतनया ग्रहणे सत्यात्मोपघातादयो दोषा न भवन्ति, पात्रे चालिप्यमाने त एव दोषा यत्त्वयोदिता आत्मोपघातादयोऽनेकगुणा—अनेकप्रकारा भवन्ति। इदानीं आचार्य एवात्मोपघातादि दर्शयन्नाह—

उड्डाई विरसंमी भुंजमाणस्स हुंति आयाए। दुग्गंधि भायणंमि य गरहइ लोगो पवयणंमि॥१९६॥ भा.

ऊर्ध्वादि—छर्दनादि दोषो भवति विरसे तस्मिन् पात्रे भुञ्जतः ततश्चात्मविराधनैव भवति। तथा 'दुग्गंधि' तस्मिन् भाजने भिक्षां गृह्णतो लोको गर्हां करोति ततश्च 'प्रवचने' प्रवचनविषये उपघातो भवति। यच्चोक्तं चोदकेन "जक्खुल्लिहणे पवयणंमि" तत्रेदमुच्यते—

पवयणघाया अन्नेवि अत्थि जयणा उ कीरई तेसिं। आयमणभोयणाई लेवे तव मच्छरो को णु॥१९७ भा.

प्रवचनोपघातोऽन्योऽप्यस्ति किन्तु यतना क्रियते तेषां, के च ते प्रवचनोपघाताः? अत आह—'आचमनभोजनादयः' आचमनं—निर्लेपनादि भोजनं चैकमण्डल्यां, एतानि प्रवचनोपघातानि कुर्वन्ति यदि प्रकटानि क्रियन्ते, किन्तु यतनया करणान्न

१ 'दर्पं भवति तत' आ पा. १–२। २ सूरिराह आ पा. २। ३ कीरई आ. पा १। ४ होंति आ पा. १–पु। ५ यतनया आ. क. १–२।

प्रवचनोपघातो भवतीति, ततश्च लेपे तव को मत्सरः ? इति । इदानीं पात्रस्यालेपने संयमविराधनां प्रतिपादयन्नाह—

खइमि मग्गिअम्मी लोणे दिन्नमि अवयवविणासो । अणुकंपाई पाणामि होज्ज उदगस्स उ विणासो ॥३७४

एगेण साहुणा गिलाणट्ठ खंड मग्गियं, तम्मि य विसए लोणंपि खंड भण्णइ, ततो तेण भावएण लोणं मग्गियंति काउं भायणे लोणं दिण्णं, पच्छा पडिस्सयं गएण दिट्ठं जाव तं लोणं, ततो तेण पुढविकाउत्ति काऊण परिट्ठविअं, ततो परिट्ठवियमिवि तंमि लोणंमि तस्स खरफरुसे भायणे लग्गा राइउ य पविट्ठा लोणावयवा, ततो जदि तस्स अण्णपाणगाइ घेप्पइ ततो ताण लोणावयवाण विणासो होइ, अह न गिण्हइ लोणखरडिए भायणे तत आत्मादिविराधना भवति, अहवा कम्मिअपाये मग्गिअंमि गिहत्थीए अणुकंपाए आउक्काओ दिण्णो, आत्मग्रहणास्पर्शिणीयत्वेन अनाभोगेण वा तओ तंमि कडुयभायणंमि सो विणस्सइ—विराध्यते ततो संजमविराधना भवति । अथवा इमो दोसो हवइ पायस्स अलेवणे—

पूयलिअलग्गअगणीपलीवण गाममाइण होज्जा । रोहपणगा तरुमी मिगुकुथादी ये छट्ठमि ॥३७५॥

एगेण साहुणा कणिक्कमंडलिआ लद्धा, तीए हेट्ठा सुहुमो अंगारो लग्गो दिण्णो, सो य साहुणा न दिट्ठो, ततो भमतस्स य पत्त पडलेहिं समं पेल्लिअं ततो तेण पलित्तपाएण दट्ठूण घत्तिय तंपि वाडीए पडिअं गामपलीवणं जायं, यत्राग्निस्तत्र वायुरपि । अहवा रोहगो पाडलरोहो लद्धो, सो अपरिणओ होइ, 'पणगा तंरुमि'त्ति पणगो उल्ली राइसु होइ, ततो तविणासो—तरुविणासो,

1 एवंजयाए—आ क १-२ । 2 केणवि साहुणा क १ । 3 पुढविक आ । 4 आमी° पा २ । 5 व आ स. २ । 6 पलित्तपायं पा । 7 तरुंमीत्ति आ. ।

वणस्सइविणासोत्ति भणिअं होइ, मिगु–राजिर्भण्यते, तत्र कुंथाईआ पाणिणो हवंति, तंतो एवं छट्ठो तसकाओ विणासिओ होइ, एवं अलित्ते पत्ते छज्जीवणिकायविराधना अवस्सं होइ ॥ यच्चोक्तं 'त्रैलोक्यदर्शिभिः समये लेपैषणा नोक्ता' तत्रेदमुच्यते—

पायग्गहणंमि य देसिअंमि लेवेसणावि खलु वुत्ता । तम्हा उ आणणं लिंपणा य जयणाए कायव्वं ॥३७६॥

पात्रग्रहणे दर्शिते–उपदिष्टे सति लेपैषणाऽपि खलूक्तैव द्रष्टव्या, तस्मादानयनं लेपस्य लिम्पनं च यतनया कर्त्तव्यम् ।

अत्राह परः—

हत्थोवघाय गंतूण लिंपणा सोसणा य हत्थंमि । सागारिए पभुंजिघणा य छक्कायजयणा य ॥३७७॥

यदि नाम पात्रं लिप्यते लिप्यतां नाम, किन्तु तत्रैव शकटसमीपे नीत्वा लिप्यतां यतो लेपानयने हस्तस्योपघातो–बाधा भवति, अथवा हस्तेन यदि लेप आनीयते ततः संपातिमसत्त्वानामुपघातो भवति, तस्माद्गत्वा पात्रलेपनं कार्यं, एवमुक्ते आचार्या भणिष्यन्ति, यदुत त्वदीयेऽपि पक्षे आत्मोपघातादि भवत्येव । तथा पुनरपि पर एवं भणति तत्पात्रकं लेपयित्वा पुनश्च शोषणा हस्तव्यवस्थितस्यैव पात्रकस्यैव कर्त्तव्या, येन सार्द्रनिक्षेपदोषः परिहृतो भवति, आचार्योऽप्यत्र प्रत्युत्तरं दास्यति, यदुत हस्ते ध्रियमाणेन पात्रेण आत्मोपघातादयो दोषा भवन्ति तस्मात्पात्रकं हस्ते न शोषणीयं लेपश्च

---

१ ज भणिअ, भिगु आ पा १–२ । २ एव आ । ३ अलेविए पाए आ. पा. १–२ । ४ आणयना लिंप° आ ल २, आणणा पु पा १ । ५ पायस्य जयणाए आ ल २ पा. १ । ६ लेपन पात्रस्य यत° आ, लेपन च पात्रस्य यत° पा १–२ । ७ °समीप गत्वा आ । ८ यथा आ । ९ ददाति आ ।

मानयनीयः, तत्र च लेपार्थं गच्छन् स साधुः क्वाचिदासन्न एव 'सागारिए'त्ति सागारिकः—शय्यातरस्तच्छकटानि यदि पश्यति ततस्तेष्वेव लेपं गृह्णाति, न तत्र गृह्णतः शय्यातरपिण्डदोषो भवति, 'पहु'त्ति तेन साधुना लेपं गृहीत्वा यस्तेषां शकटानां प्रभुः स प्रष्टव्यः, अप्रच्छने तु दोषा भवन्ति। तथा लेपस्य त्रिग्रहणं कर्त्तव्यं, किमय कतुरकतुर्वा? तथा षट्काय-यतना च कार्या, इत्येतस्मर्थं पश्यति। इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवमभिव्यासयाऽऽह—

चोदगवयण गतूण लिंपणा आणणे बहू दोसा। सपाइमाइघाओ अतिउव्वरिए य उस्सग्गो ॥१९८ भा०

चोदकस्य वचनं, किं तत्?, गत्वा लेपना पात्रकस्य कर्त्तव्या, यत आनयने लेपस्य बहवो दोषा भवन्ति, कथम्?, यदि तावद्धस्तेनानीयते लेपस्ततो हस्तस्य तापोपजायते तथा सपातिमसत्त्वघातो भवति, अभ्युद्धरिते च तस्मिन् लेपे 'उत्सर्गः' परिष्ठापनं भवति, तत्र चार्द्रत्वेन हस्तस्तत्रैव गत्वा लिम्पतु। एवमुक्ते सूरिराचार्य आह—

एवमवि भाणभेओ विआवडे अत्तणो य उवघाओ। नीसंकियं च पायंमि गिण्हणे इहरहा संका॥ १९९ भा०

एवमपि गत्वा भाजनं लिम्पतो भाजनभेदो भवति, व्यापृतस्य च—आकुलस्य पात्रकलेपने गन्ध्यामलने सत्त्वात्मोप-घातो भवति तथा प्रकटं तत्रैव पात्रे लेपग्रहणं कुर्वतो निःशङ्कितं लोकस्य भवति यथैतेऽशुचयः येनाशुचिना लेपेन पात्रक-लेपनं कुर्वन्ति। 'इहरहा संक'त्ति इतरथा यदि तत् पात्रं तत्र प्रकटं न लिम्पते ततो लोकस्य शङ्कैव केवला भवति पठुत न

१ °नयनीया भा.। २ तत्र भा. प्र. १-२। ३ °वेपकस्यस्थानत्रेन भा प १-२। ४ चत्वार गुरु भा भा १-२। ५ °मिणंमि पायंमि भा क २ भा १। ६ °लिम्पई भा।

विघ्नः किमप्यनेन लेपेनैते करिष्यन्ति इति, ततः प्रतिश्रय एवागत्य लेपना कर्त्तव्येति ।

चोएइ पुणो लेवं आणेउं लिंपिऊण तो हत्थे । अच्छउ धारेमाणो सद्दवनिक्खेव परिहारी २०० ॥(भा०)

अत्र परः पुनरपि चोदयति-एवं नामानीय लेपमाश्रये लिम्पतु पात्रकं, किंतु लेपयित्वा ततो हस्ते तत्पात्रकं लिप्तं सत् धारयंस्तिष्ठतु यावत्तद्धस्तस्थितमेव शोषमुपयाति, किं कारणं ?, यतो यूयं 'सद्रवनिक्षेपपरिहारिणः' सद्रवस्य निक्षेपः सद्रवनिक्षेपस्तं परिहर्तुं शीलं येषां भवतां ते सद्रवनिक्षेपपरिहारिणः, एतदुक्तं भवति-पात्रकं तोयार्द्रमपि न निक्षिपथ किं पुनर्लेपलिप्तमिति । एवमुक्ते सति परेणाचार्य आह—

एवं होउवघाओ आताए संजमे पवयणे य। मुच्छाईपवडंते तम्हा उ न सोसए हत्थे॥ २०१ ॥ (भा०)

एवं पात्रकं 'लेपितं हस्तेन धारयतो भवत्युपघात आत्मनि संयमे प्रवचने च, तत्रात्मविषयः संयमविषयश्च कथं ?— 'मुच्छाईपवडंते'त्ति कदाचित्तस्य साधोर्निरोधे पात्रकं हस्तस्थं धारयतो मूर्च्छा भवति ततश्च प्रपतति, पतितस्य चात्मोपघातो भवति अङ्गविनाशलक्षणः, पात्रकभेदे च संयमविराधना भवति, तथा प्रवचनोपघातश्चैवं भवति, तं तथा पतितं साधुं दृष्ट्वा कश्चित्सागारिकं एवं ब्रूयात्, यदुत-त्वदीयसर्वज्ञेन हस्ते पात्रधारणमुपदिशता अयमप्यपायो भावी न दृष्ट इति, तस्मादेत-

---

१ लिंपणा कुणइ हत्थे ल. १ । २ अच्छइ ल १ । ३ °मानयित्वा ल. १ । ४ लिप्त सत् आ. । ५ भवति पा २ । ६ लिप्त सद्धस्तेन आ । ७ भवेत्ततश्च आ पा १–२ । ८ एतदीय° आ पा. १–२ ।

रोपमयाम हस्ते शोपयेत् पात्रमिति ।

दुविहा य होंति पाया जुन्ना य नवा य जे उ लिप्पंति । जुन्ने दाएऊण लिंपइ पुच्छा य इयरेसिं ॥ २७८ ॥

तानि च लेपयितव्यानि पात्रकाणि द्विविधानि भवन्ति, 'जूर्णानि' पुराणानि 'नवानि' अधुनैव यान्यानीतानि तानि प्रथम लिप्यन्ते, तत्र यानि जूर्णानि पात्रकाणि लिम्पनीयानि तानि गुरोः प्रदर्श्य लिम्पति, एवंविधान्येतानि पश्य किं लिप्यन्ते उत न ?, इतरेषां–नवानां पात्रकाणां लेपने पृच्छा कर्त्तव्या, किं एतानि लिप्यन्ते उत तिष्ठन्तु ? इति । आह–कः पुनरनापृच्छय पात्रकाणि विलिम्पति ? उच्यते, यो मायावी भवति स चैवं ज्ञात्वा पात्रकाणि लिम्पति—

पाडिच्छगसेहाण नाऊण कोइ आगमणाई । दढलेवेवि उ पाए लिंपइ मा तेसिं दिज्जिज्जा ॥ २७९ ॥

पाडिच्छगा–सूत्रार्थग्रहणार्थं ये आचार्यसमीपमागच्छन्ति सेहा–अभिनवप्रव्रजिताः, एतेषामागमनं ज्ञात्वा कश्चि मायावी दृढलेपान्यपि तानि पुराणपात्रकाणि लेपयति, मा भूदाचार्यस्तेभ्यः प्रतीच्छकसेहेभ्यो दद्यात् ॥

अहवावि विभूसाए लिंपइ जा सेसगाण परिहाणी । अपडिच्छणे य दोसा सेहे काया अओ दाए ॥२०२

अथवा दृढलेपमपि पात्रं विभूषया लिम्पति, तस्मिंश्च लिप्ते पात्रे या 'शेषकाणां' ग्लानादीनां परिहानिः सा सर्वा तेन

१ 'चोक्खिं' इत्य° क । २ जीर्णानि भा. प. १–२ । ३ लिम्पति नति चोप° ? उच्यते क १ । ४ एष देयोऽस्य भा । ५ लिम्पति भा. प. १ ।

कृता भवति । 'अपडिच्छणे य दोस'त्ति [1]पत्तयाभावे आयरिओ ते न पडिच्छति ततो 'दोसा' निर्जराद्यभावलक्षणाः । 'सेह' त्ति यः प्रव्रजितप्रात्रस्तस्मै यदि पात्रकादि न दीयते ततस्तस्योपकरणरहितस्य चित्तविपरिणामो भवति, विपरिणामतश्च कायान् व्यापादयति, अतः अस्मात्कारणाद्दर्शयित्वा पात्रं लिप्यते, कदाचिदसावाचार्यः प्रतीच्छकादीनागन्तुकान् श्रुत्वा निवारयेत्तं साधुं लिम्पन्तमिति । कदा पुनर्लेपग्रहणं दानं च कर्त्तव्यमित्यत आह—

पुव्वण्हि लेवदाणं लेवग्गहणं सुसंवरं काउं । लेवस्स आणणे लिंपणे य जयणाविही वोच्छं ॥ ३८० ॥

पूर्वाह्णे लेपप्रदानं पात्रकस्य कर्त्तव्यं लेपेन लेपनमित्यर्थः, येन तत्प्रत्यूषसि लिप्तं दिवसेन शुष्यति, तथा 'लेवग्गहणं सुसंवरं काउं'ति गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहणं–शरावसंपुटं सुसंवरं–सुगुप्तं चीवरेण कृत्वा तं शरावसंपुटम् । इदानीं लेपस्यानयने लेपने च पात्रकस्य यो यतना[2]विधिर्भवति तं वक्ष्ये । इदानीमेनामेव गाथां [3]भाष्यकारो व्याख्यानयति—

पुव्वण्हि लेवगहणं काहिंति चउत्थगं करिज्जाहि । असहू वासिअभत्तं अकारऽलंभे य दिंतियरे ॥२०३भा०

पूर्वाह्णे लेपदानं करिष्यामीति कृत्वा चतुर्थमेकमुपवासं कुर्याद् येन निर्व्यापारः सुखेनैव करोति, अथासौ चतुर्थं कर्त्तुं न शक्नोति अत्यन्तमसहिष्णुस्ततो नासिकभक्तं भक्षयित्वा पात्रकाणि लेपयति । 'अकारऽलंभे'त्ति अथ तद्वासिकभक्तमका-

---

१ पात्रकाभावे भायरिओ तान् प्रतीच्छकान् न प्रतीच्छति, अपडिच्छणे 'दोषा' आ. म २ । २ °मोहो आ ल. २ । ३ विधिस्तं आ. पा. १ । ४ भाष्येण व्याचष्टे पा. २ ।

रक्त-अपथ्यं तस्यालम्भो या तया वेलया स न लभते भक्त ततः 'दितिवरे'त्ति 'इतरे' अन्ये साधव आनीय ददति लम्भसंपन्ना ये। ततश्च लेपयित्वा कृत्यकृत्यो पर्युपास्ते—

कयकितिकम्मो छंदेण छंदिओ भणइ लेवऽहं घेत्तुं। तुब्भंपि अस्थि अट्ठो ? आम त कित्तिअ किं वा ॥३८१

स हि लेपार्थं व्रजन् गुरोः कृतिकर्म-द्वादशावर्तवन्दनं करोति, कृतकृतिकर्मा च छन्देनेति-द्वादशावर्तवन्दनके गुरुणा च्यमेवत्, छन्दितः-अनुज्ञातः सन् भणति-लेपमहं ग्रहीष्यामि ततश्च युष्म-भवतामपि अस्त्यर्थस्य लेपेन ?, पुनरसौ गुरु-प्रयोजनं तव लेपेन ?, किं आचार्यस्य च लेपेन प्रयोजनं भवति ? तस्य मच्छसाधारण नन्दीपात्रमस्ति तदर्थं तस्य चाऽऽचा मणति-आमम्-अस्ति कार्यं, पुनः साधुर्भणति-'त कित्तिअ'त लेपं कियन्तं ग्रहीष्यामि ? 'किं च'त्ति किं वा मल्लिकया तव पंक्त्यिं करोति।

सेसेवि पुच्छिऊण कयउस्सग्गो गुरु पणामिऊण। मल्लगरूवे गिण्हइ जइ तेसिं कप्पिओ होइ ॥३८२॥

न केवलं गुरुमेव पृच्छति शेषानपि साधून् यथा 'कायोत्सर्गः कृतोपयोगो गुरु नमस्कृत्य, किं करोतीत्यत आह-'मल्लकरूवे गिण्हइ' मल्लकं-शरावं यत्र लेपो गृह्यते रूपं च गृह्णाति येनासौ लेपो छाद्यते, मल्लकरूपयोश्च तदा ग्रहणं करोति यदा तयोः कल्पिको भवति, एतदुक्तं भवति-यदसौ गवेषणायां पात्रैषणायां च गीतार्थस्तदा मल्लकं रूपं च मार्गयित्वा गच्छतीति।

1 चार का। २ ददाति का. क. १। ३ मल्लिका का ध. १-२। ४ आचार्यस्य का।

गीयत्थपरिग्गहिए अयाणओ रूवमल्लए घित्तुं। छारं च तत्थ वच्चइ गाहिए तसपाणरक्खट्ठा ॥३८३॥

अथासौ मल्लकरूतयोर्मार्गणे न कल्पिकस्ततो गीतार्थपरिगृहीते-स्वीकृते मल्लकरूते गृहीत्वा क्षारं च-भूतिं गृहीत्वा तत्र मल्लके व्रजति, गृहीते लेपे सति चीरमुपरि दत्त्वा लेपस्य ततो रूतं तत उपरि भूतिं ददाति, किमर्थं ?, त्रसप्राणरक्षणार्थमिति। इदानीं यदुक्तं प्रेरकेणासीत् यदुत सागारिकगन्त्र्यां लेपग्रहणं न कार्यं यतोऽसौ शय्यातरपिण्डो वर्त्तत इति, तत्प्रतिषेधायाह—

वच्चंतेण य दिट्ठं सागारिदुचक्कगं तु अब्भासे। तत्थेव होइ गहणं न होइ सो सागारिअपिंडो ॥३८४॥

व्रजता साधुना लेपग्रहणार्थं यदि दृष्टं सागारिकसंबन्धि द्विचक्रं-गन्त्रिका अभ्यासे-समीपे ततस्तत्रैव ग्रहणं कर्त्तव्यं न भवत्यसौ सागारिकपिण्डः-शय्यातरपिण्डोऽसौ न भवति। इदानीमसौ गत्वा किं कृत्वा लेपं गृह्णातीत्यत आह—

गंतुं दुचक्कमूलं अणुन्नवित्ता पहुं तु साहीणं। एत्थ य पहुत्ति भणिए कोई गच्छे निवसमीवे ॥ ३८५ ॥

गत्वा 'द्विचक्रमूलं' गन्त्रीसमीपं, यदि तत्प्रभुः 'स्वाधीनः' सन्निहितो भवति ततस्तमनुज्ञाप्य गृह्यते, अथ तत्र गन्त्र्या आसन्नः प्रभुर्नास्ति ततश्चासौ साधुः पृच्छति-कोऽत्र प्रभुः ? इति, पुनश्चैवं पृष्टे सति कश्चित्पुरुष एवं ब्रूयाद्, यदुत 'एत्थ य पभुत्ति' अत्र शकटप्रभू राजा, ततश्चैवं भणिते सति कश्चिदगीतार्थो गन्त्रीणामनुज्ञापनार्थं नृपसमीपमेव गच्छेत्। एत्थ य अविहीअणुण्णवणाए दिट्ठंतो—

---

१ °ग्गाहिअ आ.। २ रूतौ आ.। ३ पृच्छेत् क. १।

१क-अपष्य तस्यालम्भो वा तया वेलया स न लभते भक्त ततः 'दिविवरे'ति 'इतरे' अन्ये साधव आनीय ददति छविसंपन्ना ये। ततश्च लेपयित्वा कृतपकस्यो मध्नुपमोस्ते—

कयकितिकम्मो छंदेण छंदिओ भणइ लेवऽहं घेत्तु। तुब्भपि अत्थि अट्ठो? आम त कित्तिअ किं वा ॥२८१

स हि लेपार्थं व्रजन् गुरोः कृतिकर्म-द्वादशावर्तवन्दनं करोति, कृतकृतिकर्मा च छन्देनेति-द्वादशावर्तवन्दनके गुरुणा स्यमेवत्, छन्दिता-अनुज्ञातः सन् भणति-लेपमहं ग्रहीष्यामि ततश्च युष्म-भवतामपि अस्त्यार्थित्व लेपेन?, पुनरसौ गुरु-र्भणति-आमम्-अस्ति कार्यं, पुनः साधुर्भणति-'त कित्तिअं'ति लेपं कियन्तं ग्रहीष्यामि? 'किं वा'त्ति किं वा भविकया तव प्रयोजनं तव लेपेन?, किं आचार्यस्य च लेपेन प्रयोजनं भवति? तस्य गच्छसाधारणं नन्दीपात्रमस्ति तदर्थं तस्य वाऽऽज्ञा पयित्वा करोति।

सेसेवि पुच्छिऊण कयउस्सग्गो गुरु पणमिऊण। मल्लगरुवे गिण्हइ जइ तेसिं कप्पिओ होइ ॥ २८२॥

न केवलं गुरुमेव पृच्छति शेषानपि साधून् पृष्ट्वा 'कृतोत्सर्गः कृतोपयोगो गुरु नमस्कृत्य, किं करोतीत्यत आह-'मल्लगरूवे गिण्हइ' मल्लकं-शरावं यत्र लेपो गृह्यते रूतं च गृह्णाति येनासौ लेपो छाद्यते, मल्लकरूतयोश्च यदा ग्रहणं करोति यदा तयोः कल्पिको भवति, एतदुक्तं भवति-यदसौ पात्रैषणायां पात्रैषणायां च गीतार्थस्तदा मल्लकं रूतं च मार्गयित्वा गच्छतीति।

१ चर वा। २ ददति वा. क. १। ३ मविकया वा पा. १-२। ४ चार्यस्य वा.।

कडुतिल्लमक्खिओ ताहे न घेप्पइ, सो अथिरो होइ, जो मिट्ठतिलतेल्लमक्खिओ सो घिप्पइ। कथं पुनर्जिंघ्रणं करोति ?, नासिकया अस्पृशन्। जिंघणा इति अवयवो भणिओ। इदानीं छक्कायजयण 'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

हरिए बीए चले जुत्ते वच्छे साणे जलट्ठिए। पुढवी संपाइमा सामा महवाते महियाऽमिए ॥ ३८८ ॥

हरिते बीजे वा तच्छकटं प्रतिष्ठितं भवति ततश्च तत्र न ग्राह्यो लेपः, तथा तत्कदाचिच्छकटं 'चलं' गमनाभिमुखं व्यवस्थितं भवति तदापि न ग्राह्यः, तथा जुत्ते वा हवइ तदापि न ग्राह्यः, कदाचिच्च तस्मिन् शकटे वत्सको बद्धो भवति तदासन्नो वा ततश्च न ग्राह्यः, श्वा वा तत्र बद्धः तथापि न ग्राह्यः, जलमध्ये तत् शकटं व्यवस्थितं भवति ततश्च न ग्राह्यः, कदाचिच्च सचित्तपृथिवीप्रतिष्ठितं भवति तथाऽपि न ग्राह्यः, कदाचित्संपातिमसत्त्वैः स प्रदेशो व्याप्तो भवति ततश्च न ग्राह्यः, तथा श्यामा-रात्रिस्तस्यां च न ग्राह्यः, महावाते च वाते सति न गृह्यते, 'महिकायां' धूमिकायां निपतन्त्यां न गृह्यते, अमितश्चासौ लेपो न गृह्यते किन्तु प्रमाणयुक्त एव ग्राह्यः। द्वारगाथेयम्, इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासुराह—

हरिए बीएसु तहा अणंतरपरंपरे वि य चउक्का। आया दुपयं च पतिट्ठियंति एत्थंपि चउभंगो ॥२०४॥

---

१ ततश्च आ ल २। २ युर्क्त वा वहति तदापि ला. पा १। ३ व्याप्तस्ततश्च° आ. पा. १ २। ४ °युक्त.। द्वार° आ. पा. १। ५ °सयाऽऽइ आ० ल. २ पा. १-२ पु।। ६ °ट्ठियमि ल. १।

किं देमित्ति नरवई तुज्झ खरमक्खिआ दुचक्कित्ति। सो य पसरथो लेवो इत्थ य भद्देतरे दोसा ॥३८६॥

एगो साहू लेवस्स कज्जे निग्गओ जाव पेच्छइ सगडाइ, साहुणा पुच्छिअं–कस्स एते सगडा ?, गिहत्थेण सिट्ठं–राउला, साहू भणीयत्थो चिंतेइ–एइ मणुण्णवेयव्वो, वच्चामि राय पिच्छामि तेण राया दिट्ठो, भणति राया–किं तुह देमि ?, साहू भणति–तुब्भ सगडे तिल्लमक्खियए अत्थि तत्थ लेवो पसत्थो होइ त मे देहि, एत्थ य भद्देयरे दोसा भवति, तत्थ जइ सो राया भद्दो ताहे सव्वहिं चेव उग्घोसवं करावेति जहा न केणवि सगडा चप्पण मक्खियव्वा जो मक्खेइ सो दड पत्तो एवमाई भद्दो पसंगं कुज्जा, अह सो पतो राया ताहे सो भणिज्जा–अम्ह किंची न जाइय इमीए परिसमज्झे तो लेवो जातिओ, अहो अवुई समणा खलु एए मा एयसिं कोई भिक्ख पिं देउ। एते अविहीमणुण्णवणाए दोसा।

तम्हा दुचक्कवइणा तस्सादिट्ठेण वा अणुण्णाए। कड्डुगघजाणणट्ठा जिंघे नासेण अफुसता ॥ ३८७ ॥

तम्हा विहीए मणुण्णवेयव्वो, सो य विही–जाव सगडाणं पासे ठिओ अच्छइ जाव दुचक्कवई आगओ, तओ दुचक्कवइमा–गड्डियावइमा अणुण्णाए सति लेवो गहेयव्वो, तेण वा दुचक्कवइणा जो संदिट्ठो पहुत्ते ठविओ जहा तुमे भलेयव्व, तेण वा अणुण्णाओ संतो गेण्हइ, कड्डुगघजाणणट्ठं जिघियव्वो लेवो–किं सो कडुओ ?–कडुअतिल्लमक्खिओ नववि, जइ

१ कोई जइ वेइ केणइ सगडा वा पा॰ २। २ समणा एए वा पा॰ २। ३ देउ वा क॰ २। ४ नाति॰ य कडु वा पा १ पु।
५ एव पट्ठविओ वा॰ क २ पा ११

[1] य सुद्धो । एवं अन्नेवि परित्तणंताईहिं [2] भंगा सबुद्धीए ऊहेयव्वा । 'हरिते बीए'त्ति गयं, इदानीं [3] 'चले'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

दव्वे भावे य चलं दव्वंमि दुपइट्ठिअं तु जं दुपयं । आयाएँ [4] संजमंमि अ दुविहा उ विराहणा तत्थ ॥२०५ भा.

चलं द्विविधं—द्रव्यचलं भावचलं च, तत्र द्रव्यचलं 'दुपइट्ठिअं तु जं दुपयं' दुष्प्रतिष्ठितं यद् द्विपदं—शकटं तद्द्रव्यचलमुच्यते, तत्र च द्रव्यचले लेपं गृह्णत आत्मसंयमविराधना द्विविधा भवति । इदानीं [5] भावचलप्रतिपादनायाह—

भावचलं गंतुमणं गोणाई अंतराइयं तत्थ । जुत्ते वि अंतरायं वित्तस चलणे य आयाए ॥२०६॥ (भा.)

भावचलमुच्यते यच्छकटं गमनाभिमुखं वर्त्तते, तत्र च लेपं गृह्णतः 'गोणाई अंतराइयं'ति—गवादीनां अंतरायं भवति, कथं ?, स कयाइ सगडपभू भद्दओ भवति ततो सो जाव साहू लेवं गेण्हइ ताव ते वइल्ले न जोएइ पच्छा ऊसूरे जोतेति ततो ताणं वइल्लाणं [6] पइट्ठत्ति काउं चारिं न दिंति [7] अग्गतो य जा चारी सा ऊसूरे पत्ता, एवं भावचले गिण्हंतस्स अंतरायं हवइ । दारं । इदानीं 'जुत्ते'त्ति व्याख्यायते, तत्राह—'जुत्ते वि अंतरायं' बलीवर्दयुक्तेऽपि शकटे एवमेवान्तरायं भवति । तथाऽयं च दोषः 'वित्तस चलणे य आयाए' ते बलीवर्दाः कदाचित्तं साधुं दृष्ट्वा वित्रसन्ति, ततश्च गन्त्याश्चलने लेपं गृह्णत आत्मोपघातो भवति । दारं । इदानीं 'वच्छे'त्ति व्याख्यायते—

- १ सुद्धो आ. पा १–२ । २ परित्ताणंतयादीहिं पा १–२ पु. । ३ चलत्ति भा. चलित्ति ल १ पा. १ । ४ आया य आ. पा. १ । ५ भाव° आ पा १ । ६ पइत्तिकाउ ल. १ । ७ अग्ग एवं आ ल. १ ।

हरिते बीजे च द्वौ चतुष्कौ भवतः, कथम् ?, अनन्तरपरम्परकल्पनया, एतदुक्तं भवति हरितबीजयोरनन्तरप्रतिष्ठितत्व माश्रित्य भङ्गचतुष्टयं निष्पद्यते, तथा तयोरेव हरितबीजयोः परम्परप्रतिष्ठितत्वमाश्रित्य द्वितीयभङ्गचतुष्टयं निष्पद्यते। अत्र चेयं भावना–अणंतरं हरिते पतिट्ठिया गड्डी बीए य अणतरं पतिट्ठिआ, एगो भगो। तहा अणंतरं हरिए पतिट्ठिआ ण बीए तेसाममावात्, बिइओ भगो २। अण्णा हरिए अणंतरं न पतिट्ठिया तस्याभावात् बीए अणंतरं पइट्ठिआ तइओ ३। तहा मला य हरिए अणंतरं पइट्ठिआ ण बीए अणंतरं पइट्ठिआ तयोरभावात्, चउत्थो ४, एस सुद्धो भगो। एवं हरित बीजपदद्वयेनानन्तरप्रतिष्ठितत्वकल्पनया भङ्गचतुष्कं लब्धं। इदानीं हरितबीजपदद्वयेन परम्परप्रतिष्ठितत्वकल्पनया यथा भङ्गचतुष्कं लभ्यते तथोच्यते, तथैवं–हरिते परंपरपइट्ठिया गड्डी बीए परंपरपइट्ठिआ एगो भगो, अण्णा हरिए परंपरपइट्ठिआ न बीए परंपरपइट्ठिआ बीजानाममावात् बिइओ भगो,तहा अण्णा हरिते ण परंपरपइट्ठिआ हरितोमावात् बीजे उण परंपरपइट्ठिआ तइओ, अण्णा ण हरिए परंपरपइट्ठिआ ण बीए परंपरपइट्ठिआ तयोरभावात् चउत्थो भगो, एस सुद्धो भगो। 'आया दुपय च पइट्ठिओति एत्थपि चउभगो' तथा तेष्वेव हरितबीजेषु आत्मा प्रतिष्ठितः द्विपदं च प्रतिष्ठितमिति, एतस्मिन्नपि पदद्वये चतुर्भङ्गिका भवति कथम् ?, आया हरितबीएसु पइट्ठिओ दुपयं च हरितबीएसु पइट्ठियं एगो भगो १। तथा आया हरित बीएसु पइट्ठिओ न दुपय हरितबीएसु पइट्ठियं बितिओ २। तथा आया न हरितबीजेसु पइट्ठिओ दुपय च हरितबीएसु पइट्ठियं तइओ ३। तथा न आया हरितबीएसु पइट्ठिओ णोवि दुपयं च हरितबीएसु पतिट्ठियं चउत्थो भंगो ४, एसो

१ बीजयोरेव पर° ख पा. १–२। २ तेषाममावात् खा. ख २। ३ परंपर ख २। ४ द्विभंगि ख. १। ५ दुपयं च हरितबीएसु न पइ° खा ख २।

व्याख्यायते, तत्र च श्यामायां भङ्गचतुष्कं भवति, कथं ?, लेवो दिवा गहिओ अण्णंमि दिवसे लाइओ एगो भंगो १, दिवा गहिओ राईए लाइओ बीओ २, राईए गहिओ दिवा लाइओ तइओ ३, राओ गहिओ राओ लाइओ चउत्थो भंगो ४ । दारं । 'महावाए'त्ति व्याख्यायते—

वाउंमि वायमाणे[1] संपयमाणेसु वा तसगणेसु । नाणुन्नायं गहणं अमियस्स य मा विगिंचणया ॥२०९॥

वायौ वाति सेति संपतत्सु वा त्रसगणेषु नानुज्ञातं लेपग्रहणं। दारं । इदानीं महिका, सा च 'संपयमाणेसु वा तसगणेसु' इत्यनेन वा शब्देन व्याख्यातैव द्रष्टव्या, एतदुक्तं भवति—वाशब्दान्महिकायां च निपतन्त्यां लेपो न ग्राह्य इति । दारं। 'अमियस्स य'त्ति व्याख्यायते—'अमितस्य च' प्रमाणाधिकस्य लेपस्य ग्रहणं न कर्त्तव्यं, यतः 'मा विकिंचणय'त्ति मा भूत्प्रभूतलेपस्य ग्रहणे विकिंचणं—त्यागस्तत्कृतो दोषो भविष्यतीति । दारं ।

एयद्दोसाविमुक्कं घित्तूं छारेण अक्कमित्ताणं । चीरेण बंधिऊणं गुरुमूलपडिक्कमालोए ॥ ३८९ ॥

एतद्दोषविप्रमुक्तं लेपं गृहीत्वा वस्त्रेणाच्छाद्य छारेणाक्रम्य ततश्चीवरेण तं शरावसंपुटं बद्ध्वा गुरुमूलमागत्य ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य गुरवे आलोचयति ।

दंसिअ छंदिअगुरुसेसए[3] य ओमंथियस्स भाणस्स । काउं चीरं उवरिं रूयं च छुभिज्ज तो लेवं ॥३९०॥

---

१ °माणेसु आ । २ सपतत्सु आ. पा. १–२ । ३ °सेसएसु (य) ओमथि° आ. पा. १ ।

मच्छो भएण नासइ भडिक्खोभेण आयवावत्ती। आया पवयण साणे काया य भएण नासति ॥२०७॥

यदि च तत्र मत्स्यक आपन्न एव भवति तेवमासौ तं साधुं दृष्ट्वा कदाचिद्भयेन नश्यति ततो नश्यन् कायान् व्यापाद यति। प्रयासो मत्स्यमेव गन्त्र्यां पदस्ततोऽसौ भयेन नश्यन् गन्त्र्याः क्षोभं करोति तेन च 'भडिक्खोभेण' गन्त्रीक्षोभेण शकट आत्मोपघातो भवति प्रवचनोपघातश्च, भयेन नश्यता कायाश्च विनाश्यन्ते। दारं। इदानीं 'माणे'त्ति व्याख्यायते कदाचित्तत्र श्वा तिष्ठति, स च तमक्षं जिह्वया लिहति ततश्च लेपं व्यापादयति, तत्राह—

जो चेव य हरिएसु सो चेव गमो उ उदगपुढवीसु। संपाइमा तसगणा सामाए होइ चउभंगो ।२०८।

य एव हरितबीजेषु गमः अभिगम उक्तः अप्कायोदकपृथिव्योर्द्रष्टव्यः, एतदुक्तं भवति–यथा तत्र पदद्वयेन भङ्गकाः उपलब्धा, परमशाप्युदकपृथिवीपदद्वयेन भङ्गकाः कर्त्तव्याः। दारं। इदानीं 'संपातिम'त्ति व्याख्यायते, तत्राह–संपाइमा तसगणा' संपातिमत्रसगणा उत्पन्ना, ते यदि भवन्ति ततो लेपो न प्राह्यः, तत्र च भङ्गचतुष्टयं भवति, तद्यथा–संपातिमेसु अप्पा पइट्ठिओ भडी वि पइट्ठिआ एगो १, तहा अप्पा संपातिमेसु पइट्ठिओ न भडी पइट्ठिआ बीओ २, अप्पा न पइट्ठिओ भडी उ पइट्ठिआ तइओ ३, अप्पा न पइट्ठिओ न भडी पइट्ठिआ चउत्थो ४, एसो सुद्धो। दारं॥ इदानीं 'सामाए'त्ति

१ भच्छो भडि क्ष. सा. १। २ तओऽसौ क्ष। ३ चेव पा १-२ पु। ४ पइट्ठिओ क्ष. १-२ पा २। ५ बीओ क्ष पा २।

व्याख्यायते, तत्र च श्यामायां भङ्गचतुष्कं भवति, कथं ?, लेवो दिवा गहिओ अण्णंमि दिवसे लाइओ एगो भंगो १, दिवा गहिओ राईए लाइओ बीओ २, राईए गहिओ दिवा लाइओ तइओ ३, राओ गहिओ राओ लाइओ चउत्थो भंगो ४ । दारं । 'महावाए'त्ति व्याख्यायते—

वाउंमि वायमाणे[1] संपयमाणेसु वा तसगणेसु । नाणुन्नायं गहणं अमियस्स य मा विगिंचणया ॥२०९॥

वायौ वाति सति संपतत्सु[2] वा त्रसगणेषु नानुज्ञातं लेपग्रहणं। दारं । इदानीं महिका, सा च 'संपयमाणेसु वा तसगणेसु' इत्यनेन वा शब्देन व्याख्यातैव द्रष्टव्या, एतदुक्तं भवति–वाशब्दान्महिकायां च निपतन्त्यां लेपो न ग्राह्य इति । दारं। 'अमियस्स य'त्ति व्याख्यायते–'अमितस्य च' प्रमाणाधिकस्य लेपस्य ग्रहणं न कर्त्तव्यं, यतः 'मा विकिंचणय'त्ति मा भूत्प्रभूतलेपस्य ग्रहणे विकिंचणं–त्यागस्तत्कृतो दोषो भविष्यतीति । दारं ।

एयद्दोसविमुक्कं घित्तूं छारेण अक्कमित्ताणं । चीरेण बंधिऊणं गुरुमूलपडिक्कमालोए ॥ ३८९ ॥

एतद्दोषविप्रमुक्तं लेपं गृहीत्वा वस्त्रेणाच्छाद्य छारेणाक्रम्य ततश्चीवरेण तं शरावसंपुटं बद्ध्वा गुरुमूलमागत्य ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य गुरवे आलोचयति ।

दंसिअ छंदिअगुरुसेसए[3] य ओमंथियस्स भाणस्स । काउं चीरं उवरिं रूयं च छुभिज्ज तो लेवं ॥३९०॥

[1] °माणेसु आ । [2] सपतत्सु आ. पा. १–२ । [3] °सेसएसु (य) ओमत्थि° आ. पा. १ ।

वच्छो भएण नासइ मडिक्खोभेण आयवावत्ती। आया पवयण साणे काया य भएण नासति ॥२०७॥

यदि च तत्र वत्सक आगम एव भवति तेतमासौ व साधुं दृष्ट्वा कदाचिद्भयेन नश्यति ततो नश्यन् कायान् व्यापादयति। अथासौ तस्यामेव गन्त्र्यां बद्धस्ततोऽसौ भयेन नश्यन् गन्त्र्याः क्षोभं करोति तेन च 'मडिक्खोभेण' गन्त्रीक्षोभेण आत्मव्यापत्तिर्भवति। इदानीं 'साणे'त्ति व्याख्यायते कदाचित्तत्र श्वा तिष्ठति, स च तमक्ष जिह्वया लिखति ततश्च लेप गृह्णन् आत्मोपघातो भवति प्रवचनोपघातश्च, भयेन नश्यता कायाश्च विनाश्यन्ते। दारं। इदानीं 'जलपुढवि'त्ति व्याख्यायते, तत्राह—

जो चेव व हरिएसु सो चेव गमो उ उदगपुढवीसु। संपाइमा तसगणा सामाए होइ चउभंगो ।२०८।

य एष हरितबीजेषु गमः अभिगम उक्तः अयमेवोदकपृथिव्योर्द्रष्टव्यः, एतदुक्तं भवति—यथा [illegible] पदद्वयेन भङ्गका उपलब्धाः, एवमत्राप्युदकपृथिवीपदद्वयेन भङ्गकाः कर्त्तव्याः। दारं। इदानीं 'संपातिम'त्ति व्याख्यायते, तत्राह—संपाइमा तसगणा' संपातिमशब्देन त्रसगणा उच्यन्ते, ते यदि भवन्ति ततो लेपो न ग्राह्यः, तत्र च भङ्गचतुष्टयं भवति, तद्यथा—संपातिमेसु अप्पा पडिओ मडी वि पडिआ एगो १, तहा अप्पा संपातिमेसु पडिओ न मडी पडिआ बीओ २, अप्पा न पडिओ मडी तु पडिया तइओ ३, अप्पा न पडिओ न मडी पडिआ चउत्थो ४, एसो सुद्धो। दारं। इदानीं 'सामाए'त्ति

१ नस्यतो भवति आ. प. १। २ तओऽसौ आ। ३ मेर्न पा १–२ ३। ४ पडिओ क. १–२ पा २। ५ बीओ आ पा २।

मुत्कष्टलेपेन भवति तदा रूढे सति 'आणेइ तमेव दिणं' ति आनयति तस्मिन्नेव दिवसे द्रवं-पानकमानयति 'रएउं' रञ्जयित्वा पात्रकं तदेव 'अभत्तट्ठि'त्ति उपोषितो यः स एवं करोति। अथासौ ग्लानादीनां वैयावृत्त्यकरो भवेत्ततः—

अभत्तट्ठियाण दाउं अन्नेसिं वा अहिंडमाणाणं। हिंडिज्ज असंथरणे असहू घित्तुं अरइयं तु ॥ ३९३ ॥

अथ तत्पात्रकं न रूढं ग्लानादयश्च सीदन्ति सोऽपि वैयावृत्त्यकरस्ततो ये अभक्तार्थिकाः-उपवासिकाः साधवस्तेभ्यो 'दाउं' समर्पयित्वा भिक्षार्थं व्रजति। अथवा 'अन्नेसिं वा अहिंडमाणाणं' अन्ये वा ये भिक्षां नाटन्ति तेषामहिण्डमानानां भोक्तॄणां साधूनां समर्प्य हिण्डते। 'असंथरणे'त्ति ग्लानादीनामसंस्तरणे-असंतरणए होंतए एवमसौ करोति। 'असहु'त्ति अथासौ स्वयमेवासहिष्णुरुपवासं कर्त्तुं ततः 'घित्तुं अरइयं तु'त्ति गृहीत्वाऽन्यसाधुसत्कं पात्रं 'अरइयं तु' अरञ्जितं तस्मिन् दिवसे पूर्वलेपितमित्यर्थः, तद् गृहीत्वा हिण्डेत। यदा पुनरेवंविधः साधुर्नास्ति कश्चिद्यस्य तन्नवलेपं पात्रकं समर्प्य भिक्षामटति, आत्मना च त्रीणि पात्रकाणि संवाहयितुं न शक्नोति, कानि त्रीणि ?, एकं नवलेपं पात्रकं अन्यो भक्तपतद्ग्रहस्तृतीयमशुद्धार्थं मात्रकं, तदा को विधिरित्यत आह—

न तरिज्जा जइ तिन्नी हिंडावेउं तओ अ छारेणं। उच्चुणेउं हिंडइ अन्ने य दवं सि गिण्हंति ॥३९४ ॥

---

१ 'दत्वा' समर्प्य आ. पा. १-२। २ 'अन्नेसिं आ. पा. १। ३ समर्प्य आ. पा. १-२। ४ पूर्वलिप्तमि° आ पा. १-२।

पुनश्चासौ कायव्यापारेण दर्शयति, पुनश्च गुरुं छन्दयति–आमन्त्रयति, यदि भवन्तस्य प्रयोजनमनेन लेपेन ततश्च गृह्यतामिति, एवं छन्दयति। 'सेसए य'त्ति शेषांश्च साधून् छन्दयति, पश्चात् यदि भवतामनेन लेपेन किञ्चित्प्रयोजनं ततो गृह्यतामिति। एवं यदा न कश्चिद् गृह्णाति तदा 'ओमंथियस्स भाणस्स'त्ति ओमत्थितस्य–अधोमुखीकृतस्य भाजनस्य उपरि कृत्वा चीरं, तच्चीरस्योपरि रूतपटलं करोति, 'छुभिज्ज तो लेव'त्ति ततो रूतस्योपरि लेपं प्रक्षिपेत्।

अंगुट्ठपएसिणिमज्झिमाहिं घित्तु घण तओ चीरं। आलिंपिऊण भाणे एक दो तिण्णि वा घट्टे ॥ ३९१ ॥

पुनश्चासौ रूतस्योपरि परिक्षिप्य लेपं पुनरङ्गुष्ठप्रदेशिनीमध्यमाभिरङ्गुलीभिर्गृह्णाति, गृहीत्वा च 'घनम्' अत्यर्थं चीरं तान्यालिप्य पुनः घट्टयति–मसृणानि करोति इत्यर्थः। तानि च पात्रकाणि एवं लिम्पति–

अन्नोऽन्न अकमि उ अद्द घट्टेइ वारवारेण। आणेइ तमेव दिण दव रयउ असमचट्टी ॥ ३९२ ॥

'अ'पद् अन्यद् अङ्के–उत्सङ्गे स्थापयति, स्थापयित्वा चान्यद् 'घट्टयति' अङ्गुल्या मसृणं करोति, एवं वारया वारया एक द्वे भाजने स्थापयति अ पचैक मसृणं करोति एवं तावद्यावन्मसृणानि संजातानि भवन्ति। यदा पुनरेकमेव 'लेपित

१ वर्ष क्रमेण ततो घन° आ.। २ क्षिप्त्वा च पा १। ३ °ङ्गुलीभि आ.। ४ ही पा १। ५ मसृणीक° क १। ६ मसृणयति आ. पा १-२। ७ स्थापयेत् आ पा १। ८ मसृणयति आ पा. १-२। ९ लिप्त आ. पा १-२।

मुत्कृष्टलेपेन भवति तदा रूढे सति 'आणेइ तमेव दिणं' ति आनयति तस्मिन्नेव दिवसे द्रवं-पानकमानयति 'रएउं' रङ्गयित्वा पात्रकं तदेव 'अभत्तट्ठि'त्ति उपोषितो यः स एवं करोति। अथासौ ग्लानादीनां वैयावृत्त्यकरो भवेत्ततः—

अभत्तट्ठियाण दाउं अन्नोसिं वा अहिंडमाणाणं। हिंडिज्ज असंथरणे असहू घित्तुं अरइयं तु ॥ ३९३ ॥

अथ तत्पात्रकं न रूढं ग्लानादयश्च सीदन्ति सोऽपि वैयावृत्त्यकरस्ततो ये अभक्तार्थिकाः—उपवासिकाः साधवस्तेभ्यो 'दाउं' समर्पयित्वा भिक्षार्थं व्रजति। अथवा 'अन्नेसिं वा अहिंडमाणाणं' अन्ये वा ये भिक्षां नाटन्ति तेषामहिण्डमानानां भोक्तॄणां साधूनां समर्प्य हिण्डते। 'असंथरणे'त्ति ग्लानादीनामसंस्तरणे—असंतरणए होंतए एवमसौ करोति। 'असहु'त्ति अथासौ स्वयमेवासहिष्णुरुपवासं कर्त्तुं ततः 'घित्तुं अरइयं तु'त्ति गृहीत्वाऽन्यसाधुसत्कं पात्रं 'अरइयं तु' अरञ्जितं तस्मिन् दिवसे पूर्वलेपितमित्यर्थः, तद् गृहीत्वा हिण्डेत। यदा पुनरेवंविधः साधुर्नास्ति कश्चिद्यस्य तन्नवलेपं पात्रकं समर्प्य भिक्षामटति, आत्मना च त्रीणि पात्रकाणि संवाहयितुं न शक्नोति, कानि त्रीणि ?, एकं नवलेपं पात्रकं अन्यो भक्तपतद्ग्रहस्तृतीयमशुद्धार्थं मात्रकं, तदा को विधिरित्यत आह—

न तरिज्जा जइ तिन्नी हिंडावेउं तओ अ छारेणं। उच्चुण्णेउं हिंडइ अन्ने य दवं सि गिण्हंति॥३९४॥

---

१ 'दत्वा' समर्प्य आ. पा. १–२। २ 'अन्नेसिं आ. पा. १। ३ समर्प्य आ. पा. १–२। ४ पूर्वलिप्तमि° आ पा १–२।

'न तरेत्'न शक्नुयात् यदि त्रीणि पात्रकाणि लिंपयितुं ततो नवलेपं पात्रकं छारेण–भूतिना अवचूर्ण्य–गुण्डयित्वा एकस्मिन् प्रदेशे स्थापयित्वा लिप्यते। 'अन्ने य दव सि गिण्हति'त्ति अन्ये आचार्यास्तदर्थं द्रवपानकं गृह्णन्ति। तथा च—

लित्थारियाणि जाणिउ चक्कुगमाईणि तत्थ लेवेण। सजमफाइनिमित्तं ताई भूतीए गुंडिज्जा ॥२९५॥

'लित्थारियाणि' लिप्तानि, केन? लेपेनेति सबन्धः, यानि चक्रुकादीनि, तत्र चक्रुको येन पापामकेन पात्रं नवलेपं सन् मसृणं क्रियते, आदिग्रहणाच्छरावं चीरं च लेपेन लिप्तं, एतानि लेपेन सर्वाण्येव लिप्तानि तत्र पात्रकं लेपयतः, ततश्च तानि चक्रुकादीनि भूत्या गुण्डयति येन तत्र प्रतिष्ठापितानां सतां कीटिकाद्युपघातो न भवेत्। किमर्थं पुनरेवं क्रियते?, अत आह–संयमफातिनिमित्तमिति संयमवृद्धिनिमित्तमिति।

एव लेवग्गहणं आणयणं लिंपणा य जयणा य। भणियाणि अतो वोच्छं परिकम्मविहिं तु लित्तस्स ॥२९६॥

'एवम्' उक्तेन न्यायेन लेपग्रहणं तथा तस्यैवानयनं लिम्पना च पात्रकस्य यतना च ग्रहणे लेपस्यैतानि भणितानि, अतः परं वक्ष्ये परिकर्मविधिं लिप्तस्य पात्रकस्य यो भवति। स चायं परिकर्मविधिः—

लित्ते छगणिअछारो घणेण चीरेणऽबाधिउ उण्हे। अच्छण परियत्तण सोसणा य घोए पुणो लेवो ॥२९७॥

1 चक्कुगाए आ पा १–२। २ लिप्तमिति आ पा १–२। ३ भूतीए आ छ २। ४ लिम्पत' आ पु पा. १–२। ५ वज्रमयमिति आ पा १–२। ६ लेपस्य आ। ७ कस्य। ८ चाय आ पा. १। ८ सहणे न घोवे पुणो आ पा १।

लिप्ते तस्मिन्पात्रके सति 'छगणियछारो'त्ति गोमयछारेण तत्पात्रकं गुण्ड्यते, पश्चाच्च घनेन 'चीरेण' पात्रकबन्धेन वेष्टयित्वा रजस्त्राणेन च परिवेष्ट्य 'अबंधिउं'त्ति पात्रकबन्धग्रन्थिमदत्त्वा तत एवंविधं कृत्वा 'उण्हे'त्ति उष्णे स्थापयति, 'अंछण'त्ति ततोऽङ्गुल्या लिप्तस्य रञ्जितस्य पात्रकस्याकर्षणं–समारणं करोति, 'परियत्तण'त्ति आतपे कृत्वा पुनः परिवर्त्तयति आतपाभिमुखं स्थापयति, एवं शोषणा तस्य नवलेपस्य पात्रकस्य, धौते च छारगुण्डिते तस्मिन् पात्रके पुनर्लेपो दीयत इति । इदानीं भाष्यकार एतामेव गाथां व्याख्यानयति, तत्र 'लित्ते छगणियछारो'त्ति इदं व्याख्यातमेव द्रष्टव्यं शेषं व्याख्यानयन्नाह—

दाउं सरयत्ताणं पत्ताबंधं अबंधणं कुज्जा । साणाइरक्खणट्ठा पमज्ज छाउण्हसंकमणा ॥२१०॥ (भा.)

दत्त्वा तस्मिन् पात्रके सरजस्त्राणं पात्राबंधं पुनश्चाबंधणं[1] कुज्जत्ति तत्र–ग्रन्थिं न ददाति, किमर्थम् ?, अत आह–' साणादिरक्खणट्ठा' श्वानादिरक्षणार्थं ग्रन्थिं न ददाति, एतदुक्तं भवति–ग्रन्थिना दत्तेन सता कर्पटैकदेशे गृहीतं सत्[3] शुना मार्जारेण वा नीयते, पुनश्च तत्पात्रकं प्रमृज्य ध्रुवं छायात उष्णे सङ्क्रामयति, एतदुक्तं भवति–अपराह्णछायाक्रान्तं सत् पुनरुष्णे स्थापयति ।

तद्दिवसे[4] पडिलेहा कुंभमुहाईण होइ कायव्वा । छन्ने य निसिं कुज्जा कए[5] य कज्जे विउस्सग्गो ॥ २११ भा.

१ करोति खा. पा. १–२ । २ °श्चावघग आ. पा. १ । ३ गृहीतः सन् आ. ल. १–२ । ४ °वसं आ. पा. १ । ५ कयकज्जाणं वि° आ. पा. १–पु. ल. १ ।

परस्मिन् दिवसे पात्रकं लेपयति तस्मिन् दिवसे 'कम्मगुसाईनां' पटग्रीवादीनां प्रत्युपेक्षण कृत्वा ततश्च गृह्णाति, येन लिप्त पात्रक बहिस्तस्यां ग्रीवायां तस्मिन् दिवसे क्रियते, निशायां तु छन्ने तत्पात्रकं कुर्यात् आत्मसमीपे, कृते च कार्ये व्युत्सर्गः कर्तव्यस्तेषां पटग्रीवादीनां तस्मिन्नेव दिवसे येन परिग्रहकृतदोषो न भवेत्, अन्यस्मिन् दिवसेऽन्यानि भविष्यन्तीति । अथ लेपशेषः कश्चिदास्ते ततस्तस्य को विधिरित्यत आह—

अंहगहेउ लेवाहिय तु सेस सरूवग पीसे । अहवावि नत्थि कज्जं सरूवमुज्झे तओ विहिणा ॥२९८॥

कदाचिदन्यस्मिन् वा पात्रकेऽहको दातव्यो भवति, ततस्तदर्थं—अहकनिमित्तं करेण त लेपाधिकं शेषं सरूव पिष्यते, अथ तेन लेपशेषेण न किञ्चित्कार्यमस्ति ततः सरूवमेव विधिना परित्यजेत् छारेण गुण्ठयित्वेत्यर्थः । इदानीं तत्पात्रकं कस्यां पौरुष्यां बाह्यतः स्थापनीयं ? कस्यां वाभ्यन्तरे प्रवेशयमित्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

पढमचरिमाउ सिसिरे गिम्हे अद्धं तु तासि वज्जित्ता । पाय ठवे सिणेहातिरक्खणट्ठा पवेसो वा ॥२९९॥

'शिशिरे' शीतकाले प्रथमपौरुषीं वर्जयित्वा तत्पात्रकं बहिरातपे स्थाप्यते, चरमायां—चतुर्थप्रहरे शिशिरे पौरुष्यां तत्पात्रकमभ्यन्तरे प्रवेशयेत्, 'गिम्हे अद्ध तु तासि वज्जि'त्ति ग्रीष्मकाले तयोः—प्रथमचरमपौरुष्योरर्द्धं वर्जयेत्, ततः पात्रकं स्थापयेत् प्रवेशयेद्वा, एतदुक्तं भवति, ग्रीष्मे अर्द्धपौरुष्यां गतायां सत्यां पात्रकं बहिः स्थापयेत्, तथा चरम

१ कम्म॰ खा.। २ वज्जिज्ज क १।

प्रहरार्द्धे गते सति तत्पात्रकं प्रवेशयेत्, किमर्थं ?—'सिणेहाइरक्खणट्ठा' एतदुक्तं भवति—शिशिरे प्रथमप्रहरः चरमप्रहरश्च स्निग्धः कालस्तस्मिंश्च पात्रकं न क्रियते (स्थाप्यते), लेपविनाशभयात्, तथोष्णकाले च प्रथमप्रहरार्द्धे चतुर्थप्रहरार्द्धे च न स्थाप्यते, सोऽपि स्निग्ध एव कालः, अतीवोष्णे स्थापनीयं येन रुह्यत इति ।

उवओगं च अभिक्खं करेइ वासाइरक्खणट्ठा । वावारेइ व अन्ने गिलाणमाईसु कज्जेसु ॥ ४०० ॥

तस्मिंश्चातपस्थापिते पात्रके 'उपयोगं' निरूपणं 'अभीक्ष्णं' पुनः पुनः करोति, किमर्थमित्यत आह—'वासाइरक्खणट्ठा, वर्षादिरक्षणार्थं, आदिग्रहणात् श्वादिरक्षणार्थं च, अन्यान् वा साधून् व्यापारयति पात्रकरक्षणार्थं यद्यात्मना ग्लानादिकार्येष्व-क्षणिको भवति । कियन्तः पुनर्लेपा दीयन्त इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायाह—

एक्को व जहन्नेणं दुगतिगचत्तारि पंच उक्कोसा । संजमहेउं लेवो वज्जित्ता गारवविभूसं ॥ ४०१ ॥

एको जघन्येन प्रलेपो दीयते मध्यमेन न्यायेन द्वौ त्रयश्चत्वारो वा लेपा दीयन्ते, उत्कृष्टतः पञ्च लेपा दीयन्ते, स च संयमार्थं दीयते वर्जयित्वा गौरवविभूषे, तत्र गौरवं येन मां कश्चिद्भणति यथैतदीयमेतच्छोभनं पात्रमिति, विभूषा सुगमा । इदानीं 'घोते पुणो लेवो'त्ति, अमुमवयवं व्याख्यानयन्नाह—

अणुवट्टंते तहवि हु सव्वं अवणित्तु तो पुणो लिंपे । तज्जायसचोप्पडगं घट्टगरइयं ततो धोवे ॥ ४०२ ॥

---

१ °कार्येषु क्षणिक. । कियन्त आ. । २ इत्यस्य प्रद° आ पा. १–२ । ३ उत्कृ° आ. पा. १. २ । ४ यथा त्वदीय° आ. । ५ घोवे आ. पा १ ।

अनुपविशति—अलब्धमात्रे अलग्नीते, एतस्मिन्पात्रके 'तथाऽपि' केनापि प्रकारेण यदा न रोहति तदा सर्वं लेपमपनीय ततः पुनर्लिम्पति । एष तावत् खञ्जनलेपविषयो विधिरुक्तः, इदानीं तज्जातलेपविधिं प्रदर्शयन्नाह—'तज्जायसचोप्पडग' तस्मि भेव भाजनजातो—गृहस्थस्यैवाऽऽत्मीयकस्य 'सचोप्पडगस्स' स्नेहस्निग्धस्य यद्ग्रहः श्लक्ष्णं चिक्कणं लग्नं स तज्जातलेप उच्यते, एवं तज्जातलेपः सचोप्पडं—सस्नेह पात्रकं तद् 'चक्कमरास' पात्रकेन रचित मसृणित घृष्टं सघृतः कञ्जिकेन क्षालयेत् । कतिप्रकारः पुनर्लेपः ? इत्यत आह—

तज्जायजुत्तिलेवो खजणलेवो य होइ बोद्धव्वो । मुद्दिअनावाबंधो तेणयबंधेण पडिकुट्ठो ॥ ४०२ ॥

तज्जातलेपो युक्तिलेपः—पाषाणादिः खञ्जनलेपश्चेति त्रिविधः । एवं च यदा तत्पात्रकं पूर्वमेव भग्नं भवेत् लेपयतो वा भग्नं भवेत् तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—यदाऽन्यल्लभ्यते पात्रकं, यदाऽन्यपात्राभावस्तदा किं कर्तव्यमित्यत आह—'मुद्दिअना वाबंधो'ऽपि तदा तदेव पात्रकं सीवयति । केन पुनर्बन्धेन तत्सीवनीयं ?, मुद्रिकाबन्धेन—ग्रन्थिबन्धेन तथा नौबन्धेन सीवयति पार्श्वो नावि बन्धो भवति तत्सदृशेन गोमूत्रिकाबन्धेनेत्यर्थः, अन्यः स्तेनकबन्धो गूढो भवति स वर्जितो यतस्तत्पात्रकं स्तेनकबन्धेनाऽऽहृतं भवति शुषिरं च होतीति । इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयति, तत्र तज्जातखञ्जनलेपौ व्याख्या तावेव, इदानीं युक्तिलेपं प्रतिपादयन्नाह—

१ तदा किं भा । २ सीवयति भा । ३ नास्ति भा. पा १ २ ।

जुत्तीउ पत्थराई पडिकुट्ठो सो उ सन्निही जेणं। दयसुकुमार असन्निहि खंजणलेवो अओ भणिओ ।४०४

युक्तिलेपः पुनः प्रस्तरादिरूपः आदिग्रहणाच्छर्करिकालेपो वा, स च प्रस्तरादिलेपः प्रतिक्रुष्टः—प्रतिषिद्धो भगवद्भिर्यतः स सन्निधिमन्तरेण न भवति, यतश्चैवमतो जीवदयार्थं सुकुमारत्वादसन्निधिरिति च कृत्वा खञ्जनलेप एभिः कारणैरुक्तो—भणितः। आह—एवं हि सुकुमारं लेपमिच्छतस्तस्य विभूषा भवति ? उच्यते, नैतदस्ति, यतः—

संजमहेउं लेवो न विभूसाए वदंति तित्थयरा। सइ असई दिट्ठंतो सइसाहम्मे उवणओ उ ॥४०५॥

'संयमहेतुं' संयमनिमित्तं लेप उक्तो न विभूषार्थं वदन्ति तीर्थंकराः। अत्र च सईदृष्टान्तः असईदृष्टान्तश्च। एकंमि सन्निवेसे दो इत्थियाओ, ताणं एक्का सई अण्णा असई, जा सा सई सा अत्ताणं विभूसंती अच्छइ, असईवि एवमेव, तओ सईए भत्तारभत्तित्ति काउं उव्वणवेसो लोगेण गणिज्जइ न य हसिज्जइ, असईए उण वेस उंव्वणो लोए हसिज्जइ, यतस्तस्या असौ वेषोऽन्यार्थं वर्त्तते। एवमत्र सतीसाधर्म्ये उपनयः कर्त्तव्यः, यथा सत्या विभूषां प्रकुर्वत्या अपि सा विभूषा लोकेऽन्यथा न कल्प्यते, एवं साधोः संयमार्थं शोभनं लेपयतोऽपि न विभूषादोष इति ॥ इदानीं मुद्रिकादिबन्धान् व्याख्यानयति, तत्संबन्धं प्रतिपादनायाह—

भिज्जिज्ज लिप्पमाणं लित्तं वा असइए पुणो बंधो। मुद्दिअनावाबंधो न तेणएणं तु बंधिज्जा ॥ ४०६ ॥

१ उल्लणो आ. पा. २। २ लोकेनान्यार्था न कल्प्यते आ.।

मिथेव तक्षिप्यमान पात्रक वा 'लेपित वा सक्रियेत यतोऽन्यस्य पात्रकस्याभावे पुनरपि बध्यते-सीव्यते, तत्र मुद्रिका च यस्येय स्थापना , नौच च: पुनर्द्विविधो भवति तस्य चेय स्थापना– ⁘ । स्तेनकबन्धः पुनर्गुप्तो भवति, मध्येनैव पात्रकाङ्गस्य दवरको याति तावयावत् सा राजिः सीविता भवति, ⁘ तेन स्तेनकबन्धेन दुर्बल पात्रक मवस्यतोऽसौ वर्जनीयः । इदानीं स लेप उत्तममध्यमजघन्यभेदेन त्रिविधो भवत्यत आह—

खरअयसिकुसुमसरिसव कमेण उक्कोसमज्झिमजहन्ना । नवणीए सप्पिवसा गुले य लोणे अलेवो उ ४०७

खर इति–खरं सण्ह तिलखल तेन कओ उक्कोसो लेवो, अयसि–कुसुभिमादिखलेण मज्झिमो लेवो, सरिसवतेल्लेण य जहन्नो होइ, अनेन क्रमेणोत्कृष्टो मध्यमो जघन्य इति । कैः पुनर्लेपो न भवतीत्यत आह–नवनीतेन सर्पिषा–घृतेन वसया गुडेन लवणेन च, एभिः रसैरलेपः–एभिर्लेपो न भवति । उक्तो द्रव्यपिण्डः, इदानीं पिण्डस्यैकार्थिकान्युच्यन्ते, तत्राह–

पिंडनिकायसमूहे संपिंडण पिंडणा य समवाए । समोसरण निचय उवचय चए य जुम्मे य रासी य ४०८

पिण्डो निकायः समूहः संपिण्डन पिण्डना च समवायः समवसरण 'सृ गतौ' सम्यग्–एकत्र गमन समवसरण, निचय उपचयः चयश्च युग्मश्च राशिः एकार्थाः । प्रतिपादितो द्रव्यपिण्डः, इदानीं भावपिण्डप्रतिपादनायाह—

दुविहो य भावपिंडो पसत्थओ होइ अप्पसत्थो य । दुगसत्तट्ठचउक्कग जेण वा बज्झइ इयरो ॥ ४०९ ॥

---

१ विमिश्रं खा । २ गुडेन लेवो भवे° खा पा १-२ । ३ खरअयसं तिल खा । ४ लेण य खा पा १ । ५ त्रिवार्थाः खा पा १ ।

द्विविधो भावपिण्डः–प्रशस्तभावपिण्डोऽप्रशस्तभावपिण्डश्च, तत्राप्रशस्तं प्रतिपादनायाह–'दुयसत्तट्ठ' इत्यादि, दुविहो रागो य दोसो य, सत्तविहो सत्त भयट्ठाणाणि, एतानि च तानि–इहलोकभयं परलोकभयं आयाणभयं अकम्हाभयं आजीवियाभयं मरणभयं असिलोगभयं, 'इहपरलोयायाणमकम्हाआजीवमरणमसिलोए'त्ति । 'अट्ठविहो' अट्ठ कम्मपयडीओ णाणावरणाइया-ओ, अहवा अट्ठ मयट्ठाणाइं–जाइकुलबलरूवे तवईस्सरिए सुए लाभे । चउविहो कोहमाणमायालोहरूवो । रागद्वेषावेव पिण्डः औदयिको भावोऽनन्तकर्मपुद्गलनिर्वृत्तः पिण्डः, एवं सप्तभिर्भयस्थानैर्यो जन्यते स कर्मपिण्डः, एवमन्यत्रापि योज्यं, 'येन वा बाह्येन वस्तुना इतरः–आत्मा बध्यते कर्मणाऽष्टप्रकारेण सोऽप्रशस्तः । इदानीं प्रशस्तं भावपिण्डं प्रतिपादयन्नाह—

तिविहो होइ पसत्थे नाणे तह दंसणे चरित्ते य। मोत्तूण अप्पसत्थं पसत्थपिंडेण अहिगारो ॥ ४१० ॥

त्रिविधः प्रशस्तभावपिण्डः–ज्ञानविषयः दर्शनविषयः चारित्रविषयश्च । तत्र ज्ञानपिण्डो ज्ञानं स्फातिं नीयते येन सः तथा दर्शनं स्फातिं नीयते येन, चारित्रं स्फातिं नीयते येन, स बाह्योऽभ्यन्तरश्च पिण्डः, मुक्त्वाऽप्रशस्तं प्रशस्तपिण्डेनाधिकारः । अयं च भावपिण्डः केन पिण्ड्यते ?–प्रचुरीक्रियते, शुद्धेनाहारोपधिशय्यादिना, अत्र चाहारेण प्रकृतं, स एव प्रशस्तो भावपिण्डः, कारणे कार्योपचारात्, ज्ञानादिपिण्डकारणमसौ, स चाहार एषणाशुद्धो ग्राह्यः, अनेन संबन्धेनागता एषणा प्रतिपाद्यते । अथवा पूर्वमिदमुक्तं–' पिंडं च एसणं च वोच्छं ' तत्र पिण्ड उक्तः, इदानीमेषणा प्रतिपाद्यते, अथवा स्वयमेवायं भाष्यकृत्संबन्धं करोति—

१ अट्ठ कम्म° आ ।

लिंत्तमि भायणम्मी पिंडस्स उवग्गहो य कायवो। जुत्तस्स एसणाए तमहं वोच्छ समासेण।२१२। भा०

लिप्ते भाजने सति ततः पिण्डस्योपग्रहो-ग्रहणं कर्त्तव्यं, किंविशिष्टस्य पिण्डस्य ?-एषणायुक्तस्य, अतस्तामेवैषणां प्रतिपादयन्नाह—

नाम ठवणादविए भावमि य एसणा मुणेयवा। दवमि हिरण्णाई गवेसगहभुंजणा भावे ॥ ४११ ॥

नामस्थापने सुगमे, द्रव्ये-द्रव्यविषया, यथा हिरण्यादेर्गवेषणां करोति कश्चित्, भावे-भावविषया त्रिविधा-गवेषणैषणा-अन्वेषणैषणा, ग्रहणैषणा-पिण्डादानैषणा, भुञ्जनैषणा-ग्रासैषणा चेति। सा च गवेषणैषणा एभिर्द्वारैरभिगन्तव्या—

पमाणे काले आवस्सए य संघाडए य उवकरणे। मत्तगकाउस्सग्गो जस्स य जोगो सपडिवक्खो।४१२

प्रमाणं कतिवारा भिक्षार्थं प्रवेष्टव्यमिति, एतद्वक्ष्यति, 'काले'त्ति कस्यां वेलायां प्रवेष्टव्यं ?, भिक्षा गवेषणीया इत्यर्थः, 'आवस्सए'त्ति आवश्यक-कायिकादिव्युत्सर्गं कृत्वा भिक्षाटनं कर्त्तव्यं गवेषणमित्यर्थः, 'संघाडए'त्ति सङ्घाटकयुक्तेन हिण्डनीयं नैकाकिना, 'उवगरणे'त्ति भिक्षामटता किं सर्वमुपकरणं भाण्डमात्रोपधिस्वरूपं, 'मत्तग'त्ति भिक्षामटता गवेषयता मात्रकं ग्रहणं कर्त्तव्यं, कायोत्सर्गः भिक्षार्थं गच्छता उपयोगप्रत्ययः कार्यः, तथा च यस्य योगः-भिक्षार्थं गच्छामि यत्किं यस्य योगो-येन वस्तुना सह संबन्धो भविष्यति तद् ग्रहीष्यामीत्यर्थः, 'सपडिवक्खो'त्ति सर्व एवायं द्वारकलापः सप्रतिपक्षोऽपि

१ भमि च पिंड' ला। २ ग्रासैषणा। पा भा। ३ सर्व भा। ४ वचनं पा. १।

वक्तव्यः, सापवादोऽपीत्यर्थः । इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदमेतां गाथां व्याख्यानयति, तत्र 'पमाणे'त्ति व्याख्यानयन्नाह–

दुविहं होइ पमाणं काले भिक्खा पवेसमाणं च । सन्ना भिक्खायरिआ भिक्खे दो काल पढमद्धा ।२१३।

द्विविधं प्रमाणं भवति, 'काले'त्ति एकं कालप्रमाणं कालनियमः–वेलानियम इत्यर्थः, तथाऽन्यद्भिक्षार्थं प्रविशमानानां 'प्रमाणं' वारालक्षणं भवति, तत्र भिक्षाप्रवेशप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह–'सन्ना भिक्खायरिया भिक्खे दो' भिक्षार्थं वाराद्वयं प्रविशति, एकमकालसञ्ज्ञापानकनिमित्तं, द्वितीयं भिक्षाचर्याकाले प्रविशतीति । जदि पुण तइयवारं भिक्खायरिअं करेइ ततो खेत्तं चमढिज्जइ उड्डाहो य हवइ, जहा णत्थि एएसिं भिक्खाहिंडणे नियमो, तम्हा दोण्णि वाराउ हिंडियव्वं, एयं च पुव्वभणियमेव–पुणो पुणो पविसणे सड्ढयकुलाणि चमढिज्जंतित्ति, तेण भासकारेण बहुवारा पविसणे दोसा निंदंसिआ[1] । उक्तं भिक्षाप्रवेशवाराप्रमाणं । इदानीं[2] भिक्षाकालप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह–'काले पढमद्धा' काल इति भिक्षाकालस्तस्मिन् प्रविशितव्यं, तथा 'पढमद्धा' इति प्रथमपौरुष्यां यदर्द्धं तस्मिंश्च भिक्षार्थं प्रविशितव्यं, उक्तं कालप्रमाणम् ।

आरेण भद्दपंता भद्दग उट्ठवण भंडण पदोसा । दोसीण पउरकरणं ठवियगदोसा य भद्दंमि ।२१४। भा०

यदि पुनरर्द्धपौरुष्या आरत एव–प्रत्यूपसि एव भिक्षार्थं प्रविशति ततो भद्रकप्रान्तदोषा[3] भवन्ति, तत्र भद्रककृता एते दोषाः 'उट्ठवणं भंडण पओसा' उट्ठावणं पसुत्तमहिलाए करेइ, जहा पव्वतियगा आगया तं उट्ठेत्ता देसुत्ति, अहवा सा

१ न दंसिया आ. । २ भिक्षाकालप्रति° आ । ३ भद्रककृता एते आ. पा १ ।

मालस्सेण न ठन्ति तओ भद्दग–कलहो होज्जा, अथवा सा चेव पओसिज्जा, प्रद्वेषं गच्छेदित्यर्थः । 'दोसीण पउरकरण'त्ति सो चेव गिहत्थं इम भणइ–जहा एए तवस्सिणो रत्ति अज्झिमिआ पसाहे छुहाइआ अहो(ओ) समधिरेण रंधिजाउ जेण पयाण पसरवेलाए आगयाण होहत्ति । तथा 'ठविअगदोसा य'त्ति स्थापनाकृताश्चैव दोषा भवन्ति ॥ साम्प्रतं प्रान्तकृतदोषकथनायाह—

अद्दागमगल वा उब्भा(ओभा)वण खिंसणा हणण पते । फिडिउग्गमे य ठविया भद्दगचारी किलिस्सणया ।

गिहत्थं घरे अच्छति, तओ पसरे भाइ आगओ, त दठूण य गिहत्थं इम भणिज्जा–अहो मे अद्दागमिव अचिक्खाण दिट्ठं, अमंगलं चासौ गृहपतिर्मन्यते साधुदर्शनं, तत्थेव ओहावणा–परिभवो हवइ, तथा खिंसणा वा भवति, जहा एते पोट्टंभरणत्थमेव पव्वइया, आहणणा वा पते–प्रान्तविषये भवति । एते तावत्प्रत्यूषस्येव प्रविशतो दोषा उक्ताः । 'फिडिए'त्ति अथापगतायां अतिक्रान्तायामर्द्धपौरुष्यां भिक्षार्थं प्रविशति तत्थ यदि भद्रको भवति तत एव ब्रवीति–पदुत्त अद्यदिवसादारभ्य यथा इयती वेला साधूनां भक्तस्य भवति तथा कर्त्तव्य तत्थ उद्गमदोषः–आधाकर्मादिदोषः, 'ठविए'त्ति अथवा यदुतेति तदयाऽद्यदिवसादारभ्य साधूनां स्थापनीयं, तत्थेव स्थापनाख्यो दोषा भद्रकविषया भवन्ति, अथासौ गृहपतिर्भद्रको न भवति ततः 'चारी' इति तदर्थासौ वेलायां अतिक्रान्तायां भिक्षार्थं प्रविष्टे एव प्रान्तो ब्रवीति–यदुताय चारी भण्डिकः कश्चित् यथा कोऽयं भिक्षाकाल इति, नाय प्रत्यूषकालो नापि मध्याह्नकाल इति । 'किलिस्सणय'त्ति तथा अवेलायां भिक्षानि

1 मच्छीसवे॰ आ. वा १ । २ अस्थि आ । ३ पिइएत्थं ख.१ । ४ एवं तत्थं आ । ५ कती दोसा आ । ६ दर्शति ख । ७ आयेलायां भिक्षार्थं आ वा १–२ ।

मित्तं प्रविष्टस्य क्लेश एव पर्यटनजनितः परं न तु भिक्षाप्राप्तिः, तम्हा दोसीणवेलाए चेव उयरेयवं। इदानीं मध्याह्नस्यारत एव यदि भिक्षामटति ततः को दोषः? इत्यत आह—

भिक्खस्सावि य अवेला ओसक्कहिसक्कणे भवे दोसा। भद्दगपंतातीया तम्हा पत्ते चरे काले ॥२१६॥ (भा.)

भिक्षाया अवेलायां यदि प्रविशति ततो यदि भद्रकः 'ओसकणं'ति याऽसौ रन्धनवेला तां मध्याह्नादारत एव कारयति येन साधोरपि दीयते, एवं तावद्भिक्षावेलायामप्राप्तायां हिण्डतो दोषाः, अथ पुनर्निवृत्तायां भिक्षावेलायामटति ततः 'अहिसक्कणे'त्ति रन्धवेलां तामुत्सूर एव कारयति येन साधोरपि भक्तं भवति, एवमेते दोषा भद्रके भवन्ति। 'पंतादीय'त्ति प्रान्तकृतास्तु दोषा पूर्ववद्द्रष्टव्याः भैण्डिकोऽयमिति ब्रूते प्रान्तः, तस्मात्प्राप्ते काल एव चरेद्भिक्षां न न्यूनेऽधिके वा। 'काल'त्ति गयं, इदानीं 'आवस्सए'त्ति व्याख्यायते—

आवस्सग सोहेउं पविसे भिक्खस्स सोहणे दोसा। उग्गाहिअवोसिरणे दवअसईए य उड्डाहो ॥२१७ भा.

अवश्यं कर्त्तव्यमावश्यकं–कायिकाद्युत्सर्गरूपं शोधयित्वा कृत्वेत्यर्थः, ततो भिक्षार्थं प्रविशति, अशोधने आवश्यकस्य दोषा भवन्ति, कथं?–'उग्गाहियवोसिरणे'त्ति यद्यसौ साधुः उद्ग्राहितेन–गृहीतेनैव पात्रकेण व्युत्सृजति तत उड्डाहः, अथ तत्पात्रकमन्यस्य साधोः समर्प्य यदि व्युत्सृजति ततश्च द्रवस्यासति–अभावे सति 'उड्डाहो' उपघातो भवति।

---

१ °च्छूर आ पा १–२। २ करोति आ। ३ भाण्डिको° आ.। ४ °युत्सर्ग° ल. १–२, पा १–२। ५ °शेत् आ पा. १–२।

अइदूरगमणफिडिओ अलहतो एसणावि पिल्लिज्जा । छड्डावण पतावण धरणे मरण च छक्काया ॥ २१८ भा

अथाऽसौ अतिदूरं गमनं करोति स्थण्डिले ततः 'फिडिओ'त्ति भ्रष्टः सन् भिक्षावेलाया भिक्षामप्राप्नुवन्नेषणामपि 'प्रेरयेत्' अतिक्रामयेत्, अथ तत्रैव कश्चिद् गृहासन्ने व्युत्सृजति तत 'छड्डावण'त्ति स गृहपतिस्तदसृष्टिं छड्डावेति त्याजयती त्यर्थः, अथवा पतावणं—ताडनं कशादिना करोति, अथैवरोपमथावरणं करोति पुरीषवेगस्य ततो मरणं भवेत्, व्युत्सृजतस्तु षट्कायविराधनेति, स्थण्डिलाभावात् । 'आवस्सए'त्ति गय, इदानीं 'संघाडए'त्ति व्याख्यायते—

एकाणियस्स दोसा इत्थी साणे तहेव पडिणीए । भिक्खविसोहि महव्वय तम्हा सवितिज्जए गमणं ।

यदि सङ्घाटकोपेतः सन् भिक्षाटनं न करोति तत एकाकिन एते दोषाः—स्त्रीकृतः श्वानितः प्रत्यनीककृतः, भिक्षा विशुद्धिरेकस्य न भवति तथा महाव्रतोपघातो भवति तस्मात्सद्वितीयेन गन्तव्यम् । इय च प्रतिद्वारगाथा, इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति—

संघाडगअग्गहणे दोसा एगस्स इत्थियाउ भवे । साणे भिक्खुवओग संजमआएगयरदोसा ॥२१९॥ भा

'सङ्घाटकस्य' सङ्घाटकसंयोगस्य 'अग्रहणे' अकरणे दोषा एकाकिनः स्त्रीभ्यो भवन्ति, एकाकिन दृष्ट्वा साधुं कदाचित् द्वीपात् । 'इत्थि'त्ति गय, 'साणे'त्ति व्याख्यायते—शुन्युपयोगं यदि ददाति ततः संयमविषयो दोषो भवति, अथ भिक्षाया

1 पतनम भवेत्, भा. । २ संघाडएघडम भा । ३ भिक्खविसोही पु. । ४ स्त्रीकृता भ्य पा १ पु. ।

मुपयोगं ददाति तत आत्मोपघातदोषः, एवमेकाकिनः प्रविशतः शुनीकृत एकतरदोषो भवतीति, यथासङ्ख्यं चैतद् व्याख्येयं। 'साणे'त्ति गयं, इदानीं 'पडिणीए'त्ति व्याख्यायते—

दोण्णि उ दुद्धरिसतरा एगोत्ति हणे पदुट्ठपडिणीए। तिघरगहणे असोही अग्गहण पदोसपरिहाणी।२२०

द्वौ साधू भिक्षामटन्तौ प्रत्यनीकस्य दुष्प्रधृष्यतरौ भवतः—दुःखेन परिभूयेते दुर्जयतरौ इत्यर्थः। 'एगोत्ति हणे' एकाकिनं पुनर्दृष्ट्वा प्रहन्यात्[2] प्रद्विष्टः सन् प्रत्यनीकस्तस्मात् सङ्घाटकेन गन्तव्यम्। 'पडिणीए'त्ति गयं, इदानीं 'भिक्खविसोहि'त्ति भण्णइ यदा स एकाकी कस्मिंश्चित्पाटके[3] भिक्षार्थं प्रविष्टः समकमेव च गृहत्रयान्निर्गतां भिक्षां गृह्णतो भिक्षाया अशुद्धिर्भवति—आहृतदोषो[1] भवति, यत ईर्यापथिकां शोधयितुं न शक्नोति, अथ तत्रैकां भिक्षां गृह्णाति यस्यामुपयोगो दत्तः तत इतरस्य भिक्षाद्वयस्याग्रहणे 'पओस'त्ति ते भिक्षादातारः प्रद्वेषं गच्छेयुः, यदुतास्माकमयं परिभवं करोति येन नास्मदीयं गृह्णाति 'परिहाणि'त्ति अग्रहणे च परिहाणिर्भवति भिक्षाया गच्छस्य वा तेनागृहीतेन 'भिक्खविसोहि'त्ति गयं, इदानीं 'महव्वय'त्ति व्याख्यायते—

पाणिवहो तिसु गहणे पउंजणे कोंटलयस्स बितियं तु। तेणं उच्छुड्डाई परिग्गहोऽणेसणग्गहणे॥२२१॥

त्रिषु गृहेषु यौगपद्यागतां भिक्षां यदा गृह्णाति तदा प्राणिवधः कृतो भवति, ततश्च प्रथमव्रतभङ्गः, तथाऽसौ एकाकी

१ °कृतो दोषो आ.। २ हन्ति आ. पा. १-२.। ३ क्वचित्पा° आ पा. १।

कौटिंडं ज्योतिषं निमित्तं वा प्रयुङ्क्ते, तत्र चानृतस्य नियमेनैव सम्भवो यतस्तत्रोपघातकरमवश्यमुत्पद्यते, उपघातजनकं चानृतम् तदुच्चारणे द्वितीयव्रतभङ्गः। 'तेणं उच्छुढाई' अथ तत्र गृहे एकाकी प्रविष्टः सन् उच्छुढ–विक्षिप्तं हिरण्यादि पश्यति ततश्च गृह्णाति, एकाकिनो लोभसंभवात्, 'तेण'त्ति ततः स्तैन्यदोषस्तृतीयव्रतभङ्ग इत्यर्थः, तथा कदाचिदेकाकी अनेषणीयमपि गृह्णीयात्, ततस्तस्मिन्ननेषणीये गृहीते परिग्रहकृतो दोषश्चतुर्थः, चतुर्थव्रतमत्र पृथग् नोक्तं, मध्यमतीर्थकराणां परिग्रह एव तस्यान्तर्भावात्, किञ्च नापरिगृहीता स्त्री भुज्यत इति, पश्चिमस्य तु तीर्थकृतः पृथक् चतुर्थं व्रतं, तन्मतेन चतुर्थव्रतभङ्गं दर्शयन्नाह—

विहवा पउत्थवइया पयारमलभंति दट्ठुमेगागी। दारपिहणे य गहणं इच्छमणिच्छे य दोसा उ ।२२२ भा

विधवा स्त्री, धवो–मनुष्यः स विनष्टो यस्या इति समासः, तथा प्रोषितभर्तृका, तथा या प्रचारं न लभते–निरुद्धा ध्रियते, सा एवंविधा त्रिप्रकारा स्त्री एकाकिनं साधुं प्रविष्टं दृष्ट्वा गृहे द्वारं स्थगयित्वा गृह्णीयात्, तत्र यद्यसौ तां स्त्रियमिच्छति ततः संयमभ्रंशः, अथ नेच्छति तत उड्डाहः, सैव स्त्री लोकस्य कथयति, यदुतायं मामभिभवतीति, ततश्चोड्डाहः। प्रतिद्वारगाथा व्याख्याता, कैः पुनः कारणैरसौ एकाकी भवति ?, तत्राह—

गारविए काहीए माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे। दुल्लभअत्ताहिट्ठिय अमणुन्ने वा असंघाडो ॥ ४१४ ॥

१ कौटल्यं क्ष क १ कोटल्यं पा १–२। २ ततश्च आपततस्त भा.। ३ दोषः चतुर्थस्य भा। ४ विहारव भा। ५ स्थगयित्वा क १ पा २।

'गारविए'त्ति गर्वेण लब्धिसंपन्नोऽहमिति कृत्वा एकाकी भवति, तथा 'काहीए'त्ति भिक्षार्थं प्रविष्टो धर्मकथां महतीं करोति महतीं वेलां तिष्ठति ततस्तेन सार्द्धं न कश्चित्प्रयाति ततश्चैकाकी भवति, तथा मायावानेकाकी भवति, स हि शोभनं भुक्त्वाऽशोभनमानयति, स च द्वितीयं नेच्छतीत्यत एकाकी भवति, 'अलसः' अन्येन सह प्रभूतं पर्यटितुमसमर्थस्तत एकाक्येवानीय भक्षयति, गच्छवैयावृत्त्येऽलसः स एकाकी भवति, 'लुद्ध'त्ति लुब्धो विकृतीः प्रार्थयति, ताश्च द्वितीये सति न शक्यन्ते प्रार्थयितुमत एकाकी भवति। निर्द्धर्मः अनेषणीयं गृह्णाति ततश्च द्वितीयं नेच्छति, 'दुल्लभ'त्ति दुर्लभे दुर्भिक्षे एकाकी संभवति, तत्र हि एक[2] एव गच्छति येन पृथक् पृथक् भिक्षा लभ्यते, तथा 'अत्ताहिट्ठिय'त्ति आत्माधिष्ठितो यदाऽऽत्मना लभते तदाहारयति 'अत्तलद्धिउ'त्ति जं भणिअं होइ, तथा[3] अमनोज्ञो न कस्यचित्प्रतिभाति[4] रटनशीलत्वात्ततश्चैकाकी हिण्डते, एवमसङ्घाटको भवतीति। इदानीं एतामेव गाथां भाष्यकारो[5] व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवप्रतिपादनायाह—

संघाडगरायणिओ अलद्धिओमो य लद्धिसंपन्नो। जिट्ठग्ग(ज)पडिग्गहगं भुय गारवकारणा एगो॥२२३भा.

कस्यचित्सङ्घाटकस्य योऽसौ रत्नाधिकः–पर्यायज्येष्ठः स 'अलद्धि'त्ति अलब्धिकः–लब्धिरहितः 'ओमो य'त्ति पर्यायलघुर्द्वितीयः स च लब्धिसंपन्नः, ततो योऽसौ पर्यायेण लघुर्लब्धिमान् स भिक्षामटन्नग्रतो गच्छति रत्नाधिकस्तस्य[6] पृष्ठत एव व्रजति। पुनश्च मण्डल्यां भोजनकाले आचार्या एवं भणन्ति, यदुत ज्येष्ठार्यस्याग्रतः पतद्ग्रहं भुङ्क्ष्व, पुनरसौ ओमराइणिओ

१ °कथां करोति। २ एकैक एव आ. पा. २–१। ३ अथवा अम आ. पा. २. १. पु.। ४ कश्चित्प्रति° आ.। ५ °कृदाह–पा. १–२। ६ °धिकश्च पृष्ठतो व्रजति आ. पा. १।

चिन्तयति, यदुतास्यां वेलायां ज्येष्ठार्यः सञ्जातो न तु भिक्षावेलायां ज्येष्ठार्यः, अह मेक्क लभे यावता ज्येष्ठार्यस्य प्रथमं समर्प्यते। ततमानेन गर्वकारमेन एकाकी भवति—एकाक्येवाहं भिक्षां यामीति। 'गारविए'त्ति गतं, 'काहीए'त्ति व्याख्यायते—

काहीओ कहेइ कहं विइओ वारेइ अहव गुरुकहणं। एव सो एगागी माइल्लो भद्दग भुंजे ॥ २२४ ॥ भा०

भिक्षार्थं प्रविष्टः कथकी धर्मकथां कुर्वन्नास्ते, ततश्च तस्य द्वितीयो वारयति—मा कृथा धर्मकथां ग्लानादयः सीदन्तीति, अथवाऽऽगतस्य गुरोः कथयति यदुताऽयं धर्मकथां करोत्यिष्ठति, गुरुरपि तं निवारयति, यदि वारितोऽपि कथयति तदा स एकाक्येव संभाषते। 'काहिए'त्ति गयं, मायावी भद्रक भक्षे भवं एव एकाकी गच्छति ॥ 'माइल्ले'त्ति गय, 'अलस'त्ति व्याख्यायते—

अलसो चिर न हिंडइ लुद्धो ओहासए विगईओ। निद्धम्म णेसणाई दुल्लहभिक्खे व एगागी ।२२५।भा

अलसश्चिर न हिण्डते, कतिपयां भिक्षां गृहीत्वाऽऽगच्छति। 'अलसे'त्ति गयं 'लुद्धो'त्ति भण्णति, लुब्धो विकृतीः प्रार्थयते, ततश्चैकाक्येव याति। 'लुद्धो'त्ति गय, 'णिद्धम्मे'त्ति भण्यते, निर्धर्मो अनेषणीयादि करोति कृत्वा चानेषणां क्षीप्रमागच्छति, अपरसाधुप्रेरितश्चैकाकी भूयैवाऽटति, 'णिद्धम्मे'त्ति गय। 'दुल्लभ'त्ति भण्यते, दुर्भिक्षे दुर्लभायां भिक्षायां संघाटकं नेच्छति एकाक्येव भिक्षयति, ततश्चैकाकी भवति, 'दुल्लभ'त्ति गयं 'अत्ताहिट्ठिय'त्ति व्याख्यायते—

१ ज्येष्ठार्यः सञ्जात' अ। २ कम आ.। ३ अनेव हिण्डति आ.। ४ एकाकि अपरसाधु' आ.। ५ भण्यति क. १ पा १ १ पु.।

अत्ताहिट्ठियजोगी असंखडीओ वऽणिट्ठ सव्वेसिं। एवं सो एगागी हिंडइ उवएसऽणुवदेसा ॥२२६॥ भा.

आत्मनाधिष्ठितेन लब्धेन भक्तादिना युज्यते इति आत्माधिष्ठितयोगी अत्तलद्धिओ इत्यर्थः, स एकाकी भवति। 'अत्ताहिट्ठिए'त्ति गयं, 'अमणुन्ने'त्ति व्यख्यायते-'असंखडिओ वऽणिट्ठ सव्वेसिं'ति कलहकारकः सर्वेषामनिष्टः सन् ततश्चैकाकी क्रियते, एवमेभिः कारणैरेकाकी असौ हिण्डते, उपदेशेन अनुपदेशेन वा-उपदेशेन गुरुणाऽनुज्ञातः अनुपदेशेन-गुरुणाऽनुक्तः। व्याख्यातं सङ्घाटकद्वारम्, इदानीमुपकरणद्वारमुच्यते—

सव्वोवगरणमादाय असहू आयारभंडगेण समं। नयणं तु मत्तगस्सा न य परिभोगो विणा कज्जे ॥ २२७ भा.

तत्रोत्सर्गतः सर्वमुपकरणमादाय भिक्षागवेषणां करोति, अथासौ सर्वेण गृहीतेन भिक्षामटितुमसमर्थस्तत आचारभण्डकेन समं, आचारभण्डकं-पात्रं पटलानि रजोहरणं दण्डकः कल्पद्वयं-और्णिकः क्षौमिकश्च मात्रकं च, एतद्गृहीत्वा याति। 'उवगरणे'त्ति गयं, इदानीं मात्रकग्रहणप्रतिपादनायाह-नयणं[2] गाहद्धं, नयनं मात्रकस्य करोति भिक्षामटन्, न च तस्य मात्रकस्य कार्येण विना संसक्तादिना परिभोगः क्रियते। 'मत्तए'त्ति गयं 'काउस्सग्ग'त्ति व्याख्यायते—

आपुच्छणात्ति पढमा बिइया पडिपुच्छणा य कायव्वा। आवस्सिया य तइया जस्स य जोगो चउत्थो उ॥भा.

पढमं आपुच्छइ, यदुत-संदिसह उवओगं करेमि, एसा पढमा, उवओगकरावणिअं काउस्सग्गं, अट्ठहिं उस्सासेहिं

1 सह आ ल. २. पु.। २ नयन आ.।

चिन्तयति, यदुतास्यां वेलायां ज्येष्ठार्यः सञ्जातो न तु भिक्षावेलायां ज्येष्ठार्यः, अह भेक उभे यासता ज्येष्ठार्यस्य प्रथमं समर्प्यते। ततमानेन गर्वकारमेन एकाकी भवति—एकार्थेयेवाह भिक्षां यामीति। 'मारविए'त्ति गाय, 'काहीए'त्ति व्याख्यायते—

काहीओ कहेइ कह विइओ वारेइ अहव गुरुकहण। एव सो एगागी माइल्लो भद्दग भुंजे ॥ २२४ ॥ भा०

भिक्षार्थं प्रविष्टः क्षपको धर्मकथां कुर्वन्नास्ते, ततश्च तस्य द्वितीयो वारयति—मा कथा धर्मकथां ग्लानादयः सीदन्तीति, अथवाऽऽगतस्य गुरोः कथयति यदुताऽय धर्मकथां कुर्वन्स्तिष्ठति, गुरुरपि त निवारयति, यदि वारितोऽपि कथयति तदा स एकाक्येव समायते। 'काहिए'त्ति गाथ, मायावी भद्रकं भक्ते अत एव एकाकी गच्छति ॥ 'माइल्ले'त्ति गय, 'अलस'त्ति व्याख्यायते—

अलसो चिर न हिंडइ लुद्धो ओहासए विगईओ। निद्धम्म णेसणाई दुल्लहभिक्खे व एगागी ।२२५।भा

अलसश्चिरं न हिण्डते, कतिपयां भिक्षां गृहीत्वाऽऽगच्छति। 'अलसे'त्ति गय 'लुद्धो'त्ति भण्यति, लुब्धो विकृतीः प्रार्थयते, ततश्चैकाक्येव याति। 'लुद्धो'त्ति गय, 'निद्धम्मो'त्ति भण्यते, निर्धर्मो अनेषणीयादि करोति कस्या चानेषणां शीघ्रमागच्छति, अपरसाधुप्रेरितेश्चैकाकी भूयैवाऽटति, 'निद्धम्मे'त्ति गय। 'दुल्लभ'त्ति भण्यते, दुर्भिक्षे दुर्लभायां भिक्षायां संघाटक नेच्छति एकाक्येव भिक्षयति, ततश्चैकाकी भवति, 'दुल्लभ'त्ति गय 'अणाहिण्डिय'त्ति व्याख्यायते—

१ ज्येष्ठार्य सञ्जात अ। २ कम बा.। ३ अपेन हिण्डति बा। ४ एकाकि अपरसाधु' बा.। ५ भण्यति क. १ पा २ १ पु.।

अत्ताहिट्ठियजोगी असंखडीओ वऽणिट्ठ सव्वेसिं। एवं सो एगागी हिंडइ उवएसऽणुवदेसा ॥२२६॥ भा.

आत्मनाधिष्ठितेन लब्धेन भक्तादिना युज्यते इति आत्माधिष्ठितयोगी अत्तलद्धिओ इत्यर्थः, स एकाकी भवति। 'अत्ताहिट्ठिए'त्ति गयं, 'अमणुन्ने'त्ति व्याख्यायते-'असंखडिओ वऽणिट्ठ सव्वेसिं'ति कलहकारकः सर्वेषामनिष्टः सन् ततश्चैकाकी क्रियते, एवमेभिः कारणैरेकाकी असौ हिण्डते, उपदेशेन अनुपदेशेन वा-उपदेशेन गुरुणाऽनुज्ञातः अनुपदेशेन-गुरुणाऽनुक्तः। व्याख्यातं सङ्घाटकद्वारम्, इदानीमुपकरणद्वारमुच्यते—

सव्वोवगरणमादाय असहू आयारभंडगेण समं। नयणं तु मत्तगस्सा न य परिभोगो विणा कज्जे ॥ २२७ भा.

तत्रोत्सर्गतः सर्वमुपकरणमादाय भिक्षागवेषणां करोति, अथासौ सर्वेण गृहीतेन भिक्षामटितुमसमर्थस्तत आचारमण्डकेन समं, आचारमण्डकं-पात्रं पटलानि रजोहरणं दण्डकः कल्पद्वयं-और्णिकः क्षौमिकश्च मात्रकं च, एतद्गृहीत्वा याति। 'उवगरणे'त्ति गयं, इदानीं मात्रकग्रहणप्रतिपादनायाह-नेयणं गाहद्धं, नयनं मात्रकस्य करोति भिक्षामटन्, न च तस्य मात्रकस्य कार्येण विना संसक्तादिना परिभोगः क्रियते। 'मत्तए'त्ति गयं 'काउस्सग्ग'त्ति व्याख्यायते—

आपुच्छणात्ति पढमा बिइया पडिपुच्छणा य कायव्वा। आवस्सिया य तइया जस्स य जोगो चउत्थो उ॥ भा.

पढमं आपुच्छइ, यदुत-संदिसह उवओगं करेमि, एसा पढमा, उवओगकरावणिअं काउस्सग्गं, अट्ठहिं उस्सासेहिं

१ सह आ ल. २. पु.। २ नयन आ.।

नमोक्कारं चिंतेइ, ततो नमोक्कारेण पारेऊण भणति–संदिसह, आयरिओ भणइ–लाभो, साहू भणइ–कहंति, एसा पडिपुच्छा, ततो आयरिओ भणइ–तहत्ति, ततो 'आवस्सियाए जस्स य जोगो'त्ति व च सज्झमस्स उवगारे वट्टइ तं त गिण्हिस्सामि, 'जस्स य जोगो'त्ति व्याख्यातम्। इदानीमेतान्येव प्रमाणादीनि द्वाराणि सप्रतिपक्षाण्यभिधीयन्ते, तत्र यदुक्तं प्रमाणद्वारे–वाराद्वयं प्रवेष्टव्यं, तस्य प्रतिपक्ष उच्यते, वारात्रयमपि प्रविशति, किमर्थमत आह—

आयरियाईणट्ठा ओमगिलाणट्ठया य बहुसोऽवि। गेलन्नखमगपाहुण अतिप्पए ऽतिच्छिए यावि ॥४१५

आचार्यादीनामर्थाय बहुशोऽपि वाराः प्रविशति, ओमो–बालस्तदर्थं ग्लानार्थं च बहुशः प्रविशति। प्रमाणयतनोक्ता, इदानीं यदुक्तं कालद्वये प्रवेष्टव्यं तत्प्रतिपक्ष उच्यते, ग्लानक्षपकप्राघूर्णकार्थमतिप्रत्यूषस्यपि प्रविशति तथा 'अतिच्छिए यावि'त्ति अतिक्रान्तायामपि भिक्षावेलायां प्रविशति बहुशः॥

अणुकंपा पडिसेहो कयाइ हिंडिज्ज वा न वा हिंडे। अणभोगि गिलाणट्ठा आवस्सग ऽसोहइत्ताण ॥४१६

स च प्रत्युषस्येव प्रविष्टः कस्मिंश्चित् गृहे ग्लानार्थं, लब्धं च तेन तत्र, ततश्च पुनर्भणति अनुकम्पया, यदुत पुनरपि त्वया ग्लानार्थमस्यां वेलायां आगन्तव्यं, ततश्चासौ साधुः प्रतिषेधं करोति, कथं?, तं गृहस्थमेवं भणति, यदुत प्रत्यूषसि यः कदाचिदहं हिंडिस्सं कयाचिन्न हिंडेमि, एवं भणतेण आगंतुका उग्गमदोसा परिहरिया होंति न च प्रतिषेधः कृतो

1 जहुयाए क. 1 ला 1–2। 2 पारणार्थं° पा. 1 पारणकार्थं° पा 2 पारणार्थं° अति पु.। 3 आवासमसो क. 1–2। 4 हिंडेज्जसि ला क 2 पा 1–2।

भवति । उक्ता कालयतना, इदानीमावश्यकयतनोच्यते—कदाचिदसौ साधुरनाभोगेन 'आवश्यकं' कायिकाव्युत्सर्गलक्षणमकृत्वा ग्लानार्थं त्वरितं गतः, ततः—

आसन्नाउ नियत्तइ[1] कालि पहुप्पंति दूरपत्तोवि। अपहुप्पंति तत्तो च्चिय एगो धरे वोसिरे एगो ॥४१७॥

तत आसन्नात्सञ्जातकायिकाबाधाशङ्को निवर्त्तते, जति कालो पहुप्पइ ततो दूरगतोऽवि निवर्त्तते, अथ निवर्त्तमानस्य कालो न पहुप्पइ, ततः 'तत्तो च्चिअ' तत एव यतो भिक्षार्थं गतस्तत एव व्युत्सृजति, कथम् ?, एकः साधुर्भाजनं धारयति एकस्तु व्युत्सृजति कायिकादि ।

भावासन्ने समणुन्न अन्नओसन्नसड्ढविज्जघरे । सल्लपरूवणविज्जे इत्थेव[2] परोहडे वावि ॥ ४१८ ॥

अथवा 'भावासन्नः' असहिष्णुरत्यन्तं भवति ततः समनोज्ञा यदि तस्मिन् क्षेत्रे आसन्ना अन्यस्मिन् प्रतिश्रये ततस्तत्र प्रविश्य व्युत्सृजति । 'अण्ण'त्ति अथवा अमनोज्ञास्तत्रासन्नास्ततस्तद्वसतौ प्रविश्य व्युत्सृजति, तदभावेऽवमग्नानां वसतौ व्युत्सृजति तदभावे श्राद्धगृहे, तदभावे वैद्यगृहे व्युत्सृजति, तत्र च वैद्यगृहे प्ररूपयति यदुत 'तिण्णि सल्ला महाराय' इत्येवमादि, ततश्चासौ वैद्यः स्मारितग्रन्थ[3] एवं भणति 'इत्थेव[4]'त्ति अत्र पश्चाद्गृहके व्युत्सृज, 'परोहडे'त्ति वा' गृहस्य पश्चादङ्गणे व्युत्सृजेति[5] ।

एतेसिं असईए रायपहे दोघराण वा मज्झे । हत्थं हत्थं मोत्तुं मज्झे सो नरवइस्स भवे ॥ ४१९ ॥

---

१ नियत्ते भा पा २ । २ तत्थेव आ. एत्थेव ल २ पा १ । ३ स्मारिते ग्रन्थ एव आ । ४ एत्थेव आ पा २-१ पु. । ५ व्युत्सृजति भा. ।

एतेषां—पूर्वोद्दिष्टानां अभावे नरपतिपथे—राजमार्गे व्युत्सृजेत् यतोऽसौ सामान्यो लोकस्य, तदभावे द्वयोर्गृहयोर्मध्ये व्युत्सृजति तयोश्च मध्ये व्युत्सृजन् हस्तमात्रं हस्तमात्रं मोलिकाया उभयोर्गृहयोर्मुक्त्वा व्युत्सृजति, यतोऽसौ मध्यप्रदेशः, स च नरपतेः परिग्रहः ततश्च कलहादिर्न भवति ।

उग्गहकाइयवज्जं छड्डणि ववहारो लब्भए तस्थ । गारविए पन्नवणा तत्थ चेव अणुग्गहो एस ॥४२०॥

तदभावे गृहस्थसत्केऽवग्रहे परिगृहीते तस्मिन्नपि व्युत्सृजति, कथं ? कायिकावर्जं पुरीषमुत्सृजन्नपि कायिकीं न व्युत्सृजति । किं कारणं ?, जओ छड्डणि ववहारो लब्भइ, जदि भिात्थो भणिज्ज—छड्डेहि, तो न छड्डेइ, ववहारं राउले करेइ । जहा पाणक्केऽवि भणिअं—'जइ काइयं न वोसिरइ ततो अदोसो' । अयमित्थंभूतस्तत्र व्यवहारो लभ्यते, अतः कायिकां न व्युत्सृजति । उक्ताऽऽवश्यकयतना, इदानीं सज्झायकयतनोच्यते, तत्र चेयं प्रतिद्वारगाथोपन्यस्ताऽऽसीत् 'गारविए काही' त्येव मादिका, तस्या यतनोच्यते, तत्र 'गारविए' त्यस्य पदस्य यतनामाह—गारविए गाहापच्छद्धं 'गारविए पन्नवणा' योऽसौ ओमराइणिको लब्ध्या गर्वितः स धर्मकथी भवति तदाचार्यो धर्मकथया प्रज्ञापयति, यदुत तवैवायमनुग्रहो यत्सदीयलब्ध्यु- पष्टम्भेन स्वाध्यायादि कुर्वन्तीति । गारवियजयणा गया, एवमिदमुपलक्षणं वर्तते, अन्येषामपि कपिकमायापिवलसलुब्ध निर्द्धर्माणां प्रज्ञापना कर्तव्या । इदानीं दुर्लभपदव्याख्यानं कुर्वन्निदमाह—

१ मुत्सृजति क. १–१ पा. २ । २ छंडण आ क २ पु. । ३ पाणगएऽवि आ क २ पा. ३ । ४ °माह—'गारविए पन्नवणा' आ ।

जइ दोण्ह एग भिक्खा न य वेल पहुप्पए तओ एगो। सव्वेवि अत्तलाभी पडिसेहमणुन्नापियधम्मे ॥

यदि तत्र क्षेत्रे पर्यटतामेकैव भिक्षा द्वयोरपि लभ्यते [1]हिण्डतोर्न च कालः पर्याप्यते–न य पहुप्पइ तदा एकाकिन एव हिण्डन्ते । दुर्लभयतनोक्ता, इदानीं अत्ताहिड्डिययतनोच्यते–यदि ते सर्वे एव खग्गूडा अत्तलद्धिया होइउमिच्छंति तदाऽऽचार्यः प्रतिषेधं करोति, अथ कश्चित्प्रियधर्मा आत्मलब्धिको भवति तत आचार्योऽनुज्ञां करोति, ततश्चैवमेकाकी भवति, अत्ताहिड्डिअजयणा भणिया, इदानीं अमणुण्णयतनां प्रतिपादयन्नाह—

अमणुन्न अन्न[1]संजोयणा उ सव्वेवि णेच्छण विवेगो। बहुगुणतदेकदो[2]सं एसणब[3]लियं न उ विगिंचे ॥४२२॥

यद्यसौ 'अमनोज्ञः' रटनशीलस्ततोऽन्यस्य संयोज्यते तेन सह हिण्डते । अथ सर्व एव नेच्छन्ति ततस्तस्यामनोज्ञस्य विवेकः–परित्यागः क्रियते, अथासौ बहु[4]गुणः सर्वगुणसंपन्नः किन्तु स एवैको दोषः रटन[5]शीलता एषणायां च बलवांस्ततो नासौ परित्यज्यते । भणिया अमणुण्णजयणा, इदानीं यदुक्तम्–'एगाणियस्स दोसा' इत्येवमादि तेषां यतनोच्यते, आह किं पुनः कारणमुत्क्रमेण स्त्र्यादीनां पदानां यतनोच्यते ?, उच्यते, गर्वितकथिकादयः प्रज्ञापिताः सन्तः कारणवशादेकाकिनोऽपि भिक्षामटन्ति, ततश्चैकाकिनामटतां यद्यपि स्त्रीकृता दोषा भवन्ति तथाऽपि तत्रेयं यतना, इदानीं या गाथोपन्यस्ताऽऽसीत् यदुत एगाणियस्स दोसा' इत्येवमादिका, तत्र यतनां प्रतिपादनायाह—

१ °सजोइया आ. पा. १ । २ °दोसे आ. । ३ °बलवं आ क २ पा १ । ४ °गुणसंपन्न किन्तु आ. पा. १ । ५ °शील इति एष° आ ।

एतेषां-पूर्वोदिष्टानां अभावे नरपतिपथे-राजमार्गे व्युत्सृजेत् यतोऽसौ सामान्यो लोकस्य, तदभावे द्वयोर्गृहयोर्मध्ये व्युत्सृजति तयोश्च मध्ये व्युत्सृजन् हस्तमात्र हस्तमात्र ओलिकाया उभयोर्गृहयोर्मुक्त्वा व्युत्सृजति, यतोऽसौ मध्यप्रदेशः, स च नरपतेः परिग्रहः ततश्च कलहादिर्न भवति ।

उग्गहकाइयवज्जं छेत्तुणि ववहारो लब्भए तत्थ । गारविए पन्नवणा तव चेव अणुग्गहो एस ॥४२०॥

तदभावे गृहस्थसत्केऽवग्रहे परिगृहीते तस्मिन्नपि व्युत्सृजति, कथं ? कायिकावर्जं पुरीषमुत्सृजन्नपि कायिकीं न व्युत्सृजति । किं कारण ?, जओ छत्तम्मि ववहारो लब्भइ, यदि गिहत्थो भणिज्ज-छड्डेहि, तो न छड्डेइ, ववहारं राउले करेइ । अत्रा चार्यकेऽपि भणिअं-'जइ काइअं न वोसिरइ तो अदोसो' । अयमित्यमूतस्तत्र व्यवहारो लभ्यते, अतः कायिकां न व्युत्सृजति । उक्ताऽऽवश्यकयतना, इदानीं सएघाटकयतनोच्यते, तत्र चेयं प्रतिद्वारगाथोपन्यस्ताऽऽसीत् 'गारविए काही' इयेव गाथिका, तस्या यतनोच्यते, तत्र 'गारविए' इत्यस्य पदस्य यतनामाह-गारविए मातापच्छद 'गारविए पन्नवणा' योऽसौ ओमराइणिको लब्ध्या गर्वितः सत्रेकाकी भवति तमाचार्यो धर्मकथया प्रज्ञापयति, यदुत तवैतावमनुग्रहो यत्त्वदीयलब्ध्युपष्टम्भेन स्वाध्यायादि कुर्वन्तीति । गारवियजयणा गया, एवमित्थम्भूतलक्षण वर्तते, अन्येषामपि कपिकमायाविमलसत्कुम्भ निर्द्धर्माणां प्रज्ञापना कर्तव्या । इदानीं दुर्लभपदव्याख्यानं कुर्वन्निदमाह—

1 व्युत्सृजति क. 1-2 पा. 2 । 2 छेत्तुण आ. क 2 पु. । 3 चार्यकेऽपि आ क 2. पा. 1 । 4 'गाह-'गारविए पन्नवणा' आ ।

जइ दोण्ह एग भिक्खा न य वेल पहुप्पए तओ एगो। सव्वेवि अत्तलाभी पडिसेहमणुन्नपियधम्मे ॥

यदि तत्र क्षेत्रे पर्यटतामेकैव भिक्षा द्वयोरपि लभ्यते [1]हिण्डतोर्न च कालः पर्याप्यते—न य पहुप्पइ तदा एकाकिन एव हिण्डन्ते । दुर्लभयतनोक्ता, इदानीं अत्ताहिट्ठियतनोच्यते—यदि ते सर्व एव खग्गूडा अत्तलद्धिया होइउमिच्छंति तदाऽऽचार्यः प्रतिषेधं करोति, अथ कश्चित्प्रियधर्मा आत्मलब्धिको भवति तत आचार्योऽनुज्ञां करोति, ततश्चैवमेकाकी भवति, अत्ताहिट्ठिअजयणा भणिया, इदानीं अमणुण्णयतनां प्रतिपादयन्नाह—

अमणुन्न अन्न[1]संजोयणा उ सव्वेवि णेच्छण विवेगो। बहुगुणतदेकदो[2]सं एसणब[3]लियं न उ विगिंचे ॥४२२॥

यद्यसौ 'अमनोज्ञः' रटनशीलस्ततोऽन्यस्य संयोज्यते तेन सह हिण्डते । अथ सर्व एव नेच्छन्ति ततस्तस्यामनोज्ञस्य विवेकः—परित्यागः क्रियते, अथासौ बहु[4]गुणः सर्वगुणसंपन्नः किन्तु स एवैको दोषः रट[5]नशीलता एषणायां च बलवांस्ततो नासौ परित्यज्यते । भणिया अमणुण्णजयणा, इदानीं यदुक्तम्—'एगाणियस्स दोसा' इत्येवमादि तेषां यतनोच्यते, आह किं पुनः कारणमुत्क्रमेण स्त्र्यादीनां पदानां यतनोच्यते ?, उच्यते, गर्वितकथिकादयः प्रज्ञापिताः सन्तः कारणवशादेकाकिनोऽपि भिक्षामटन्ति, ततश्चैकाकिनामटतां यद्यपि स्त्रीकृता दोषा भवन्ति तथाऽपि तत्रेयं यतना, इदानीं या गाथोपन्यस्ताऽऽसीत् यदुत एगाणियस्स दोसा' इत्येवमादिका, तत्र यतनां प्रतिपादनायाह—

---

१ °संजोइया आ. पा १ । २ °दोसे आ । ३ °बलवं आ. ल २ पा १ । ४ °गुणसपन्न. किन्तु आ. पा. १ । ५ °शील इति एष° आ ।

इत्थीगहणे धम्म कहेइ वयठवण गुरुसमीवाभि। इह चेवोवर रज्जू भएण मोहोवसम तीसे ॥ ४२३ ॥

एव तस्यैकाकिनो व्रतस्य सतः स्त्रीग्रहणे सति–स्त्रिया गृहीतः सन् धर्मकथां करोति यथुत नरकगमनाय मैथुनसेवेत्येवमादिकां, अथ कथितेऽपि धर्मे न मुञ्चति ततो भणति यथुत व्रतानि गुरुसमीपे स्थापयित्वाऽऽगच्छामीति, एतदभिधाय नश्यति अथ तथापि न लभते गन्तु ततो भणति इहैवापवरके व्रतमोक्षण करोमीति, तत्र च प्रविश्य, उल्लम्बनार्थं रज्जु गृह्णाति, ततस्तेन भयेन कदाचिन्मोहोपशमो भवति, मोहनीयरसो भयेन म्रियते, अथैवमपि न मुच्यते ततो म्रियत एवेति। उक्ता स्त्रीयतना, इदानीं श्वादियतनोच्यते—

साणा गोणाइ घरे परिहरऽणाभोगकुड्डकडनीसा। वोरेइ य दंडएण वाराचे वा अगारेहिं ॥ ४२४ ॥

श्वानो गवादयश्च येषु गृहेषु तानि परिहरति, अथानाभोगेन कथमपि प्रविष्टस्ततः कुड्यकटनिश्रया तिष्ठति, कुड्य कटं वा पृष्ठे करोति अथतो दण्डकेन वारयति, अगारैर्वा वारापयति। उक्ता यतना, इदानीं पडिणीययतनोच्यते—

पडिणीयगेहवज्जण अणभोगपविट्ठ बोलनिक्खमण। मज्झे तिण्ह घराण उवओग करित्तु गिण्हेज्जा॥४२५

एकाकिना प्रत्यनीकगृहे न प्रवेष्टव्यं, अथानाभोगेन प्रविष्टः प्रत्यनीकेन गृहीतुमारब्धस्ततो बोल करोति–उच्छब्दयति

१ कन्नो भा। २ प्रभिवति भा. क २। ३ मोहनरसो भा.। ४ मुच्यति भा। ५ मोष इसरे भा। ६ भारच म पु। ७ धारयति भा, धारयेति प. १। ८ करेइ भा पा १।

येन लोको मिलति, तत आकुले निष्क्रामति । उक्ता प्रत्यनीकयतना, अधुना भिक्षाविशोधियतनोच्यते–मध्ये स्थितस्त्रयाणामपि गृहाणामुपयोगं दत्त्वा पङ्क्त्या स्थितानां भिक्षां गृह्णाति, उक्ता भिक्षाविशोधियतना, अधुना पञ्चमहाव्रतयतनोच्यते, तत्र भिक्षायामुपयोगं ददता प्राणातिपातसंरक्षणं कृतमेव, इदानीं द्वितीयमहाव्रतयतनां प्रतिपादनायाह––

विंटल पुट्ठो न याणे आइन्नादीवि वज्जए ठाणे । सुद्धं गवेस उंछं पंचऽइयारे परिहरंतो ॥ ४२६ ॥

वेण्टलं–निमित्तादि पृष्टः सन्नेवं भणति– न जान इति एवं भणता द्वितीयमहाव्रतयतना कृता भवति । इदानीं तृतीयमहाव्रतयतनां दर्शयन्नाह–'आइण्णादीवि वज्जए ठाणे' तत्र भिक्षार्थं प्रविष्ट आकीर्णादिस्थानं परिवर्जयेत्, यत्र हिरण्यादि विक्षिप्तमास्ते तदाकीर्णस्थानं तच्च साधुना वर्जनीयं, एवं तृतीयमहाव्रतयतना कृता भवति । इदानीं पञ्चममहाव्रतयतनां प्रतिपादयन्नाह–'शुद्धम्' उद्गमादिदोषरहितं 'गवेषयति' अन्वेषयति 'उञ्छं' भक्तं पञ्चाप्यतीचारान् रक्षन् । उक्ता पञ्चममहाव्रतयतना, चतुर्थमहाव्रतयतना तूक्तैव । 'इत्थिग्गहणे बम्भं' इत्येवमादिना, उक्ता सङ्घाटकयतना, इदानीमुपकरणयतनामाह––

जहन्नेण चोलपट्टं वीसरणालू गहाय गच्छिज्जा । उस्सग्ग काउ गमणं मत्तयगहणे इमे दोसा ॥ ४२७॥

उत्सर्गतस्तावद्भिक्षार्थं गच्छता सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गन्तव्यं, यस्तु विस्मरणालुः स जघन्येन चोलपट्टकमादाय गच्छति, उपलक्षणं चात्र चोलपट्टकोऽन्यथा पात्रकं पटलानि रजोहरणं दण्डकं कल्पद्वयं चैतद् गृहीत्वा गच्छति । उक्तोपकरणयतना,

१ आयन्नातीणि वज्जए आ पा १ । २ एव आ पा. १ । ३ ' आयण्णाईणि वज्जए आ । ४ °प्रतिपादनायाह–आ. पा. १. २. ।

इदानीं मात्रकयतनां प्रतिपादनायाह—मात्रकं गृहीत्वा गन्तव्यं, गृहीत्वा चोत्सर्गं—उपयोगं कृत्वा भवति, अथ मात्रकं न गृह्णाति गच्छंस्ततश्च मात्रकाग्रहणे एते च वक्ष्यमाणलक्षणा दोषाः, अत्र च यदुत्सर्गग्रहणं कृतं तद्विधिप्रदर्शनार्थं न तु पुनः स्वस्थानमिति। इदानीं मात्रकाग्रहणे दोषान् प्रदर्शयन्नाह—

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लहे सहसलाभे। ससत्तभत्तपाणे मत्तगगहणं अणुण्णायं ॥ ४२८ ॥

आचार्यार्थं ग्लानार्थं प्राघूर्णकार्थं वा दुर्लभं वा किञ्चिल्लभ्यते तदर्थं, 'सहसा' अकस्मात्किञ्चित्कदाचिल्लभ्यते तदर्थं, तथा संसक्तभक्तपानग्रहणार्थं मात्रकग्रहणमनुज्ञातम्। इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

पाउग्गायरियाई कंसिं गिण्हउ मत्तए अगहियंमि। जा पासि विराहणया दुयमाणे ज दुवेण विणा॥२२९॥ भा

प्रायोग्यमाचार्यादीनां कं गृह्णातु मात्रकेऽगृहीते सति ?, तदग्रहणाच्च या तेषामाचार्यादीनां विराधना सा तेनाङ्गीकृता भवति, अथैवं मन्यसे द्रवभाजने गृह्णातु तदपि प्रवेऽगृहीते प्रवेण विना या विराधना सा तदवस्थैव, आदिग्रहणात् ग्लानप्राघूर्णका अपि व्याख्याता एव।

दुल्लह दव्व व सिया घयाइ गिण्हे उवग्गहकरं तु। पउरऽन्नपाणलंभे असयरे केत्यइ सिया उ ॥२३०॥ भा

दुर्लभं वा द्रव्यं घृतादि 'स्यात्' भवेत् तेनैव घृतादि गृह्यते यत उपग्रहं करोति—अवष्टम्भं करोति तत्, अथ 'सहसा' आक-

1 अगृहीत्वा चोत्सर्गमिति—उप भा.। 2 °राणे क. 2। 3 चट भा.। 4 गिण्हइ क 1। 5 असयरे भा. पा 1। 6 तदवस्थ भा.।

स्मिकः प्रचुरान्नपानलम्भः स्यात्ततः असंस्तरतां प्रव्रजितानामात्मानं कृच्छ्रेण यापयतां कुत्रचित् स्याद् ग्रहणमिति । तथा च—

संसत्तभत्तपाणे मत्तग सोहेउ पक्खिवे उवरिं । संसत्तगं च णाउं परिट्ठवे सेसरक्खट्ठा ॥२३१॥ (भा.)

संसक्तभक्तपानग्रहणे सति मात्रके 'शोधयित्वा' प्रत्युपेक्ष्य सक्तुकाञ्जिकादि पात्रकस्योपरि प्रक्षिपेत् । अथ तत्पानकादि गृहीतं मात्रके किन्तु अशुद्धं संसक्तं जातं, ततश्चैवं ज्ञात्वा विधिना तस्मिन्नेव क्षणे परिष्ठापयति किमर्थं ? शेषभक्तरक्षणार्थं, मा भूत्तद्गन्धेन शेषस्यापि संसक्तिः स्यात्, तस्मान्मात्रकं गृहीतव्यं, एभिश्च कारणैर्न गृह्णाति—

गेलन्नकज्जतुरिओ अणभोगेणं च लित्त अग्गहणं । अणभोगगिलाणट्ठा उस्सग्गादीणि नवि कुज्जा ॥४२९॥

ग्लानकार्येण त्वरितो गतः ततश्चैवं न गृह्णाति, अनाभोगेन वा निर्गतो यदि, लिप्तं वा लेपेन तन्मात्रकं यदि, ततश्चैवमग्रहणं[1] मात्रकस्य संभवतीति । उक्ता मात्रकयतना, इदानीं उत्सर्गयतना प्रतिपादनायाह—अणभोग पच्छद्धं, अणाभोगेण[2] गिलाणट्ठा अनाभोगेन उत्सर्ग–उपयोगं न कुर्यात्, ग्लानार्थे वा त्वरित उत्सर्गं न कुर्यात्, आदिग्रहणादावश्यकं च न कुर्यादिति । उत्सर्गयतनोक्ता, इदानीं 'जस्स य जोगो' अस्य विधिरुच्यते—

जस्स य जोगमकाऊण निग्गओ[3] न लहई तु सच्चित्तं । नवि[4] वत्थपायमाई तिण्णं गहणे कुणसु तम्हा ॥४३०॥

'जस्स य 'जोगो' इत्येवं 'अकृत्वा' अभणित्वा निर्गतः सन् एवं 'न लभते' न भवत्याभाव्यं 'सचित्तं' प्रव्रज्यार्थमुपस्थितं

१ ततश्चैवाग्र° आ. ल. २ । २ अनाभोगेन आ । ३ निग्गमो आ. । ४ य वत्थ° आ. । ५ जोग आ. पा १ ।

इदानीं मात्रकयतनां प्रतिपादनायाह–मात्रकं गृहीत्वा गन्तव्यं, गृहीत्वा चोत्सर्गे–उपयोगं कृत्वा प्रसरति, अथ मात्रकं न गृह्णाति गर्व्वेस्तवम मात्रकाग्रहणे एते च वक्ष्यमाणलक्षणा दोषाः, अत्र च यदुत्सर्गग्रहणं कृतं तद्विधिप्रदर्शनार्थं न तु पुनः स्वस्थानमिति । इदानीं मात्रकाग्रहणे दोषान् प्रदर्शयन्नाह—

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लहे सहसलाभे । संसत्तभत्तपाणे मत्तगगहणं अणुण्णायं ॥ ४२८ ॥

आचार्यार्थं ग्लानार्थं प्राघूर्णकार्थं वा दुर्लभं वा किञ्चिल्लभ्यते तदर्थं, 'सहसा' अकस्मात्किञ्चित्कदाचिल्लभ्यते तदर्थं, तथा संसक्तभक्तपानग्रहणार्थं मात्रकग्रहणमनुज्ञातम् । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

पाउग्गायरियाई केहिं गिण्हउ मत्तए अगहियम्मि । जा पसि विराहणया दुक्भाणे ज दवेण विणा २२९ भा

प्रायोग्यमाचार्यादीनां क गृह्णातु मात्रकेऽगृहीते सति ?, तदग्रहणाच या तेषामाचार्यादीनां विराधना सा तेनाङ्गीकृता भवति, अथैवं मन्यसे द्रवभाजने गृह्णातु तत्रैवं द्रवेऽगृहीते द्रवेण विना या विराधना सा तदवस्थैव, आदिग्रहणात् ग्लानप्राघूर्णका अपि व्याख्याता एव ।

दुल्लह दव व सिया घयाइ गिण्हे उवग्गहकरं तु । पउरऽन्नपाणलंभे असयरे केरयइ सिया उ ॥२३०॥ भा

दुर्लभं वा द्रव्यं घृतादि 'स्यात्' भवेत् तैतच घृतादि गृह्यते यत उपग्रहं करोति–अवष्टम्भं करोति तत्, अथ 'सहसा' आक-

१ अगृहीत्वा चोत्सर्गमिति–उप' आ । २ 'हाणे क. ३ । ३ ग्ग आ. । ४ गिण्हह क १ । ५ कसयम आ. पा १ । ६ तदस्व क्य ।

तत्र हि ग्रामासन्ने उपविश्य पादप्रमार्जनं करोति, किं कारणं ?, तत्पादरजः कदाचित्सचित्तं भवति कदाचिन्मिश्रं लग्नं भवेत्, ग्रामे च नियमादचित्तं रजोऽतः प्रमार्जयति, पुनश्च प्रत्युपेक्षणां करोति पात्रद्वितयस्य पतद्गृहस्य मात्रकस्य च, एवं 'देशकाले' भिक्षावेलायां प्राप्तायां करोति, अथाद्यापि न भवति भिक्षाकालस्ततस्तस्मिन्नप्राप्ते भिक्षाकाले पादौ प्रमार्ष्टि, ततस्तावदास्ते यावद्भिक्षाकालः प्राप्तः, ततस्तस्मिन् प्राप्ते सति तस्यां वेलायां पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्षत इति। एवमसौ पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्ष्य ग्रामे प्रविशन् कदाचिच्छ्रमणादीन् पश्यति ततस्तान् पृच्छति, एतदेवाह—

समणं समणिं सावगसावियागिहिअन्नातित्थि बाहिं पुच्छे। अत्थिह समण ? सुविहिया सिट्ठे तेसालयं गच्छे।

श्रमणं श्रमणीं श्रावकं श्राविकां गृहस्थमन्यतीर्थिकान् वा बहिर्दृष्ट्वा पृच्छति, एतानन्तरोक्तान् सर्वान् दृष्ट्वा पृच्छति, अत्र सन्ति श्रमणाः ?, किं विशिष्टाः ?–शोभनं विहितमेषामिति सुविहिताः–शोभनानुष्ठानाः, ततश्चैतेषामन्यतमेन कथिते सति ततस्तेषामेव–श्रमणादीनां 'आलयं' आवासं गच्छेत्। ततस्तेषां आलयं प्राप्य किं करोति ? इत्याह—

समणुण्णेसुं पवेसो बाहिं ठवेऊण अन्न किइकम्मं। खग्गूडोसन्नेसु ठवणा उच्छोभवंदणयं ॥४३५॥

यदि हि ते समनोज्ञाः–एकसामाचारीप्रतिबद्धास्ततस्तेषां मध्ये प्रविशति, अन्ये–असमनोज्ञा भवन्ति यदि ततो बाह्यत उपकरणं स्थापयित्वा प्रविश्य 'कृतिकर्म' द्वादशावर्त्तवन्दनं ददाति, अथ ते संविग्नपाक्षिका अवसन्ना भवन्ति ततो बहिर्व्यव-

१ °दीनि आ.। २ °मम्ना ल १–२।

गृहस्य, नाप्यविच वस्त्रपात्रकादि, अथ यस्य योग इत्येवमकृत्वा गृह्णाति ततः स्तैन्य भवति, तस्मात्कुरु यस्य योग इत्येनम् ।

सो आपुच्छि अणुण्णाओ सग्गामे हिंड अहव परगामे । सग्गामे सइ काले पत्ते (इत्तो) परगामि वोच्छामि

आपुच्छणा णाम संदिसह उवयोग करेमि'त्ति, बितिया पडिपुच्छणा–किं गिण्हामित्ति, गुरू भणइ–जहत्ति, यथा पूर्व साधवो गृह्णन्तीत्यर्थः, एवमसौ अनेन क्रमेण प्रच्छने कृते सत्यनुज्ञात आवश्यकीं कृत्वा यस्य च योग इत्येवमभिधाय निर्गत्य स्वग्रामे हिण्डते, अथवा 'परग्रामे' समीपग्रामे तत्र स्वग्रामे यदि हिण्डते ततः 'सति काले' प्राप्तायां भिक्षावेलाया मित्यर्थः, इदानीं परग्रामे वक्ष्यामि हिण्डतो विधिम्, तमेवाह—

पुरतो जुगमायाए गतूण अन्नगामि बाहिठिओ । तरुणे मज्झिमथेरे नव पुच्छाओ जहा हिट्ठा ॥ ४३२ ॥

पुरतो युगमात्र निरीक्षमाणो 'गत्वा' अन्यग्राम संप्राप्य बहिर्व्यवस्थितः पृच्छति–किं विद्यते भिक्षावेलाऽत्र ग्रामे उत न ?, कान् पृच्छतीत्यत आह–तरुण मध्यम स्थविरं, एकैकस्य त्रैविध्यात्तिस्रः पृच्छाः कर्तव्याः, यथाऽधस्तात् प्रतिपादितास्तथैवा त्रापि ज्ञेयाः, अत्र च तरुण स्त्रीपुनपुंसक मध्यम स्त्रीपुनपुंसक स्थविरं स्त्रीपुनपुंसकमिति । एव पृष्ट्वा यदि तत्र भिक्षावेला तत्क्षण एव, ततः को विधिरित्यत आह—

पायपमज्जणपडिलेहणा ये भाणदुग देसकालमि । अप्पत्तेऽवियं पाए पमज्ज पत्ते य पायदुग ॥ ४३३ ॥

---

१ च्छ भा. । २ "वस्त्रार्थं" ब क २ । ३ त्रैविध्यात्त पा १-२ क २, ज्ञाप भा. । ४ "ऐऽपि सी क १-२ । ५ क भा. पा. २ । ६ "मित्यादि पाए क १ ।

गौर्वा यत्र दुष्टो गृहे तच्च, 'पुण्णो'त्ति, पुण्यार्थं यत्र बहु रन्धयित्वा श्रमणादीनां दीयते, अथवा पूर्णं यद्गृहस्थैर्बहुभिस्तच्च प्रदर्शयन्ति, जुगुप्सितं—छिम्पकादि तच्च, हिंसागं—सौकरिकादिगृहं तच्च, मामाकं चोक्तं, एतानि दर्शितानि सन्ति सर्वयत्नेन परिहर्त्तव्यानीति। इदानीं यदुक्तं 'यतनया स्थापनाकुलानि प्रच्छनीयानि[1] कथनीयानि च' तत्प्रतिपादनायाह—

बाहाए अंगुलीइ[2] व लट्ठीइ[3] व उज्जुओ ठिओ संतो। न पुच्छिज्ज न दाएज्जा पच्चावाया भवे दोसा ॥४३९॥

बाहुं प्रसार्य गृहाभिमुखं न दर्शयति नाऽपि पृच्छति, तथाऽङ्गुल्या यष्ट्या वा न पृच्छति नापि कथयति, ऋजुर्गृहाभिमुखं स्थितो न पृच्छति[4] साधुर्नापि दर्शयेद्, यतस्तत्र दोषाः, किंविशिष्टाः?—प्रत्यपायजनिता भवन्ति। के च ते प्रत्यपायाः? इत्यत आह—

अगणीण(हि) व तेणेहि व जीवियववरोवणं तु पडिणीए। खरओ खरिया सुण्हा णट्ठे वट्टक्खुरे संका॥४४०॥

यया दिशा साधुना बाहुं प्रसार्य गृहं पृष्टं तेन वा बाह्वादि प्रसार्य तत्कथितं[5] तद्गृहं[6] कदाचिदग्निना दग्धं भवति ततश्च गृहपतिस्तं साधुमाशङ्कते, यदुत तेन साधुनाऽन्यस्य साधोर्ह्यस्तनेऽह्नि दर्शितमासीत्तद्यदि तत्कृतोऽयं घातः स्यात्, नान्यः, स्तेनकैर्वा मुषितं भवति जीवितव्यपरोपणं वा गृहस्थस्य प्रत्यनीकेन कृतं भवति तत आशङ्का साधोरुपरि भवति, कदाचिद्वा 'खरिय'त्ति द्व्यक्षरिका—कर्मकरी नष्टा भवति, 'खरओ' द्व्यक्षरो वा—कर्मकरप्रायो[7] नश्यति, सुण्हा वा—स्नुषा वा केनचित्सह गता, एतेषु नष्टेषु सत्सु साधोरुपरि शङ्का भवति यदुत तत्कृतोऽयं उपघात[8] इति, 'वृत्तखुरः' अश्वः प्रधानः केनचिदपहृतो

१ पृच्छ° आ ल १ पा १ पु। २ °लीय,आ पु पा १ °लीओ ल. १। ३ लट्ठीओ ल. १। ४ पृच्छेत् आ. ल. २. पा. १–२। ५ कथित ल १ पा १–२ पु। ६ गृहं आ ल २। ७ °करः प्रायो आ ल १–२। ८ घात आ. ल २।

स्थित एव चन्दन कृत्वाऽऽचार्यां पृच्छति, अथ ते 'अथसंस्थाः' सम्गृहआयास्ततो बहिरेवोपकरणं स्थापयित्वा पुनश्च प्रविश्य चैत्यवृच्छोभवन्दन करोति।

गेलन्नाइ अथाइ पुच्छिय सयकारण च दीवित्ता। जयणाए ठवणकुले पुच्छइ दोसा अजयणाए ॥४३६॥

एव धर्मेष्वेतेष्वनन्तरोदितेषु समनोज्ञादिषु प्रविश्य ग्लानादयवार्ता पृष्ट्वा स्वकीयमागमनकारण 'दीपयित्वा' निवेद्य यतनया मधुरवाक्यलक्षणया, वक्ष्यमाणलक्षणया स्थापनाकुलानि पृच्छति। अयतनया पृच्छतो दोषः वक्ष्यमाण लक्षणो यतोऽतो यतनया पृच्छति। एतानि तानि स्थापनाकुलानि—

दाणे अभिगमसड्ढे समत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते। मामाए अचियत्ते कुलाइ जयणाइ दायति ॥४३७॥

दानश्राद्धकोऽभिगमश्राद्धको–यत्र कारणे आयते प्रविश्यते, सम्यक्त्वधरकुल, मिथ्यात्वकुल, मामाकः–मा मम श्रमणा घरमइंतु तत्कुल, 'अचियत्त' अदानशीलकुल, एतानि कुलानि ते वास्तव्यास्तस्य साधोर्यतनया दर्शयन्ति।

सागारि वणिम सुणए गोणे पुत्ते दुगुछियकुलाइ। हिंसाग मामाग सव्वपयत्तेण वज्जेज्जा ॥ ४३८ ॥

सागारिकः–शय्यातरस्तद्गृह दर्शयन्ति, तथा वणीमको–दरिद्रस्तद्गृह दर्शयन्ति, तत्र हि एतदर्थं न गृह्यते, स हि दरिद्रोऽस्मति मक्के सर्वां करोति, यद्वा यत्किञ्चिदस्ति तदन्यथा पुनरारम्भार्थं रन्धन करोति, तथा श्वा यत्र दुष्टो गृहे तत्,

१ 'धमा: क १-२। २ संस्थाप्य क १ प्रस्थाप्य ख. २। ३ वामूक ख। ४ गम्यते ख ख. २।

दुर्लभां बोधिं करोतीति । ननु च ये इह जुगुप्सितास्ते चैवान्यत्राजुगुप्सितास्ततः कथं परिहरणं कर्त्तव्यं ? उच्यते—

जे जहिं दुगुंछिया खलु पव्वावणवसहिभत्तपाणेसु । जिणवयणे पडिकुट्ठा वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥ ४४४ ॥

ये 'यस्मिन्' विषयादौ जुगुप्सिताः प्रव्रज्यामङ्गीकृत्य वसतिमङ्गीकृत्य तथा भक्तं पानं चाङ्गीकृत्य ते तत्र वर्जनीयाः, तत्थ पव्वावणं प्रतीत्य अवरुंद्धिगा[1] ण पव्वावणजोग्गा वसहिमत्तपाणेसु[2] जोग्गा, वसहिमङ्गीकृत्य जुगुप्सितो भंडाण वाडओ तत्थ वसई न कीरइ, जतो तत्थ गाइयव्वनच्चियव्वएण असज्झायादि होइ, पव्वावणभत्तपाणेसु पुण जुग्गो, तथा भक्तपानग्रहणेषु जुगुप्सितानि सूतकगृहाणि पव्वावणेसु य, ताणि पुण वसहिं अण्णत्थ दवावेंति, अण्णाणि पुण [3]तिहिंपि दोसेहिं दुट्ठाणि [4]चम्मकराईणि, एते जिनवचनप्रतिकुष्टा वर्जनीयाः प्रयत्नेन । अथवा पश्चार्द्धमन्यथा व्याख्यायते, पव्वावणे दुगुंछिया एते—

अट्ठारस पुरिसेसु वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसुं । पव्वावणाए एए दुगुंछिया जिणवरमयंमि ॥ ४४५ ॥

पव्वावणे जिणवयणे पडिसिद्धा, वसहिदुगुंछिया ओसण्णा अमणुण्णा वा, भत्तपाणेवि एते चेव, एते जिनवचनप्रतिकुष्टाः ।

दोसेण जेण[5] अयसो आयासो पवयणे य अग्गहणं । विप्परिणामो अप्पच्चओ य कुच्छा य उप्पज्जे ॥४४६॥

सर्वथा येन केनचित् 'दोषेण' निमित्तेन यस्य संबन्धिना 'अयशः' अश्लाघा 'आयासः' पीडनं प्रवचने भवति, अग्रहणं वा विपरिणामो वा श्रावकस्य शैक्षकस्य वा तन्न कर्त्तव्यं, तथाऽप्रत्ययो वा शासने येन भवति यदुतैतेऽन्यथा वदन्ति

१ °रुन्धिका आ. । २ वसहिमङ्गी° ल. १ । ३ तिहिवि आ पा. १ २ । ४ कम्म° आ । ५ जस्स आ. ल २ पा १ २. ।

मचेघतम साधोरुपरि याङ्गादिना दर्शयतः घड्डा भवति ॥ इदानीं यानि प्रतिकुष्टकुलानि कथितानि यान्येभिरभिज्ञानैर्वर्णयति–

पडिकुट्ठकुलाण पुण पचविहा थूभिआ अभिन्नाण । भग्गघरगोपुराई रुक्खा नाणाविहा चेव ॥४४१॥

तेषां प्रतिकुष्टकुलानां पञ्चविधा स्तूपिकाऽभिज्ञानं भवति, कथं पुनः पञ्चप्रकारत्वं ?, उच्यते–इत्यादि तीसे वा अब्भासे पुरओ वा पच्छओ वा मग्गओ वा तिरिय वा, यदिवा अन्यथा पञ्चविधा स्तूपिका कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लभेदभिन्ना या स्तूपिका सा अभिज्ञानं भवति, भग्नगृहसमीपादौ वा तथा गोपुरसमीपे वा वहिरन्तर्वा वृक्षा नानाविधा अभिज्ञानं प्रतिपिद्धकुलानाम् । इत्थं स्थापनाकुलेषु न प्रवेष्टव्यं, यतः–

ठवणा मिलक्खुनिहु अचियत्तघर तहेव पडिकुट्ठ । एय गणधरमेर अइक्कमतो विराहेज्जा ॥ ४४२ ॥

स्थापनाकुलानि तथा 'मिलक्खु' म्लेच्छगृहं तथा अचियत्तगृहं तथा 'प्रतिकुष्ट' छिम्पकादिगृहं सूतकोपेतगृहं वा, एतेषु न प्रवेष्टव्यं, इय 'गणधरमेरां' इयं गणधरस्थितिस्तत्कृता मेरा' प्रवेशेनातिक्रामन् विराधयति दर्शनादि । आह–प्रतिकुष्टकुलेषु प्रविशतो न कश्चित् षड्जीवनवधो भवति किमर्थं परिहार इति ?, उच्यते–

छक्कायदयावतोऽवि सजओ दुल्लह कुणइ बोहिं । आहारे नीहारे दुगुंछिए पिंडगहणे य ॥ ४४३ ॥

छुपमा ॥ नवरम्–आहारनीहारौ यथगुप्तः सन् करोति, 'जुगुप्सितेषु' छिम्पकादिषु यदि पिण्डग्रहणं करोति ततो

१ भमघह° भा. । २ मर्° भा प. १ । ३ मर्यादा भा भा १–२ ।

गच्छे केचित्पुरुषा निरुद्धाः सन्तः शकुनीव पञ्जरान्तरनिरुद्धा, ते 'सारणवारणचइया' सारणं–प्रसर्पणं संयमे तेन 'सृ गतौ' इत्यस्येदं रूपं अथवा सारणं–स्मारणं वा संयमविषयं, वारणं–दोषेभ्यो निवारणमिति एवं निरुद्धाः सन्तः 'चइत्ता' त्याजिताः सन्तः पार्श्वस्थादिषु प्रविहरन्ति। तथा–'जह सागरंमि०' गाहा सुगमा, 'एवं गच्छसमुद्दे' गाहा सुगमा।

तिविहोवघायभूयं परिहरमाणो गवेसए पिंडं। दुविहा गवेसणा पुण दव्वे भावे इमा दव्वे ॥ ४५१ ॥

एवं त्रिविधस्य ज्ञानदर्शनचारित्रस्योपघातभूतं पिण्डं 'परिहरन्' परित्यजन्, किं कुर्वीत? अत आह 'गवेसए' गवेषयेद्–अन्वेषयेत्, कं?–तमेव 'पिण्डं' संयमोपकारिणं। इदानीं सा गवेषणा द्विविधा–द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतस्तावद् 'इमा' वक्ष्यमाणलक्षणा। का चासौ वक्ष्यमाणा?, सोच्यते–वसंतपुरं नयरं जियसत्तू राया धारिणी देवी, सा य अत्तणो चित्तसभं अइगया कणगपिट्ठिमिगे पासइ, सा य गुव्विणी, तेसु कणगपिट्ठिमिगेसु दोहलो समुप्पण्णो, चिंतेइ य–धन्नाओ ताओ जाओ एएसिं चम्मेसु सुवंति मंसाणि य खायंति, सा तेणं डोहलेणं अणवणिज्जंतेण दुब्बला जाया, रण्णा य पुच्छिया, कहियं च तीए, ताहे रण्णा पुरिसा आणत्ता, वच्चह कणगपिट्ठे मिगे गिण्हह, तेसिं पुण मिगाणं सीवण्णिफलाणि आहारो, तया य सीवण्णीण अकालो फलस्स, ताहे कित्तिमाणि कणिक्काफलाणि काउं गया अडवीए, तत्थ य पुंजयपुंजया सीवण्णीणं हिट्ठा ठवंति, ताहे कुरंगेहिं दिट्ठं, गया य जूहवइस्स साहेंति, ताहे ते मिगा आगया, जो सो तेसिं अहिवई सो भणइ–अच्छह तुब्भे पेच्छामि ताव अत्तणा गंतुं, दिट्ठं च तेणं, कहियं च ताणं जहा केणइ धुत्तिमा कया अम्ह गहणत्थं, जेण अकालो

१°मेय आ ल २ पु. । २ खद्ध ल १।

मन्यथा कुर्वन्ति एवंविधोऽप्रत्ययो येन भवति तच कर्त्तव्य, तथा जुगुप्सा च येनोत्पद्यते यदुत वराका एते दयामनस्का स्वदेवंविध न किञ्चित्कार्यम् । यस्तु पुनरेव करोति तस्येदमुक्त भगवता—

पवयणमणपेहतस्स तस्स निद्धधसस्स लुद्धस्स । बहुमोहस्स भगवया ससारोऽणतओ भणिओ ।४४७।

प्रवचनमनपेक्षमाणस्य तस्य 'निद्धंधसस्य' निःशूकस्य लुब्धस्य बहुमोहस्य भगवता संसारोऽनन्त उक्त इति । तथा न केवल बहुमोहस्यैतद्भवति योऽप्य परस्तथाप्येवं कुर्वतोऽनन्त एव संसारः, एतदेवाह—

जो जह व तह व लेद्ध गिण्हइ आहारउवहिमाईय । समणगुणमुक्कजोगी ससारपवड्ढओ भणिओ॥४४८॥

सुगमा ॥ एव तावज्ज्ञानवतामपि दोषाः, ये तु पुनराचार्येण मुण्डितमात्रा अगीतार्था एव मुक्तास्ते सुतरामज्ञानादेव एषणादि न कुर्वन्ति, एतदेवाह—

एणसमणेसण वा कह ते नाहिंति जिणवरमय वा । कुरिणमि व पोयाला जे मुक्का पवइयमित्तो ॥ ४४९ ॥

सुगमा ॥ नवरं 'कुरिणमि'त्ति महति अरण्ये 'पोयाला' मृगादिपोतलकास्ते यथा यूथपतिना मुक्ताः सन्तो विनश्यन्ति एव तेऽपीति । एव तावदाचार्यदोषेणैवंविधा भवन्ति, एते तु स्वदोषेण भवन्ति, के च ते ?, अत आह—

गच्छमि केइ पुरिसा सउणी जह पजरतरनिरुद्धा । सारणवारणचइया पासत्थगया पविहरति ॥ ४५० ॥

---

१ प्रत्यक्ष प्रवर्तक एव क. १ । २ यको क १ । ३ ना एव क १ । ४ मैवा वा ।

केइ न सुणंति, जेहिं सुयं ते परिहरेंति, ते य अंतकुलपंतकुलेसु हिंडंति, अरिहंताणं च आणा आराहिआ परलोगे य महंताणं सुहाणं आभागिणो जाया। जेहिं पुण ण सुयं ते तहिं भोयणे गया अरहंताणं आणाभंगो कओ अणेगाणं च जम्ममरणाणं आभागिणो जाया ॥ इदानीमेनमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

जियसत्तुदेवि चित्तसभपविसणं कणगपिट्ठपासणया। डोहल दुब्बल पुच्छा कहणं आणा य पुरिसाणं ॥
सीवन्निसरिसमोदगकरणं सीवन्निरुक्खहिट्ठासु। आगमण कुरंगाणं पसत्थअपसत्थउवमा उ ॥४५३॥
विइयमेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीदई। पुरावि वाया वायंति, न उणं पुंजगपुंजगा ॥ ४५४ ॥

सुगमा॥ नवरं प्रशस्तोपमा यैर्यूथपतेर्मतं कृतं, अप्रशस्ता च यैर्न कृतं॥ सुगमाः, नवरं जया सीवण्णि सीयई फलतीत्यर्थः।

हत्थिग्गहणं गिम्हे अरहट्टेहिं भरणं तु सरसीणं। अच्चुदएण नलवणा अभिरूढा गयकुलागमणं ॥४५५
विइयमेयं गयकुलाणं जया रोहंति नलवणा। अन्नयावि झरंति सरा न एवं बहुओदगा ॥ ४५६ ॥

सुगमे, नवरं 'भरणं च सरसीणं'ति महंति सरांसि सरस्य उच्यन्ते तासां भरणम् ॥ तथा च—

ण्हाणाईसु विरइयं आरंभकडं तु दाणमाईसु। आयरियनिवारणया अपसत्थितरे उवणओ उ ॥४५७

१ °पत° आ। २ °तसुहाणं आ। ३ अधुनाऽमुमेवार्थं आ. पा १–२। ४ °गहणमि आ ल. २ पा. १। ५ जहा आ।

मीपण्णिफलाणं, अह भणइ—अकालेवि हवंति नेव फलाणि, तं सच्चं, किंतु ण पुप्फेपुप्फया होंति, अह भणइ वातेण तहा कया तण्ण, जओ पुराधि एवमेव वाया वायंता न उण पुप्फपुप्फएहिं फलाइं कयाइं ठियाणि ता ण गच्छामो तत्थ, एवं भणिए केइ तत्थ ठिया, मज्झे पुण अमरहत्ता गया, तत्थ य बंधणमरणाई पाविया, जे उण ठिया ते सच्छंद पएसेसु सुहं मोदते। एस एगो दिट्ठंतो, बीओ भण्णइ—एको राया, तेण य हत्थिगहणत्थं पुरिसा भणिया, जहा गिण्हह हत्थी, ते भणंति—जत्थ हत्थी चरंति त नलवणं सुक्कं गिम्हकालेण, सो तत्थ अरण्णे अरहट्टो कीरंतसि, रायणा तहत्ति पडिवण्णं, तेहिंपि तत्थ गतूण तहत्ति कूव उरल्लूह च नलवणं हरियं जायं, ताहे जूहवइणा दिट्ठं, निवारेइ नियकलहगे, जहा विदियमेयं गयकुलाण जया रोहति नलवणा, एत्थ पुण अकालेण, अह भणइ पाणिय पभूय निज्झरेसु पडइ तेण नीला, त न(तन्न), अण्णयावि जेण कारणेन बहुय पाणियं हुतं न उण नीला नलवणा, ता मच्छइ मा एत्थ पविसह—विणासं समागच्छिहइ, एवं भणिए जे तत्थ ठिया ते पउरण्णपाणियएसु सुहं विहरंति, जं पुण न ठिया ते वारीसु बद्धा हम्मति अंकुसपहारेहिं। एस बितिओ दिट्ठंतो ॥ एवं दव्वगवेसणा, इमा य भावगवेसणा—लोगुत्तमपव्वणाइसु मिलियाणं साहूणं केणइ सावएण भदएण वा आहाकम्माणि भत्ताणि पत्तयाणि, मोयगं वा कयइ साहुणो दट्ठुं भद्दएण कयं, तत्थ य आयंगे निमंतिआ अण्णाणं य पभूयं दिज्जइ, सो य भद्दओ निन्नेइ-एयं दट्ठूण साहुणो आगमिस्संति, आयरिएण य नायं, तवो साहुणो निवारिता, मा तेसु अल्लियह, ताहे केइ सुणति

१ मणइ आ॰ म १-२। २ पुंजया होंता आ॰ पा १। ३ हुंताणि ते म म १। ४ कीरइ, आ॰ म २ पा १-२। ५ तहत्ति प. १-२। ६ न पुण एव मवण म १-२। ७ एवं भणिया जे आ॰। ८ ताहे निवारेइ [redacted] पा १-२।

केइ न सुणंति, जेहिं सुयं ते परिहरंति, ते य अंतकुलपंतकुलेसु हिंडंति, अरिहंताणं च आणा आराहिआ परलोगे य महंताणं सुहाणं आभागिणो जाया। जेहिं पुण ण सुयं ते तहिं भोयणे गया अरहंताणं आणाभंगो कओ अणेगाणं च जम्ममरणाणं आभागिणो जाया ॥ इदानीमेनमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

जियसत्तुदेवि चित्तसभपविसणं कणगपिट्ठपासणया। डोहल दुब्बल पुच्छा कहणं आणा य पुरिसाणं ॥
सीवन्निसरिसमोदगकरणं सीवन्निरुक्खहिट्ठासु। आगमण कुरंगाणं पसत्थअपसत्थउवमा उ ॥४५३॥
विइयमेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीदई। पुरावि वाया वायंति, न उणं पुंजगपुंजगा ॥ ४५४ ॥

सुगमा ॥ नवरं प्रशस्तोपमा यैर्यूथपतेर्मतं कृतं, अप्रशस्ता च यैर्न कृतं ॥ सुगमाः, नवरं जया सीवण्णि सीयई फलतीत्यर्थः।

हत्थिग्गहणं गिम्हे अरहट्टेहिं भरणं तु सरसीणं। अच्चुदएण नलवणा अभिरूढा गयकुलागमणं ॥४५५
विइयमेयं गयकुलाणं जया रोहंति नलवणा। अन्नयावि झरंति सरा न एवं बहुओदगा ॥ ४५६ ॥

सुगमे, नवरं 'भरणं च सरसीणं'ति महंति सरांसि सरस्य उच्यन्ते तासां भरणम् ॥ तथा च—

ण्हाणाईसु विरइयं आरंभकडं तु दाणमाईसु। आयरियनिवारणया अपसत्थितरे उवणओ उ ॥४५७

---

१ °पत° आ। २ °तसुहाणं आ। ३ अधुनाऽमुमेवार्थं आ. पा १–२। ४ °गहणमि आ ल. २ पा १। ५ जहा आ।

स्नानादिषु विरचित किञ्चित्कर्क, आरम्भे वा भोजने दानादि किञ्चित्प्रवर्तित, तत्राचार्यो निवारणां करोति। अथ चाप्रशस्तस्येतरस्य चोपनय उक्तः, अहवा इमा भावगवेसणा–धम्मरुई नाम[1] अणगारो सो[1] जिट्ठामूले ज्येष्ठमास इत्यर्थः, तेहिं आयावेइ अट्ठम च करेइ, सो य पारणए सग्गामे न हिंडइ अन्न गामं वयइ, तत्थ य वच्चंत साहु दट्ठूण एक्का देवया आउट्टा, कोंकणगरूवाइ दो विउव्वइ, ताहे सा उवक्खडिया अणुकंपाए ठाउण कक्खियस्स मरिएण अच्छइ, ताहे त साहु अब्भासगं वट्ठूण एगो भणइ तुमं पिव कक्खिय ताहे सो भणइ अज्जाहि मम पीयव्वं ताहे सो भणइ–को उण एय वेहीहिसि तम्हा साहुस्स दिज्जउ, ताहे बीओ भणइ–देहि छड्डेहि वा, तओ तेणं सो अणगारो निमंतिओ भणिओ य तुब्भे इम गिण्हह, ताहे सो भगव दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ य भवेसइ, दव्वओ इम कक्खियं सीयलं सुरहिं च,[2] खेत्तओ इमाए अडवीए को देइ!, कालओ जेट्ठमासो, एत्तयवि दुक्खं दाउ, भावओ हत्थमुहविसेस निमवेति, त पत्थ कारणेणं भवियव्व, ताहे सो उवउत्तो हेट्ठा पिच्छइ जाव भूमीए पाया न लग्गति, उवरि पेच्छइ अच्छीणि अणिमिसाणि ताहे देवयति नाऊण पडिसेहइ ॥ अहवा वइरसामी दिट्ठतो, वइरसामी आयरिएहिं समं वासारत्त एगमि नगरे ठिओ, तत्थ य सत्ताहवद्दले न फिट्टइ साहू वीइ, सोवि भगव वइरसामी[3] पीति तस्स पुव्वसंगइया देवा आगयो,[4] ते हि तत्थ वाणियवेसें काऊण मेरिएहिं आमतेति अब्भासे ठिआ, तेहिं तत्थ भत्तगरूवं उवक्खडिय, ओवत्ता अफलिअता य गता[5] निमतति साहुणो, ते भणंति–एस खुड्डओ गेण्हउ, ताहे सो आयरिएसंदिट्ठो पयट्टो नाम अत्तपि परिसइ, ताहे तेहिं देवेहिं सव्व एत्तं उवसहरियं, आमओ तं पएसं, देवेहि य

1 ठिहिं, खा। 2 "स्थापि तो हि" खा. । 3 भीडी आ" ख २। 4 मरएहिं खा पा २। 5 उच्छता खा पा १।

वीहिकुरो दाउमारद्धो पूसफलं माहुरयं च, सो भगवं उवउत्तो—को कालो वाणियगाणं एत्थ आगमणे, एज्ज वा अकाले वासं वा न उवसमइ तो किह आगया ?, इमो य पढमपाउसो कतो वीहिणो पूसफलं वा ?, एवं [1]चिंतित्ता हेट्ठा उवरिं च निरूवेइ जाव भूमीए पाया न लग्गंति अणिमिसाणि अच्छीणि तओ गुज्झगत्ति काऊण वज्जेइ,[2] ताहे देवा सत्थं[3] साहरित्ता वंदंति अभिनंदंति धन्नोऽसि भयवं !, तत्थ य से वेउव्वलद्धिं नभोगमणलद्धिं च दिंति, ताहे गया देवा ॥ एसा भावगवेसणा । अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरति, अत्र निर्युक्तिकारः कथानकद्वयमपि उपसंहरन्नाह—

धम्मरुइ अज्जवइरे लंभो वेउव्वियस्स नभगमणं । जिट्ठामूले अह अट्ठमेण उवरिं हिट्ठा य देवाणं ॥४५८॥

धर्मरुचिरनगारस्तथाऽऽर्यवैरस्वामी लम्भो वैकुर्विकलब्धेर्नभोगमनलब्धेश्च तस्यैव, तथा ज्येष्ठामूले ज्येष्ठमास इत्यर्थः । धर्मरुचिरष्टमभक्तेन स्थितोऽन्यस्मिन् ग्रामे गच्छन् देवेन दृष्टः स च भगवानधस्तादुपरि चोपयोगं दत्त्वा पुनश्च न गृहीतवानकल्प्यमिति । इदानीं भाष्यकारो धर्मरुचिकथानकमुपसंहरन्नाह—

आयावणऽट्ठमेणं जेट्ठामूलंमि धम्मरुइणो उ । गमणऽन्नगामभिक्खट्ठयाए देवस्स अणुकंपा ॥२३२॥भा.

कोंकणरूवविउव्वण अंबिल छड्डेमऽहं पियसु पाणं । छड्डेहित्ति य बिइओ तं गिण्ह मुणित्ति उवओगं २३३भा.

१ चिंततो आ । २ वज्जेइ आ. । ३ सव्व पा. १ २ । ४ नमंसति पसंसति धन्नो आ. । ५ अट्ठम उवरिं आ ल. २ । ६ °ट्ठया य आ. पा. १–२ । ७ °रूय° ल. १ । ८ °ओगो आ. पा १ पु. ।

तण्हाछुहाकिलत दट्ठूण कुकणो भणइ साहु। उज्झामि अवकजिय अज्जो गिण्हाहि ण तिसिओ ॥२३४॥
सोऊण कोंकणस्स य वयण साहू इम विचिंतेइ। गविसणविहिए निउण जह भणिअ सव्वदसीहिं २३५भा
गविसणगहणकुडग नाऊण मुणी उ मुणियपरमत्थो। आवडरक्खणहेउ उवउजइ भावओ निउण॥२३६
उक्कोसदव्वखित्त च अरण्ण कालओ निदाहो उ। भावे हट्ठपहट्ठो हिट्ठा उवरिं च उवओगो ॥२३७॥ भा
दट्ठूण तस्स रूव अच्छिनिमेस च पायनिक्खेव। उवउजिऊण पुव्विं गुज्झगमिणमो त्ति वज्जेइ ।२३८।भा

गवेषणागहनमेव 'कुडग' गहनमित्यर्थः, तं ज्ञात्वा मुनिः॥ उत्कृष्टमेवद्रव्य–क्षाक्षिकं सुरभि क्षेत्रतोऽरण्ये कुतोऽस्य सम्भवः ?, शेष सुगम ॥ दृष्ट्वा च 'तस्य' देवस्य रूप वर्जयतीति संबन्धः। इदानीं भाष्यकार एव वेरस्वामिकथानकमुपसंहरन्नाह—

सत्ताहवद्दले पुव्वसगई वाणियविरूवउवक्खडण। आमतण खुड्ड गुरू अणुण्णवण विंदु उवओगो।२३९भा

सप्ताहवर्दले पूर्वसङ्गतिकदेवो विरूपरूप–मनेकप्रकारं उपस्कृतवान् आमन्त्रण क्षुल्लकस्य कृतवान्, गुरुणा चानुज्ञातः प्रस्थम, पुनश्च बिन्दुपतनात् स्थितो, देवेन चोपसंहरित, पुनश्च वेरस्वामिना उपयोगो दत्त इति।

एसा गवेसणविही कहिया मे धीरपुरिसपन्नत्ता। गहणेसणापि एत्तो वोच्छ अप्पक्खरमहत्थ ॥४५९॥

१ गुम्मिप अ। २ गहर अ.। ३ तं ज्ञात्वा [illegible] १–२। ४ [illegible] १–२। ५ [illegible] अ. १।

सुगमा ॥ तत्र यदुक्तं 'इत ऊर्ध्वं ग्रहणैषणां वक्ष्ये' इति तत्प्रतिपादनायाह—

नामं ठवणा दविए भावे गहणेसणा मुणेयवा । दवे वानरजूहं भावंमि य ठाणमाईणि ॥ ४६० ॥

नामग्रहणैषणा, स्थापनाग्रहणैषणा, द्रव्यग्रहणैषणा, भावग्रहणैषणा च ज्ञेया । नाम-
याऽसौ ग्रहणैषणा सा चतुर्विधा—नामग्रहणैषणा, स्थापनाग्रहणैषणा, द्रव्यग्रहणैषणा, भावग्रहणैषणा च ज्ञेया । नाम-
ग्रहणैषणा सुगमा, तत्र स्थापनाग्रहणैषणा द्विविधा—सद्भावस्थापनाग्रहणैषणा चित्रकर्मणि साधुर्ग्रहणैषणां कुर्वन् दर्श्यते, अस-
द्भावस्थापनाग्रहणैषणाऽक्षादिषु । तत्र द्रव्यग्रहणैषणा आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ग्रहणैषणापदार्थज्ञः तत्र चानुपयुक्तः,
नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरे तथा ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यगहणैषयाणां वानरयूथं, भावग्रहणैषणायां तु
स्थानादीनि भवन्ति, एतदुक्तं भवति—भावग्रहणैषणां कुर्वन् विवक्षिते स्थाने तिष्ठति, दावृप्रभृतीनि च परीक्षते भाव-
ग्रहणैषणायां, तत्र द्रव्यग्रहणैषणायामिदमाख्यानकम्—एकं वणं तत्थ वानरजूहं परिवसइ, कालेण व तं परिसडिय-
पंडुपत्तं जायं, ताहे जूहवई भणइ—अण्णं वणं गच्छामो, तत्थ तेसिं जूहवई अण्णवणपरिक्खणत्थं दोन्नि व तिन्नि व पंच
व सेत्त व पयट्टइ, वच्चह वणंतरे जोएह, ताहे गया एगं वणसंडं पासंति पउरफलपुप्फं, तस्स वणस्स मज्झे एगो मह-
द्दहो, तं दट्ठूण हट्ठतुट्ठा गया जूहवइणो साहंति ताहे सो जूहवई सव्वेहिं[3] समं आगओ ताहे तं वणं रुक्खेण रुक्खं पलोएइ,
ताहे तं वणं सुद्धं, तेण भणिया—खायह वणफलाइं, जाहे ते तत्थ धाया ताहे पाणियं गया, ताहे सो जूहवई दहस्स परिपेरं-
तेहिं पलोएइ जाव ओयरंताणि[4] पयाणि दीसंति नीसरंताणि न दीसंति, ताहे सो भणइ—एस दहो सावाओ ता मा एत्थ

१ °भमइ ल. १–२ । २ जणे पय° ल. १–२ । ३ सव्वेसिं आ. । ४ उत्तरंताणि ल. १ पा. २ ।

तण्हाछुहाकिलंत दट्ठूण कुंकणो भणइ साहू। उज्झामि अपकजिय अज्जो गिण्हाहि ण तिसिओ ॥२३४॥
सोऊण कोंकणस्स य वयणं साहू इम विचिंतेइ। गविसणविहिए निउण जह भणिअ सव्वदंसीहिं २३५भा
गविसणगहणकुडग नाऊण मुणी उ मुणियपरमत्थो। आहउरक्खणहेउ उववुज्जइ मायओ निउण॥२३६
उक्कोसदव्वखित्त च अरयण कालओ निदाहो उ। भावे हट्ठपहट्ठो हिट्ठा उवरिं च उवओगो ॥२३७॥ भा
दट्ठूण तस्स रूव अच्छिनिवेस च पायनिक्खेव। उवउजिऊण पुव्विं गुज्झगमिणमो त्ति वज्जेइ ।२३८।भा

गवेषणागहनमेव 'कुडगं' गह्वरमित्यर्थः, तज्ज्ञात्वा मुनिः॥ उत्कृष्टमेतद्द्रव्य—क्षाञ्जिकं सुरभि क्षेत्रतोऽरण्ये कुतोऽस्य सम्भवः?,
शेषं सुगमं ॥ दृष्ट्वा च 'तस्य' देवस्य रूपं वर्जयतीति संबन्धः। इदानीं भाष्यकार एव वैरस्वामिकथानकमुपसंहरन्नाह—

सच्चाइ्यबद्दले पुव्वसंगइ वाणियविरूव्वेउवक्खडण। आमंतण खुड्ड गुरू अणुण्णवणं बिंदु उवओगो।२३९भा

सप्ताहवर्दले पूर्वसङ्गतिकदेवो विकुर्वणं—अनेकप्रकारं उपस्कृतिवा आमन्त्रणं क्षुल्लकस्य कृतवान्, गुरुणा चानुज्ञातः
प्रश्नयम, पुनश्च बिन्दुपतनात् स्पृष्टो, देवेन चोपसंहरित, पुनश्च वैरस्वामिना उपयोगो दत्त इति।

एसा गवेसणविही कहिया मे धीरपुरिसपन्नत्ता। गहणेसणपि एत्तो वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥४५९॥

1 गुम्मिण आ.। 2 गह्वर अ। 3 तं ज्ञात्वा अ 1–2। 4 स्पृष्टस्य आ या 1–2। 5 नवमिउज्झ अ. 1।

तावद्द्रव्यग्रहणैषणा[1] उक्ता तथा इमा भावग्रहणैषणा एभिर्द्वारैरनुगन्तव्या—

ठाणे य[2] दायए चेव, गमणे गहणागमे । पत्ते परियत्ते पाडिए य गुरुयं तिहा भावे ॥ ४६४ ॥

तत्र पिण्डग्रहणं कुर्वता वक्ष्यमाणं स्थानत्रितयं परिहरणीयं, तद्यथा–आत्मोपघातिकं प्रवचनोपघातिकं संयमोपघातिकं चेति । तथा पिण्डग्रहणं कुर्वता दाता परीक्षणीयः–योऽव्यक्तादिरूपो यदि न भवति, तथा दातुर्गमनं निरूपणीयं भिक्षार्थमभ्यन्तरं प्रविशतो भिक्षां च दत्त्वा गच्छतो गमनं निरूपणीयं, 'गहणं'ति स भिक्षादाता यस्माद् हण्डिकादिस्थानाद्ग्रहणं भिक्षायाः करोति तन्नि[3]रूपणीयं, स दाता तां भिक्षां गृहीत्वाऽभ्यागच्छन् निरूपणीयः, 'पत्ते'त्ति प्राप्तस्य दातुस्तस्य हस्त उदकार्द्रो न वेति निरूपणीयः, अथवा 'पत्ते'त्ति पात्रं–स्थानं यस्मिन् भिक्षामादाय गृहस्थ आगतः कडुच्छुकादि तन्निरीक्षणीयं, अथवा पत्तेत्ति प्राप्तं द्रव्यमोदनादि निरूपयति 'परियत्ते'त्ति परावृत्तमधोमुखं स्थितं भिक्षां ददतो दातुः कडुच्छुकादिकं तन्निरूपयति कदाचिदुदकार्द्रं भवति, 'पाडिए'त्ति पातितश्च पात्रके पिण्डो निरूपणीयः, 'गुरुयं'ति गृहस्थभाजनं स्थाल्यादि गुरु[4] भवति, कदाचित्तद्द्रव्यं गुडादि गुरु भवति, पाषाणादिर्वा तद्द्रव्य[5]स्योपरि यो दत्तः, तथा 'तिह'त्ति त्रिविधः कालो वक्तव्यः, भावश्च–प्रशस्ताप्रशस्तरूपो वक्तव्यः । इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवं प्रति व्याख्यानायाह—

आया पवयण संजम तिविहं ठाणं तु होइ नायव्वं । गोणाइ पुढविमाई निक्खमणाई पवयणंमि ।२४०। भा०

---

१ भावग्रहणै° आ । २ दायए आ. ल. २. । ३ °रीक्षणीयं आ पा २. । ४ गुरुर्भवति आ. पा. २. पु । ५ भण्डकस्यो° आ ल. २ पा. १–२ पु ।

तीरट्ठिया मज्झे य उत्तरिय पाणियं पियइ किंतु नालेण पिबइ, तत्थ जेहिं सुयं तस्स वयणं ते पुष्फफलाण आभागिणो जाया, जेहिं न सुयं तस्स ते रुक्खेहिंतो पडिसडंति जणाउ दिंति ण चेव उत्तरंति तेण अणाभागिणो जाया, एवं चेव आयरिओ गामं माहूण आहाकम्मुद्देसियाणि समोसरणट्ठाणाइसु परिहर विइ उवाएण फासुयं गिण्हावेइ जहा न छलिज्जति आहाकम्माइणा तहा करेइ, तत्थ पुष्फफलाणि खीरदहिघयाईणि सारिसाणि गिण्हावेइ अकप्पाकारियासं कप्पियाणि, तत्थ जे आयरियाण वयणं सुणिंति ते परिहरंति ते अचिरेण कालेण कम्मक्खयं करिहिंति, जे ण सुणंति ते भमंति एते तुम्हारया गमट्ठिकरया, किं कारणं एयं न घिप्पतित्ति ?, एवं असुगेसा अणेग ण जाइयवमरियवयाण आभागिणो जाया ॥ इदानीममुमेवार्थं गाथाभिः प्रदर्शयन्नाह—

परिसडियपडुपत्त वणसड दट्टु अन्नहिं पेसे । जूहवई पडियरिए जूहेण समं तहिं गच्छे ॥ ४६१ ॥

सयमेवालोएउ जूहवई तं घणं समं तेहिं । वियरइ तेसिं पयारं चारिऊण य ते दह गच्छे ॥ ४६२ ॥

ओयरंत पयं दिट्ठं उत्तरंतं न दीसइ । नालेण पिबह पाणीयं ने एस निक्कारणो दहो ॥ ४६३ ॥

सुगमा, नवरं 'पडियरिए' निरूपिए ॥ नवरं 'वियरइ' ददाति तेषां वानराणां 'प्रचारं' अटनमुत्सङ्कल्पयति ॥ एवं

१ उत्तरिं य ला म २। २ आसा एवं पार आम° ला.। ३ तेहिं न सुयं [illegible] ते अणेमाण क १ २। ४ समं सेमं क १ २. पु.। ५ दट्टुं ला म १ २. रा १ दट्ठं पु। ६ एस ला. म. २.।

पुढविदगअगणिमारुयतरुतसवज्जंमि ठाणि ठाइज्जा। दिंती व हिट्ठ उवरिं जह व न घट्टेइ फलमाई ॥

पृथिव्युदकाग्निमारुततरुत्रसैर्वर्जिते स्थाने स्थातव्यं, यथा वा भिक्षां प्रयच्छन्ती गृहस्था[1] 'अधो' भूमौ 'उपरि' च नीव्रादौ न सङ्घट्टयति फलादि तत्र प्रदेशे[2] स्थितो गृह्णाति। इदानीं प्रवचनोपघातं प्रदर्शनायाह—

पासवणे उच्चारे सिणाण आयमणठाण उक्कुरुडे। निद्धमणअसुइमाई पवयणहाणी विवज्जिज्जा ॥४६८॥

प्रश्रवणस्य उच्चारस्य स्थानं, स्नानस्य[3] आचमनस्य च यत्स्थानं तथा कज्जत्थोत्कुरुटिकास्थानं[4] तथा निर्द्धमनस्थानं–उदकघसरस्थानं[5] यत्र वाऽशुचि[6] प्रक्षिप्यते स्थाने, एतेषु स्थानेषु भिक्षां गृह्णतः प्रवचनोपघातो भवति, तस्मात् सर्वप्रकारैः प्रवचनहानिं–हीलनां वर्जयेत्। उक्तं स्थानद्वारम्, अधुना दातृद्वारमुच्यते, तत्र चैतानि द्वाराणि—

अव्वत्तमपहु थेरे पंडे मत्ते य खित्तचित्ते य। दित्ते जक्खाइट्ठे करचरणछिन्नऽन्ध णियले य ॥ ४६९ ॥

तद्दोसगुव्विणीबालवच्छकंडंतिपीसभुंजंती[7]। कत्तंती पिंजंती भइया दगमाइणो दोसा ॥ ४७० ॥

'अव्यक्तः' अष्टानां वर्षाणामधो बालः, स यद्यपि भिक्षां ददाति तथापि न गृह्यते, तथा अप्रभुर्यस्तस्य हस्तान्न गृह्यते, तथा स्थविरहस्तात् 'पण्डकात्' नपुंसकहस्तात्, मत्तो यः सुरया पीतया तस्य हस्तान्न गृह्यते, क्षिप्तं चित्तं यस्य द्रविणाद्यपहारे

---

1 गृहस्थी आ पु। 2 प्रवेशे आ। 3 स्नान° आ ल. २ पा. १ २। 4 °कुरटि° आ। 5 उपघस° आ ल २। 6 वाऽन्यदशुचि ल. १ पा १ २.। 7 भुंजती ल २।

त्रिविधमुपघातिकं स्थानं भवति, तद्यथा–आत्मोपघातिकं प्रवचनोपघातिकं संयमोपघातिकं चेति, तत्र यथायोगं गवादिभिरात्मोपघातिकं भवति, पृथिवीकायादिभिः संयमोपघातिकं भवति, निष्क्रमणादि–नभरोधकोपभसरादि उपघातस्थानं प्रवचनविषयं भवति। तत्र गवादिभिः कथमात्मोपघातो भवतीति एतत्प्रदर्शनायाह—

गोणे महिसे आसे पिल्लण आहणण मारण वोवि। दरगहिय भाणभेदो छड्डुणि भिक्खस्स छक्काया ॥४६५॥

चलकुडुपडणकटगबिलस्स वा पासि होइ आयाए। निक्खमपवेसवज्जण गोणे महिसे य आसे य ॥४६६॥

यदा गोमहिष्यादिस्थाने स्थितो भिक्षाग्रहणं करोति ततो गोमहिष्यश्वादिप्रेरण–विक्षेपण आघातो वा मारणं तत्कृतं भवति इय आत्मविराधना, अर्धगृहीतायां भिक्षायां 'भाजनभेदः' पात्रकभेदो भवति, ततश्च भिक्षायाः 'छड्डने' प्रोज्झने षडपि काया विराध्यन्ते, इय संयमविराधना। अथवाऽनेन प्रकारेणात्मविराधना भवति–तत्र भिक्षाग्रहणस्थाने कदाचि चल कुड्यमासन्नं भवति–ततस्तत्पतनजनित आत्मोपघातो भवति, कण्टका वा तत्र भवन्ति, बिलस्य वा 'पार्श्वे' आसन्ने तत्स्थानं भवति ततश्चात्मविराधना। तथा निष्क्रमणप्रवेशस्थानं गोमहिष्यादीनां वर्जयित्वा तिष्ठति भिक्षाग्रहणार्थं। तथा प्रकारान्तरेण संयमोपघातं प्रदर्शनायाह—

---

१ °पातस्थानं आ. क २ पा १–२। २ दर्शनायाह आ पा २। ३ भवइ आ पा १–२। ४ भिक्षां प्रकृति ततो आ क २–पा. १–२। ५ यदि आ। ६ आरम आ पा २। ७ भवेत् आ।

पुढविदगअगणिमारुयतरुतसवज्जंमि ठाणि ठाइज्जा । दिंती व हिट्ठ उवरिं जह व न घट्टेइ फलमाई ॥

पृथिव्युदकाग्निमारुततरुत्रसैर्वर्जिते स्थाने स्थातव्यं, यथा वा भिक्षां प्रयच्छन्ती गृहस्था[1] 'अधो' भूमौ 'उपरि' च नीव्रादौ न सङ्घट्टयति फलादि तत्र प्रदेशे[2] स्थितो गृह्णाति । इदानीं प्रवचनोपघातं प्रदर्शनायाह—

पासवणे उच्चारे सिणाण आयमणठाण उक्कुरुडे । निद्धमणअसुइमाई पवयणहाणी विवज्जिज्जा ॥४६८॥

प्रश्रवणस्य उच्चारस्य स्थानं[3], स्नानस्य आचमनस्य च यत्स्थानं तथा कज्जत्योत्कुरुटिकास्थानं[4] तथा निर्द्धमनस्थानं—उदकघसरस्थानं[5] यत्र वाऽशुचि[6] प्रक्षिप्यते स्थाने, एतेषु स्थानेषु भिक्षां गृह्णतः प्रवचनोपघातो भवति, तस्मात् सर्वप्रकारैः प्रवचनहानिं–हीलनां वर्जयेत् । उक्तं स्थानद्वारम्, अधुना दातृद्वारमुच्यते, तत्र चैतानि द्वाराणि—

अव्वत्तमपहु थेरे पंडे मत्ते य खित्तचित्ते य । दित्ते जक्खाइट्ठे करचरणछिन्नऽन्ध णियले य ॥ ४६९ ॥

तद्दोसगुव्विणीबालवच्छकंडंतिपीसभंजंती[7] । कत्तंती पिंजंती भइया दगमाइणो दोसा ॥ ४७० ॥

'अव्यक्तः' अष्टानां वर्षाणामधो बालः, स यद्यपि भिक्षां ददाति तथापि न गृह्यते, तथा अप्रभुर्यस्तस्य हस्तान्न गृह्यते, तथा स्थविरहस्तात् 'पण्डकात्' नपुंसकहस्तात्, मत्तो यः सुरया पीतया तस्य हस्तान्न गृह्यते, क्षिप्तं चित्तं यस्य द्रविणाद्यपहारे

१ गृहस्थी आ पु । २ प्रवेशे आ । ३ स्नान° आ ल. २ पा. १. २ । ४ °कुरटि° आ । ५ उपघस° आ. ल. २ । ६ वाऽन्यदशुचि ल. १ पा १ २. । ७ भुंजती ल २ ।

सति चित्तविभ्रमो जातः, तथा शीघ्रं चित्त यस्यासकृच्छत्रुपराजयादुत्कर्षेणातिविस्मयाभिभूतस्य चित्तह्रासो जातः यथा मत्तु ल्यो नास्तीति, तथा 'पक्षाविट्ट' पिशाचगृहीतः करच्छिन्नः चरणच्छिन्नः अन्धश्च निगडितश्च यः, त्वग्दोषः—कुष्ठी यः तथा गुर्विण्या हस्तात् तथा बालवत्सा शिशुपोषिका वा, कण्डन्ती बीजादि, तथा पिषन्ती गोधूमादि, तथा भुञ्जन्ती यवधान्यादि, तथा केषाञ्चित्पाठो मुञ्जन्ती, तथा कर्तयन्ती सूत्र, पिञ्जयन्ती रुत, एतेभ्यो आद्याद्युपन्यस्तेभ्यो दातृभ्योऽव्यक्तादिभ्यः पिञ्जयन्तीपर्यन्तेभ्यो दातृभ्यो हस्तात् न ग्राह्या भिक्षा, 'भयण'त्ति भजना विकल्पनाऽत्र कर्तव्या, एतदुक्तं भवति—कदाचिदे तेभ्योऽव्यक्तादिभ्यः पिञ्जयन्तीपर्यन्तेभ्यो दातृभ्यो हस्तात् गृह्यते कदाचिन्न गृह्यतेऽपि, 'दगमाइणो दोस'त्ति एतेषु मञ्जा नारिदातृषु आचमनोद्रङ्गोज्झनदोषः, अव्यक्तादिष्वनेके उपघातादयः। प्रतिद्वारगाथाद्वयमेतत्, इदानीं भाष्यकारः प्रति पदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवप्रतिपादनायाह—

कप्पट्ठिगअप्पाहणादिन्ने अन्नन्नगहणपज्जत्त । खतियमगणादिन्न उड्डाहपदोसचारमडा ॥२४१॥(भा)

तत्थ बालो भण्णइ जाव अट्ठवरिसो जाओ तस्स हत्थाउ न गिण्हियव्व, को दोसो ?, इमो—एगा महिला सा छेत्त गया—तीए दारगा चेडी संदिसिआइ, जहा जदि एत्थ पव्वइयगो तस्स भिक्खं देज्जाहि, तओ ताए गयाए आगओ भिक्खावेलाए पव्वइयगो, ताहे तेण सा चेडी भण्णइ—कहिं तुह अंबा भया ?, सा भणइ—छेत्तं, सो भणइ—आणेहि भिक्खं, ताहे ताए कूरो दिण्णो, ताहे सो अण्णण्णाणिवि जेमणाणि मग्गइ, ताहे सव्वं दिण्णं सीरं दहिं तक्कं, तओ चेव चउत्थरसिअं, तेणवि सव्वं गहे

१ पाक्षिप्त आ। २ मर्ममन्ती आ. पा था २ पृ।

ऊण पज्जत्तं काऊण निग्गओ, सा भद्दिगा आगया अवरण्हे ताहे खंतिया जेमणं मग्गइ, सा चेडी भणइ–पव्वइयस्स मए दिण्णं, सा भणइ सुट्ठु कयं, कूरं आणेहि जेमेमि, सा भणति–दिण्णो पव्वइयस्स, सा भणइ–सुट्ठु कयं, आणेहि कुंसणं[1] दधिदुद्धादि, सा भणइ–दिण्णं, सुट्ठु कयं, आणेहि कंजिअं[2], चेडी भणइ–तंपि दिण्णं, एत्थ सा भद्दिगा रुट्ठा भणति[3]–कीस सव्वं देहि ?, चेडी भणइ, सो मग्गइ, सा भणइ–चेडरूवं परिभविऊण सव्वं घेत्तूण गओ, गया आयरियस्स पासं, तत्थ खिंसति–एस चारभडो इव सव्वं[4] घेत्तूण आगओ, तत्थवि आयरिएणं तीए पुरओ चेव तस्स सव्वं उवकरणं अदक्खेयव्वं[5], एते दोसा अवत्तगहत्थाओ गहणे । दारं । इदानीं अप्रभुद्वारमुच्यते—

अप्पभु भयगाईया उभएगतरे पदोस पहु कुज्जा। थेरे चलंत पडणं अप्पभुदोसा य ते चेव ॥२४२॥(भा.)

अप्रभवो–भृतकादयस्तेषां हस्ताद्भिक्षा न ग्राह्या, यतः 'उभयोः' प्रव्रजितभृतकयोः प्रद्वेषं कुर्यात्, एकतरस्य वा भृतकस्य प्रव्रजितस्य वोपरि द्वेषं कुर्यात् प्रभुः, द्वारं। इदानीं स्थविरद्वारमुच्यते–स्थविरस्यापि हस्ताद्भिक्षा न गृह्यते, यतस्तस्य चलतः–कम्पमानस्य पतनं भवति, अप्रभुदोषाश्च त एव भवन्ति, एतदुक्तं भवति–स्थविरः प्रायेणाप्रभुर्भवति परिभूतत्वादिति। द्वारं । इदानीं पण्डकद्वारमुच्यते—

आयपरोभयदोसा अभिक्खगहणंमि खुब्भण नपुंसे। लोगदुगुंछा संका एरिसगा नूणमेतेऽवि ॥२४३ भा.

---

१ कुसिण आ. । २ चउत्थरसिंयं ल १–२ पु । ३ भण्णति आ. । ४ सव्व सव्वं घेत्तूण आ. । ५ अदुक्खे° ल १–पु ।

नपुंसकाच्च गृह्यते यत आत्मनः परस्य उभयस्य च दोषाः संभवन्ति, आत्मशब्देन साधुर्गृह्यते, ततः को दोषः ?, क्षोभम् स्यात् नपुंसकोऽनपुंसकस्पर्शनेऽभीक्ष्णं, तत्र भिक्षाप्रदाने च तथा कुर्यादिति अभीक्ष्णं साधुवर्षणादिना, उभयकृतो वा दोषः, लोकश्च जुगुप्सते शङ्कते च, नूनमेतेऽपि नपुंसकानीति । द्वारं । मत्तद्वारमाह—

अवयास भाणभेदो वमण असुइत्ति लोगउड्डाहो । खित्ते य दित्तचित्ते जक्खाइट्ठे य दोसा उ ।२४४। भा०

सुरापानेन यो मत्तस्तस्य हस्तात्भिक्षा न गृह्यते, किं कारणं ?, यतः सं मत्तो भिक्षां प्रयच्छन् कदाचिदपयासं करोति—आलिङ्गति कदाचिद्वा भाजनं—पात्रकं भिनत्ति वमनं वा—तत्र छर्दनं करोति, तथाऽशुचिरिति कृत्वा लोके उड्डाहो भवति—प्रवचनोपघातः । द्वारम् । इदानीं द्वारत्रितयमुच्यते—क्षिप्तचित्ते दीप्तचित्ते यक्षाविष्टे एते एव दोषा आलिङ्गनभाजनभेदवमनाशुचित्वप्रभृतयो भवन्तीति । इदानीं द्वारपञ्चकप्रतिपादनायाह—

करच्छिन्न असुइ चलणे पडण अपिच्छ य छक्काया । नियलाऽसुइ पडण वा तद्दोसी सङ्कमे असुई ।२४५।

छिन्नकरो यदि भिक्षां ददाति ततो न गृह्यते यतोऽशुचिदोषो लोके भवति । द्वारं । तथा यस्यापि चरणौ छिन्नौ तस्मादपि हस्तात्भिक्षा न गृह्यते यतः तस्य प्रयच्छतः पतनं भवति । द्वारं । अन्धादपि न गृह्यते यतोऽसौ प्रयच्छन् षट् कायान्

१ कुर्यात् ला । २ च इति ख. १ । ३ मत्तो ला पा. १ २ । ४ °पीयसो कदाचित्ताजनं ला पा १ २. । ५ तृतीयद्वारं ला ।
६ °स्पर्शवतस्तोऽपि न ला ।

व्यापादयति। दारं। निगडितपुरुषहस्तादपि[1] न गृह्यते भिक्षा यतस्तस्याशुचिर्भवति, पतनं वा तस्य निगडबद्धस्य स्यात् । दारं। त्वग्दोषदूषितस्यापि हस्तान्न गृह्यते यतः कदाचित्कुष्ठसंक्रमः स्यात्, अशुचिश्चासौ[2] वर्त्तते । दारं ।

गुव्विणि गब्भे संघट्टणा उ उट्ठिंत[3] निविसमाणी य । बालाई मंसुंडग[4] मज्जाराई विराहिज्जा ॥ २४६ ॥

गुर्विणीहस्तान्न गृह्यते यतस्तस्या गर्भे संघट्टनं भवति, कथम् ?, उत्तिष्ठन्त्याश्चोपविशन्त्याश्च । दारं । बालवत्साया अपि हस्तान्न गृह्यते भिक्षा, यतो बालं मुक्त्वा यदि भिक्षां ददाति ततस्तं बालं 'मंसुण्डकादिबुद्ध्या' मांसपिण्डादिबुद्ध्या, आदिग्रहणान्नवनीतबुद्ध्या वा मार्जारादिर्विराधयेत् । दारं । इदानीं द्वारपञ्चकप्रतिपादनायाह—

बीएदग[5]संघट्टण कंडणपीसंति भंजणे[6] डहणं । कत्तंती पिंजंती हत्थे लित्तंमि उदगवहो ॥ २४७ ॥

कण्डयन्त्याः पिंषन्त्याश्च हस्तान्न गृह्यते यतस्तत्र यथासङ्ख्येन एकस्या बीजसंघट्टनकृतो दोषः अपरस्या उदकसंघट्टनकृतो दोषः, इति द्वारद्वयम् । याऽपि यवादीनां भर्जनं करोति तस्यापि हस्तान्न गृह्यते यतस्तत्र यवादिदहनकृतो दोषो भवति । दारं । तथा कर्त्तयन्त्याः पिञ्जयन्त्याश्च हस्तान्न गृह्यते यतस्तयोर्निष्ठीवनलिप्तौ हस्तौ भवतः पुनश्च तत्प्रक्षालने[7] उदकवधः भवति, द्वारद्वयं । इदानीं यदुक्तमासीद् भजनया—विकल्पेनैषामव्यक्तादीनां हस्ताद् गृह्यते न त्वेकान्तेनैवाग्रहणं

---

१ °तादपि न आ ल. १ पा. १ २ । २ यतोऽसावशु° आ. ल. २. पा. १. २. । ३ उट्ठंति आ. पा. १. २, । ४ मसउंडग आ. । ५ बीओदग° आ. । ६ भुंजणे ल १ पा. १ २ । ७ १ तत्प्रक्षा° आ पा. १–२ ।

किन्तु प्रथममपि तत्प्रदर्शयति, तत्राधायबालयतनाप्रतिपादनायाह—

भिक्खामित्ते अवियालणा तु बालेण दिज्जमाणम्मि। संदिट्ठे वा गहणं अइबहुयवियालणुन्नाए ॥ ४७१ ॥

बालो यदि भिक्षामात्रं परोक्षेऽपि ददाति ततो भिक्षामात्रे दीयमानेऽविचारणया गृह्णाति, अथाऽसौ बालो गृहपतिना प्रत्यक्षमेव 'संदिष्टः' उक्तो यथा प्रयच्छास्मै साधवे भिक्षां, ततोऽसौ साधुर्गृह्णाति, अथाऽसौ[1] बालोऽतिबहु प्रयच्छति ततः साधुर्विचारयति पृच्छति किमद्यातिबहु दीयते ?, एवमुक्ते सति यद्यसौ गृहस्थ एव भणति—यदुताद्य प्राघुर्णकादिनिमित्तं[2] बहु संस्कृतं, ततोऽसौ साधुर्गृह्णाति । उक्ताऽव्यक्तयतना, इदानीं अप्रभुयतनोच्यते—

अप्पहुसंदिट्ठे वा भिक्खामित्ते व गहणऽसंदिट्ठे। थेरपहु थरथरते धरणे अहवा दढसरीरे ॥ ४७२ ॥

अप्रभुः—भृत्यकादिर्यदि सन्दिष्टः—उक्तो भवति प्रभुणा ततस्तस्य हस्ताद्गृह्यते भिक्षा, यदा पुनर्न सन्दिष्टः—नोक्तः[3] प्रभुणा यथा त्वया दातव्यं, तस्मिन्नसन्दिष्टे सति भिक्षामात्रकस्यैव ग्रहणं करोति । अप्रभुयतनोक्ता, इदानीं स्थविरयतनोच्यते—स्थविरः सन् प्रभुर्यदि ददाति किंविशिष्टः ?—कम्पमानः परेण धृतः सन् यदि दद्यात् ततो गृह्यते, अथासौ स्थविरः प्रभुर्यदि दृढशरीरो ददाति तथाऽपि गृह्यते । द्वारं । इदानीं पण्डकादीनां यतनाप्रदर्शनायाह[4]—

पंडगअप्पडिसेवी मत्तो सड्ढो व अप्पसागरिए। खित्ताइ भद्दगाणं करचरछिन्नऽप्पसागरिए ॥ ४७३ ॥

१ 'प्राघुर्णकादिनिमित्तं' आ. । २ 'किमित्यधिकमद्यदाति' आ. । ३ प्रभुः यथा क. १-२ । ४ तत्रो आ. क १ पा १-२ ।

पण्डकस्य ददतो गृह्यते यद्यसावप्रतिसेवी भवति–न कुत्सितं कर्म आचरति । दारं । श्राद्धकस्य च मत्तस्य हस्ताद्गृह्यते, यद्यसावल्पसागारिकः भवेत्, वाशब्दादल्पमदश्च यदि स्याद् । दारं । तथा क्षिप्तचित्तदीप्तचित्तयक्षाविष्टानां हस्ताद्गृह्यते यदि प्रकृत्या भद्रका भवन्ति–साधुवासनावन्त इत्यर्थः । द्वारत्रितयं । तथा कररहितचरणरहितानां हस्ताद्गृह्यते, कथं ?, चरणरहितो यद्युपविष्टो ददाति अल्पसागारिकं च यदि भवति, कररहितोऽपि यद्यल्पसागारिके ददाति ततो गृह्यते नान्यथा । द्वारद्वितयं । इदानीमन्धादियतनाप्रदर्शनायाह—

सड्ढो व अन्नरुंभण अंधे सवियारणा य बद्धंमि । तद्दोसिए अभिन्ने वेला थणजीवियं थेरा ॥ ४७४ ॥

अन्धस्य च हस्ताद्गृह्यते यदि श्रद्धावानन्येनाकृष्यमाणो ददाति । दारं । बद्धस्य च हस्ताद्गृह्यते यदि स सविचारो भवति–परिष्वष्कितुं शक्नोति । दारं । 'त्वद्दोषदुष्टस्यापि' कुष्ठिनोऽपि हस्ताद्गृह्यते यद्यसावभिन्नकुष्ठी भवति–गलत्कुष्ठी न भवतीति । दारं । वेलेति–गुर्विण्या यदि वेलामासस्ततस्तस्या हस्तान्न गृह्णन्ति स्थविरकल्पिका इतरत्र गृह्णन्ति, जिनकल्पिकादयस्तु यतः प्रभृत्यापन्नसत्त्वा भवति तत एवारभ्य न गृह्णन्ति । दारं । तथा स्थविराः स्थविरकल्पिकाः स्तनोपजीवी यो बालस्तद्युक्ता या बालवत्सा तस्या हस्तान्न गृह्णन्ति, जिनकल्पिकादयस्तु यावदपि बालस्तावदपि तां बालवत्सां परिहरन्ति–न तस्या हस्ताद्गृह्णन्ति । द्वारद्वयं । इदानीं कण्डयन्त्यादियतनोच्यते—

उक्खित्तऽपच्चवाए कंडे पीसे वछूढ भज्जन्ती । सुक्कं व पीसमाणी बुद्धीए विभावए सम्मं ॥ ४७५ ॥

तत्र कण्डयन्त्या हस्ताद्युषते यदुत्क्षिप्त मुसलमास्ते साधुश्च प्राप्तस्ततोऽत्यपाये स्थाने मुसलं स्थापयित्वा यदि ददाति। दारं। पीसे चत्ति–पेषयन्त्या हस्ताद्युषते यदि तस्येषणीयमचेतन–धानादि तथा यदि सचित्त पूर्वमेव प्रक्षिप्तं तत्पिष्टं अन्यद्यापि न प्रक्षिप्यते साधुश्च भिक्षार्थमागतः ततस्तस्या हस्ताद्युषते, तेन पेषणं शिलायां घरट्टे वा। दारं। 'अच्छद भज्ज न्ती'ति भर्जयन्त्या अपि हस्ताद्युषते यदि पूर्वप्रक्षिप्त भृष्ट अन्यद्यापि न प्रक्षिप्यते साधुश्च प्राप्तोऽस्मिन्नवसरे, शुष्कं वाऽचेत न तदस्तु यदि पिनष्टि ततश्च पुरुषा 'विभाव्य' निरूप्योत्तरकाल गृह्णाति। इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति–

मुसले उक्खित्तमि य अपच्चवाए य पीस अचित्ते। भज्जती अच्छूढे भुजती जा अणारद्धा ॥२४८।भा०॥

मुसले उत्क्षिप्ते सति अप्रत्यपाये प्रदेशे स्थापयित्वा यदि भिक्षां ददाति, 'पीस अचित्ते'त्ति अचेतनं वा यदि घरट्टादौ पिनष्टि ततो ददाति भिक्षां, भजतीति तवयाते मर्जुंमि अण्णमि अप्पक्खित्ते सति एयमि अवसरंमि साहुस्स भिक्खं देइ, सञ्ज्ञा नाया अपि हस्ताद्युषते यदयापि न भिक्षालयति मर्क यथाऽऽगमनपूर्वि तदुत्थाय ददाति ॥

कत्ततीए शुद्ध विक्खिंणणोरुणण जाति य निट्ठविग। पिंजण असोयघाई भयणागहण तु पपसिं ॥४७६॥

तथा कर्तयन्त्या अपि हस्ताद्युषते यदि स्थूरमसौ कर्तयति, किं कारणं?, यतः स्थूरमसौ कर्तयन्ती न अङ्गुष्ठेन

१ पीसं' स. १ पिंस क २। २ यद् स आ.। ३ यदि प्र° आ। ४ तत्रावसर उपस्थिते भिक्षार्थं तत्° आ पा २। ५ तत्र पीसनं स. १ २.। ६ तत्र उत्थाय क १–२। ७ विक्खिंम ओदण यति आ। ८ पिंजति क १–२।

[1]हस्ताङ्गुलीः करोति, नापि निष्ठीवनेन, 'विक्खि[2]वणं'ति रूयं विक्खिवणंतीए हत्थाउ घेप्पइ, तथा [3]उरुणणं-लोढणं यदि निट्ठविअं ततो तीए हत्थाओ भिक्खा घेप्पइ, एतदुक्तं भवति-जो सो [4]कप्पासघाणो लोढणीए दिन्नो सो लोढिओ अन्नो न अज्जवि दिज्जइ घाणो, एयाए वेलाए घिप्पइ भिक्षा देंतीए तीए। पिञ्जयन्त्या अपि हस्ताद्गृह्णाति यद्यसौ महेलाऽशौचवादिनी भवति-न हस्तौ प्रक्षालयति। एवमेषां दातॄणां हस्ताद्भजनया ग्रहणं करोति। उक्ता प्रतिद्वारगाथा, तत्प्रतिपादनाचोक्तं दातृद्वारं, इदानीं गमनद्वारप्रतिपादनायाह—

गमणं च दायगस्सा हेट्ठा उवरिं च होइ नायव्वं। संजमआयविराहण तस्स सरीरे य मिच्छत्तं ॥४७७॥

'गमनं च' भिक्षादानार्थमभ्यन्तरप्रवेशस्तस्य दातुः 'अधस्ताद्' भुवि विज्ञेयम् 'उपरि च' उपरिविभागश्च विज्ञेयः। यदि न निरूपयति ततस्तस्य गच्छतः पृथिव्यादिमर्दने सति साधोः संयमविराधना भवति, आत्मविराधना च तस्य दातुः शरीरे सर्पादिदशनजनिता भवति, अत एव च निमित्ताच्छ्राद्धः सन् मिथ्यात्वं यायात् यदुतैवंविधस्य दत्तं येन तत्क्षण एव स दाता सर्पेण दष्ट इति। इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

वच्चंती छक्काए पमद्दए हिट्ठतो उवरि तिरियं च। फलवल्लिरुक्खसाला तिरिया मणुया य तिरियं तु ॥२४९॥

व्रजन्ती सा स्त्री भिक्षादात्री षडपि कायान् प्रमर्दयेत्, क ?-'अधस्ताद्' भुवि पृथिव्यप्तेजोवनस्पतित्रसान् व्यापा-

[1] शङ्खचूर्णं न हस्ताङ्गुलौ करोति आ.। [2] विक्खिर्णति ल. १-२। [3] उरिणणं आ.। [4] लोढेयव्व तीए आ.। [5] अकप्पासो घाणो आ.।

दयेत्, पादुकाप कंदमिद् दतौ स्थित स्थानती म्योपादयेत्, तयोपरि तिर्यग्व्यवस्थिताः फलवल्लीवृषवालाः-शाखा तिरापयति, तथा तिर्यग्मनुजान्-जातमात्रबालकान् तिरश्चः-अभवत्सकादीन् सङ्घट्टयेत् । अथ चैते दोषाः—

फटगमाई य अहे उप्पिं अहिमादिलग्गणे आया । तस्स सरीरविणासो मिच्छत्तुड्डाह वोच्छेओ ॥२५०॥

कण्टकादयो बाध्यो भवन्ति, उपरि अथाहि-मर्पादिलम्बने आत्मविराधना दातु, तस्य च-दातुः शरीरविनाशे मिथ्यात्वं तस्या-परस्य वा भवति, 'उड्डाह' प्रवचनोपघातश्च भवति यदुत एतेषामेतावानपि प्रभावो नास्ति येन दातारं रक्षन्ति । व्याख्यातं गमनद्वारम्, इदानीं ग्रहणद्वारप्रतिपादनायाह—

नीयदुवारुग्घाडकवाडठिय देह दारमाइन्ने । इंडुरपत्थियपलिंदे गहण पत्तस्सऽपडिलेहा ॥ ४७८ ॥

'नीयद्दुवार' गाहा, नीचद्वारे यदि भवति तत्र चक्षुषा निरूपणं कर्तुं न शक्नोति अतो न गृह्यते भिक्षा, तयोद्घाटक-पाट-भर्गलितकपाटे न किन्तु पिहितकपाट, तत्रापि न गृह्णाति, तथा दातुः सम्बन्धिना स्वदेहेन द्वारे रुद्धे सति न गृह्यते, माकीर्णे वा-पपुरुषैर्गमागम इत्यत्रिः तथा इंडुरं-गड्या संस्थि तेन तिरोहिते, पत्थिका-पश्ती "पिठिका तया वा तिरो"-हित अलिन्द-कुण्डक नन वा तिरोहिते द्वारे सति, एवमेतेषु दोषेषु सत्सु 'ग्रहणं प्राप्तस्य' गृहस्थस्य गृह्यतेऽस्मिन्निति ग्रहण,

---

१ दो भा । २ ता दी भाग भ १-२ । ३ दीर भा । ४ पाम्य" भा । ५ सिट्टिमा भा. पिढिया स १ । ६ पिहिते द्वारे भा. पा. १. १ । ७ एसे भ म १ पा. १ ।

यस्मात्प्रदेशाद्भण्डकं गृह्णाति तं प्रदेशं प्राप्तस्य 'अपडिलेह'त्ति यतः प्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति अनन्तरोदितैर्दोषैरतो न गृह्यते भिक्षा, यद्येभिरनन्तरोदितैर्दोषैर्भवद्भिर्न ग्रहणं ततो ग्रहणप्रदेशं प्राप्तस्य गृहस्थस्य प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या–श्रोत्रादिभिरुपयोगं करोति यदि श्रोत्राद्युपयोगेन शुद्धा ततो ग्रहीष्यति, अथ न शुद्धा श्रोत्राद्युपयोगेन ततो न ग्रहीष्यति ॥ इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदमेनामेव गाथां व्याख्यानयति, तत्र कथं जिनकल्पिकादयो गृह्णन्ति कथं वा स्थविराः ? इत्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

नियमा उ दिट्ठगाही जिणमाई गच्छनिग्गया होंति। थेरावि दिट्ठगाही आदिट्ठि करेंति उवओगं ॥२५१॥

'नियमात्' अवश्यन्तयैव दृष्टग्राहिणः जिना–जिनकल्पिका न नीचद्वारादितिरोहिते गृहद्वारे ते गृह्णन्ति यतस्ते जिनकल्पिकादयो 'गच्छनिर्गताः' परित्यक्तगच्छा भवन्ति, 'स्थविराः' स्थविरकल्पिका अपि 'दृष्टग्राहिण एव' अतिरोहितद्वार एव गृहे गृह्णन्ति, किमयमेव नियमः ?, नेत्याह 'अदृष्टे' तिरोहिते गृहद्वारे कपाटादिना उपयोगं श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्दत्त्वा ततः परिशुद्धं गृह्णन्ति । इदानीं 'नीयदुवारुग्घाडकवाडे'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

नीयदुवारुवओगे उड्डाह अवाउडा पदोसो य। हियनट्ठंमि अ संका एमेव कवाडउग्घाडे ॥२५२॥ (भा०)

नीचद्वारे गृहे न ग्राह्यं यतस्तत्र नीचद्वारे निकुट्टनं कृत्वोपयोगं निरीक्षणं कुर्वत उड्डाहः पश्चाद्भागदर्शने अपानपेलादिदर्शने सति कदाचित्तत्राप्रावृताः स्त्रियस्तिष्ठन्ति ततश्च निरूपयतः प्रद्वेषं तदुपरि कुर्वन्ति, तथा हृते चौरादिना नष्टे–स्वयमेवा-

१ जिनकल्पिकादयो 'गच्छ॰' आ । २ ॰शुद्धे आ. । ३ निष्कुट्टनं आ । ४ पेलादि॰ आ ल. २ पा. १ । ५ ॰प्रद्वेषमुपरि आ. ल २ पा २ ।

रक्ष्यमाणे कस्मिंश्चिद्वस्तुनि क्षयोपशमायते गृहस्थानां मेधुत पत्तएण निउंछिऊण निच्छविय आसी जदि तेणाहिय मवे ?,
'एवमेव' एते एव दोषाः पिहितकपाटे निरर्गलम्बपाट्यतोऽप्यासिकाद्यः ॥
असरीरेण व दार पिहिअ जणाउल वावि। इरपत्थियलिंदेण वावि पिहिय भेवे दव ॥२५३॥ (भा०)
दातुरेहेन पिहित स्थूलत्वाद्दरस्य अन्यस्य वा पार्श्वस्थस्य शरीरेण द्वारं पिहितं । द्वारम् । आकीर्णं व्याख्यानयति-
जनाकुलं वा द्वारं निर्गच्छता प्रविशता वा लोकेन, तथा 'इरेण' गन्त्रीसम्बन्धिना 'पत्थियया' इरस्पिटिकया 'अलिन्देन'
कुण्डकेन वा 'पिहितं द्वारं भवेत्, 'तहिं वावि'त्ति तस्मिन् वा इरादौ स्थगितं द्रव्यं भवेत्पवम न गृह्यते ॥
पेतेहिं अदीसमाणे अगहण अहव कुज्ज उवभोग। सोतेण चक्खुणा घाणओ य जीहाए फासेण। २५४।
अनन्तरोदितैः । 'अदृश्यमाने' अचक्षुर्दर्शने त्वग्रहणं भवति, अथवा रक्ष्यमानेऽप्युपयोगं कुर्यात्, कैरित्याह-
श्रवणेन जिह्वया स्पर्शेन चेति ॥ कथं श्रोत्राद्युपयोगं करोति ?—
सुवे सद्दो उदकस्स अहव मत्तस्स। गधेण कुलिंगाई तस्सेव रसो फरिसविंदू ॥२५५॥ (भा०)
इह मात्र वा कुण्डेलिका वा गृहस्था प्रक्षालयेद्यतमोदकस्य कलकलाशब्दो भवति, अथवा मात्रकस्य-कुण्डेलिकादेः

१ कस्मिंश्चि° आ. प. १–२। २ स्या तेन पा° आ. ल. १। ३ निच्छिऊण भा निच्छिंपिऊण क १ पा १–२। ४ तेण व हिये व्य तेणाहिर्ते प १ ५ तहिं वावि व्य । ६ स्थगितं आ । ७ तत्र आ. । ८ तत्पूर्व्यं आ. । ९ एतेऽप्यदीसं° आ व २५ । १ कुण्डलिकादि व्य पा [illegible]

प्रक्षाल्यमानस्य खसखसाशब्दो भवति, तथा घ्राणेनोपयोगं करोति, कदाचित्कुलिङ्गः—द्वित्रीन्द्रियादिर्मर्दितो भवेदागच्छन्त्या, एतच्च गन्धेन जानाति अशोभनेन, ततश्च न गृह्णाति, यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपीति रसेन जानाति, तथा स्पर्शेन चोपयोगं ददाति, कदाचिदुदकबिन्दुर्लगति शीतलः चक्षुषा तूपयोगं ददाति गमनागमने प्राप्तस्य च द्रव्यस्य हस्तस्य भाजनस्य वा, मा भूदुदकसंस्पृष्टं स्यात्।

सो होइ दिट्ठगाही जो एते जुंजई पदे सवे। निस्संकिय निग्गमणं आसंकपयांमि संचिक्खे ॥२५६॥(भा.)

स एवंविधो दृष्टग्राही भवति य एतानि पदानि स्थानान्तराणि पूर्वोक्तानि प्रयुङ्क्ते उपयोगपूर्वकं सर्वाणि, अथ निःशङ्कितमेव भवति यदुतानेन गृहस्थेन पुरःकर्मादि कृतं तत्र वारयित्वा निर्गच्छति, अथाऽऽशङ्कितं भवति किमनेन पुरःकर्मादि कृतं न वेतीत्थमाशङ्कायां निरूपयति प्राप्तां सतीं गृहस्थाम्। उक्तं ग्रहणद्वारम्, इदानीं आगमनद्वारप्रतिपादनायाह—

आगमणदायगस्सा[1] हिट्ठा उवरिं च होइ जह पुविं। संजमआयाविराहण दिट्ठंतो[2] होइ[3] वच्छंमि ॥४७९॥

'आगमनं' भिक्षां गृहीत्वा साध्वभिमुखमागच्छन्त्या अधस्तादुपरि च निरूपणीयमागमनं यथा पूर्वं गमने संयमात्मविराधने निरूपिते एवमत्रापि संयमात्मविराधने निरूपणीये। उक्तमागमनद्वारं, इदानीं 'पत्ते'त्ति द्वारप्रतिपादनायाह—'दिट्ठंतो होइ वच्छंमि' अत्र प्राप्तायां भिक्षायां दात्र्यां वत्सकेन दृष्टान्तो वेदितव्यः। जहा एगस्स वाणियस्स वच्छओ

---

१ तया आ। २ वणियवच्छेण पु। ३ वच्छेण आ. ल २ पा १। ४ वत्थमि आ वत्थेण पा १।

तद्दिवसं तस्स सत्तही न कोइ तस्स भत्तपाणिय देइ, मज्झण्हे पच्छाएण रडिय, पुण्णाए से अछकियमिमूसियाए दिण्णं भत्त पाणं, जहा तस्स वच्छस्स चारीए दिट्ठी ण महिलाए, एवं साहुणावि कायव्वं। अहवा—

पत्तस्स उ पडिलेहा हत्थे मत्ते तहेय दव्वे य। उदउल्ले ससिणिद्धे ससत्ते चेव परियत्ते ॥ ४८० ॥

प्राप्तस्य गृहस्थस्य प्रत्युपेक्षणा कार्या हस्ते, किमय हस्तोऽस्य उदकार्द्रो न वेति, तथा मात्रकं च—कुण्डलिकादि गृहस्थसत्कं निरूपयति यत्र गृहस्था भिक्षामादाय निर्गता, द्रव्यं च—मण्डकादि निरूपयति संसक्तं न वेति। एवं पश्चदारं निर्युक्तिकारेण व्याख्यातम्, इदानीं निर्युक्तिकार एव परियत्तेतिद्वारं व्याख्यानयन्नाह—'परियत्ते'[1] पर्यस्तिते सति गृहस्थेन मात्रके कुण्डलिकादौ पयुदकार्द्रं स्पृशते सस्निग्धं वोदकेनेव संसक्तं वा मात्रकं ततस्तस्मिन्नेवंविधे मात्रके परिवृत्ते सति भिक्षा न गृह्यते। इदानीं भाष्यकारः 'पत्ते'ति व्याख्यानयन्नाह—

तिरियं उड्ढमहेवि य भायणपडिलेहणं तु कायव्वं। हत्थं मत्तं दव्वं तिण्णि उ पत्तस्स पडिलेहा।२५७। (भा०)

गृहस्थभाजनस्य आगच्छत एव तिर्यक्—पार्श्वतो भाजनस्य ऊर्ध्वं कर्णेषु[2] भाजनस्य अधो—बुध्ने प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या, तथा 'प्राप्तस्य' आसन्नीभूतस्य गृहस्थस्य हस्तं मात्रकं द्रव्यं त्रीण्यप्येतानि गृहस्थसत्कानि प्रत्युपेक्षयेत्—निरूपयेत्, किम्?—

ससिणिद्धोदउल्ले तसाउलं मा गिण्ह पगतरं दट्ठुं। परियत्तिय च मत्तं ससिणिद्धाईसु पडिलेहा ॥२५८ भा

१ परियत्तेति' आ। २ अधोमुखे कृते सति आ पा १। ३ इत्यादि आ ब २ पा १। ४ च—अधोमुखं कृतं' आ ब २ पा १–२।

सस्निग्धं तोयेन उदकार्द्रं त्रसाकुलं च हस्तं मात्रं द्रव्यं वा दृष्ट्वा एकतरमपि तन्मा गृहाण । 'पत्ते'त्ति द्वारमुक्तं, इदानीं भाष्यकार एव 'परियत्ते'त्ति व्याख्यानयन्नाह—'परियट्टियं च मत्तं' परावर्त्तितं सत् गृहस्थमात्रकं कदाचित्सस्निग्धादिसमन्वितं भवति ततश्च सस्निग्धादिषु सत्सु प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या । उक्तं परावर्त्तितद्वारं, इदानीं 'पाडिय'त्ति द्वारं व्याचिख्यासुराह—

पडिओ खलु दट्ठव्वो कित्तिमसाभाविओ व जो पिंडो । संजमआयविराहण दिट्ठंतो सेट्ठिकप्पट्ठो । ४८१ ।

पतितः पात्रके पिण्डो द्रष्टव्यः किमयं कृत्रिमः ?—योगेन निष्पन्नः सक्तुमुद्गपिण्ड इव सिद्धपिण्डो वा किं स्वाभाविककूरखोट्ट इव, तत्र यदि कृत्रिमं पिण्डं स्फोटयित्वा तं न निरूपयति ततः संयमात्मविराधना भवति, यथा सेट्ठिकप्पट्ठस्स हंता काष्ठेन कुण्डिका इत्येतत्कथानकमनुसरणीयं, तेन हि संयोगपिण्डो न निरूपितस्तत्र च संकलिकाऽऽसीत्, तत्र राजकुले व्यवहारस्तेन च काष्ठर्षिणा भगवता निर्व्यूढम्, अन्यश्च कदाचित्तादृशो न भवति ततश्च निरूपणीय इति । तत्रात्मविराधनादिप्रतिपादनायाह—

गरविस अट्ठिय कंटा विरुद्धदव्वंमि होइ आयाए । संजमओ छक्काया तम्हा पडियं विगिंचिज्जा ॥ ४८२ ॥

स गर उच्यते य आहारं स्तम्भयति कार्मणं वा गरः, स कदाचित्तत्र पिण्डे भवति, तथा विषमस्थीनि कण्टकाश्च कदाचिद्भवन्ति, विरुद्धं वा किंचिद्द्रव्यं तत्र भवति, ततश्चानिरूपणे एभिरात्मविराधना भवति, तथा संयमतश्च षट्काया

---

१ °कार्द्रमुदके त्रसा° आ । २ 'परियत्तिय'त्ति आ, °यत्तिए'त्ति ल १ पा. १ । ३ तत् गृह° आ. । ४ °कव्वट्ठो आ. । ५ स्वाभा° आ. पा. १ । ६ °कव्व° आ पा १ । ७ हता ल १–२ पा २ । ८ कन्थिका आ. ।

विराध्यन्ते, कथं ?, कदाचिदत्र पृथिवी उदकं वनस्पतिरग्निर्वा लग्नो भवति, यत्राग्निस्तत्र वायुरपि, द्वीन्द्रियादयश्च कदाचिद्भवन्ति, ततश्च 'परिय विभिंधिआ' विभागेन विभजेत–निरूपयेदित्यर्थः । अथवाऽनाभोगेन कदाचिदत्र सुवर्णादि स्थापयित्वा ददाति, एतदेवाह—

अणभोगेण भएण व पडिणी उम्मीस भत्तपाणम्मि । दिज्जा हिरण्णमाई आवज्जणसकणादिट्ठे ॥४८३॥

अनाभोगेन ददाति–तन्दुलादिमध्ये व्यवस्थितं सुवर्णादि पुनश्च रन्धयित्वा ददात्यनाभोगेन प्रदानं भवति, भयेन वा ददाति, कथं ?, कयापि कस्यचित्सत्कं सुवर्णमपहृतं पुनश्च प्रत्याकलिता सती कठिकलङ्कभयात्साधोर्वेष्टयित्वा ओदनादिना ददाति, प्रत्यनीकत्वेन वा 'उन्मिश्र्य' एकीकृत्य भक्तपानादिना सह हिरण्यादि ददाति, ततश्च तस्य साधोरेवदोषतया चड्डना–दृष्टे तस्मिन् सुवर्णादौ राजप्रभृतीनां शङ्का भवति, यदुत न विद्मः किं तावदयं साधुरेवंविधः आहोस्विद्भिक्षादातेति । तस्मात्पतितः सन् पिण्डो निरूपणीयः । इत्युक्त पतितद्वारं, इदानीं गुरुकद्वारप्रतिपादनायाह—

उक्खेवे निक्खेवे महल्लया लुद्धया वहो दाहो । अवियत्ते वोच्छेओ छक्कायवहो य गुरुमत्ते ॥ ४८४ ॥

पत्रपाषाणादिमहता च तस्योत्क्षेपे सति निक्षेपे वा–मोक्षणे सति तस्य गुरुस्यस्य कटिभङ्गो वा पादस्योपरि पतनं वा

---

१ क्वचित् पर आ. प. १ ।

भवति 'महल्लया' इति महत्प्रमाणं वा तद्गृहस्थभाजनं तस्योत्क्षेपे निक्षेपे सति दोषा भवन्ति, अथवा 'महल्लया' इति महता भाण्डकेन दीयतामित्येवं कदाचिदसौ साधुर्भणति; ततश्चैवं लुब्धता साधोरुपजायते, तथा वधश्च–तस्यैव साधोः पादस्योपरि पतितेन भाण्डकेन वधो भवति, गृहस्थस्य वा पादस्योपरि पतितेन वधो भवति, तथा 'दाहो'त्ति दाहो वा भवति यदि तदुष्णं भण्डकं भवति, अचियत्तं वा भवति तस्यैव गृहस्थस्य तद्गृहपतेर्वा 'अचियत्तं वा' अप्रीतिर्वा भवति, महाप्रमाणकेन भण्डकेन दीयमाने सति व्यवच्छेदो वा तद्द्रव्यस्यान्यद्रव्यस्य वा भवति, षट्कायवधश्च भण्डकपतने सति भवति, एवं गुरुके भण्डके एते दोषा भवन्ति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

गुरुदव्वेण व पिहिअं सयं व गुरुयं हवेज्ज जं दव्वं। उक्खेवे निक्खेवे कडिभंजण पाय उवरिं वा ॥२५९॥ भा.

गुरुद्रव्येण वा 'पिहितं' स्थगितं भवेत् तद्द्रव्यं, स्वयं वा तद्द्रव्यं गुडपिण्डकादि गुरुकं भवेत्, ततश्च तस्य 'उत्क्षेपे' उत्पाटने निक्षेपे च पुनर्मोचने सति कटिभङ्गो भवति, पादस्य वा उपरि पतेत्ततश्चात्मविराधना भवति । इदानीं 'महल्लया'-दीनि व्याख्यानयन्नाह—

महल्लेण देहि मा डहरएण भिन्ने अहो इमो लुद्धो। उभएगयरे व वहो दाहो अच्चुपिह एमेव ॥२६०॥ भा०

कश्चित्साधुः कडुच्छुकिकया ददतीं स्त्रियं एवं ब्रूते–यदुत 'महल्लेण' बृहता भाजनेन स्थाल्यादिना देहि, मा डहरकेण'

---

१ तथा 'दाहो' आ. । २ अचियत्तं भवति ल १-२ पा. २ । ३ °कृदाह, तत्राद्यावयवमाह–आ । ४ एगतरवहो आ. । ५ °च्छिकया आ. ।

लघुना प्रपञ्च कडुच्छुकादिना, ततः सा तथैव करोति, अथवाऽनुपन्त्याश्च कदाचिदप्राजन भज्यते ततश्च भिन्ने सति तस्मिन् भाजने गृहस्थ एव भणति-पद्युवाहो ! अथ साधुर्महालुब्धः येन प्रचुरा भाजनेन दीयमानं गृह्णाति, तत 'उभयस्य' योर्गृहस्थस्य पादस्योपरि पतितेन भण्डकेन वधो भवति, एकतरस्य वा वधो भवति, तथा दाहश्च अत्युष्णे तस्मिन् द्रव्ये ,वेत भवति भवति, 'एसेव'त्ति उभयोरन्यतरस्य वा ॥ इदानीं 'अचियत्ते'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

बहुगहणे अचियत्तं वोच्छेओ तदव्व दव्व तस्स वावि। छक्कायाण य वहणं अइमत्ते तंमि मत्तंमि ॥२६१ भा०

बहुग्रहणे सति तस्य घृतादिद्रव्यस्य 'अचियत्त' अप्रीतिर्भवति तस्य तद्गृहपतेर्वा, व्यवच्छेदो वा, तदन्यद्रव्यस्य भवति-तस्य घृतादेः, अन्यद्-तदन्यक्षीरगुडादि तस्य व्यवच्छेदो भवति, तस्य वा-घृतादेर्द्रव्यस्य वा व्यवच्छेदो भवतीति, तथा षट्कायानां वधनं भवति 'अतिमात्रे' प्रत्यमाणे 'मात्रके' व्याख्यातो गृहीते सति। उक्त गुरुकद्वारं, इदानीं त्रिविधेतिद्वारं प्रतिपादनायाह—

तिविहो य होइ कालो गिम्हो हेमंत तह य वासासु। तिविहो य दायगो खलु थी पुरिस नपुंसओ चेव ॥

त्रिविधो भवति, तद्यथा-ग्रीष्मो हेमन्तो वर्षा च, तत्र त्रिविधेऽपि काले दाता त्रिविध एव भवति, तद्यथा-स्त्री सेति।

ज्या दाव क. १। २ वा इन्ने भवति भा पा १।

एक्केक्कोवि अ तिविहो तरुणो तह मज्झिमो य थेरो य। सीयतणुओ नपुंसो सोम्हित्थी मज्झिमो पुरिसो॥४८६

स पुन एकैकः स्त्र्यादिदाता त्रिविधो भवति–तरुणो मध्यमः स्थविरश्च। इदानीं नपुंसकादीनां स्वरूपप्रतिपादनायाह–शीतलतनुर्नपुंसको भवति, 'सोम्हित्थि'त्ति सोष्मा स्त्री भवति, मध्यमश्च पुरुषो भवति–नात्युष्णो नातिशीतल इति॥

पुरकम्मं उदउल्लं ससिणिद्धं तंपि होइ तिविहं तु। इक्किक्कंपि य तिविहं सच्चित्ताचित्तमीसं तु॥४८७॥

न केवलं कालादयस्त्रिविधाः यच्च पुरःकर्मादि तदपि त्रिविधं, तद्यथा–पुरःकर्म उदकार्द्रं सस्निग्धं चेति, तत्पुनरेकैकं त्रिविधं सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नं भवति, एतदुक्तं भवति–यत्पुरःकर्म[1] तत्सचित्तमचित्तं मिश्रं चेति, तत्राचित्तं[2] स्थाप्यं, यदपि उदकार्द्रं तदपि सचित्तमचित्तं मिश्रं चेति, यदपि सस्निग्धं तदपि सचित्तमचित्तं मिश्रं चेति। इदानीं यदुक्तं पुरःकर्मादित्रितयं तत्राद्यद्वयस्य प्रतिषेधं कुर्वन्नाह—

आइदुवे पडिसेहो पुरओ कयं[3] जं तु तं पुरेकम्मं। उदउल्लबिंदुसहिअं ससणिद्धे मग्गणा होइ॥४८८॥

आद्यद्वयस्य पुरःकर्मण उदकार्द्रस्य च प्रतिषेधो द्रष्टव्यः, यतस्ताभ्यां सदोषत्वान्नैव व्यवहार इति। इदानीं पुरःकर्मादीनां लक्षणप्रतिपादनायाह–'पुरओ कयं[4] जं तु तं पुरेकम्मं' भिक्षायाः पुरतः–प्रथममेव यत्कृतं कर्म–कडुच्छुकादिप्रक्षालनादि तत्पुरःकर्माभिधीयते, उदकार्द्रं पुनरुच्यते यद्बिन्दुसहितं भाजनादि गलद्बिन्दुरित्यर्थः, सस्निग्धं पुनरुच्यते यद्बिन्दुरहि-

---

१ यदपि तत्पुर॰ आ पा १–२। २ यदपि आ. ल. २ पा १–२। ३ ज कीरई तं पु। ४ जं कीरइ त पु.

तमोर्द्रं च, तत्रेह सस्निग्धे 'मार्गणा' अन्वेषणा कर्त्तव्या यतः सस्निग्धे हस्तादौ ग्रहण भविष्यत्यपि ॥

ससिणिद्धंपि य तिविहं सच्चित्ताचित्तमीसगं चेव। अचित्त पुण ठप्प अहिगारो मीससच्चित्ते ॥ ४८९ ॥

यच्चसस्निग्ध तत्त्रिविधं-सचित्तमचित्त मिश्र चेति। तत्राचित्त स्थाप्य यतस्तत्राचित्तसस्निग्धे ग्रहण क्रियत एव न तत्र निरूपणा, अधिकारः पुनः-निरूपण मिश्रसचित्तयोः कर्त्तव्यं। इदानीं मिश्रसचित्तसस्निग्धे हस्ते सति ग्रहणविधिं प्रतिपादनायाह—

पव्वाण किंचि अव्वाणमेव किंचिन्न होअणुव्वाण। पाएण हि त सव्व पक्कखाणी य वुड्डी य॥ ४९० ॥

तत्र हस्ते सस्निग्ध किञ्चित् म्लान-मनाक्शुष्कं तथा 'प्रवाण'ति आम्लानमुव्वानं किञ्चित्स्निग्ध 'किञ्चिच होअणु व्वाणं'ति किञ्चिच स्निग्धमनाम्लानमनुव्वान च, त्रिविधमप्येतत्सर्वं प्रायेण सस्निग्धमुच्यते, एवमेतद्विभाज्य तत्र एकैकस्य शुष्कभागस्य ग्रहण कर्त्तव्यं पूर्वानुपूर्व्या, तथा एकैकशुष्कभागहान्या पश्चानुपूर्व्या एकादि भिक्षा। सा एकैकभाग वृद्धिः कथ कर्त्तव्येत्यत आह—

सत्तविभागे उ कर विकभानइत्ताण इरियमाईण। निच्छुसंपयोरसि य पडे रेहा करतले य ॥ ४९१ ॥

'सप्त विभागान्' सप्तधा वा 'कर' हस्त 'विभज्य' विभागीकृत्य, केषां?-इत्यादीनां, ईते विभागा एतानङ्गीकृत्य

१ °मार्ग आ। २ °विभागेन कर आ प ११ ३ समर्थ° आ प ११ ४ ते न वि° आ पा २।

कर्त्तव्याः, के च ते ?–'निम्नोन्नतेतरान्' तत्र निम्नं त्वङ्गुलिपर्वरेखा उन्नतमङ्गुलिपर्वाणि इतरत्–करतलं नोन्नतं नापि निम्नं । इदानीं केन शुष्केण प्रदेशेन कः प्रदेशः प्रम्लानो भवति ? केन वा प्रम्लानेन प्रदेशेन कः सार्द्रः प्रदेशो भवतीत्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थमाह—

जाहे य उन्नयाइं उव्वाणाइं हवंति हत्थस्स । ताहे तलपव्वाणा लेहा पुण होंतऽणुव्वाणा ॥ ४९२ ॥

यदा उन्नतानि हस्तस्थानानि उद्वानानि भवन्ति तदा हस्ततलं प्रम्लानं–मनाक् शुष्कं भवति रेखास्तु भवन्त्यनुद्वानाः । इदानीं शुष्कहस्तस्थानानामेकैकवृद्ध्या यथा यस्मिन् काले ग्रहणं भवति तथा प्रदर्शयन्नाह—

तरुणित्थि एक्कभागे पव्वाणे होइ गहण गिम्हासु । हेमंते दोसु भवे तिसु पव्वाणेसु वासासु ॥४९३॥

तरुण्याः स्त्रिय उन्नतसप्तमैकभागे प्रम्लाने शुष्के सति उष्णकाले गृह्यते भिक्षा यतः स्वोष्मतया[2] कालस्य चोष्णतया यावता कालेन असावुन्नतप्रदेशः शोषमुपगतस्तावता कालेन इतरेऽपि निम्नप्रदेशाः सार्द्रा अपि अचित्ताः संजाता अतः कल्पते भिक्षाग्रहणं, हेमन्तकाले तस्या एव तरुण्या द्वयोः सप्तमभागयोः शुष्कयोः सतोर्भिक्षाग्रहणं भवेदिति, तस्या एव तरुण्या वर्षाकाले त्रिषु सप्तमभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं भवति ।

एमेव मज्झिमाए आढत्तं दोसु ठायए चउसु । तिसु आढत्तं थेरी य नवरि ठाणेसु पंचसु उ ॥४९४॥

1 निम्नोन्नतेतरे आ पा १–२ । २ सोष्म° आ पा १–२–पु ।

एवमेव मध्यमायाः स्त्रिया उष्णकाले द्वयोर्भागयोः प्रारभ्य चतुर्षु भागेषु संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति—मध्यमायाः स्त्रिया उष्णकाले द्वयोः सप्तमभागयोः शुष्कयोः सतोर्ग्रहणं भवति, तथा तस्या एव मध्यमायाः स्त्रिया हेमन्ते काले त्रिषु सप्तमभागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं भवति, तस्या एव च मध्यमस्त्रिया वर्षाकाले चतुर्षु सप्तमभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, एवं स्थविराया अपि उष्णकाले त्रिषु भागेषु प्रारभ्य पञ्चसु भागेषु संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति—उष्णकाले स्थविर्यास्त्रिषु सप्तमभागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं भवति, तथा तस्या एव स्थविर्या हेमन्तकाले चतुर्षु सप्तमभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं भवति, तथा तस्या एव स्थविर्या वर्षाकाले पञ्चसु सप्तमभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

एमेव होइ पुरिसे दुगाइछट्ठाण पज्जवासिएसु । अपुमं तु तिभागाई सत्तमभागे अवासिते उ ॥ ४१५ ॥

एवमेव पुरुषस्य द्वयोर्भागयोः प्रारभ्य षट्स्थानपर्यवसितेषु भागेषु संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति—तरुणपुरुषस्योष्णकाले भागद्वये शुष्के सति गृह्यते, तथा तस्यैव तरुणस्य शीतकाले त्रिषु भागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षा गृह्यते, तथा तस्यैव तरुणस्य वर्षाकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं, तथा मध्यमपुरुषस्योष्णकाले त्रिषु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं भवति, तस्यैव मध्यमस्य हेमन्तकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं, तथा तस्यैव मध्यमस्य वर्षाकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, तथा वृद्धपुरुषस्योष्णकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं कर्त्तव्यं तथा तस्यैव वृद्धस्य हेमन्तकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं, तस्यैव वृद्धस्य वर्षाकाले षट्सु भागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं । नपुंसकस्य पुनस्त्रिभागेभ्यारभ्य

१ कर्त्तव्यं तस्या भा ।

सति ग्रहणं कर्त्तव्यं भवति, अत्र चेयं भावना—
सप्तमभागे अवसिते सति संतिष्ठते, एतदुक्तं भवति—सर्वस्मिन् हस्ते शुष्के
तरुणनपुंसकस्योष्णकाले त्रिषु भागेषु शुष्केषु भिक्षाग्रहणं कल्पते, तस्यैव तरुणनपुंसकस्य हेमन्तकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु
भिक्षाग्रहणं, तस्यैव च वर्षाकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, मध्यमनपुंसकस्योष्णकाले चतुर्षु भागेषु शुष्केषु सत्सु ग्रहणं,
तस्यैव च हेमन्तकाले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु ग्रहणं, तस्यैव च वर्षाकाले षट्सु विभागेषु शुष्केषु ग्रहणं, वृद्धनपुंसकस्योष्ण-
काले पञ्चसु भागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं, तस्यैव हेमन्तकाले षट्सु भागेषु शुष्केषु भिक्षाग्रहणं, तस्यैव च वृद्धनपुंसकस्य
वर्षाकाले सप्तस्वपि सप्तमभागेषु शुष्केषु सत्सु भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यमिति । एवमेकैकवृद्धया ग्रहणमुक्तं, पश्चानुपूर्व्या तु एकैक-
भागहान्या भिक्षाग्रहणं वेदितव्यं, तच्चैवं—स्थविरनपुंसकस्य वर्षाकाले सप्तभिरपि हस्त(सप्तम)भागैः शुष्कैर्गृह्यते भिक्षा,
तस्यैव च शीतकाले षड्भिर्भागैः शुष्कैर्गृह्यते भिक्षा, तस्यैवोष्णकाले पञ्चभिर्भागैः शुष्कैर्गृह्यते, एवमनया हान्या तावन्नेतव्यं
यावत्तरुणी स्त्रीति । उक्तं त्रिधा द्वारं, भावद्वारप्रतिपादनायाह—

दुविहो य होइ भावो लोइयलोउत्तरो समासेणं। एक्किक्को वि य दुविहो पसत्थओ अप्पसत्थो य ।४९६।

द्विविधो भवति भावः—लौकिको लोकोत्तरश्चेति, समासतः पुनरेकैको द्विविधः—प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, लौकिकः प्रशस्तोऽप्रश-
स्तश्च, एवं लोकोत्तरोऽपि । तत्रोदाहरणमुच्यते—एगंमि सन्निवेसे दो भाउया वणिया, ते य परोप्परं विरिक्का, तत्थ एगो गामे
गंतूण करिसणं करेइ, अण्णोवि तहेव, तत्थ एक्कस्स सुमहिला अण्णस्स दुम्महिला, जा सा दुम्महिला सा गोसे उट्ठिया मुहो-

१ °भागेषु संति° आ, °भागेऽप्यपगते सति सति° ल. १ ।

दगदतपक्खालणअद्दागफलिहमाईहिं मदती अच्छइ कम्मारगाईण न किंचि जोगक्खेम वहइ, कज्जेउय च करेइ, अण्णस्स य ना मा महिला कम्मारमाईण जोगक्खेम वहइ अप्पणो य सकज्जं मज्जणादि करेइ, तत्थ जा सा अघमो सेव मज्झे लग्गा अच्छइ तीए अचिरेण कालेण परिक्खीण घरं, इयरीए घरं घणधण्णेण समिद्धं जायं । एस च जो साहू वण्णहेउ रूवहेउ वा रसहेउं वा आहारं आहारेइ, नवि आयरिए णवि बालवुड्ढगिलाणदुम्बले य पडियग्गति अप्पणो य गहाय पक्खेव नियच्छइ, एस सो मप्पपोसओ, जहा सा दुक्खा हिरण्णाईण एव इमोवि जो निज्जरालाभो तस्स चुक्किहिइ, पढरुयो इमो जो णो वण्णहेउ णो रूवहेउ णा रसहेउं वा आहारं आहारेइ, बालाईण दाउ पच्छा आहारेइ, सो नाणदसणचरित्ताण आभागी भवति । एवं पसत्येण भावेण आहारेयव्वो सो पिंडो । इदानीमेतमेवार्थजात गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

सज्झिलगा दो वणिया गाम गंतूण करिसणारंभो । एगस्स देहमंडणपाउसिआ भारिया अलसा ॥४९७॥

मुहधोवण दतवण अद्दागाईण कज्ज आवास । पुव्वाविहकरणमप्पण उक्कोसयर च मज्झण्हे ॥ ४९८ ॥

तणकट्ठहारगाण न देइ न य दासपेसवग्गस्स । न य पेसणे निउजइ पलाण हिय हाणि गेहस्स ॥४९९॥

बिइयस्स पेसवग्ग वावारेऊण पेसणे कम्मे । काले देयाहार सय च उवजीवई इड्ढी ॥ ५०० ॥

सुगमाः नवरं 'पाउसिआ' विहूमणसीला ॥ मुखधावन करोति तथा 'कज्ज'पि करणपूएकम् आवश्यक पूर्वाह्न करो

१ भाद १ आ. । २ छोरि मिज आ. पा १ । १ नमेथार्थ भा. पा १. २ । ४ पमणे म ज १ पु. । ५ पुव्वह° भा । ६ नवपेसणे भा ।

त्यात्मन[1] उत्कृष्टतरं च घृतपूर्णादि मध्याह्ने भक्षयत्येकाकिनी । तृणकाष्ठहारकाणां न किञ्चिद्ददाति दासवर्गस्य तथा प्रेष्यो यः कश्चित्प्रेष्यते तद्वर्गस्य च न किञ्चिद्ददाति, न च 'प्रेषणे कार्ये, नियुङ्क्ते कर्मकरान्, ततश्च भोजनादिना विना 'पलाणा' नष्टा हृतं च यत्किञ्चिद्गृहे रिक्थं[2]मासीत्, एवं हानिर्जाता गेहस्य, तत्रायं लौकिकोऽप्रशस्तो भावः । इदानीं लौकिकप्रशस्तभावप्रतिपादनायाह–द्वितीयस्य या भार्या सा प्रेष्यवर्गं प्रेषणे[3] कार्ये व्यापार्य कर्मणि च त्रिविधे काले च तेषामाहारं ददाति स्वयं च काले आहारमुपजीवति[4] ऋद्धिं च उपजीवति । अयं च लौकिकोऽत्र प्रशस्तो भाव उक्तः, इदानीं लोकोत्तराप्रशस्तभावप्रतिपादनायाह—

वन्नबलरूवहेउं आहारे जो तु लाभि लब्भंते । अतिरेगं न उ गिण्हइ पाउग्गगिलाणमाईणं ॥५०१॥

जह सा हिरण्ण[5]माईपरिहीणा होइ दुक्खआभागी । एवं तिगपरिहीणो साहू दुक्खस्स आभागी ॥५०२

आयरियगिलाणट्ठा गिण्हइ न महंति एव जो साहू । नो वन्नरूवहेउं आहारे एस उ पसत्थो ॥५०३॥

वर्णबलरूपहेतुमाहारयति यश्च लाभे क्षीरादौ लभ्यमाने सति प्रायोग्यं ग्लानादीनामतिरिक्तं न गृह्णाति । यथा सा गृहस्था हिरण्यादिपरिहीणा संजाता दुःखभागिनी च जाता एवं साधुरपि त्रिकेण–ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणेन हीनो दुःखस्य

१ "रमना चोरू" आ पा. १ । २ स्थितमा° ल १ । ३ व्यापारयित्वा प्रेषणा कार्ये कर्मणि च त्रिविधे आ. । ४ °जीवति । अय आ. । ५ °माईसु परि° आ. पा. १ ।

भागभागी भवति । उक्तो लोकोत्तरोऽप्रशस्तः, इदानीं लोकोत्तरप्रशस्तभावप्रदर्शनायाह–आचार्यादीनामर्थाय गृह्णाति, न ममेदं योग्यं किन्त्वाचार्यादेः, एवं यः साधुर्गृह्णाति, शेषं सुगमं । उक्तो लोकोत्तरः प्रशस्तो भावः, उक्तं भावद्वारम् ॥

उग्गमउप्पायणएसणाए बायाल होंति अवराहा । सोहेउ समुयाणं पडुप्पन्ने वच्चए वसहिं ॥ ५०४ ॥

सुन्नघरदेउले वा असई य उवस्सयस्स वा दारे । संसत्तकंटगाई सोहेउमुवस्सगं पविसे ॥ ५०५ ॥

एवं साधुरुद्गमोत्पादनैषणाभिर्द्विचत्वारिंशदपराधा भवन्ति तैः समुदानं भैक्षं 'शोधयित्वा' विविच्य ततः 'पडुप्पन्ने वच्चए वसहिं' लब्धे सति भक्तादौ वसतिं प्रयाति । इदानीं तद्भक्तं गृहीतं सच्छोधयित्वा वसतिं प्रविशति, केषु स्थानेषु ?, अत आह–गृहीत्वा भक्तमुपाश्रयाभिमुखो व्रजन् शून्यगृहे तद्भक्तं प्रत्युपेक्ष्य ततो वसतिं प्रविशति, तदभावे देवकुले वा, 'असई य' एतदादीनामभावे उपाश्रयद्वारे संसक्तं प्राणैः कण्टकैर्वा यद्व्याप्तं तत् शोधयित्वा–प्रोज्झ्य संसक्तादिभक्तं तत उपाश्रयं प्रविशति । एवं तस्य प्रत्युपेक्ष्यमाणस्य कदाचित्संसक्तं भवति ततः किं करोतीत्यत आह—

संसत्त तच्चोच्चिअ परिट्ठवित्ता पुणो दव गिण्हे । कारण मत्तय गहिअं पडिग्गहे छोढु पविसणया ॥५०६॥

यदि तत्र संसक्तं भक्तं पानकं वा भवेत्ततोऽस्मादेव स्थानात्परिस्थाप्य पुनरप्यन्यद्द्रव्यं गृह्णाति, तथा ग्लानादिकारणेन च मात्रके यद्गृहीतमासीत्तत्पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य प्रविशति, यतस्तस्य साधुभिरालपात गद्दुत ग्लानस्यान्यत्क्षुत्ततो निष्कारण

१ "एषणाहिं" भ. २ । २ सोधेउं" क. १–२ । ३ भजेत्, एवं" भा. क. २ । ४ तथाहिय क. १ पु. । ५ प्रतिस्थाप्य भा. ।

मात्रकोपयोगं परिहरन् पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य प्रविशति, निष्कारणमात्रकोपयोगे च प्रमादी भवति। एवमसौ परिशुद्धे सति भक्ते प्रविशति उपाश्रयं। अथाशुद्धं भवति ततः परिष्ठाप्य किं करोतीत्यत आह—

गामे य कालभाणे पहुव्वमाणे हवंति भंगट्ठा। काले अपहुप्पंते नियत्तई सेसए भयणा ॥ ५०७ ॥

यदा ग्रामः पर्याप्यते कालश्च यदा पर्याप्यते भाजनं च पर्याप्यते एवमस्मिंस्त्रये पर्याप्यमाणे सति पदत्रयनिष्पन्ना अष्टौ भङ्गका भवन्ति, तेषां च भङ्गकानां मध्ये यस्मिन् भङ्गके कालो न पर्याप्यते तस्मिन्निवर्त्तत एव, शेषेषु च चतुर्षु भङ्गकेषु 'भजनां' विकल्पनां करोति। इदानीं भजनां दर्शयन्नाह—

अण्णं च वए गामं अण्णं भाणं व गिण्ह सइ काले। पढमे बीए छप्पंचमे य भय सेस य नियत्ते ॥५०८॥

अन्यं ग्रामं वा व्रजति काले पर्याप्यमाणे, अन्यच्च[1] भाजनं गृह्णाति पर्याप्यमाणे काले सति एवं प्रथमे भङ्गके द्वितीये च षष्ठे पञ्चमभङ्गके च 'भजनां' सेवनां करोति काले सति, शेषभङ्गकेषु येषु कालो न पर्याप्यते तेषु 'निवर्त्तेत[3]' न गन्तव्यं भिक्षाया इत्यर्थः। स च पर्याप्यमाणः कालो द्विविधः—जघन्य उत्कृष्टश्च तत्र जघन्यप्रतिपादनायाह—

वोसिट्ठ[4]मागयाणं उव्वासिअ[5] मत्तए य भूमितिअं। पडिलेहे[6]अणत्थमिए सेसत्थमिए जहन्नो उ ॥५०९॥

१ करोति सेवना वा करोति आ.। २ अन्य च आ। ३ 'निवर्त्तन' गन्त° आ. पा. १। ४ वोसिट्ठु° आ, वोसिचमा° पु। ५ उव्वसिअ ल. १। ६ °लेहियमत्थमणं आ. पा. १।

सन्ध्यां व्युत्सृज्यागतानां मात्रक च यस्मिन् तोय गृहीत्वा मल आसीभिर्लेपनार्थं तस्मिन्नुद्वासिते—शोषिते सति भूमित्रिके च—कायिकीभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि सन्ध्याभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि कालभूमौ त्रीणि स्थण्डिलानि, एवमस्मिन् भूमित्रिके प्रत्युपेक्षिते सति यदाऽस्तमन भवति तस्मिन् प्रदेशे 'सेसस्थमिए'त्ति शेषानपि अस्तमिते आदित्ये प्रत्युपेक्षते पदा मयमित्यम्भूतो जघन्यः काल इति । इदानीमुत्कृष्टकालप्रतिपादनायाह—

मुत्ते वियारभूमिं गयागयाण तु जह य ओगाहे । चरमाए पोरिसीए उक्कोसो सेस मज्झिमओ ॥५१०॥

मुक्ते सति विचारभूमि–सन्ध्याभूमिं गत्वाऽऽगतानां यदा 'ओगाहे' आगच्छति चरमा पौरुषी—चतुर्थः प्रहरः, अथवा चरमपौरुषी—पादोनचतुर्थप्रहरो यदाऽऽगच्छति अस्यां वेलायामयमुत्कृष्टः कालः, शेषस्त्वन्यो मध्यमः काल इति । तेन च भिक्षामटित्वा विनिवृत्य प्रविशता वसतौ किं कर्तव्यमत आह—

पायपमज्जण बाहिं निसीहि तिन्नि उ करे पवेसम्मि । अजलि ठाणविसोही दण्डग उवहिस्स निक्खेवो ॥

बहिरेव वसतेः पादौ प्रमार्जयति निषीधिका(नैषेधिकी)त्रितयं करोति, प्रविशन् पुनश्च गुरोः पुरस्तादञ्जलिना नमस्कारं करोति "नमो खमासमणाण"त्ति, तथा प्रविश्य स्थानं विशोधयति यत्र दण्डकस्योपधेश्च निक्षेपं करोति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

---

१ भूमी आ. ब १ । २ यदा' आ पा. २ । ३ °निसीहिआ य तिन्नि आ. ।

एवं पडुपन्ने पविसओ उ तिन्नि उ[1] निसीहिया होंति । अग्गद्दारे मज्झे पवेस पाए असागरिए[2] ॥२६२॥ भा०

एवं प्रत्युत्पन्ने-लब्धे सति भक्ते प्रविशतस्तिस्रो निषीधिका[3](नैषेधिक्यः) भवन्ति, क ? अग्रद्वारे प्रथमा द्वितीया मध्यप्रदेशे वसतेः प्रवेशे च मूलद्वारस्य तृतीयां निषीधिकां[4](नैषेधिकीं) करोति पादौ च प्रमार्जयति यदि कश्चित्सागारिको न भवति, अथ तत्र सागारिको भवति ततो वरण्डकाभ्यन्तरे प्रमार्जनं करोति, अथ मध्येऽपि[5] भवति-द्वितीयनिषीधिका (नैषेधिकी) स्थानेऽपि भवति सागारिकः[6] ततो मध्ये प्रविश्य प्रमार्जयति पादौ, अनेनैव[7] कारणेन पश्चाद्भाष्यकारेण पादप्रमार्जनं व्याख्यातं येन तदनियतं वर्त्तते, निषीधिकासु (नैषेधिकीषु) कृतास्वपि[8] कारणवशात्संभवतीति । इदानीमञ्जल्यवयवं व्याख्यानयन्नाह—

हत्थुस्सेहो सीसप्पणामणं वाइओ नमोक्कारो । गुरुभायणे पणामो वायाए नमो न उस्सेहो ॥२६३॥ भा०

हस्तस्योत्सेधं[9] नमस्कारार्थं करोति, शीर्षप्रणमनं करोति, वाचा च "नमो खमासमणाणं"ति, इत्येवं नमस्कारं करोति, अथ तद्गुरु भिक्षाभाजनं भवति मात्रकं च गुरु गृहीतमङ्गुलीभिः ततश्चैवं गुरुणि भाजने सति शिरसा प्रणामं करोति वाचा च नम इत्येवं ब्रूते, न हस्तस्योच्छ्रूयं करोति, यतोऽसौ गुरोर्मात्रकस्याधो हस्तो दत्तः संधारणार्थमतोऽक्षणिकस्ततश्च[10] नोच्छ्रूयं करोति । इदानीं स्थानविशोधिं व्याख्यानयन्नाह—

---

१ व आ ल. १-२, पा. २ । २ य सागरिए आ ल १-२ पा १-२ । ३ निषेधिका ल. १-२ । ४ निषेधिका ल. १-२ । ५ मध्यमेऽपि आ. । ६ ततो आ । ७ तेन च कार° आ पा १, २ । ८ अकृता° आ । ९ हस्तोच्छ्रूयं ल १ । १० साधारणा° आ. ।

उवरिं हिट्ठा य पमज्जिऊण लट्ठिं ठवेज्ज सट्ठाणे। पट्ट उवहिस्सुवरिं भायणवत्थाणि भाणेसु ॥२६४॥(भा)

उपरि-हस्तस्थाने अधस्तात्-भूमौ प्रमृज्य पुनश्च स्वस्थाने यष्टिं स्थापयेत्, पुनश्च 'पट्टकं' चोलपट्टकमुपधेरुपरि स्थापयति 'भाजनवस्त्राणि च' पटलानि 'भाजनेषु' पात्रकोपरि स्थापयति ॥

जइ पुण पासवण से हविज्ज सो उग्गह सपच्छाग। दाउ अन्नस्स सचोलपट्टओ काइय निसिरे ॥२६५॥

यदि पुनस्तस्य साधोः 'प्रश्रवणं' कायिकाविर्भवति ततश्च 'अवग्रहं' पतद्ग्रहं 'सपच्छागं' सपटलं 'दाउ' अर्पयित्वा अन्यस्य साधोः पुनश्च सह चोलपट्टकेन-चोलपट्टकद्वितीयः कायिकां व्युत्सृजति। कायिकां व्युत्सृज्य कायोत्सर्गं करोति, तत्र च यो विधिरसावुच्यते आह—

चउरंगुलमुहपत्ती उज्जुए वामहत्थि रयहरणं। वोसट्ठचत्तदेहो काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥ ५१२ ॥

चतुर्भिरङ्गुलैर्जानुनोरुपरि चोलपट्टं करोति नाभेरधश्चतुर्भिरङ्गुलैः पादयोश्चान्तरं चतुरङ्गुलं कर्तव्यं, तथा मुखवस्त्रिका दक्षिणहस्तेन गृह्णाति वामहस्तेन च रजोहरणं गृह्णाति, पुनरसौ व्युत्सृष्टदेहः-प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेहः सर्पाद्युपद्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गं, अथवा व्युत्सृष्टदेहो दिव्योपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गभङ्गं करोति, त्यक्तदेहोऽक्षिमलमपि क्षमपि नापनयति, स एवंविधः कायोत्सर्गं कुर्यात्। इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

१ उम्मत्त स. १ २।

चउरंगुलमप्पत्तं जाणुग[1]हिट्ठा छिवोवरिं नाहिं। उभओ कोप्परधरिअं करिज्ज पट्टं च पडलं वा २६६ भा०
पुव्वुद्दिट्ठे ठाणे ठाउं चउरंगुलंतरं काउं। मुहपोत्ति उज्जुहत्थे वामंमि य पायपुंछणयं ॥ ५१३ ॥
काउस्सग्गंमि ठिओ चिंते समुयाणिए अईयारे। जा निग्गमप्पवेसो तत्थ उ दोसे मणे कुज्जा ॥५१४॥

चतुर्भिरङ्गुलैरधो जानुनी अप्राप्तश्चोलपट्टको यथा भवति तथा नाभिं चोपरि चतुर्भिरङ्गुलैर्यथा न स्पृशति, उभयतो-बाहुकूर्पराभ्यां धृतं करोति 'पट्टकं' चोलपट्टकं पडलं वा उभयकूर्परधृतं करोति, यदा चोलपट्टकः सच्छिद्रो भवति तदा पटलं गृह्णाति। पूर्वोद्दिष्टमेव कायोत्सर्गस्थानं तस्मिन् स्थित्वा, तथा पादस्य पादस्य चान्तरं चतुरङ्गुलं कृत्वा मुखवस्त्रिकां च दक्षिणहस्ते कृत्वा वामहस्ते च पादपुञ्छनकं-रजोहरणं कृत्वा कायोत्सर्गेण[3] तिष्ठति। पुनश्च कायोत्सर्गे च स्थितश्चिन्तयेत्, 'सामुदानिकानतिचारान्' भिक्षातिचारानित्यर्थः, कस्मादारभ्य चिन्तयत्यतिचारान्?-निर्गमादारभ्य यावत्प्रवेशो वसतौ जातः, अस्मिन्नन्तराले तत्र ये दोषा जातास्तान् 'मनसि करोति' स्थापयति चेतसि ॥

ते उ पडिसेवणाए अणुलोमा होंति वियडणाए य। पडिसेववियडणाए एत्थ उ चउरो भवे भंगा ॥५१५॥

तांश्चातिचारान् प्रतिसेवनानुलोम्येन-यथैव प्रतिसेवितास्तेनैवानुक्रमेण कदाचिच्चिन्तयति, तथा 'वियडणाए'त्ति विकटना-आलोचना तस्यां चानुलोमानेव चिन्तयति, एतदुक्तं भवति-पढमं लहुओ दोसो पडिसेविओ पुणो वड्डो वड्डयरो,

---

१ जाणूद्दिट्ठां पा २। २ पाय चउ° ल, २। ३ °त्सर्गेण व्यवस्थित° आ.।

चितेह एवमेव, ततश्च प्रतिसेवनायां अनुकूलम्, आलोचनायामप्यनुकूलमेव, यतः प्रथम लघुको दोष आलोच्यते पुनर्गुरुतरः पुनर्गुरुतम इत्येष प्रथमो भङ्गक इति, अण्णो पडिसेवणाए अणुकूलो न उण वियडणाए, एतदुक्तं भवति-आसेविओ पढम गरु पुणो लहुओ पुणो गरु पुणो गरुयरं, चितेह एवमेव, ततश्च प्रतिसेवनाया अनुकूल न त्वालोचनायाः, यतस्तत्र प्रथम लघुतर आलोच्यते पुनर्गुरुतरः पुनर्गुरुतम इत्येष द्वितीयो भङ्गकः, अण्णो पडिसेवणाए अणणुकूलो आलोयणाए पुण अणुकूलो, एतदुक्तं भवति-अइविसमा पडिसेविआ चितेह पुण आलोयणाणुकूलेणं, एसो तइओ भंगो, अण्णे उण पडिसेवणाएवि अणणुकूलो आलोयणाएवि अणणुकूलो, एतदुक्तं भवति-पढम गरुो पडिसेविओ पुणो लहुओ पुणो गरुो पुणो गरुयरो, चितेह पुण व जहा संभरइ, पढम गरुो पुणो लहुओ पुणो गरुो पुणो गरुयरो एव अइविसम चितवन्त य पडिसेवणाणुकूलो णालोयणाणुकूलो, एस चउत्थो, एसो य वज्जेयव्वो। इदानीमस्यैवार्थं भाष्यकारेणोपसंहरन्नाह-'पडिसेवणविय डणाए य होंति एएयंपि चउभंगा' (एत्थ उ चउरो भवे भंगा) इद व्याख्यातमेवेति। इदानीं सामुदानिकानविचारानालोचयति यदि व्याक्षेपादिरहितो गुरुर्भवेत्, अथ व्याक्षिप्तो भवति तदा नालोचयति, एतदेवाह—

वक्खित्तपराहुत्ते पमत्ते मा कयाइ आलोए। आहार च करिंतो नीहार वा जइ करेइ ॥ ५१६ ॥

कहणाईवक्खित्ते विकहाइ पमत्ते अहवओ य मुहे। अतरभकारए वा नीहारे सक मरण वा ॥२९७॥(भा)

व्याक्षिप्तो धर्मकथनादिना स्वाध्यायेन, 'पराहुत्तो'त्ति पराङ्मुखः पराभिमुख इत्यर्थः, प्रमत्त इति विकथयति, एवंविधे

१ एत कल्पवेमुक्तं, प्रमत्त इ. १-२।

गुरौ न कदाचिदालोचयेत् , तथाऽऽहारं कुर्वति सति, तथा नीहारं वा यदि करोति ततो नालोचयति । इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह–धर्मकथादिना व्याक्षिप्तः कदाचिद् गुरुर्भवति, विकथादिना वा प्रमत्तोऽन्यतोऽभिमुखो वा भवति, भुञ्जतोऽपि वा नालोचनीयं, किं कारणं ? 'अंतर'ति अन्तरायं भवति यावदालोचनां शृणोति, अकारकं वा–शीतलं भवति यावदालोचनां शृणोति । तथा नीहारमपि कुर्वतो नालोचनीयं, किं कारणं ?, यत आशङ्कया साधुजनितया न कायिकादि निर्गच्छति, अथ धारयति ततो मरणं वा भवति । यस्मादेते दोषास्तस्मात्—

अवक्खित्ताउत्तं उवसंतमुवट्ठिअं च नाऊणं । अणुन्नवित्तु मेहावी आलोएज्ज सुसंजए ॥ ५१७ ॥

कहणाइ अवक्खित्ते कोहाइ अणाउले तदुवउत्ते। संदिसहात्ति अणुन्नं काऊण विदिन्नमालोए ॥२६८॥

धर्मकथादिनाऽव्याक्षिप्ते गुरौ आलोचयेत्, आयुक्तं–उपयोगतत्परं 'उपशान्तं' अनाकुलं गुरुं दृष्ट्वा 'उपस्थितं' उद्यतं च ज्ञात्वा, एवंविधं गुरुमनुज्ञाप्य मेधावी आलोचयेत् 'सुसंयतः' साधुः । इदानीमेतामेव गाथां व्याख्यानयन् भाष्यकृदाह–धर्मकथादिनाऽव्याक्षिप्ते क्रोधादिभिरनाकुले तदुपयुक्ते–भिक्षालोचनोपयुक्ते च 'संदिसहत्ति अणुन्नं काऊण' संदिशत आलोचयामीत्येवमनुज्ञां कृत्वा मार्गयित्वेत्यर्थः, 'विदिण्ण'त्ति आचार्येण विदिन्नायामनुज्ञायां भणत इत्येवंलक्षणायां तत आलोचयेत् । तेन च साधुनाऽऽलोचयता एतानि वर्जनीयानि—

---

१ भुञ्जानस्य यावदा॰ पा. २ ।

नट्ठ धल चल मास मूय तह ढ्ढुर च वज्जिज्जा। आलोइज्ज सुविहिओ हत्थ मत्त च वावार ॥ ५१८ ॥ करपाय भमुहसीसऽच्छिउट्ठमाईहि नच्चिअ नाम। वलण हत्थसरीरे चलण काए य भासे य ॥२६९॥ भा गारत्थियभासाओ य वज्जए मूय ढड्ढर च सर। आलोए वावार ससट्ठियरे च करमत्ते ॥२७०॥ भा

नृत्यमालोचयति चलम नालोचयति अंगानि चलयन्नालोचयति, तथा 'भासं'ति गृहस्थभाषया नालोचयति, किं तर्हि ?—संयतभाषयाऽऽलोचनीयमिति, तथा—सुयारियाओ इत्येवमादि, तथा आलोचयन् मूकेन स्वरेण नालोचयति भिणिभिणंत, तथा ढड्ढरेण च स्वरेण—उच्चैर्नालोचयति एवंविध स्वरं वर्जयेत्। किं पुनरसावालोचयतीत्येतदाह—आलोचयेत् सुविहितो हस्तमुखकस्निग्ध, तथा 'मात्रक' गृहस्थसत्क कस्थ्लकादि—उच्चारादि, तथा गृहस्थया कृतम व्यापारं कुर्वन्त्या भिक्षा दघेत्येतदालोचयति। इदानीमेतामेव गाथां, भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—करस्य तथा पादस्य भ्रुवः शिरसः अक्ष्णः ओष्ठस्य च, एवमादीनामङ्गानां सविकारं चलन नर्तनं नाम, तेन नर्तित कुर्वन्नालोचयति, वलन हस्तस्य शरीरस्य च कुर्वन्नालोचयति, तथा चलन कायस्य करोति मोटन तत्कुर्वन्नालोचयति, तथा भाषितमलनमन्यथा गृहीतमन्यथाऽऽलोचयति अन्नवियस्स ॥ आलोचयन् गृहस्थभाषया नालोचयति येतुत "तलमणीओ(?)ऊढाओ मडया ऊढा" इत्येवमादि, किन्तु संयतभाषयाऽऽलो

१ °मुहि अ। २ °उर्द्धि° आ। ३ °मासमाणो आ। ४ °लोचयति आ पा. १। ५ °भिलेभी क.। ६ °स्वत आर पा १–२। ७ एतद् कुर्वता° आ. क २ प १२। ८ मायतो बजन क १–२। ९ यथा 'सुमणीओ (अमणीओ) ऊढाओ आ. क. २।

चनीयमिति 'सुयारियाउ' इत्येवमादि, मूकस्वरं मनाक् ढड्ढरं च महान्तं स्वरं वर्जयन्नालोचयति, किमालोचयति ?—'व्यापारं' गृहस्थायाः सम्बन्धिनं, तथा 'संसृष्टम्' उदकाद्रादि, इतरं असंसृष्टं, किं तत् ?—करं संसृष्टमसंसृष्टं च उदकेन, तथा 'मात्रकं' गृहस्थसत्कं कुण्डेलिकादि उदकसंसृष्टमसंसृष्टं चेति, एतदालोचयेत् ।

एयद्दोसविमुक्कं गुरुणो गुरुसम्मयस्स वाऽऽलोए। जं जह गहियं तु भवे पढमाए जा भवे चरिमा ।५१९।

एभिर्दोषैर्विमुक्तमनन्तरोक्तैर्भैक्षमालोचयेद्गुरोः समीपे वा यो गुरोः संमतो—बहुमतस्तस्य समीपे आलोचयेत्, कथमालोचनीयं ?, यद्यथा गृहीतं भवेत्—येन क्रमेण यद्गृहीतं प्रथमभिक्षाया आरभ्य यावच्चरमा—पश्चिमा भिक्षा तावदालोचयेदिति । एष तावदुत्सर्गेणालोचनाविधिः । यदा पुनरेतानि कारणानि भवन्ति तदा ओघत आलोचयतीत्येतदेवाह—

काले अपहुप्पंते उच्चाओ आवि ओहमालोए। वेला गिलाणस्स व अइच्छई गुरू व उच्चाओ ॥ ५२० ॥

यदा तु पुनः काल एव न पर्याप्यते यावदनेन क्रमेणालोचयति तावदस्तं गच्छत्यादित्यः तदा तस्मिन् काले ओघतः—संक्षेपेणालोचयति, यदि वा श्रान्तः कदाचिद्भवति तदाप्योघत एव आलोचयति, वेला वा ग्लानस्यातिक्रामति यावत्क्रमेणालोचयति अत ओघत आलोचयति, अथवा गुरुः उच्चातो—श्रान्तः कुलादिकार्येण केनचित् तत ओघत आलोचयति एभिः कारणैरिति। का चासावोघालोचना ?—

---

१ °स्थयो आ । २ पढमाओ जा आ. । ३ य पहु° आ ल २. पा १ । ४ एवं कार° आ. ।

पुरकम्मपच्छकम्मे अप्पऽसुद्धे य ओहमालोए। तुरियकरणंमि ज से न सुज्झई तत्तिअं कहए ॥५२१॥

व्याक्षेपे आपन्ने सत्येवमोघालोचनयाऽऽलोचयति—पुरःकर्म पश्चात्कर्म च अल्पं—नास्ति किञ्चिदिसर्पणः, 'असुद्धे य' ति—अशुद्ध चास्य, अशुद्धभावाकर्मादिमभिधीयते तदल्पं—नास्तीति, एवमोघतः—संक्षेपेणालोचयेत्। 'तुरियकरणंमि'त्ति त्वरिते कार्ये जाते सति येन शुद्ध्यति उक्तेन प्रकारेण तावन्मात्रमेव कथयति, एषा ओघालोचनेति ॥

आलोएत्ता सव्वं सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्ता। उड्ढमहे तिरियम्मि य पडिलेहे सव्वओ सव्वं ॥५२२॥

एवमेषा मानसी आलोचना वाचिकी वाऽऽलोचनोक्ता, इदानीं कायिकी आलोचना भण्यते—आचार्यस्य भिक्षा दर्श्यते, एवं मनसा वाचा कायेनालोचयित्वा 'सर्वं' निरवशेषं, यथा मुखवस्त्रिकया शिरः प्रमृज्य पतद्ग्रहं च सपटलं प्रमृज्य 'ऊर्ध्वं' पीठी' 'अधो' भुवि 'तिर्यग्' तिरश्चीनं 'प्रत्युपेक्षेत' निरूपयेत् 'सर्वतः' समन्तात्सर्वास्वपि दिक्षु सर्वं नैरन्तर्येण, ततः पतद्ग्रहं हस्ते कृत्वा भक्तादि गुरोर्दर्शयतीति वक्ष्यति भाष्यकृत्। इदानीमेतामेव गाथां भाष्यकृद् व्याख्यानयति, अत्र गुरुदोषत्वात्प्रथममूर्ध्वादीनि त्रीणि पदानि व्याख्यानयन्नाह—

उड्ढ पुप्फफलाई तिरियं मज्जारसाणडिंभाई। खीलगदारुगआवडणरक्खणट्ठा अहो पेहे ॥२७१॥ भा

उपानाद्यो आरामिकानां मतां पुष्पफलादिपातमूर्ध्वे निरूप्य ततो गुरवे दर्शयति, तिर्यक् मार्जारश्वडिम्भानालोचया-

1 दर्शित धृत्वे मा १। २ मखवर्त्र उक्तेन कारीन ड. १। ३ भाष्ये" आ। ४ व्याख्याति क १। ५ आह पत्र मा पा १०

लोचयति मा भूत्ते आगच्छन्तस्तत्पात्रमुत्प्रेर्य पातयिष्यन्ति, आदिशब्दात्काण्डं वा केनचिद्विक्षिप्तमायाति अतस्तिर्यग् निरूप्यते, तथाऽधो निरूपयति, किमर्थं ? कदाचित्कीलको भवति दारुकाष्ठं वा भवति, तत्रापतनम्–आस्खलनं मा भूदिति, अतोऽधो निरूप्य ततो भक्तादि दर्शयति । इदानीं 'सीसं सपडिग्गहं पमज्जित्त'त्ति व्याख्यानयति—

ओणमओ पवडिज्जा सिरंओ पाणा सिरं पमज्जेज्जा । एवमेव उग्गहंमिवि मा संकुडणे तसविणासो ॥२७२॥

हस्तस्थे पतद्ग्रहेऽवनमतः शिरसः प्रपतेयुः प्राणिनः कदाचिदतः शिरः प्रथममेव प्रमार्जयेत्, एवमेव पतद्ग्रहे प्रमार्जनं कृत्वा प्रदर्शयेद्भक्तादि, किं कारणं ? मा संकुडणे तसविणासो'त्ति मा भूत्सङ्कोचने सति पटलानां त्रसादिविनाशो भविष्यत्यतः प्रमृज्य पतद्ग्रहं भक्तं प्रदर्शयतीति ॥

काउं पडिग्गहं करयलंमि अद्धं च ओणमित्ताणं । भत्तं वा पाणं वा पडिदंसिज्जा गुरुसगासे ॥२७३॥ भा०

कृत्वा पतद्ग्रहं करतले अर्धं च शरीरस्यावनम्य पुनर्भक्तं वा पानं वा प्रदर्शयेत् गुरुसकाश इति—

ताहे उ दुरालोइय भत्तपाण एसणमणेसणाए उ । अट्ठुस्सासे अहवा अणुग्गहादीउ झाएज्जा ।२७४। भा०

ततः कदाचिद्दुरालोचितं भक्तपानं भवति, 'नट्टं वलं चलं' इत्येवमादिना प्रकारेण, तथैषणादोषः कदाचित्सूक्ष्मः कृतो भवति, अनेषणादोषो वा कश्चिदजानता कृतः, ततश्चैतेषां विशुद्ध्यर्थमष्टोच्छ्वासं–नमस्कारं ध्यायेत्, अथवा 'अनुग्गहादीउ'त्ति

१ तत्रा° आ. । २ पमज्जेज'त्ति ल २ आ पा. १ । ३ पुरओ ल १ पु ।

अथवाऽनुग्रहार्थं ध्यायेत्, 'जइ मे अणुग्गहं कुज्जा साहू होज्जामि तारिओ' इत्येवमादि गाथाद्वय (दशवै. अध्य ५ उद्दे १ गा ९४-९५) कायोत्सर्गस्थो विश्रब्धं ध्यायेत्, उत्सार्य च कायोत्सर्गं ततः स्वाध्यायं प्रस्थापयेत्। एतदेवाह—

विणएण पट्ठवित्ता सज्झायं कुणइ तो मुहुत्तागं। पुव्वभणिया य दोसा परिस्समाई जढा एव ॥५२३॥

विनयेन प्रस्थाप्य स्वाध्यायं मुहूर्तमात्रं करोति, अथवा गाथात्रयं पठति, उत्कृष्टतश्चतुर्दशापि पूर्वाणि क्षुल्लकप्राण-लब्धिसम्पन्नोऽन्तर्मुहूर्तेन परावर्तयति, एवं च कुर्वता पूर्वभणिता दोषा 'धातुक्षोभे मरणं' मित्येवमादयः तथा परिश्रमादयश्च दोषा 'जढाः' त्यक्ता भवन्तीति ॥

दुविहो य सोवि साहू मंडलिउवजीवओ य इयरो य। मंडलिमुवजीवंतो अच्छइ जा पिंडिया सव्वे ॥५२४॥

स च साधुर्द्विप्रकारो—मण्डल्युपजीवकः इतरश्च—मण्डल्यनुपजीवकः, तत्र यो मण्डल्युपजीवकः साधुः सोऽटित्वा भिक्षां तावत्प्रतिपालयति यावत् 'पिण्डिताः' एकीभूताः सर्वेऽपि साधवो भवन्ति, पुनश्च स तैः सह भुङ्क्ते।

इयरो वि गुरुसगासं गंतूण भणइ संदिसह भंते ! पाहुणगखवगअतरंतबालवुड्ढाणं सेहाणं ॥५२५॥

'इतरोऽपि' अमण्डल्युपजीवकः साधुर्गुरुसकाशं गत्वा तमेव गुरुं भणति—येषु दे आचार्याः ! संदिशत—ददत यूयमिदं

१ योगविवक्षित उक्ता स्वाध्यायं गृह्य' आ क २. पु. पा २। २ सक्षा' आ। ३ होइ आ पा १ छो न क १। ४ तत्र यो मण्डल्युपजीवकः स धातु क्ष क. २। ५ यथा आ. पा १-२।

भोजनं प्राघूर्णकक्षपकअतरन्तबालवृद्धशिक्षकेभ्यः साधुभ्य इति । पुनश्च—

दिण्णे गुरूहिं तेसिं सेसं भुंजिज्ज गुरुअणुन्नाए । गुरुणा संदिट्ठो वा दाउं सेसं तओ भुंजे ॥ ५२६ ॥

एवमुक्तेन सता गुरुणा दत्ते सति तेभ्यः–प्राघूर्णकादिभ्यो यच्छेषं तद् भुञ्जीत गुरुणाऽनुज्ञाते सति, यदिवा गुरुणा[1] 'सन्दिष्टः' उक्त यदुत त्वमेव प्राघूर्णकादिभ्यः प्रयच्छ, एवमसौ साधुर्भणितः सन् दत्त्वा प्राघूर्णकादिभ्यस्ततः शेषं यद् भक्तं तद्भुङ्क्ते । एवं न केवलमसौ प्राघूर्णकादिभ्यो ददाति अन्यानपि साधून्निमन्त्रयति, तत्र यदि ते गृह्णन्ति ततो निर्जरा, अथ न गृह्णन्ति तथाऽपि विशुद्धपरिणामस्य निर्जरैवेति ॥ एतदेवाह—

इच्छिज्ज न इच्छिज्ज व तहवि य पयओ निमंतए साहू । परिणामविसुद्धीए अ निज्जरा होअगहिएवि ।५२७।

इच्छेत् कश्चित्साधुर्नेच्छेद्वा तथापि प्रयत्नेन–सद्भावेन निमन्त्रयेत्साधून् , एवं सद्भावेन निमन्त्रयमाणस्य 'परिणामविशुद्ध्या' चित्तनैर्मल्यान्निर्जरा भवति–कर्मक्षयलक्षणाऽगृहीतेऽपि भक्ते भवतीति । अथावज्ञया निमन्त्रयति ततश्चायं दोषः ।

भरहेरवयविदेहे पन्नरसवि कम्मभूमिगा साहू । एक्कंमि हीलियंमी सव्वे ते हीलिया हौंति ॥ ५२८ ॥

भरहेरवयविदेहे पन्नरसवि कम्मभूमिगा साहू । एक्कंमि पूइयंमी सव्वे ते पूइया हौंति ॥ ५२९ ॥

अह को पुणाइ नियमो एक्कंमि वेमाणियंमि[2] ते सव्वे । हौंति अवमन्निया[3] पूइए[4] य संपूइया सव्वे ॥ ५३०

१ °णैवासौ 'सन्दिष्ट' ल १–२, °णैव 'सन्दिष्ट.' पु. पा १–२ । २ °वि हीलियंमि ते आ पा १–२ । ३ °माणिया आ पा १ । ४ पूईयंमि सपू° पा. १ ।

नाण च दंसण चा तवो य तह संजमो य साहुगुणा। एक्के सव्वेसुवि हीलिएसु ते हीलिया होंति ॥५३१
एमेव पूइयम्मिवि एक्कम्मिवि पूइया जइगुणा उ। थोवं बहुनिवेसं इइ नच्चा पूयए मइमं ॥ ५३२ ॥
तम्हा जइ एस गुणो एक्कम्मिवि पूइयम्मि ते सव्वे। भत्तं वा पाणं वा सव्वपयत्तेण दायव्वं ॥ ५३३ ॥

सुगमा ॥ यदा पुनराहारेण निमन्त्रयते तदायं महान् गुणः—सुगमा ॥ अत्राह परः—अथ कः पुनरयं नियमः ? यदैव एकस्मिन्नवमानिते सति सर्वे एवापमानिता भवन्ति, तथैकस्मिन् संपूजिते सर्वे एव संपूजिता भवन्ति, न चैकस्मिन् संपूजिते सर्वे संपूजिता भवन्ति, न हि यज्ञदत्ते भुक्ते देवदत्तो भुक्तो भवतीति। आचार्य आह—ज्ञानं दर्शनं च तपस्तथा संयमश्च एते साधुगुणा वर्त्तन्ते, एते च गुणा यथैकस्मिन् साधौ व्यवस्थिता एवं सर्वेष्वपि, एकस्वरूपत्वात्तेषां, यतश्चैवमत एकस्मिन् साधौ हीलिते—अपमानिते सर्वेषु च साधुषु हीलितेषु 'ते' ज्ञानादयो गुणा 'हीलिताः' अपमानिता भवन्ति ॥ एवमेकस्मिन् पूजिते पूजिता यतिगुणाः सर्वे भवन्ति, यस्मादेवं तस्मात्स्तोकमेतत्पूजकानादि 'बहुनिवेसं' बह्वायमित्यर्थः निर्जराहेतुरिति, तस्मादेवं ज्ञात्वा पूजयेत्साधून् मतिमानिति, यतश्चैवमत एवमेव कर्त्तव्यम्। एतदेवाह—'तम्हे' त्यादि, सुगमा ॥

वेयावच्चं नियय करेह उत्तमगुणे धरिन्ताणं। सव्वं किल पडिवाई वेयावच्चं अपडिवाई ॥ ५३४ ॥
पडिभग्गस्स मयस्स व नासइ चरणं सुयं अगुणणाए। न हु वेयावच्चचियं सुहोदयं नासए कम्मं॥५३५॥

१ हि नवा क. १। २ बहेक' आ प. १–२। ३ 'नामादि क १। ४ यतर आ क २। ५ कर्म क १–२।

लाभेण जोजयंतो जइणो लाभंतराइयं हणइ[1]। कुणमाणो य समाहिं[2] सव्वसमाहिं लहइ साहू ॥५३६॥
भरहो बाहुबलीवि य दसारकुलनंदणो य वसुदेवो। वेयावच्चाहरणा तम्हा पडितप्पह जईणं ॥५३७॥
होज्ज न व होज्ज लंभो फासुगआहारउवहिमाईणं। लंभो[3] उ निज्जराए नियमेण अओ[4] उ कायव्वं ॥५३८॥
वेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स सद्धाए काउकामस्स। लाभो चेव तवस्सिस्स अद्दीणमणसस्स ॥५३९॥

वैयावृत्त्यं 'नियतं' सततं कुरुत, केषाम्?—उत्तमान् गुणान् धारयतां साधूनां कुरुत। शेषं सुगमम्। किञ्च—'प्रतिभग्नस्य' उन्निष्क्रान्तस्य मृतस्य वा नश्यति चरणं श्रुतमगुणनया न तु वैयावृत्त्यचितं—बद्धं शुभोदयं नश्यति कर्म। किञ्च—'लाभेन' प्राप्त्या घृतादेः 'योजयन्' घृतादिलाभेन योजयन् कान्?—यतीन्, लाभान्तरायं कर्म हन्ति। तथा पादप्रक्षालनादिना कुर्वन् समाधिं 'सर्वसमाधिं' मनसः स्वस्थतां वाचो माधुर्यादिकं कायस्य निरुपद्रवताम्, एवं कुर्वंस्त्रिरूपमपि सर्वंसमाधिं लभते॥ सुगमा, नवरं 'पडितप्पह'त्ति वैयावृत्त्यं कुरुत। किञ्च—भवेद्वा न वा लाभः, केषां?—प्रासुकानामाहारोपध्यादीनां तथापि तस्य वैयावृत्त्यार्थमभ्युद्यतस्य साधोर्विशुद्धपरिणामस्य लाभ एव निर्जरायाः[5], न अवश्यं लाभे एव सति निर्जरा भवति, यस्मादेवं तस्मात्कर्त्तव्यं वैयावृत्त्यम्। सुगमा, नवरं वैयावृत्त्ये 'अभ्युत्थितस्य' उद्यतस्य श्रद्धया कर्त्तुकामस्य लाभ एव॥

१ हरइ ल १। २ समाही ल १। ३ लंभो य निज° आ.। ४ य होइ का° ल १। ५ °राया अवश्यं, अलामेऽपि सति आ।

एसा गहणेसणविही कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता। घासेसणंपि इत्तो वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥५४०॥

सुगमा ॥ उक्ता ग्रहणैषणा साम्प्रतं ग्रासैषणोच्यते, तथा चाह—

दव्वे भावे घासेसणा उ दव्वंमि मच्छआहरणं। गलमसुढगभक्खण गलस्स पुच्छेण घट्टणया ॥ ५४१ ॥

सा च ग्रासैषणा द्विविधा—द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्ये मत्स्योदाहरणं, स चायम्—एगो किर मच्छबंधो गले मंसपिंडं दाऊण दहे छुहइ, तं च एगो मच्छो जाणइ, जहा एस गलोत्ति, सो परिपेरंतेण मंसं खाइऊण ताहे पराहुत्तो छिप्पंए गलमाहणइ, मच्छबंधो जाणइ—एस गहिओत्ति, एवं तेण सव्वं खाइयं मंसं, सो[1] य मच्छबंधो खाइएण मंसेण अद्धिइए उद्धो अच्छइ। एत्थ य आहरणं कुमारि—चारिणी कप्पिया य, तं एवं मच्छबंधं ओहयमणसंकप्पं झायंतं दट्ठुं मच्छो भणइ—अहं पमत्तो चरन्तो गहिओ बलागाए, ताहे सा उक्खिवित्ता पच्छा गिलइ, ताहे अहं मक्को तीसे मुहे पडामि, एवं तिन्नि वारा पि उच्छालिओ ताहे मुक्को, अन्नया समुद्दे अहं गओ तत्थ मच्छबंधा वलयामुहाइं करेंति कडएहिं, ताहे समुद्दवेलापाविएणं सह अह तत्थ पक्खीणए अहे पविट्ठो, ताहे तस्स रूवगस्स अणुसारेण अतिगओ, एवं तिन्नि वारा वलयामुहाओ मुक्को, जालाओ एक्कवीसं वारा फिडिओ, किह पुण ?, जाहे जाल छुब्भइ ताहे अहं भूमिं घित्तूण अच्छामि, तहा एक्कंमि छिण्णोदयम्मि दहम्मि अच्छिया, अन्नेहिं फिडावि न नाय जहा इमो दहो

१ इच्छामीत्याह—मत्स्ये ब। २ छप्पाए खा पा २ पु। ३ तो से मच्छो खा पा १। ४ छिविय खा अच्छिया ब २। ५ च मम पा १। ६ पविट्ठो खा.। ७ मुक्को खा. पा १। ८ °दए दहे ठिया अन्नेहिं खा. पा १-२।

सुकिहिइ, ताहे सो दहो सुको, मच्छाणं थले गई णत्थि, ते सवे सुकंते पाणिए मया, केई जीवंति, तत्थ कोइ मच्छबंधो आगओ, सो हत्थेण गहाय सूलाए पोएति, ताहे मए नायं, अहंपि अचिरा विज्झीहामि जाव न विज्झामि ताव उपायं चिंतेमि, ताहे तेसिं मच्छाणं अंतरालं सूलं मुहेण गहिऊण ठिओ, सो जाणइ–एते सवे पोइयल्लया, ततो सो गंतूण अण्णहिं दहे धोवइ, तत्थ अहं मच्छुवत्तं करिंतो चेवुड्डीणो पाणिए पविट्ठो, तं एयारिसं मम सत्तं, तहवि इच्छसि गलेण घित्तुं ?, अहो ! ते निल्लज्जत्तणंति ॥ अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह–'गलमंसुंडगं' गाहद्वं, गलमांसपिंडभक्खणं, शेषं सुगमं ॥

अह मंसंमि पहीणे झायंतं मच्छियं भणइ मच्छो। किं झायासि तं एवं! सुण ताव जहा अहिरिओऽसि॥ ५४२

चरियं व कप्पियं वा आहरणं दुविहमेव नायवं। अत्थस्स साहणत्था इंधणमिव ओयणट्ठाए॥ ५४३ ॥

तिबलागमुहुम्मुक्को तिखुत्तो वलयामुहे। तिसत्तखुत्तो जालेणं सइं छिन्नोदए दहे ॥ ५४४ ॥

एयारिसं ममं सत्तं, सढं घट्टिअघट्टणं। इच्छसि गलेण घित्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥ ५४५ ॥

अह होइ भावघासेसणा उ अप्पाणमप्पणा चेव। साहू भुंजिउकामो अणुसासइ निज्जरट्ठाए ॥ ५४६ ॥

बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव! नहु छलिओ। इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं।५४७।

१ मच्छाणंपि थले आ पा १–१। २ कइवि आ पा. १–२। ३ डसिउ मुहेग ठिओ आ. पा. १–२। ४ °मुहा मुक्को आ ल २ पा. १। ५ सयं आ. पा. १।

जह अब्भगणलेवा सगडक्खवणाण जुत्तिओ होंति। इय संजमभरवहणट्ठयाए साहूण आहारो ॥५४८॥

सुगमा॥, विसो धारा मलाकाया मुखेनो मुक्तः–ऊर्ध्वं क्षिप्तः त्रिकृत्वो 'मलयामुखे' कटास्मके आधर्षबद्धर्षिते, तथा त्रयः सप्तका बालाख्यगुतः 'संकुडू' पक्खारो छिन्नोदके प्रदे छुटितः ॥ एवमिव मम मक्ष शठ भो तथा 'घंटितबहुन' घेटितानि–संवृतानि बहूनानि–बालादीनि वलनानि यस्य सोऽत्र घटितबहुनः, तमेवविध इच्छसि मलेन प्रहीतु ?, अहो ते निर्लज्जता ॥ उक्ता ग्रासैषणा पयोऽसौ ग्रासे सर्वथ कथिच्छलित इति। इदानीं भावग्रासैषणां प्रतिपादयन्नाह–अथ भवति भावग्रासैषणा, कथ ?, यदाऽऽत्मानमात्मनैव साधुरनुशास्ति, कदा पुनः ?–'मोक्तुकामः' मोक्तुमभिलषन्, निर्जरार्थं न तु वर्णादिर्यम्। किं पुनरसौ चिन्तयन्नात्मानमनुशास्तीत्यत आह–द्विचत्वारिंशद्देषणादोषैः संकटं–दुष्प्रवेशं यद्गहनं गह्वरं तस्मिन् हे जीव ! न त्वं छलितः, शेषं सुगमं, यथा न व्यस्यसे तथा कर्तव्यं। यथाऽभ्यङ्गलेपा यथासङ्ख्येन शकटाक्षस्य व्रणानां च युक्तितो भवन्ति, एवमुक्तं भवति–यथाऽभ्यङ्गः शकटाक्षे युक्त्या दीयते न चातिबहुर्न चातिस्तोको भारवहनार्थं, तथा व्रणानां च लेपो युक्त्या दीयते नातिबहुर्नातिस्तोकः, एवं संयमभरवहनार्थं साधूनामाहारः ॥

उवजीवि अणुवजीवी मंडलि पुव्ववण्णिओ साहू। मंडलिअसमुद्दिसगाण ताण इणमो विहिं वुच्छं॥५४९॥

तत्र मण्डल्युपजीवी अनुपजीवी च पूर्वमेव द्विविधो व्यावर्णितः साधुरेकः, इदानीं बहूनां मण्डल्यामसमुद्दिशकानां यो

१ भवतो इव चित्ते आ.। २ तकुव आ.। ३ 'एकिकाओ' आ। ४ 'भीत' आ.। ५ पर्हिं आ। ६ भहित' आ। ७ यथा आ. प्र २।

विधिर्भवति तं वक्ष्ये ॥ ते च कथं मण्डल्यामसमुद्देशका भवन्ति ?, अत आह—

आगाढजोगवाही निज्जूढत्तट्ठिआ व पाहुणगा । सेहा सपायछित्ता बाला वुड्ढेवमाईया ॥ ५५० ॥

आगाढयोगो—गणियोगः तत्स्था ये ते मण्डलीं नोपजीवन्ति, 'निज्जूढ'त्ति अमनोज्ञाः कारणान्तरेण तिष्ठन्ति ते पृथग् भुञ्जते, तथाऽऽत्मार्थिकाश्च पृथग् भुञ्जते प्राघूर्णकाश्च, यतस्तेषां प्रथममेव प्रायोग्यं पर्याप्त्या दीयते, ततस्तेऽप्येकाकिनो भवन्ति, शिक्षका अपि सागारिकत्वात् पृथग् भोज्यन्ते, सप्रायश्चित्ताश्च पृथग् भोज्यन्ते, यतस्तेषां शबलं चारित्रं, शबलचारित्रैः सह न भुज्यते, बालवृद्धा अप्यसहिष्णुत्वात्प्रथममेव भुञ्जतेऽतस्तेऽप्येकाकिन इति, एवमाद्या मण्डल्यामसमुद्दिशका भवन्ति, आदिग्रहणात्कुष्ठव्याध्याद्युपद्रुता इति ॥ ते च भुञ्जानाः सन्त आलोके भुञ्जते, स चालोको द्विविधो भवतीत्येतदेवाह—

दुविहो खलु आलोको दव्वे भावे य दवि[1] दीवाई । सत्तविहो पुण भावे आलोगो[2] तं परिकहेऽहं ॥५५१॥

द्विविध आलोको—द्रव्यालोको भावालोकश्च, तत्र द्रव्यालोकः प्रदीपादिः, भावविषयः पुनरालोकः सप्तविधः, तं च कथयाम्यहं, तत्र भावालोकस्येयं व्युत्पत्तिः-आलोक्यते इत्यालोकः-स्थानदिगादिनिरूपणमित्यर्थः । तं च सप्तविधमपि प्रतिपादयन्नाह—

ठाणादिसिपगासणया भायणपक्खेवणे य गुरुभावे । सत्तविहो आलोको सयावि जयणा सुविहियाणं ॥

तैश्चामण्डलिसमुद्दिशकैर्निष्क्रमप्रवेशवर्जिते स्थाने भोक्तव्यं, तथा कस्यां दिशि आचार्यस्योपवेष्टव्यमित्येतद्वक्ष्यति, तथा

१ दव्व ल. १–२ । २ आलोगं आ. ।

ततः कदाचित्साधुः 'अतिलद्यम्' अतिप्रचुरं भक्षयेत्भिःक्षुः सन्, स च सन्ध्यार्मक्षरीरः कदाचिद्वा गुरोरदर्शनपथे' भुञ्जानो ऽकारक-अपथ्यमपि भुञ्जीयाभिक्षुः सन्, कदाचिद्वा भिक्षामटताऽनेन स्निग्धद्रव्यं लब्ध भवेत् तथानालोच्यैव भक्षयेद् एकान्ते मा भून्मामाचार्यो निवारयिष्यति । अतः

एयासि जाणणट्ठा गुरुआलोए तओ उ भुजिज्जा। नाणाइसंधणट्ठा न वण्णबलरूवविसयट्ठा।२८०। (भा०)

'एतेषां' प्रचुरभक्षितादीनां दोषाणां ज्ञानार्थं गुरोः 'आलोके' चक्षुर्दर्शनपथे भुञ्जीत येन गुरुः समीपस्थ भुञ्जानं दृष्ट्वा प्रचुरं भक्षयन्तं निवारयति, तथाऽकारकं भक्षयन्तं निवारयति, तथा अनालोच्य चोरितं खादन्तं निवारयति, मा भूदवारयतेऽ-पाटवमनिता दोषाः स्युः। इदानीं भावेचि व्याख्यायते-'णाणाइ'त्ति ज्ञानादिभावः ज्ञानं दर्शनं चारित्रं च, एतज्ज्ञानादिभाव त्रयमसज्यमाने त्रुट्यति-व्युच्छिद्यते, अत एतेषां ज्ञानादीनां त्रुट्यतां 'संधानार्थं' अविच्छिन्नप्रवाहार्थं भुज्यते, न वर्णार्थं भुज्यते, न वर्णो मम गौरत्वं स्यादित्येवमर्थं, तथा बलं मम भूयात् इत्येवमर्थमपि न भुज्यते, रूपं मम भूयात् शुष्कया क्षीणगण्ड पार्श्वः सन् मांसोपचयेन पूरितगण्डपार्श्वो रूपवान् भविष्यामीति नैवमर्थं भुङ्क्ते, नापि 'विषयार्थं' मैथुनाद्यासेवनार्थं भुङ्क्ते।

सो आलोइयभोई जो एए जुंजए पए सव्वे। गवेसणगहणघासेसणाइ तिविहाइवि विसुद्धं।५५३।

'सः' साधुर्गुरोरालोचित भुङ्क्ते य एतानि पदान्यनन्तरोदितानि 'युनक्ति' प्रयुङ्क्ते करोति स्थानादीनि, स च गवेषणैषण

1 'भिक्षेः' पा. २ । २ 'एतेषां' भा. । ३ 'केऽकारकं' भा । ४ °त भिक्षुः भा पा. १ । ५ 'णाणाणा' भा । ६ गौरत्वं भा ।
७ °मीतान्वयं' भा. ।

या ग्रहणैषणया ग्रासैषणया, अनया त्रिविधाऽप्येषणया विशुद्धं भुङ्क्ते य एतानि पदानि प्रयुङ्क्ते इति ।

एवं एगस्स विही भोत्तव्वे वन्निओ समासेणं । एमेव अणेयाणवि जं नाणत्तं तमहं[1] वोच्छं ॥ ५५४ ॥

एवमेकस्य साधोर्भोक्तव्ये विधिर्वर्णितः 'समासेन' सङ्क्षेपेण, एवमेवानेकेषामपि साधूनां भोजने विधिः, यत्तु पुनर्नानात्वं भवति तदहं[2] वक्ष्ये । आह–किं पुनः कारणं मण्डली क्रियते ?, उच्यते—

अतरंतबालवुड्ढा सेहाएसा गुरू असहुवग्गो । साहारणोग्गहाऽलद्धिकारणा मंडली होइ ॥ ५५५ ॥

अतरन्त[3] इति ग्लानस्तत्कारणात्–तन्निमित्तं मण्डली भवति, यतस्तस्य ग्लानस्य यद्येकः साधुर्वैयावृत्त्यं करोति ततस्तस्य तत्रैवाक्षणिकस्य सूत्रार्थहानिर्भवति, मण्डलीमध्ये[4] तु कश्चित्किञ्चित्करोति, अत एतदर्थं[5] मण्डली क्रियते येन बहवः प्रतिजागरका भवन्तीति। बालोऽपि भिक्षामटितुमसमर्थः, स च बहूनां मध्ये सुखेनैव कथं नु नाम वर्त्तेत ?, अतो मण्डली भवति । वृद्धोऽप्येवमेव । सेहः–शैक्षकः स चैकः सन् भिक्षाविशुद्धिं न जानाति ततस्तस्यानीय दीयते, आएसो–प्राघूर्णकस्तस्य चागतस्य सर्व एवोपकुर्वन्ति, स चोपकारः सर्वैरेव मिलितैः कर्त्तुं शक्यते न त्वेकेन, गुरोश्च सर्वैरेवोपकर्त्तुं शक्यते न त्वेकेन सूत्रार्थपरिहानेः, तथा 'असहुवग्गो'त्ति असमर्थो राजपुत्रादिः स च भिक्षामटितुं सुकुमारत्वान्न शक्नोति ततश्च सर्व एव मिलिता उपकुर्वन्ति, तस्मात् 'साधारणोग्गहा' साधारणश्चासावुपग्रहश्च साधारणोपग्रहस्तस्मात् साधारणोपग्रहात् कारणान्मण्डली

१ तयं वोच्छं आ पा. १ पु.। २–यो भेदो यदतिरिक्तं तदहं आ पा १ २. पु.। ३ °रन्त –अतिग्लान° आ ४ °वन्धे आ । ५ एतदर्थं आ. ।

कर्तव्या, अथवा मण्डलीविक्षेपणमेतत्, उपगृह्णातीत्युपग्रहो—भक्तादिः स साधारणः—तुल्यो यस्यां सा साधारणोपग्रहा मण्डली भवति। 'असदिक्कारणा मण्डली होइ' इति कदाचिदेकश्चित्साधुरलब्धिमान् भवति ततश्च तेऽन्ये साधवस्तस्मै आनीय प्रयच्छन्ति, अत एतस्कारणान्मण्डली भवति। इदानीं भिक्षागतानां साधूनां यो वसतिरक्षपाल आस्ते तेन किं कर्तव्यमित्यत आह—

नाउ नियट्टणकाल वसहीपालो य भायणुग्गाहे। परिसाठियच्छदवगिण्हट्ठया गच्छमासज्ज ॥५५६॥

ज्ञात्वा भिक्षागतानां निवर्त्तनकाल वसतिपालो 'भाजन' नन्दीपात्र तस्मत्युपेक्ष्योद्ग्राहयति—सज्जटितेनास्त इत्यर्थः, किमर्थं?, परिसंस्थिताच्छद्रवग्रहणार्थम्, एतदुक्तं भवति—तत्रानीय साधवः पानकं प्रक्षिपन्ति, पुनश्च तत्र परिसंस्थित—स्वच्छीभूत ततस्मादन्यत्र पात्रकं क्रियते येन तत्स्वच्छमाचार्यादीनां प्रायोग्य भवति, पात्रकादिप्रक्षालनं च क्रियते। 'गच्छमासज्ज'त्ति 'गच्छमाश्रित्य' गच्छस्य प्रमाणं ज्ञात्वा पात्रकमुद्ग्राहयन्ति, एतदुक्तं भवति—यदि महान् गच्छस्ततः पानकगलनार्थं महत्प्रमाण पात्रकमुद्ग्राहयति, तथा द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्चादीनि यावत्।

असई य निंयट्टेसु एक चउरंगुलूणभाणेसु। पक्खिविय पडिग्गहगं तस्थऽच्छदव तु गालिज्जा ॥५५७॥

अथ तत्र रक्षपालः समर्थो नास्ति यः पात्रकमुद्ग्राहयति, अथवा 'असई य'त्ति यदि नन्दीपात्र नास्ति, पत्रोदकमानीय स्वच्छीकरणार्थं क्षिपते ततोऽसति तस्मिन् नन्दीपात्रे तदेकं पतद्ग्रहं प्रक्षिप्य, क?, अत आह—'चउरंगुलूणमाणेसु' चतुरङ्ग-

1 'पात्रस्तेन डि° ला । २ निवत्तेसु ला. ।

लैरूनानि यानि भाजनानि तेषु प्रक्षिप्य पतद्ग्रहं पुनस्तस्मिन् क्षणीभूते अच्छं द्रवं गालयेत्, अत्र चायं नियमो द्रष्टव्यः यदुत–भिक्षां तावत्साधवः पर्यटन्ति यावत्पात्रकं चतुर्भिरङ्गुलैरूनमास्त इति । आह–किं पुनः कारणं तद्द्रवगलनं क्रियते ?,

आयरियअभावियपाणगट्ठया पायपोसधुवणट्ठा। होइ य सुहं विवेगो सुह आयमणं च सागरिए ॥५५८॥

आचार्यपानार्थं अभावितसेहादिपानार्थं च गलनं क्रियते । तथा पादधावनार्थं 'पोस'त्ति अधिष्ठानं तस्य प्रक्षालनार्थं, तथा भवति च सुखेन विवेकः–त्यागोऽतिरिक्तस्य सतः, तथा सुखेन वाऽऽचमनं सागारिकस्याग्रतः क्रियते, एवमर्थं गलनं क्रियत इति । कियन्ति पुनः पात्रकाणि गलितद्रवस्य ध्रियन्ते ? इत्यत आह—

एक्कं व दो व तिन्नि व पाए गच्छप्पमाणमासज्ज । अच्छद्दवस्स भरिजा कसट्टबीए विगिंचिज्जा ॥५५९॥

एकं द्वे त्रीणि वा पात्रकाणि ध्रियन्ते, गच्छप्रमाणं ज्ञात्वा चतुष्प्रभृतीन्यपि ध्रियन्ते स्वच्छद्रवस्य, तत्र च गलिते सति कसट्टं–कचवरं बीजानि च–गोधूमादीनि 'विगिञ्चेत्' परित्यजेत्, एवं तावत्पतद्ग्रहकर्णेनापि उदकमपवृत्त्य पानकगलनं क्रियते । अथ पुनस्तत्र कीटिकामर्कोटकादयः प्लवमाना दृश्यन्ते ततस्तत्र गालने को विधिः ? इत्यत आह—

मूइंगाईमक्कोडएहिं संसत्तगं च नाऊणं । गालिज्ज छब्बएणं सउणीघरएण व दवं तु ॥ ५६० ॥

मूइंगा–कीटिका मर्कोटकाश्च तैः संसक्तं ज्ञात्वा गालयेत् 'छब्बएणं' वंशपिटकेन शकुनिगृहकेण[3] वा गालयेत् तद् द्रवं ॥

१ तस्य पानकस्य, तथा आ पा १–२ । २ गलिते आ. । ३ गृहेण ल. १–२ ।

इय आलोइयपट्ठविअगालिए मडलीए सट्ठाणे । सज्झायमगल कुणइ जाव सव्वे पडिनियत्ता ॥५६१॥

'इय'त्ति पूर्वोक्तविधिना आलोचिते सति प्रस्थापिते स्वाध्याये गालिते च पानके पुनश्च मण्डल्यां स्वस्थाने उपविश्य स्वाध्यायमङ्गलं करोति–स्वाध्याय एव मङ्गलं स्वाध्यायमङ्गलं तावत्करोति यावत् सर्वे साधवः प्रतिनिवृत्ता भवन्ति । एवं यदि महिष्णवस्ततो पौमपयेन युज्यते, यदाऽसहिष्णवस्तत्र केचिद्भवन्ति ततः को विधिरित्यत आह–

कोले पुरिसे आसज्ज मत्तए पक्खिविज्जु तो पढमा । अहवावि पडिग्गहगं मुयति गच्छं समासज्ज ॥५६२॥

स चासहिष्णुर्ग्रीष्मकालादप्रीकृत्य भवति, स एव वा पुरुषः कदाचित् बुभुक्षालुर्भवति, तमाश्रित्य मात्रके प्रक्षिप्य भक्त प्रथमालिका दाप्यते, अथ बहवो बुभुक्षालवस्ततः पतद्ग्रहकं मुञ्चति तेभ्यो भोजनार्थं, गच्छ 'समासज्ज'त्ति गच्छमल्पं बहुं वा ज्ञात्वा तदनुरूपं पतद्ग्रहं मुञ्चतीति । पुनश्च मिलितेषु साधुषु मण्डलीस्थविरः प्रविशति, किं कृत्वेत्यत आह–

चित्त थालाईण गहाय आपुच्छिऊण आयरिअ । जमलजणणीसरिच्छो निवेसई मडलीथेरो ॥ ५६३॥

चित्त थालादीनां गृहीत्वा पृष्ट्वाऽऽचार्यं मण्डलीस्थविरः प्रविशति, किं विशिष्टः ? इत्यत आह–यमलजननीसरिच्छो 'निवेसई' उपविशति मण्डलीस्थविर इति । स च मण्डलीस्थविरो गीतार्थो रत्नाधिकोऽलुब्धकश्च भवति । अनेन च पदप्रपेणाष्टौ भङ्गाः सूचिता भवन्ति, तत्र तेषां मध्ये ये शुद्धा भङ्गकास्तान् प्रदर्शयन्नाह–

1 करोतीति आ. म १ पा २ पु । २ मत्पुरिसे च आस आ पु. । ३ तत एव आ । ४ मुञ्चते आ. ११ ५ रत्नाधिक आ ।

जइ लुद्धो राइणिओ अहव[1] अलुद्धोवि[2] जोवि गीयत्थो। ओमोवि हु गीयत्थो मंडलिराइणि[3] उ अलुद्धो उ॥

यद्यसौ मण्डलीस्थविरो लुब्धो रत्नाधिकश्च ततस्तिष्ठति—न परिविशति[4], अनेन च लुब्धपदेन द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमा भङ्गका अशुद्धाः प्रदर्शिता भवन्ति। 'अलुद्धोवि जोवि गीयत्थो ओमोवि हु'त्ति अलुब्धोऽपि यदि गीतार्थ ओमः—लघुपर्यायः स मण्डल्यां परिविशति, अनेन च ग्रन्थेन तृतीयभङ्गकः कथितो भवति, अयं च प्रथमभङ्गकाभावे भवति। अत्र च भङ्गके गीतार्थपदग्रहणेन यत्र यत्र भङ्गकेऽगीतार्थपदं स सर्वो दुष्टो ज्ञातव्यः। 'गीयत्थो मंडलिराइणिउ अलुद्धो'त्ति यस्तु पुनर्गीतार्थो रत्नाधिकोऽलुब्धश्च स मण्डल्यां[5] परिविशति, अनेन च ग्रन्थेन प्रथमो भङ्गकः शुद्धः प्रदर्शितो भवति, सर्वथा यत्र यत्र लुब्धपदमगीतार्थपदं च स[6] स परिहार्यः, ओमराइणियपदं च यद्यगीतार्थः लुब्धपदं च न भवति ततोऽपवादे शुद्धं भवति, प्रथमं तु शुद्धमेव॥ इदानीं ते मिलिताः सन्त आलोके भुञ्जन्ते, स च आलोको द्विविधो द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः प्रदीपादिः, भावतः सप्तप्रकारस्तं दर्शयन्नाह—

ठाणादिसिपगासणया भायणपक्खेवणा य भावगुरू। सो चेव य आलोगो नाणत्तं तद्दिसा ठाणे॥५६५॥

स्थानं वक्तव्यं उपविशने दिग् वक्तव्या प्रकाशमुखे भाजने भोक्तव्यं, भोजनक्रमो वक्ष्यमाणः, प्रक्षेपणं च वदने वक्तव्यं, भावालोको वक्तव्यः गुरुर्वक्तव्यः, स एवालोकः पूर्वोक्तः, नानात्वं त्वत्र यदि परं दिशः स्थानस्य च, अत्र दिक्पद-

१ होइ आ. पा. १। २ °लुद्धो व होज्ज ल १-२। ३ °इणि अलुद्धो आ पा. २। ४ प्रविशति आ। ५ °ल्यामुपविशति, आ. पा. १। ६ स परि° आ. ल १. २।

मन्यथा पश्यति स्थान च। इदानीं भाष्यकारः स्थाननानात्वं दर्शयति, तत्र स्थानव्याख्यानायाह—

निक्खमपवेस मोत्तुं पढमसमुद्दिस्सगाण ठायति। सज्झायेप्परिहाणी भावासन्नेवमाईया ॥२८१॥(भा०)

प्रथमसमुद्दिष्टानां ग्लानादीनां निर्गमप्रवेशौ मुक्त्वा उपविशन्ति, किमर्थं ?, तत्र यदि ते मार्गं रुद्ध्वा मण्डल्यां तिष्ठन्ति ततः पूर्वभुक्तानां स्वाध्यायपरिहाणिर्भवति तथा 'भावासन्नस्य' सञ्ज्ञादिवेग धारणासहिष्णोः पीडा भवति। एवमादयोऽन्येऽपि दोषाः ॥ दिग्द्वारप्रतिपादनायाह—

पुव्वमुहो राइणिओ एक्को य गुरुस्स अभिमुहो ठाइ। गिण्हइ य पणामेइ य अभिमुहो इहरहाऽवन्ना॥२८२॥

पूर्वाभिमुखो रत्नाधिक उपविशति मण्डल्यां, तस्यां च मण्डल्यामेकः साधुर्गुरोरभिमुख उपविशति, किमर्थं ?, कदाचित्किञ्चिद्गुरोरतिरिक्तं भवति तद्ददाति दातव्यं वा किञ्चिद्भवति तद्ददाति मण्डलीस्थविरेणार्पितं, एवमर्थमभिमुख उपविशति, इतरथा—यद्यभिमुखो नोपविशति ततोऽवज्ञा—परिभवः कृतो भवति, पृष्ठ्यादि दत्त्वोपविष्टेऽतोऽवज्ञादिकृता दोषा भवन्ति ॥

जो पुण हविज्ज खवओ अतिउच्चाओ य सो बहिं ठाइ। पढमसमुदिट्ठो वा सागारियरक्खणट्ठाए ॥५६६॥

यस्तु पुनः क्षपकोऽर्द्धमासादिना भवेदतिभान्तो वा प्राघूर्णकादिः स बहिर्मण्डल्यास्तिष्ठति प्रथमसमुद्दिष्टो वा साधुः शीघ्रतरेण येन भुक्तं स सागारिकरक्षणार्थं बहिस्तावन्मण्डल्यास्तिष्ठति ॥

१ °भेमाइ–आ। २ ए परिहाणी आ पा १–पु–। ३ पूर्वोक्तानां [redacted]। ४ एवमर्थं° [redacted] पा. १–२.। ५ °यदि क्षपकोऽष्टमा° आ।

एक्किक्कस्स य पासंमि मल्लयं तत्थ खेलमुग्गाले। कण्टट्ठिए व छुब्भइ मा लेवकडा भवे वसही ॥५६७॥

तत्र च साधूनां भुञ्जानानामेकैकस्य साधोः पार्श्वे मल्लकं भवति, तत्र खेलः श्लेष्म उद्गालयेत्—तस्मिन् मल्लके श्लेष्मनिष्ठीवनं कुर्वन्ति, तथा तत्र भुञ्जतः कदाचित्कण्टको भवेत् स तत्र क्षिप्यते, अस्थिखण्डं वा भवेत् तच्च क्षिप्यते, अथ तु भुवि क्षिप्यतेऽस्थिकण्टकादि ततो वसतिर्लेपकृता—अनायुक्ता भवति, अतस्तत्परिहारार्थं मल्लकेषु क्षिप्यते। तथाऽमुमपरं भुञ्जानानां विधिं प्रतिपादयन्नाह—

मण्डलिभायणभोयण गहणं सोहीय कारणुवरिते। भोयणविही उ एसो भणिओ तेल्लुक्कदंसीहिं ॥५६८॥

मण्डली यथा रत्नाधिकतया कर्त्तव्या, भाजनानि च पूर्वं अहाकडाइं भुञ्जन्ति, भोजनं च स्निग्धमधुरं पूर्वं भोक्तव्यं, ग्रहणं च पात्रकात् कुक्कुड्यण्डकमात्रं कवलग्रहणं कर्त्तव्यं, तथा ग्रहणस्यैव शुद्धिर्वक्तव्या, अथवा शुद्धिर्भुञ्जतो यथा भवति तथा वक्तव्यं, कारणे भोक्तव्यं, तथा 'उव्वरिए' त्ति अतिरिक्ते विधिर्वक्तव्यः। अयं भोजनविधिः सुगमः। इदानीं भाष्यकारः प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—

मंडलि अहराइणिआ सामायारी य एस जा भणिआ। पुव्वं तु अहाकडगा भुञ्जंति तओ कमेणियरे॥२८३॥

मण्डली कथमुपविशति ?, अत आह—यथा रत्नाधिकतया सामाचारी चात्र कार्या, एषा या भणिता—उक्ता कतमा ?,

१ °ण्टकोऽस्थिखण्डं वा भवति स तत्र क्षिप्यते आ। २ °लं गृह्णाति, आ पा १–२। ३ 'योक्ता' भणिता, कतमा ?, आ. पा. १–२।

'ठाणट्ठिसिगासम्मया'' इत्येवमादिका साऽत्रापि तथैव द्रष्टव्या। उक्तं मण्डलीद्वारम्, इदानीं भाजनद्वारप्रतिपादनायाह– 'पुव्व तु अहाकडगा' 'पूर्वं' प्रथमं 'यथाकृतानि' प्रतिकर्मरहितानि लब्धानि यानि तानि समुद्देशनार्थं मुच्यन्ते, एतदुक्तं भवति– प्रथममप्रतिकर्मा प्रतिग्रहको भाज्यते, ततः क्रमेण 'इयरे' अल्पपरिकर्मबहुपरिकर्माणि एवं मुच्यन्ते। 'भायण'त्ति गयं, इदानीं 'भोयण' त्ति व्याख्यायते—

निद्धमहुराणि पुव्व पित्ताईपसमणट्ठया भुंजे। बुद्धिबलवड्ढणट्ठा दुक्खं खु विकिंचिउं निद्धं ॥२८४॥(भा)

प्रथमार्द्धं सुगमं। किमर्थं स्निग्धमधुराणि पूर्वं भक्ष्यन्ते?, यतो बुद्धेर्बलस्य च वर्द्धनं भवति, तथा चाह–"घृतेन वर्द्धते मेधा" इत्यादि, बलवर्द्धनं च प्रसिद्धमेव, बलेन च वेर्द्धितेन वैयावृत्त्यादि कर्तुं शक्यते, दुःखं च परिस्थापयितुं स्निग्धघृतादि भवति यतोऽसंयमो भवतीति॥

अह होज्ज निद्धमहुराणि अप्पपरिकम्मसपरिकम्मेहिं। मोत्तूण निद्धमहुरे फुसिअ करे मुचऽहागडए २८५

अथ भवेयुः स्निग्धानि मधुराणि च द्रव्याणि अल्पपरिकर्मसु बहुपरिकर्मसु निक्षिप्तेषु च पात्रकेषु ततः को विधिरित्यत आह–ताऽन्येव भुक्त्वा स्निग्धमधुराणि द्रव्याणि ततः करान् प्रोञ्छयति प्रोञ्छयित्वा च करान् 'मुचऽहाकडए'त्ति यथाकृतानि–अपरिकर्माणि पात्रकाणि समुद्देशनार्थं मुच्यन्ते। 'भोयण'त्ति गयं, इदानीं ग्रहणद्वारप्रतिपादनायाह—

१ च तु' आ. पा. १-२। २ इयेव भा। ३ मवेद आ. पा पु २। ४ ततस्तान्येव क १-२। ५ तता आ.।

कुकुडिअंडगमित्तं अहवा खुड्डागलंबणासिस्स। लंबणतुल्ले गिण्हइ अविगियवयणो य राइणिओ ॥२८६॥

[1]तस्मात्पतद्ग्रहात्कवलं गृह्णन् कुक्कुट्यण्डकमात्रं गृह्णाति, अथवा 'खुड्डागलंबणासिस्स' क्षुल्लकेन लम्बनकेन–हस्तेन अशितुं शीलं यस्य स क्षुल्लकलम्बनाशी तत्तुल्यान् कवलान् गृह्णाति–स्वभावेनैव लघुकवलाशिनस्तुल्यान् कवलान् गृह्णाति 'अविकिय वयणो य राइणिओ' अविकृतवदनो रत्नाधिकः, न भावदोषेण मुखमत्यर्थं बृहत्कवलप्रक्षेपार्थं निर्वादयति, किं तर्हि ?, स्वभावस्थेनैव मुखेनेति । अथवाऽयं ग्रहणविधिः—

गहणे पक्खेवंमि अ सामायारी भवे पुणो दुविहा। गहणं पायंमि भवे वयणे पक्खेवणा होइ ॥२८७ (भा.)

'ग्रहणे' कवलादाने प्रक्षेपे च सामाचारी पुनरियं द्विविधा भवति, तत्र ग्रहणं पात्रकविषये भवेत् पात्रकात्कवलोत्क्षेपः, वदनविषयं च प्रक्षेपणं कवलस्य भवति । तत्र पात्रकात्कथं भक्षयद्भिर्गृह्यते ? इत्येतत्प्रदर्शयन्नाह—

कडपयरच्छेएणं भोत्तवं अहव सीहखइएणं। एगेण अणेगेहि व वज्जेत्ता धूमइंगालं ॥ २८८ ॥ (भा०)

तत्र [2]कटच्छेदेन भोक्तव्यं यथा कलिङ्गस्य खण्डलकं छित्वाऽपनीयते, एवमसावपि भुङ्क्ते, तथा प्रतरच्छेदेन वा मोक्तव्यं तरिकाच्छेदेनेत्यर्थः, अथवा सिंहभक्षितेन, सिंहो हि किल एकदेशादारभ्य तावद्भुङ्क्ते यावत्सर्वभोजनं निष्ठितं [3]भवति, तच्चैकेन बहुभिर्वा भोक्तव्यं, वर्जयित्वा धूमाङ्गारकं द्वेषरागौ वर्जयित्वेत्यर्थः । इदानीं वदनप्रक्षेपणशोधिं दर्शयन्नाह–

१ ततः प° आ. । २ कटकच्छे° आ । ३ तच्चै° आ ।

'ठाणदिसिपगासणया'' इत्येवमादिका साऽत्रापि तथैव द्रष्टव्या। उक्तं मण्डलीद्वारम्, इदानीं भाजनद्वारप्रतिपादनायाह–'पुव्वं तु अहाकडगा' 'पूर्वं' प्रथमं 'यथाकृतानि' प्रतिकर्मरहितानि लघूनि यानि तानि समुद्देशनार्थं मुच्यन्ते, एतदुक्तं भवति–प्रथममप्रतिकर्मा प्रतिग्रहको भ्राम्यते, ततः क्रमेण 'इयरे' अल्पपरिकर्मबहुपरिकर्माणि एव मुच्यन्ते। 'भायण'त्ति गयं, इदानीं 'भोयण' त्ति व्याख्यायते—

निद्धमहुराणि पुव्वं पित्ताईपसमणट्ठया भुंजे। बुद्धिबलवद्धणट्ठा दुक्खं खु विगिंचिउं निद्धं ॥२८४॥(भा)

प्रथमार्द्धं सुगमं। किमर्थं स्निग्धमधुराणि पूर्वं भक्ष्यन्ते?, यतो बुद्धेर्बलस्य च वर्द्धनं भवति, तथा चाह–"घृतेन वर्द्धते मेधा" इत्यादि, बलवर्द्धनं च प्रसिद्धमेव, बलेन च वर्द्धितेन वैयावृत्त्यादि कर्तुं शक्यते, दुःखं च परिस्थापयितुं स्निग्धं–घृतादि भवति यतोऽसंयमो भवतीति ॥

अह होज्ज निद्धमहुराणि अप्पपरिकम्मसपरिकम्मेहिं। भोत्तूण निद्धमहुरे फुसिअ करे मुचऽहागडए २८५

अथ भवेयुः स्निग्धानि मधुराणि च द्रव्याणि अल्पपरिकर्मसु बहुपरिकर्मसमन्वितेषु च पात्रकेषु ततः को विधिरित्यत आह–भुक्त्वैव सकला स्निग्धमधुराणि द्रव्याणि ततः करान् प्रोञ्छयति प्रोञ्छयित्वा च करान् 'मुचऽहाकडए'त्ति यथाकृतानि–अपरिकर्माणि पात्रकाणि समुद्देशनार्थं मुच्यन्ते। 'भोयण'त्ति गयं, इदानीं ग्रहणद्वारप्रतिपादनायाह—

१ च मु॰ भा. प. १-२। २ °रैव भा। ३ भवेत् भा. पा मु २। ४ पतस्ताम्ये च ला १-२। ५ ततः भा.।

आददानः योऽसौ पतद्ग्रहो भ्रमति तस्मात्साधुः 'असारकः' अप्रधानो ज्ञानदर्शनचारित्राण्यङ्गीकृत्यासारः स भवति । तथा उद्गमोत्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितं साधारणमेतद्द्रव्यमित्येवं जानानोऽदुष्टेनान्तरात्मना कवलं गुडादेराददानः साधुर्भवति 'ससारः' ज्ञानदर्शनचारित्रसारवान् भवति । कथं पुनरसारः साधुर्भवति ? अत आह–उद्गमोत्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितं साधारणमेतद्गुडादिद्रव्यमित्येवमजानन् दुष्टेन भावेनाददानः साधुः स्तेयं करोति ततोऽसारोऽसौ । स कथं पुनः ससारः साधुर्भवति ? उद्गमोत्पादनाशुद्धमेषणादोषवर्जितं 'साधारणं' तुल्यमेतत्सर्वेषां गुडादीत्येवं जानानोऽदुष्टान्तरात्मना स्वल्पमाददानः साधुर्निर्जरां करोति अतः ससारो ज्ञानदर्शनचारित्रैरिति । इदानीं ससारः कदाचिद्भोजनार्थमुपविशन् भवति कदाचिदुपविष्टः कदाचिदुत्थितः, एतत्प्रदर्शयन्नाह–अन्त्यं–प्रान्त्यं वल्लचणकादि तदप्यन्त्यं–पर्युषितं चणकादि अन्त्यमप्यन्त्यमन्त्यान्त्यं भक्षयिष्यामि एवंविधेन परिणामेनोपविष्टो मण्डल्यां उपभुङ्क्ते यस्तथैव एष साधुः शुभपरिणामत्वात् ससार उपविष्टः ससारश्चोत्थितः, तस्य शुभपरिणामस्याप्रतिपतितत्वात्, एवमेव भङ्गत्रितयं योजनीयं, तत्र प्रथमो भङ्गः ससारो निविट्ठो ससारो उट्ठिओ १, ससारो निविट्ठो असारो उट्ठिओ बिइओ भंगो २, असारो निविट्ठो ससारो उट्ठिओ तइओ ३, असारो निविट्ठो असारो उट्ठिओ एस चउत्थो ४, सारश्चात्र ज्ञानादि, आदिग्रहणाद्दर्शनं चारित्रं चेति, तेन ज्ञानादिना सहितो यः साधुः स ससारो भण्यते । अत्र च समुद्रवणिजा दृष्टान्तः ॥ एगो समुद्दवणिओ बोहित्थं भंडस्स भरिउं ससारो गओ, ससारो य पउरं हिरन्नाइ विढवेऊण आगओ । अण्णो पुण ससारो भंडं गहेऊण गओ निस्सारो आगओ,

१ °गुडादीत्येवमनानानो दु° आ । २ °नानो दु° पा १–२ । ३ °रो भवति आ । ४ प्रत्यवरं आ. पा. १ पु. ।

असुरसुर अचचचवं अदुयमविळंबिअं अपरिसाडिं। मणवयकायगुत्तो भुंजे अह् पक्खिवणसोही ॥२८९॥

असुरसुरं सद्दं—सरडसरड अकरेंतो 'अचवचव' न चर्वयन् चरकेभिव चेपचपावेर, तथा 'अद्रुतम्' अत्वरित तथा 'अविलम्बितम्' अम धर्रं अपरिशाटिं मनोवाक्कायगुप्तो भुञ्जीत, न मनसा विरूपमिति चिन्तयति, वाचा नेव वक्ति, यद्युत को इम मक्खेइ ? जो मम्हारिसो न होइ, कायेन उक्कोसए मुहेन न देइ, एव त्रिगुप्तस्य भुञ्जानस्य प्रक्षेपणशोधिर्भवति ॥

उग्गमउप्पायणासुद्ध एसणादोसवज्जिअ । साहारण अयाणतो साहू होइ असारओ ॥ ५६९ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्ध एसणादोसवज्जिअ । साहारण विआणतो साहू होइ ससारओ ॥ ५७० ॥

उग्गमउप्पायणासुद्ध एसणादोसवज्जिअ । साहारणं अयाणतो साहू कुणइ तेणिअ ॥ ५७१ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्ध एसणादोसवज्जिअ । साहारण वियाणतो साहू कुणइ निज्जर ॥ ५७२ ॥

अतत भोक्खामित्ति येसए मुजए य तह चेव । एस ससारनिविट्ठो ससारओ उट्ठिओ साहू ॥५७३॥

एमेव भगतिअ जोप्पयव तु सारनाणाई । तेण सहिओ ससारो ससुद्दवणिएण दिट्ठतो ॥ ५७४ ॥

उग्गमशुद्ध उत्पादनाशुद्ध एषणादोषवर्जित 'साधारण' सामान्यमेतद्गुरुवादि अजानानः—मतिमात्रं पुष्टेन भावेन

१ भुंजइ भइ भा.। २ °सोहि ब । ३ ... ४ ... भा.। ५ ... । ६ ... १–२।

'सुक्के'त्ति शुष्कभक्तपतद्ग्रहे, येन तोयप्रक्षेपेण संजातबन्धं तद्भक्तं सुखेनैव कवलैर्गृह्यते, अथ बहुलाभः संजातः—प्रचुरं लब्धं गुडादि ततोऽसंसृष्टमेव ध्रियते, किमर्थम् ?, अभक्तार्थिकानामर्थे येन मनोज्ञं भवेत् । उक्ता ग्रहणशोधिः, अधुना भुञ्जतः शोधिरुच्यते, सा च चतुर्धा, एतदेवाह—

सोही चउक्क भावे वीइंगालं[2] च विगयधूमं च । रागेण सइंगालं[3] दोसेण सधूमगं जाणे[1] ॥ ५७८ ॥

जत्तासाहणहेउं आहारेंति जवणट्ठया जइणो । छायालीसं दोसेहिं सुपरिसुद्धं विगयरागा ॥ ५७९ ॥

हियाहारा मिताहारा अप्पाहारा य जे नरा । न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥५८०॥

शुद्धौ चतुष्कं भवति नामस्थापनाद्रव्यभावरूपं, तत्र नामस्थापनाद्रव्यशोधिः पूर्ववत्, भावविषया पुनः शोधिः विगताङ्गारं विगतधूमं च भुञ्जतो भावशोधिर्भवति, कथं साङ्गारं कथं वा सधूमं भवतीति ?, एतदेवाह—'रागेण' इत्यादि सुगमं ॥ 'चारित्रयात्रासाधनार्थं' धर्मसाधननिमित्तमाहारयन्ति यापनार्थं—शरीरसंधारणार्थं मुनयः षट्चत्वारिंशद्दोषैः सुपरिशुद्धमाहारयन्ति, के च ते ?, षोडशोद्गमदोषाः षोडशोत्पादनादोषाः दशैषणादोषाः संयोजणा पमाणं सइंगालं सधूमगं चेत्येते षट्चत्वारिंशत्, एभिर्विशुद्धं सद् विगतरागा आहारयन्ति ॥ सिलोगो सुगमः । उक्तो भुञ्जनविधिः, 'कारणे'त्ति द्वारं व्याख्यानयन्नाह—

१ भगो ल १ । २ विगइंगाल आ । ३ सयंगालं आ. । ४ होइ आ पा. १ । ५ °ने सुगमे, द्रव्य° आ. पा १ पु. ।

कारियाएवि रहिओ, तपि पुविङ्यं हारेऊण आगओ। अण्णो असारो अंगपीओ णिहिरण्णो गओ ससारो आगओ पभूय पिरवेऊण। अण्णो पुण असारो हिरण्णरहिओ गओ असारो चेव आगओ कयविक्कयाएवि रहिओ॥ एव साधोरपि सारासार योजना कर्तव्या यथासम्भवेन। एव तेषां भुञ्जतां यदि पतद्ग्रहको भ्रमन्नेवार्द्धपथे निष्ठां याति ततो को विधिरित्यत आह—

जत्थ पुण पडिग्गहगो होज्ज कडो तत्थ छुब्भए अन्न। मत्तगगहिउव्वरिअ पडिग्गहे ज असंसट्ठं ॥५७५॥
ज पुण गुरुस्स सेस त छुब्भइ मडलीपडिग्गहके। बालादीण व दिज्जइ न छुब्भई सेसगाणऽहिअ ॥५७६॥
सुक्कोल्लपडिग्गहगे विआणिउ पक्खिवे दव सुक्के। अभत्तट्ठिआणट्ठा बहु लभे ज असंसट्ठं ॥ ५७७ ॥

यत्र पुनर्भुञ्जतां पतद्ग्रहको भवेत् 'कडो'त्ति निष्ठितभक्तो जातः साधुपर्यन्तमप्राप्त एव, तत्र किं कर्तव्यमित्यत आह—'तत्र' तस्मिन्निष्ठितभक्ते पतद्ग्रहकेऽन्यद्भक्तं प्रक्षिप्यते, ततश्च यस्मिन् साधौ स निष्ठितः पतद्ग्रहस्तस्मादारभ्य तेनैव क्रमेण पुनर्भ्राम्यते, मात्रके वा यद्बालादीनां प्रायोग्यं गृहीतमासीत्, तदिदानीमुद्वरितं तदसंसृष्टं सत् पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य पतद्ग्रहो यस्मिन् साधौ निष्ठितस्तस्मादारभ्य पुनर्भ्रमतीति। यत्पुनर्गुरोः शेषं भुञ्जतो जातं तत्संसृष्टमपि प्रक्षिप्यते मण्डलीपतद्ग्रहके, बालादीनां वा दीयते तदाचार्योद्वरितं, यत्पुनराचार्यव्यतिरिक्तानामुद्वरितम्—अधिकं जातं तन्न प्रक्षिप्यते मण्डलीपतद्ग्रहके संसृष्टं सत्। किञ्च, 'सुक्क'त्ति एकः शुष्केण भक्तेन पतद्ग्रहः, अपरः 'उल्ल'त्ति आर्द्रेण भक्तेन पतद्ग्रहः, एवं विज्ञाय ततः प्रक्षिपेद्द्रव

1 ठंति म. । २ भाम्यते । क्व पा. ।

'सुक्के'त्ति शुष्कभक्तपतद्ग्रहे, येन तोयप्रक्षेपेण संजातवन्धं तद्भक्तं सुखेनैव कवलैर्गृह्यते, अथ बहुलाभः संजातः-प्रचुरं लब्धं गुडादि ततोऽसंसृष्टमेव ध्रियते, किमर्थम् ?, अभक्तार्थिकानामर्थे येन मनोज्ञं भवेत् । उक्ता ग्रहणशोधिः, अधुना भुञ्जतः शोधिरुच्यते, सा च चतुर्धा, एतदेवाह—

सोही चउक्क[1] भावे वीइंगालं[2] च विगयधूमं च । रागेण सइंगालं[3] दोसेण सधूमगं जाणे[4] ॥ ५७८ ॥

जत्तासाहणहेउं आहारेंति जवणट्ठया जइणो । छायालीसं दोसेहिं सुपरिसुद्धं विगयरागा ॥ ५७९ ॥

हियाहारा मिताहारा अप्पाहारा य जे नरा । न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छगा ॥५८०॥

शुद्धौ चतुष्कं भवति नामस्थापनाद्रव्यभावरूपं, तत्र नामस्थापनाद्रव्यशोधिः पूर्ववत्, भावविषया पुनः शोधिः विगताङ्गारं विगतधूमं च भुञ्जतो भावशोधिर्भवति, कथं साङ्गारं कथं वा सधूमं भवतीति ?, एतदेवाह-'रागेण' इत्यादि सुगमं[5] ॥ 'चारित्रयात्रासाधनार्थं' धर्मसाधननिमित्तमाहारयन्ति यापनार्थं-शरीरसंधारणार्थं मुनयः षट्चत्वारिंशद्दोषैः सुपरिशुद्धमाहारयन्ति, के च ते ?, षोडशोद्गमदोषाः षोडशोत्पादनादोषाः दशैषणादोषाः संयोजणा पमाणं सइंगालं सधूमगं चेत्येते षट्चत्वारिंशत्, एभिर्विशुद्धं सद् विगतरागा आहारयन्ति ॥ सिलोगो सुगमः । उक्तो भुञ्जनविधिः, 'कारणे'त्ति द्वारं व्याख्यानयन्नाह—

१ मंगे ल १ । २ विगइंगालं आ । ३ सयंगाल आ. । ४ होइ आ पा. १ । ५ °ने सुगमे, द्रव्य° आ पा १ पु. ।

छण्हमन्नयरे ठाणे कारणमि उ आगए। आहारेज्ज मेहावी सजए सुसमाहिए ॥ ५८१ ॥
वेयणवेयावच्चे इरियट्ठाए य सजमट्ठाए। तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ॥ ५८२ ॥
नत्थि छुहाए सरिसिया वेयणा भुजेज्ज तप्पसमणट्ठा। छाओ वेयावच्च न तरइ काउ अओ भुजे ॥२९०॥
इरियं नवि सोहेइ पेहाईयं च सजम काउ। थामो वा परिहायइ गुणणुप्पेहासु य असत्तो ॥ २९१ ॥

षण्णां स्थानानामन्यतरस्मिन् स्थान-कारणे आगते सति आहारयेन्मेधावी संयतः सुसमाहितः। कानि च तानि षट् स्थानानि ? इत्यत आह-वेदना-क्षुद्वेदना तदुपशमनार्थं भुङ्क्ते, तथा वैयावृत्त्यार्थं तथा ईर्यापथिकाशोधनार्थं तथा संयमार्थं च प्रेक्षोत्प्रेक्षप्रमार्जनादिलक्षणः, तथा 'पाणवत्तियाए' प्राणसंधारणार्थं, षष्ठं पुनर्धर्मचिन्तार्थं भुङ्क्ते। इदानीमेतानेव गाथां भाष्यकृद्व्याचष्टे स्थानस्थानपदानि, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाह-नास्ति क्षुत्सदृशी वेदनाऽतो भुञ्जीत तदुपशमनार्थम्। द्वारं।
'छाओ'त्ति बुभुक्षितो वैयावृत्त्यं कर्तुं न शक्नोति अतो भुङ्क्ते। द्वारं। ईर्यापथिकां बुभुक्षितो न शोधयति यतोऽतस्तच्छोधनार्थं भुङ्क्ते। द्वारं। तथा 'पेहाईयं च'त्ति 'प्रेक्षोत्प्रेक्षप्रमार्जन' इत्यादिकं संयमं बुभुक्षितः कर्तुं न शक्नोति यतोऽतो भुङ्क्ते। द्वारं।
'थामो वा' प्राणस्तस्य परिहानिर्भवति यदि न भुङ्क्ते अतस्तदर्थं भुञ्जीत। द्वारं। तथा गुणनं पूर्वपठितस्य अनुप्रेक्षा-चिन्तनं ग्रन्थार्थयोः एतद्गतो बुभुक्षार्तः सन् भुङ्क्ते। द्वारं।

१ ....-भा. ।

अहव न कुज्जाहारं छहिं ठाणेहिं संजए। पच्छा पच्छिमकालंमि काउं अप्पक्खमं खमं ॥ ५८३ ॥
आयंके उवसग्गे तितिक्खया बंभचेरगुत्तीए। पाणदयातवहेउं सरीरवोच्छेयणट्ठाए ॥ २९२ ॥ (भा०)
आयंको जरमाई राया सन्नायगा व उवसग्गा। बंभवयपालणट्ठा पाणिदया[1]वासमहियाई ॥२९३॥ भा०
तवहेउ चउत्थाई जाव छम्मासिओ तवो होइ। छट्ठं सरीरवोच्छेयणट्ठया होयणाहारो ॥ २९४ ॥
एएहिं छहिं ठाणेहिं अणाहारो ये[2] जो भवे। धम्मं नाइक्कमे भिक्खू झाणजोगरओ भवे ॥ ५८४ ॥

अथवा न कुर्यादेवाहारमेभिः षड्भिः स्थानैर्वक्ष्यमाणलक्षणैः। तत्र निर्युक्तिकार एव षष्ठं पदं व्याख्यानयन्नाह—'पच्छा पच्छिमकालंमि' पश्चिमकाले—संलेखनाकाले 'आत्मक्षमाम्' आत्महितां क्षमां—क्षान्तिमुपशमं कृत्वा ततः पश्चात्—सुखेन शरीरपरिकर्मानन्तरं सर्वाहारं मुञ्चतीति। इदानीं भाष्यकार एव एतानि षट्स्थानानि प्रदर्शयन्नाह—'आतङ्कः' ज्वरादिर्वक्ष्यते, तथा 'उपसर्गः' राजादिजनितः, एतेषां 'तितिक्षार्थं' सहनार्थं न भोक्तव्यं, तथा ब्रह्मचर्यगुप्त्यर्थं च न भोक्तव्यं, तथा[3] प्राणिदयार्थं च न भोक्तव्यं, तथा तपोऽर्थं शरीरव्यवच्छेदार्थं च न भोक्तव्यमिति। इदानीं भाष्यकृत् प्रतिपदं व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवव्याचिख्यासयाऽऽह—आतङ्को—ज्वरादिः, आदिग्रहणादन्यो व्याधिर्यत्र भोजनं न पथ्यं तदर्थं न भुङ्क्ते। दारं। राज्ञा राज-

1 पाणदया॰ आ ल. १। 2 उ. ल १। 3 तथा तपोऽर्थं आ।

बन्धारणादिरूपो यदुपसर्गः कृतः, समापणा वा—स्वमना यदि उभिष्क्रमणार्थमुपसर्गं कुर्वते ततो न भुङ्क्ते। दारं। ब्रह्मव्रतपालनार्थं न भुङ्क्ते, यतो भुक्षिवस्योन्मादो न भवति। दारं। प्राणिदयार्थं न भुङ्क्ते, यदि वर्षति मक्षिका वा निपतति। दारं। तपोऽर्थं न भुङ्क्ते तच चतुर्थादि यावत्षण्मासास्तावत्तपो भवति तदर्थं न भुङ्क्ते। दारं। षष्ठं शरीरव्यवच्छेदार्थमनाहारः साधुर्भवतीति॥ एभिः पूर्वोक्तैः षड्भिः स्थानैरनाहारको भवति स धर्मं नातिक्रामति भिक्षुरतो ध्यानयोगरतेन भवितव्यमिति। आह—इदमुक्तं षड्भिः कारणैराहार आहारयितव्यः षड्भिश्च कारणैर्नाहारयितव्यस्तत्किमेतत्भोजनमपवादपद ?, उच्यते, अपवादपदमेवैतद्, यतः—

भुंजतो आहारं गुणोवयार सरीरसाहार। विहिणा जहोवइट्ठं संजमजोगाण वहणट्ठा॥ ५८५॥

भुञ्जआहारं, किं विशिष्ट ?—'गुणोपकारं' ज्ञानदर्शनचारित्रगुणानामुपकारकं, तथा शरीरस्य साधारं शरीरस्य संधानकमाहारं भुञ्जन् विधिना—ग्रासैषणाविशुद्ध 'यथोपदिष्टम्' आधाकर्मादिरहित 'संयमयोगानां' संयमव्यापाराणां वहनार्थं भुञ्जमपवादपदस्थ एव भुङ्क्ते नान्यथा। इदानीं समुद्दिष्टे सति संलिहनकल्पः कर्तव्यः—भिक्षाभक्तविलिप्तानां पात्रकाणां संलिहनं कर्तव्यमित्यर्थः, तथा चाह—

भुत्तट्ठियावसेसो तिलयणा होइ सलिहणकप्पो। अपहुप्पते अन्न छोढु तेय लवणे ठवए॥ ५८६॥

१ °दाये सो भवति [illegible] पा १-२। २ °मयेर' [illegible]। ३ °ततः कि [illegible]। ४ पाधाकर्माहारे [illegible] २ पा. १ संधानकमा° [illegible] १। ५ प च मा. प. २। ६ ता सं° मा.।

संदिट्ठा संलिहिउं पढमं कप्पं तु[1] दिंति कलुसेणं। तं पाउं मुहमासो बितियच्छदवस्स गिण्हंति ॥५८७
दाऊण बितियकप्पं बहिआ मज्झट्ठिओ उ दवहारी। तो देंति तइयकप्पं दोण्हं दोण्हं तु आयमणं ॥

भुक्तानामवशेषो यः स संलेखनकल्पः कर्त्तव्यः, स चावशेषो न ज्ञायते कियत्प्रमाणः? अत आह—'त्रिलम्भनः' त्रिकवलः कवलत्रयप्रमाणो भुक्तावशेषः संलेखनकल्पः कर्त्तव्यः, यदा तु त्रिकवलप्रमाणः संलेखनकल्पो न भवति तदाऽपर्याप्यमाणेऽन्यदपि तस्मिन् पात्रके भक्तं प्रक्षिप्य ततस्त्रीन् कवलान् स्थापयति। 'सन्दिष्टाः' भुक्ताः सन्तः संलिह्य पात्रकाणि पुनश्च प्रथमं कल्पं ददति कलुषोदकेन, पुनश्च तत्पीत्वा 'मुहमासो'त्ति मुखस्य परामर्शः–प्रमार्जनं कुर्वन्तीति, पुनश्च द्वितीयकल्पार्थमच्छस्य द्रवस्य ग्रहणं कुर्वन्तीति, गृहीत्वा[2] च कल्पार्थमच्छद्रवं मण्डल्या उत्थाय बहिः पात्रकप्रक्षालनार्थं गच्छन्ति। तत्र च दत्त्वा द्वितीयकल्पं 'बाह्यतः' पात्रकप्रक्षालनभूमौ, ते च मण्डल्याकारेण तत्रोपविशन्ति, तेषां च मध्ये स्थितो द्रवधारी भवति, स च पात्रप्रक्षालनं सर्वेषामेव प्रयच्छति, ततो ददति ते साधवः पात्रकाणां तृतीयं कल्पं, पुनश्च पात्रकप्रक्षालनान्तरं 'दोण्हं दोण्हं तु आयमणं'ति द्वयोर्द्वयोः साध्वोः पात्रकेषु[3] 'आचमनार्थं' निर्लेपनार्थमुदकं प्रयच्छतीति। एष तावदनुद्धरिते भक्ते विधिरुक्तः, यदा तु पुनरुद्धरितं भक्तं भवति तदा को विधिरित्यत आह—

होज्ज सिआ उव्वरियं तत्थ य आयंबिलाइणो होज्जा। पडिदंसि य संदिट्ठो वाहरइ तओ चउत्थाई ॥५८९॥

---

1 करेइ कलु° आ पा. १। 2 °त्वाऽय क° आ। 3 मात्रकेषु आ पा. १।

मोहतिगिच्छविगिट्ठ गिलाणं अत्तट्ठिय च मोत्तूण । सेसे गतु भणई आयरिया वाहरति तुम ॥५९०॥
अपडिहणतो आगंतु वदिउ भणइ सो य आयरिए । संदिसह भुंज ज सरति तत्तियं सेस तस्सेव ॥५९१
अभणतस्स उ तस्सेव सेसओ होइ सो विवेगो उ । भणिए तस्स उ गुरुणा पस्तुवएसो पवणयस्स ॥५९२
मुत्तमि पढमकप्पे कयमि तस्सेव देंति त पाय । जावतिअसतिअ भणिए तस्सेव विगिंचणे सेस ॥ ५९३ ॥

'भवेत्' स्यात् कदाचिदुद्धरित 'तत्र' साधूनां मध्ये कदाचित्केचित्क्षपणाम्लादिनो भवन्ति आदिग्रहणादभक्तार्थिको वा अभिग्रहविशेषतस्तदुद्धरित भक्त रत्नाधिक आचार्याय प्रदर्शयति, पुनश्च प्रदर्शितभक्तो गुरुणा च 'सन्दिष्टः' उक्तः यदुत ओह पाचाम्लादीन् साधून् येन तेभ्यो दीयते, पुनश्चासौ रत्नाधिकः सन्दिष्टः सन् चतुर्थादीन् साधून् व्याहरति । स च व्याहरन्नेताम व्याहरति, मोहचिकित्सार्थं च उपवासिकः स्थितस्त न व्याहरति तथा विकृष्टतपसं साधुं न व्याहरति, विकृष्टतपश्चात्मा दारम्य भवति, तस्य च कदाचिद्देवता प्रातिहार्यं करोति अतस्तस्य न दीयते, ग्लानश्च ज्वरादिना त च न व्याहरति, आत्मलब्धिक च न व्याहरति, एतानन्तरोदितान् साधून् मुक्त्वा शेषान् साधून् गत्वा भणति, यदुत आचार्या व्याहरन्ति युष्मान्, तेषां च मध्ये यश्चतुर्थादिक आकारितः स आकर्ण्य किं करोति ? इत्याह—अनतिक्रमयन् गुरोराज्ञामागत्य वन्दित्वा भणति क्षमाश्रमण यदुत—संदिशत यूय, आचार्योऽपि भणति—भुङ्क्ष्व, सोऽपि भणति—स सरति तावद् भुञ्जामि, शेष पद्धरति

१ भवित्वे क्व पा. १ । २ करोमि क्वा क. १ २. पा. १ २ । ३ व्याहरन्नेता क्वा । ४ ते मध्ये क्वा । ५ आत्मलब्धिका क १ । ६ गत्वा भणति पा २ ।

तत्रस्यैव यस्य सत्कः प्रतिग्रहकः, पुनश्च स एव परिष्ठापयतीति। अथासौ साधुरेवं न भणति यदुत 'जं सरइ तच्चिअं' ततस्तस्य एवमभणतस्तस्यैव यच्छेषं भक्तमुद्धरितं तद्भवति, स एव 'विवेचकः' परिष्ठापक इत्यर्थः, भणिते तु एवं 'जावइयं सरइ तावइयं सारेमि'त्ति, ततस्तस्यैव साधोर्यस्य सत्कः पतद्ग्रहकः तस्यैव गुरुणां पतद्ग्रहकः समर्पयितव्यः, पुनः स एव कल्पं ददाति। अयं प्रवचनस्य पूर्वोक्त उपदेशः। अथ यदुद्धरति तत्सर्वं भुङ्क्ते ततस्तस्मिन् भुक्ते सति तस्य पात्रकस्य प्रथमकल्पं ददाति, कृते च तस्मिन् प्रथमकल्पे तस्यैव साधोर्यस्य सत्कः पतद्ग्रहकस्तस्यैव तत्पात्रकं 'ददाति' समर्पयतीत्यर्थः, अथैतन्न ब्रूते यदुत जावइयं सरइ तावइयं सारेमित्ति, ततः जावतिअंति अभणिते सति तस्यैव साधोर्यः पारिष्ठापनिकमोक्ता तस्यैव यदुद्धरितं शेषं तत्परित्याज्यं भवति। इदं च पूर्वोक्तस्यैव व्याख्यानं द्रष्टव्यं न तु पुनरुक्तमिति। किंविधं पुनश्चतुर्थोपवासिकादेः पारिष्ठापनिकं कल्पते ?, अत आह—

विहिगाहिअं विहिभुत्तं अइरेगं भत्तपाण भोत्तव्वं। विहिगाहिए विहिभुत्ते एत्थ य चउरो भवे भंगा ॥५९४॥

उग्गमदोसाइजढं अहवा बीअं जहा जहिं गाहिअं[2]। इइ एसो गहणविही असुद्धपच्छायणे अविही॥२९५भा.

कागसियालक्खइयं दविअरसं[3] सव्वओ परामुट्ठं।

एसो उ भवे अविही जहगाहिअं भोयणंमि (भुंजओ य) विही ॥ ५९५ ॥

१ सरामी'ति आ. पा १। २ पडिअ आ पा १। ३ रविअ° ल. १-२. पा. १।

उग्घिणइ य विट्ठाओ कागाउ अहवावि विक्खिरइ सव्वं। विप्पेक्खइ य दिसाओ सियालो अन्नोन्नहिं गिण्हे।
सुरहीदोग्घगट्ठा छोढूण दव्वं तु पियइ दोवियरसं। छेट्ठोवरि आमट्ठ इय एसो भुंजणे अविही २९७ ॥भा०
जह गहिअ तह नीयं गहणविही भोयणे विही इणमो। उक्कोसमणुक्कोसं समीकयरसं तु भुंजिज्जा ॥२९८
तइए वि अविहिगहिअं विहिभुत्तं तं गुरूहिंऽणुन्नायं। सेसा नाणुन्नाया गहणे दिंते य निज्जुत्तणा ॥२९९
अहवावि अकरणाए उवट्ठिय जाणिऊण कल्लाणं। पच्छेउ दिंति गुरू पसंगविणिवारणट्ठाए ॥३००॥ (भा)

विधिनोद्गमदोषादिरहितं सारासारविभागेन च यत्र क्व पात्रके तद्विधिगृहीतं, तथा 'विधिभुक्तं' कटच्छेदेन प्रतरच्छेदादिना वा यदुक्तं तद्विधिभुक्तमुच्यते, तदेवंविधं विधिगृहीतं विधिभुक्तं च सत् यदतिरिक्तं संजातं भक्तं पानकं वा तद्गुरोः कल्प्यं परिष्ठापनिकाकारेण कल्पते। अत्र च विधिगृहीते विधिभुक्ते चास्मिन् पदद्वये चत्वारो भङ्गका भवन्ति, तद्यथा—विहिगहिअं विहिभुत्तं एसो भगओ, विहिगहिअं अविहिभुत्तं बिइओ भंगओ, अविहिगहिअं विहिभुत्तं तइओ भंगओ, अविहिगहिअं अविहिभुत्तं चउत्थो भगओ॥ इदानीं भाष्यकृद् विधिगृहीताविधिगृहीतयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह—उद्गमदोषादिभिर्वर्ज—त्यक्तं यत्तद्विधिगृहीतं, अथवा यद्वस्तु भक्तादि यथैव यस्मिन् स्थाने पतितं भवति तथैवोपास्ते न तु समारचयति इत्येष ग्रहणविधिः। 'असुयपच्छायणे अविही' असंवृतस्य—उद्गमादिदोषान्वितस्य यद्ग्रहणं तदविधिग्रहणम्, अथवा गुर्वादेरर्प्यस्य

१ एवंव क २ प.१ । २ चम्मिसीयराई क.१ पमज्जाराई भा. । ३ गुरे क्क' क १ । ४ रयेम भा । ५ "भर्व व भा. । ६ क्व भाद मक्करान्तरेण—भत्र भा ।

मण्डकादिना प्रच्छाद्य यदेकस्मिन् पात्रकप्रदेशे स्थापनं तदविधिग्रहणमुच्यते। इदानीमविधिभोजनविधिभोजनयोः स्वरूपं प्रतिपादयन्नाह–काकभुक्तं शृगालभुक्तं तथा 'दवियरसं' द्रावितरसमित्यर्थः 'सर्वतः परामृष्टम्' उत्थल्लपत्थल्लणेण भुक्तं 'एसो उ भवे अविही' इदं तु पूर्वोक्तमविधिना भुक्तमुच्यते, यथैव गृहीतं पात्रके तथैव भुञ्जतो विधिभुक्तमुच्यते। इदानीं भाष्यकृद् व्याख्यानयति, तत्राद्यावयवप्रतिपादनायाह–यथा काक उच्चित्योच्चित्य विष्टादेर्मध्याद्वल्लादि भक्षयति एवमसावपि, अथवा विकिरति काकवदेव सर्वं, तथा काकवदेव कवलं प्रक्षिप्य मुखे दिशो विप्रेक्षते, तथा शृगाल इवान्यस्मिन-न्यस्मिन् प्रदेशे भक्षयति। सुरभि यद् 'दोच्चंगं' तीमनं ओदनादिना सह यन्मिश्रीभूतं तत्र द्रवं प्रक्षिप्य यो निर्यासः संजात-स्तत्पिबनं यत्तद्द्रावितरसमुच्यते। तथाऽधस्तादुपरि च यद् 'आमड्डं' विपर्यासीकृतं भुङ्क्ते तदेतत्परामड्डं, अयमेष भोजने-ऽविधिः। कः पुनर्ग्रहणभोजनयोर्विधिः ? इत्यत आह–यथैव गृहीतं–गृहस्थेन दत्तं सत्तत्तथैवानीतं यदयं ग्रहणविधिः, भोजने पुनरयं विधिः–यदुतोत्कृष्टद्रव्यमन्यदनुत्कृष्टद्रव्यं च समीकृतरसं भुञ्जीतेत्ययं प्रथमो भङ्गकः शुद्ध इति। तृतीयेऽपि भङ्ग-केऽविधिना असमाचार्या गृहीतं विधिना भुक्तं–समीकृतरसं सद् भुक्तं तच्च गुरुणाऽनुज्ञातं, शेषौ तु द्वौ भङ्गकौ नानुज्ञातौ, यस्तु विधिगृहीतमविधिभुक्तं काकशृगालादिरूपं भक्तं ददाति योऽपि गृह्णाति तयोर्द्वयोरपि 'निज्जुहणा' निर्द्धारणं क्रियते, तथा-ऽविधिगृहीतमविधिभुक्तं च यो ददाति गृह्णाति वा तयोर्द्वयोरपि निर्द्धारणं क्रियत इति। अथवा एतद्दोषाकरणतया–अना-सेवनया उपस्थितं दातारं ग्रहीतारं च ज्ञात्वा संगोपायनं क्रियते, कल्याणकं च गुरवो ददति, तच्च ददति 'घट्टयित्वा'

१ द्रावित° आ पा। २ °न्यत्रान्यत्र प्र° आ। ३ एयं परा° क १–२.। ४ °मनुत्क° आ।

तिरस्कृत्य, पवुत्त स्वया पुनरेव न कर्थव्य, स चैनं गुरुः किंनिमित्त करोतीत्यत आह–'पसंगविणिवारणट्ठाए' प्रसङ्गस्य–पुन रासेवनस्य विनिवारणार्थमेव करोतीति ।

घासेसणा उ एसा कहिया मे। धीरपुरिसपन्नत्ता। संजमतवड्ढगाणं निग्गंथाण महरिसीणं ॥२०१॥ भा

एय घासेसणविहिं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता। साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंत ॥२०२॥ भा

(घासेसणा समत्ता)

एत्तो पारिट्ठवणाविहिं वोच्छामि धीरपुरिसपन्नत्तं। जं नाऊण सुविहिया करिंति दुक्खक्खयं धीरा॥२०३॥भा

सुगमाः ॥ इदानीं उवरिएवि द्वारं भण्यते, अथवा स्वयमेव भाष्यकारः संबन्धं प्रतिपादयन्नाह—

भत्तट्ठिअ उव्वरिअं अहव अभत्तट्ठियाण जं सेसं। सववेणाणेण उ पारिठावणिआ मुणेयव्वा॥२०४॥(भा)

भक्तार्थिकानां च भुक्तानामुद्धरितं यत् अथवा अभक्तार्थिकानां–पारिष्ठापनिकामोक्तॄणां यदुद्धरितं–यच्छेषं तत्परिष्ठा पनीयमिति कृत्वा अनेन संबन्धेन पारिष्ठापनिका विज्ञेया भवतीत्यर्थः ।

सा पुण जायमजाया जाया मूलोत्तरेहिं उ असुद्धा। लोभातिरेगगहिया अभिओगकया विसकया वा ॥

सा पुनः पारिष्ठापनिका जाता अजाता च भवति, तत्र जाता ग्रहणकाल एव आधाकर्मादिदोषेण युक्ता एषणा

१ मुख्यर्थं पारि ध्या । २ भाषा च १ ।

आधाकर्मादिदोषेण 'जाता' उत्पन्ना, अजाता पुनः—आधाकर्मादिदोषेण न दूषिता यां साऽजातेत्युच्यते, तत्र जातास्वरूपप्रतिपादनायाह—मूलगुणैः—प्राणातिपातादिभिरशुद्धा, तथा उत्तरगुणैश्चाधाकर्मादिभिरशुद्धा, तथा लोभातिरेकेण—लोभाभिप्रायेण साधुना गृहीता साऽप्यशुद्धा लोभदोषदूषिता सती जातेत्युच्यते, तथा अभियोगकृता, अभियोगो द्विविधः—वशीकरणचूर्णो मन्त्रश्च, तत्र सा भिक्षा कदाचित्संयोजिता भवति मन्त्राभिमन्त्रिता वा साऽप्यशुद्धा, अतो जाता सा पारिष्ठापनिकेत्युच्यते, विषेण वा व्यामिश्रं भक्तं केनचिद् द्विष्टेन दत्तं भवति तस्य यत् परिष्ठापनं सा जातापरिष्ठापनिकेति। इदानीं भाष्यकृदेनामेव गाथां व्याख्यानयति, तत्र जातापरिष्ठापनिकास्वरूपाभिधानायाह—

मूलगुणेहिं असुद्धं जं गहिअं भत्तपाण साहूहिं। एसा उ होइ जाता वुच्छं सि विहीए वोसिरणं ॥३०५॥ भा.

एगंतमणावाए अच्चित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे। आलोए एगपुंजं तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ५९७ ॥

लोभातिरेगगहिअं अहव असुद्धं तु उत्तरगुणेहिं। एसावि होति जाया वोच्छं सि विहीए वोसिरणं ॥भा.

एगंतमणावाए अच्चित्ते थंडिले गुरुवइट्ठे। आलोए दोन्नि पुंजा तिट्ठाणं सावणं कुज्जा ॥ ५९८ ॥

मूलगुणैः प्राणातिपातादिभिरशुद्धं यद्गृहीतं भक्तं पानकं वा साधुभिरियं जाताऽभिधीयते, वक्ष्ये 'अस्याः' जाताया विधिना 'व्युत्सर्जनं' परित्यागं। सा च जाता किंविधे[2] स्थण्डिले परिष्ठापनीया[3]?—एकान्ते 'अनापाते' लोकापातरहिते अचित्ते स्थण्डिले

१ उत्पन्ना या ल १. २। २ एवंविधे आ। ३ °या–ए° आ।

गुरूपदिष्टे 'अणावायमसंलोए' इत्येवमादिके 'आलोगे' समे भूभागे, न गर्तादौ, यत्र प्राघूर्णकादयः सुखेन पश्यन्ति, तत्र च तस्य भक्तस्य एकः 'पुञ्जः' राशिः क्रियते, पुनश्च 'त्रिस्थान' श्रेयो धाराः श्रावणं करोति–व्युत्सृष्टं व्युत्सृष्टं व्युत्सृष्टमिति, तच्च त्रिस्थानं श्रावणं करोति त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन व्युत्सृष्टमित्यस्य ज्ञापनार्थमिति। यत्पुनः साधुना लोभातिरेकेण गुर्वादिद्रव्य मूर्च्छया गृहीतं अथवा यदशुद्धमुद्गमदोषैः–आधाकर्मादिभिः, इयमपि भिक्षा सैवोच्यते यस्ये अस्या विधिना व्युत्सर्जनं–परित्यागम्। पूर्वार्द्धं सुगमं, केवलमत्र द्वौ पुञ्जौ क्रियेते आलोके साधुनाम्। इदानीं 'अभिओगे'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

दुविहो खलु अभिओगो दव्वे भावे य होइ नायव्वो। दव्वंमि होइ जोगो विज्जा मंता य भावंमि ॥५९९॥

द्विविधोऽभियोगो–द्रव्याभियोगो भावाभियोगश्च ज्ञातव्यः, तत्र द्रव्ये योगो द्रव्ययोगश्चूर्णस्तन्मिश्रपिण्डोऽभियोगपिण्डः, स च परित्यजनीयः, भावाभियोगश्च विद्यया मन्त्रेणाभिमन्त्र्य पिण्डं ददाति स तादृशो भावाभियोगपिण्डः, स च परिष्ठापनीय इति। अत्र चागार्यां दृष्टान्तः, एगा अविरइया सा अणिट्ठा पतिणो, ताए परिवाइया अब्भत्थिया जहा किंचि मनेण अहिमंतेऊण मे देहि जेण पई मे वसे होइ, ताहे ताए अभिमंतेऊण कूरो दिण्णो, अविरइयाए चिंतियं, मा एसो दिण्णेण मरिज्जा ततो ताए अणुकंपाए उक्करुडियाए छड्डिओ, सो गद्दहेण खइओ, सो रत्तिं घरदारं खोड्डेउमारद्धो ताणि णिग्गयाणि जाव पेच्छंति गद्दहं खोड्डितं, सो अविरओ भणइ–किं एयंति ?, ताए सब्भावो कहिओ, तेणवि सा चेरिगा दव्वारिआ, एस दोसो। एवं यदि तिरियाण एरिसा अवत्था होइ माणुसस्स पुण सुठुयरं होइ, अओ एरिसो पिंडो न

१ त्रिरेव धाराः आ.। २ द्रव्याभियोगो द्रव्ययोगश्चूर्णस्तन्मिश्रः पि° आ.। ३ परिष्ठापना आ.।

घेत्तव्वो ॥ अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

विज्जाए होअगारी अचियत्ता सा य पुच्छए चरिअं। अभिमंतणोदणस्स उ अणुकंपणमुज्झणं च खरे ॥

बारस्स पिट्टणंमि अ पुच्छण कहणं च होअगारीए। सिट्ठे चरियादंडो एवं दोसा इहंपि सिया ॥६०१॥

विद्याभिमन्त्रिते पिण्डेऽगारी दृष्टान्तः, सा च भर्त्तुरचियत्ता—न रोचते, सा च चरिकां—परिव्राजिकां पृच्छति पत्युर्वशीकरणार्थं[1], तयाऽप्यभिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तयाऽपि अगार्या पत्युर्मरणानुकम्पया न दत्तः स ओदनः 'उज्झनं' परित्यागः कृतः, स चोज्झितः खरेण भक्षित इति। स च गर्दभ आगत्य द्वारं पिट्टयति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं सुगमम्। एवं भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः। इदानीं द्रव्याभियोगचूर्णं वशीकरणपिण्डः स उच्यते—एगा अविरइया, सा य सुरूवस्स भिक्खुणो अज्झोववण्णा अणुरत्ता, ताहे सा तं पं[2]त्थेति अणिच्छंतस्स चुण्णाभिओगेण संजोएं[3]उं भिक्खं पाडिवेसिअघरे काऊण दवाविअं, ताहे जं[4]ओ चेव तस्स साहुस्स पडिग्गहगे पडिअं तं[5]ओ चेव तस्स साहुस्स तं[6]त्तोहुत्तो मणो हीरइ, तेण य नायं ताहे निय[7]ट्टो, आयरिआणं पडिग्गहगं दाउं काइयभूमिं वच्चइ जाव आयरियाणंपि तत्तोहुत्तो भावो हीरइ, ताहे सो सीसो आगंतुं आलोएइ, आयरिआ भणंति—ममवि अत्थि भावो, तं एत्थं संजोगचुण्णेण कओ पिंडो अत्थि, ताहे परिठविज्जइ, जो विही परिट्ठावणे

१ दत्त, 'उज्झन' आ पा १ । २ पेच्छति आ । ३ °एण भिक्ख ल १ । ४ जत्थेव तस्स आ । ५ तत्थेव तस्स आ । ६ तओ मणो आ. । ७ नियत्तइ आ ।

मो उवरिं भण्णिहिति। एवमव विसकयंपि, एगा अगारी साहुणो अज्झोववण्णा, सो य नेच्छइ, ताहे रुट्ठाए विसेण मिस्सा भिक्खा दिण्णा, तस्स य दिण्णमेत्तेण चेव सिरोवेयणा संजाया, पडिणियत्तो य गुरुणो समप्पेऊण काइयं वोसिरइ जाव गुरुणोवि सीसवेयणा जाया, त य गुरुणा नायं जहा इमं विसमिस्सं, अहवा तत्थ लवणकया भिक्खा पडिया ताहे त विसं उज्झिज्जइ, एव नाए विहीए परिट्ठविज्जति सो य भणीहामि ॥ इदानीममुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

जोगमि उ अविरइआ अज्झोववन्ना सरूवभिक्खुमि। कज्जोगमणिच्छतस्स देइ भिक्ख असुभभावे ६०२
सकाए स नियट्टो दाऊण गुरुस्स काइय निसिरे। तेसिंपि असुभभावो पुच्छा य ममपि उज्झणया ॥६०३
एमेव विसकयंमिवि दाऊण गुरुस्स काइय निसिरे। गधाई विसाए उज्झणअविही सियालवहे ॥६०४॥
एव विज्जाजोए विससंजुत्तस्स वावि गहियस्स। पाणच्चएवि नियमुज्झियव्व वोच्छं परिट्ठवण ॥६०५॥
एगतमणावाए अचित्ते थडिले गुरुवइट्ठे। छारेण अक्कमित्ता तिट्ठाण सावण कुज्जा ॥ ६०६ ॥

जोगे अविरइया—गृहस्थी दृष्टान्तः, अज्झोववण्णा—रक्ता सरूपे भिक्षौ, अनिच्छतस्तत्कर्म कर्तुं कृतयोगो भिक्षापिण्डो दत्तः, पुनश्च तस्य मायोग्रहणानन्तरमेवाशुभभावो जातः—तदभिमुख चित्तमिति। तथा च 'शङ्कया' योगकृतभिक्षाशङ्कया स निवृत्तो भिक्षापरिभ्रमणात्। शेषं सुगमम्। एवमेव विषकृतेऽपि दृष्टान्तः, गुरोः 'दत्त्वा' समर्पयित्वा कायिकां व्युत्सृजति,

१ [illegible]

तेन च गुरुणा गन्धादिना विज्ञाते, आदिग्रहणाद् भक्तस्स उंप्फिसणेण वा 'उज्झनं' परित्यागः क्रियते तत्र विधिना परिष्ठापनं कर्त्तव्यं नाऽविधिना, अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो भवति। एवं विद्याभिमन्त्रितस्य योगचूर्णकृतस्य तथा विषसंयुक्तस्य गृहीतस्य सतः 'प्राणात्यये'ऽपि अत्यर्थं क्षुत्पीडायामपि सत्यां नियमेन–अवश्यन्तयोज्झनीयं (ज्झना कार्या) तस्य च परिष्ठापनविधिं वक्ष्ये। पूर्वार्द्धं पूर्ववत्, तद्विषादिकृतं भोजनं 'छारेण' भूत्या 'आक्रम्य' मिश्रीकृत्य चैतेनैव परिष्ठापनीयं, तिट्ठाणं सावणं कुज्जा, सुगमम्। इदानीं 'तिट्ठाणं सावणं'ति व्याख्यायते—

दोसेण जेण दुट्ठं तु भोयणं तस्स सावणं कुज्जा। एवं विहिए वोसट्ठे वेराओ मुच्चई साहू ॥ ६०७ ॥

दोषेण येन–मूलकर्मादिना आधाकर्मादिना वा दुष्टं भोजनं भवति तस्य तिस्रो वाराः श्रावणं कर्त्तव्यं, यदुत मूलकर्मादिदोषैर्दुष्टमिति, एवमुत्तरगुणयोगमन्त्रविषकृतदुष्टानामपि तिस्रो वाराः श्रावणं करोति, एवं विधिना व्युत्सृष्टे सति 'वैरात्' कर्मणो मुच्यते साधुः, अथवा 'वैरात्' जन्तुवधजनितान्मुच्यते साधुरिति। आह–इदमुक्तं शुद्धाया भिक्षाया यत्परिष्ठापनं साऽजातापरिष्ठापनिका उच्यते, ततश्च—

जावइयं उवजुंजइ तत्तिअमित्ते विगिंचणा नत्थि। तम्हा पमाणगहणं अइरेगं होज्ज उ इमेहिं ॥६०८॥

यावन्मात्रकमेवोपयुज्यते तावन्मात्रमेव भिक्षाग्रहणं कर्त्तव्यं, यदा चैवं तदा तावन्मात्रकग्रहणे 'विगिंचनं' परिष्ठापनं

१ उप्फस° आ। २ विधिना, अविधि° आ.। ३ °त्य चैव परि° आ। ४ सुगमम् इदा° आ.। ५ एवं विहवो सट्ठे आ.। ६ उवउज्जइ आ.।

'नास्ति' न भवति तस्मात्प्रमाणग्रहणमेव कर्त्तव्यं, ततश्च कुतोऽजातायाः परिष्ठापनिका संभवति ?, अतिरेकग्रहणाभावादिति, एवमुक्ते परेण आह सूरिः—'अहरेगं होज्ज उ इमेहिं' अतिरिक्तं शुद्धमपि भक्तं 'एभिः वक्ष्यमाणकारणै'र्भवेत्, कानि च तानि वक्ष्यमाणकारणानीत्यत आह—

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लहे सहसदाणे। एव होइ अजाया इमा उ गहणे विही होइ ॥६०९॥

कदाचित्कस्मिंश्चित्क्षेत्रे आचार्यप्रायोग्यं दुर्लभं भवति ततश्च सर्वे एव सङ्घाटका आचार्यप्रायोग्यस्य ग्रहणं कुर्वन्ति ततश्च तद् घृतादि कदाचित् सर्वे एव लभन्ते ततस्तदुद्धरति, अन्येषां च सर्वेषां पर्याप्तं, एवमाचार्यार्थं गृहीतस्य शुद्धस्यापि परिष्ठापना भवतीति। तथा ग्लानार्थमप्येवमेव गृहीतं समुद्धरति, प्राघूर्णकानामप्येवमेव, तथा दुर्लभलाभे सति सर्वैरेव सङ्घाटकैः गृहीतमुद्धरतीति तथा 'सहसदाणे' अप्रतर्कितदाने सति प्रचुरमुद्धरति, ततश्च एव भवति अजातापरिष्ठापनिका। तत्र चाचार्यादीनां ग्रहणेऽयं विधिः—वक्ष्यमाणो भवतीति, कथमसावित्यत आह—

जइ तरुणो निरुवहओ भुंजइ तो मंडलीइ आयरिओ। असहुस्स वीसुगहणं एमेव य होइ पाहुणए॥६१०॥

केचनैव भणति—यद्यसावाचार्यस्तरुणो निरुपहतपञ्चेन्द्रियश्च ततोऽसौ मण्डल्यामेव भुङ्क्ते सामान्यं, अथ असहुः—असमर्थस्ततस्तस्य विष्वक्—पृथग् ग्रहणं प्रायोग्यस्य कर्त्तव्यं, एवमेव प्राघूर्णकेऽपि विधिर्द्रष्टव्यः, यदि प्राघूर्णकः समर्थस्ततो नैव

१ ततोऽन्येषां चा० प्र० १। २ साधूनां भं० चा० प्र० १ २०। ३ ततः जस्स जस्स च १-२।

तत्प्रायोग्यग्रहणं क्रियते, अथाऽसमर्थस्ततः क्रियत इति, केचित्पुनरेवं भणन्ति–यदुत समर्थस्याप्याचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यं, यत एते गुणा भवन्ति—

सुत्तत्थथिरीकरणं विणओ गुरुपूय सेहबहुमाणो । दाणवतिसद्धवुड्ढी बुद्धिबलवद्धणं चेव ॥६११॥

आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणेन क्रियमाणेन सूत्रार्थयोः स्थिरीकरणं कृतं भवति यतो मनोज्ञाहारेण सूत्रार्थौ सुखेनैव चिन्तयति, अत आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यं तथा विनयश्चानेन प्रकारेण प्रदर्शितो भवति, गुरुपूजा च कृता भवति, सेहस्य चाचार्यं प्रति बहुमानः प्रदर्शितो भवतीति, अन्यथाऽसौ सेह इदं चिन्तयति, यदुत न कश्चिदत्र गुरुर्नापि लघुरिति, अतो विपरिणामो भवति, तथा प्रायोग्यदानपतेश्च श्रद्धावृद्धिः कृता भवति तथा बुद्धेर्बलस्य चाचार्यसत्कस्य वर्द्धनं कृतं भवति, तत्र च महती निर्जरा भवति ।

एएहिं कारणेहि उ केइ सहुस्सावि वयंति अणुकंपा । गुरुअणुकंपाए पुण गच्छे तित्थे य अणुकंपा ॥६१२॥

'एभिः' पूर्वोक्तकारणैः केचित्समर्थस्याप्याचार्यस्यानुकम्पा कर्त्तव्येत्येवं वदन्ति, यतो गुरोरनुकम्पया गच्छे तीर्थे चानुकम्पा कृता भवति । यतश्चैवमतः प्रायोग्यग्रहणं गुरोः कर्त्तव्यमिति ॥ कीदृशं पुनराचार्ययोग्यं ग्राह्यमित्यत आह—

सति लाभे पुण दव्वे खित्ते काले य भावओ चेव । गहणं तिसु उक्कोसं भावे जं जस्स अणुकूलं ॥६१३॥

---

१ भवति आ । २ ग्राह्यमिति ॥ आ ल २ । ३ अत आह—आ. ल २ । ४ °कंप आ ।

'सति' विद्यमाने लाभे द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोत्कृष्टं ग्राह्यम्। इदानीं निर्युक्तिकारो व्याख्यानयन्नाह–'पढम तिसु उक्कोसं' प्रथमं त्रिषु द्रव्यक्षेत्रकालेषु उत्कृष्टं कर्तव्यं, भावे तु यद्वस्तु यस्याचार्यस्यानुकूलं तद्गृह्यते। इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति, तत्र द्रव्योत्कृष्टतां(ष्टं) प्रदर्शयन्नाह—

कलमोदणो उ पयसा उक्कोसो छाणि कोद्दवुकभज्जी। तत्थावि मिउतुप्पअर जत्थ व ज अच्चिय दोसु ३०७

कलमशाल्योदनः पयसा सह द्रव्यतः उत्कृष्टः प्राप्यः, तदलाभे हान्या तावद् गृह्यते यावत् 'कोद्दवुकभज्जी' कोद्रवचाउलयं, तत्राप्य विशेषः क्रियते यदुत तदेव चाउलयं मृदु गृह्यते, तथा 'तुप्पयरं'ति स्निग्धतरं तदेव चाउलयं गृह्यते, उक्तं द्रव्योत्कृष्टं, इदानीं क्षेत्रकालोत्कृष्टप्रतिपादनायाह–'जत्थ व ज भाविय दोसु' द्वयोरिति–क्षेत्रकालयोर्यद्वस्तु यत्र पूजितं तदत्र गृह्यते, एतदुक्तं भवति–यदत्र क्षेत्रे बहुमतं द्रव्यं तदस्मिन् क्षेत्रे उत्कृष्टमुच्यते, तच्च ग्राह्यं, तथा यद्वस्तु यस्मिन् काले बहुमतं तदस्मिन् काले कालोत्कृष्टमुच्यते, भावोत्कृष्टं पुनर्निर्युक्तिकारेणैव व्याख्यातं। उक्तं प्रसङ्गागतम्, इदानीं यदुक्तं आचार्यादीनां गृहीत्वा तद्योग्यं तथा प्रतिपादयन्नाह—

लाभे सति संघाडो गेण्हइ एगो उ इयरहा सव्वे। तस्सप्पणो य पज्जत्त गिण्हणे होइ अतिरेग ॥६१४॥

यदि तस्मिन् क्षेत्रे घृतादीनां स्वभावेनैव लाभोऽस्ति ततस्तस्मिन् लाभे सति आचार्यार्थमेक एव संघाटकः प्रायोग्यं

१ तत्थ जत्थ आ पा १। २ °मुत्थ आ.। ३ तत्थ आ.। ४ उक्क आ.। ५ °भावेन आ. पा २।

गृह्णाति, 'इहरह'त्ति यदा तस्मिन् क्षेत्रे न प्रायोवृत्त्या [1]प्रायोग्यस्य लाभः तदा सर्वे एव सङ्घाटकास्तस्याचार्यस्य प्रायोग्यं पर्याप्त्यै गृह्णन्ति, ततश्च तस्याचार्यस्यात्मनश्चार्थाय पर्याप्तग्रहणे सति अतिरिक्तं भवति, ततश्च तत्परिष्ठाप्यत इति । इदानीं 'गिलाणे'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

गेलन्ननियमगहणं नाणत्तोभासि[3]यंपि तत्थ भवे । ओभासियमुव्वरिअं विगिंचए सेसगं भुंजे ॥६१५॥

ग्लानस्य नियमेन प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यं, यदि परं नानात्वं 'ओभासियंपि' प्रार्थितमपि तत्र ग्लाने भवति, [4]ग्लानार्थं प्रायोग्यस्य च प्रार्थनमपि क्रियते, ततश्च ओभासितं—प्रार्थितं सद् ग्लानार्थं पुनश्च यदुद्वरति ततस्तद् 'विगिच्यते' परित्यज्यते, 'सेसयं भुंजे'त्ति शेषं यदनवभासिअं—अप्रार्थितमुद्वरितं तद्भुञ्जीत कश्चित्साधुरिति । प्राघूर्णकोऽप्याचार्यवद्व्याख्यात एव द्रष्टव्यः । इदानीं दुल्लभेत्ति व्याख्यानयन्नाह—

दुल्लहदव्वं व सिया घयाइ घेत्तूण सेस भुंजंति । थोवं देमि व गिण्हामि यत्ति सहसा भवे भरियं ॥६१६॥

दुर्लभद्रव्यं वा स्याद्—भवेत् घृतादि तद्गृहीत्वा उपभुज्य च यत् शेषं तदुज्झति, एवं वा पारिष्ठापनिकं भवति । इदानीं 'सहसदाणे'त्ति व्याख्यानयन्नाह—'थोवं देमी'त्यादि स्तोकं दास्यामीत्येवं चिन्तयन्त्या गृहस्थया सहसा अतर्कितमेव तत् साधुभाजनं भृतं, साधुर्वा चिन्तयति स्तोकं ग्रहीष्यामीति, पुनश्चातर्कितमेव भाजनं भृतं, ततश्चैवमतिरिक्तं भवति, पुनश्च परिष्ठाप्यत इति ।

---

१ प्रयोगस्य आ. । २ °प्त्या गृ° आ. । ३ °सियस्स तत्थ ल. १ । ४ एतदुक्तं भवति ग्ला° पा. १–२ पु. ।

एएहिं कारणेहिं गहियमजाया उ सा विगिंचणया। आलोगमि तिपुजी अद्धाणे निग्गयातीण ॥६१७॥

एभि[1] पूर्वोक्तकारणैर्गृहीत भक्तं सा 'अजातविगिंचणय'त्ति अजाता विगिंचना–परिष्ठापनोच्यते, तस्यामजातायाः माण्डालोके त्रयः पुञ्जाः क्रियन्ते, किमर्थमित्याह–'अद्धाणे निग्गयाईण' अध्वाने निर्गतास्तदर्थं त्रयः पुञ्जाः क्रियन्ते, आदिग्रहणात्कदाचित एव कारणे उत्पन्ने गृह्णन्तीति। आह–

एक्को व दो व तिन्नि व पुजा कीरंति किं पुण निमित्त ?। विहमाइनिग्गयाण सुद्धेयरजाणणट्ठाए ॥६१८॥

एको वा द्वौ वा त्रयो वा पुञ्जाः किं पुनर्निमित्तं क्रियन्ते ?, उच्यते, 'विहमाई' विहः–पन्थास्तदर्थं निर्गतानां साधूनां शुद्धेतरभक्तपरिज्ञानार्थं त्रयः पुञ्जकाः क्रियन्ते, आदिग्रहणाद्व्याख्यानामेव कदाचिदुपयुज्यते इतिकृत्वा परिज्ञानार्थं त्रयः पुञ्जकाः क्रियन्त इति। इयं च गाथाऽनन्तरातीतगाथाया व्याख्यानभूता द्रष्टव्येति।

एव विगिंचिउ निग्गयस्स सण्णा हवेज्ज त तु कह ?। निसिरेज्जा अहव धुव आहारा होइ नीहारो ॥६१९॥

'एव' उक्तेन न्यायेन परिष्ठापनार्थं निर्गतस्य यदि सञ्ज्ञा पुरीषोत्सर्जने बुद्धिर्भवेत् 'तत्कथं ?' किं तत्र कर्तव्यमिति, अत आह 'निसिरेज' व्युत्सृजेत्, अथवा किमत्र प्रष्टव्यं ?, ध्रुवमाहाराभीहारो भवति, ततश्च स्थण्डिले व्युत्सर्जनं कर्तव्यं तत्र स्थण्डिल पूर्वभणितमेव, तथा चाऽऽह–

१ भक्तं का। २ प्रत्येक पुं का।

थंडिल्ल पुव्वभणियं पढमं निद्दोस दोसु जयणाए। नवरं पुण णाणत्तं भावासन्नाए वोसिरणं ॥ ६२० ॥

स्थण्डिलं पूर्वभणितमेव, यदुत अनापातं असंलोकं १ अनापातं ससंलोकं २ सापातमसंलोकं ३ सापातं ससंलोकं ४। अत्र प्रथमो भङ्गको निर्दोषः, द्वयोश्च द्वितीयतृतीययोर्भङ्गकयोर्यतनया व्युत्सृजति, एतत्पूर्वोक्तस्थण्डिलस्य सामान्यमेव, 'नवरं पुण णाणत्तं'ति नवरं–केवलमिदं नानात्वं, यदुतात्र मात्रासन्ने–अतिपीडायां व्युत्सृजनमनुज्ञातं, तत्र चानुज्ञा नैव कृताऽऽसीदिह च कृताऽतो नानात्वं, ततश्च चतुर्थभङ्गकासेवनमप्यनुज्ञातमेव द्रष्टव्यमिति। इदानीं भाष्यकारः पूर्वोक्तस्थण्डिलानि प्रदर्शयन्नाह—

अणावायमसंलोयं अणावायालोय ततिय विवरीयं। आवातं संलोगं पुव्वुत्ता थंडिला चउरो ॥ ३०८ भा०

अनापातमसंलोकं च प्रथमो भङ्ग उक्तस्तथाऽन्यदनापातमालोकं च द्वितीयं, तृतीयं पुनर्विपरीतं स्थण्डिलं–सापातमसंलोकमित्यर्थः, तथाऽन्यदापातं संलोकं च चतुर्थो भङ्गकः, एतानि पूर्वोक्तस्थण्डिलानि चत्वारि।

अणावायमसंलोगं निद्दोसं बितियचरिम जयणाए। पउरदवकुरुकुयादी पत्तेयं मत्तगा चेव ॥ ६२१ ॥

तइएवि य जयणाए नाणत्तं नवरि सद्दकरणंमि। भावासन्नाए पुण नाणत्तमिणं सुणसु वोच्छं ॥ ६२२ ॥

तत्रानापातमसंलोकं च स्थंडिलं निर्दोषं, द्वितीयतृतीयचतुर्थेषु यतनया व्युत्सर्जनं कर्त्तव्यं, का चासौ यतना ?, प्रचुर-

१ भङ्गकस्तथा° ल १–२।

एवेष कुरुकुचादिकं कर्तव्यं प्रत्येकं प्रत्येकं च मात्रकाणि सपानकानि भवन्ति । किं सर्वेष्वेव स्थण्डिलेषु कुरुकुचैव यतना कर्तव्या उत कश्चिद्विशेषः ?, उच्यते, अस्ति विशेषः, तृतीयेऽपि स्थण्डिले यतनाया नानात्वमेतावद्भवति परं यथुत अन्य-त्रस्ये । तत्र प्रथमस्थण्डिले गन्तव्यं, अथ तदभावस्ति,

जदि पढम न तरेज्जा तो वितिय तस्स असइए तइय । तस्स असई चउत्थं गोमद्दारे य रत्थाए ॥ ६२३ ॥

यदि प्रथमं स्थण्डिलं गन्तुं न शक्नुयात्ततो द्वितीयं व्रजेत्, 'तस्य' द्वितीयस्याभावे तृतीयं व्रजेत्, 'तस्य' तृतीयस्य स्थण्डिलस्याभावे चतुर्थं स्थण्डिलं व्रजेत्, यदा चतुर्थमपि स्थण्डिलं गन्तुं न शक्नोति तदा ग्रामद्वारे गत्वा व्युत्सृजति, यदा ग्रामद्वारमपि गन्तुं न शक्नोति तदा रथ्यायामेव व्युत्सृजति ॥

साही पुरोहडे वा उवस्सए मत्तगंमि वा णिसिरे । अब्भुक्कडंमि वेगे मडलिपासंमि वोसिरइ ॥ ६२४ ॥

यदा रथ्यायामपि गन्तुं न शक्नोति तदा 'साहीए' गृहपङ्क्त्यन्तरे व्युत्सृजति, यदा गृहपङ्क्तिमपि गन्तुं न शक्नोति तदा 'पुरोहडे' अग्रद्वारे व्युत्सृजेत्, यदा पुरोहडमपि गन्तुं न शक्नोति तदोपाश्रये मात्रके वा व्युत्सृजेत्, सर्वथा 'अब्भु-क्कडंमि वेगे मडलिपासंमि वोसिरति' सुगमम् । इह च लोकेऽपि प्रसिद्धं, यदुत प्राप्तपुरीषादिवेगो न धार्यते । अत्र च कथा

१ मत्ते दारे य आ. । २ तुलना मु. ११ । ३ गन्तुमशक्तो यदा मु. आ. । ४ गन्तुमशक्तो गन्तुं आ. । ५ समर्थस्तदा आ. । ६ नास्ति पदमिदं च प्र. २ ।

नकम्-एगो राया तस्स वेज्जो पहाणो सो य मतो, तंमि मए राइणा गवेसावियं एयस्स पुत्तो अत्थि वा न वा ? तस्स य कहियं-अत्थि एगा सुया, ताए य सयलं वेज्जयं अहीयं, हक्कारिया य[1], राइणा भणिया य-किं ते अहीयं वेज्जयं ?, सा भणइ अहीयं[3], ततो एयस्सिं अंतरे ताए वायकम्मं कयं, ततो इयरेहिं विज्जेहिं हसियं, ततो तीए ताणं विज्जाणं राइणो य परिकहणा कया, जहा-'तिण्णि सल्ला महाराय अस्सिं देहे पइट्ठिया। वायमुत्तपुरीसाणं पत्तवेगं न धारए' ॥ १ ॥ सिलोगो सुगमो। एवं साहुणावि वेज्जाईणं परिकहणा कायव्वा। एतदेव गाथयोपसंहरन्नाह—

राया विज्जंमि मए विज्जसुयं भणइ किं च ते अहीयं ?। अहीयंति वायकम्मे विज्जा हसणा य परिकहणा ६२५

सुगमा ॥

एसा परिट्ठवणविही कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता। सामायारिं एत्तो वुंच्छं[5] अप्पक्खरमहत्थं ॥ ६२६ ॥

सुगमा ॥ उवरिएत्ति दारं गयं, इदानीं सामाचारी व्याख्यायते—

सन्नातो आगतो चरमपोरिसिं जाणिऊण ओगाढं। पडिलेहेंणमप्पत्तं[6] नाऊण करेइ सज्झायं ॥ ६२७ ॥

एवं च साधुः सञ्ज्ञां व्युत्सृज्य आगतः पुनश्च 'चरमपौरुषीं' चतुर्थप्रहरं ज्ञात्वा 'अवगाढां' अवतीर्णां, ततः किं करोति

१ आयाया, राइणा आ। २ भणियं ?, सा आ.। ३ °यं विज्जयं, ततो आ। ४ °स्सतरे ताए आ पा. १। ५ सेस वोच्छेअहाविहिणा ल. १। ६ °हेइ अपत्ते नाऊण ल १ पु.।

स्पष्ट प्राह–प्रत्युपेक्षणां करोति, अथासौ चरमपौरुषी नाद्यापि भवति ततोऽप्राप्तां चरमपौरुषीं ज्ञात्वा स्वाध्याय तावत्क रोति यावच्चतुर्थी पौरुषी प्राप्ता।

पुव्वुद्दिट्ठो य विही इहंपि पडिलेहणाइ सो चेव। जं एत्थ नाणत्तं तमहं वोच्छं समासेण ॥ ६२८ ॥
पडिलेहगा उ दुविहा भत्तट्ठियएयरा य नायव्वा। दोण्हऽवि य आइपडिलेहणा उ मुहणंतगसकायं ॥६२९
तत्तो गुरू परिन्ना गिलाणसेहाति जे अभत्तट्ठी। संदिसह पायमत्ते य अप्पणो पट्टगं चरिमं ॥ ६३० ॥
पट्टग मत्तय सयमोग्गहो य गुरुमाइया अणुन्नवणा। तो सेस भाणवत्थे पाउंछणगं च भत्तट्ठी ॥ ६३१ ॥

अत्र च प्रत्युपेक्षणायां पूर्वोदिष्ट एव विधिः, 'मुखवस्त्रिकादिकाऽवधेः प्रत्युपेक्षणा' एवमादिः, तथा पात्रस्यापि "सोच्चा रओवउत्तो गछेमो" इत्येवमादि, इहापि स एव प्रत्युपेक्षणायां विधिर्द्रष्टव्यः, यदत्र नानात्व–योऽतिरिक्तो विधिर्भवति त दहमत्र वक्ष्ये 'समासेन' सङ्क्षेपेण, तत्र च ते प्रत्युपेक्षकास्ते द्विविधाः–भक्तार्थिका –भुक्ताः 'एयरा य' इतरे च उपवा सिनश्च ज्ञातव्याः 'द्वयोरपि' भक्तार्थिकाऽभक्तार्थिकयोः 'आदौ' प्रथमं प्रत्युपेक्षणा तुल्या एव वेदितव्या 'मुहणंतगसकायं' प्रथमं मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्षन्ते ततः 'स्वकायं' निजदेहं प्रत्युपेक्षन्ते मुखवस्त्रिकया एव, एवं तावद्भुक्ताभक्तार्थिकयोस्तुल्या प्रत्युपेक्षणा। इदानीमभक्तार्थिकानां प्रत्युपेक्षणाविधिं प्रदर्शयति, अत्र 'ततः' मुखवस्त्रिकाकायप्रत्युपेक्षणानन्तरं 'गुरु'त्ति गुरोः

१ सर्व आ. प. १-२। २ गच्छेमो आ। ३ विधा प्रत्यु आ। ४ ना इवे आ. आ १ २।

संबन्धिनीमुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते, 'परिण्ण'त्ति परिज्ञा–प्रत्याख्यानम्, एतदुक्तं भवति–अनशनस्थस्य संबन्धिनीमेवधिं ततः प्रत्युपेक्षन्ते, तदनन्तरं ग्लानसत्कामुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते, तथा शैक्षकः–अभिनवप्रव्रजितः शिक्षणार्थं अर्पितः तदीयामुपधिं तस्यैवाग्रतः प्रत्युपेक्षन्ते आदिग्रहणात् वृद्धादेः संबन्धिनीमुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते, येऽभक्तार्थिनस्ते एवमनेन क्रमेण कुर्वन्ति प्रत्युपेक्षणां, ततो गुरुं संदिशापयित्वा 'संदिसह इच्छाकारेणं ओहियं पडिलेहेमि' एवं भणित्वा 'पात्रं' पतद्ग्रहं प्रत्युपेक्षन्ते, मात्रकं चात्मीयं प्रत्युपेक्षन्ते, ततश्च सकलमुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते तावद्यावच्चोलपट्टकश्चरमस्तमपि प्रत्युपेक्षन्ते । एस ताव अभत्तट्ठिआण पडिलेहणविही । इदानीं भुक्तानां विधिं प्रतिपादयन्नाह–मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्ष्य तथैव कायं प्रत्युपेक्ष्य ततः 'पट्टगं'ति चोलपट्टगं प्रत्युपेक्षन्ते, पुनश्च गोच्छको यः पात्रकस्योपरि दीयते पच्छा पडिलेहणीयं पत्ताबंधे पडलाइं रयत्ताणं च पत्तयं चै(चे)व, यदि मत्तओ अरिक्को तो एवं, अह रिक्को तो सो चेव पढमं निक्खिप्पइ, पुनश्च मात्रकं निक्षिप्य स्वकीयमवग्रहं–पतद्ग्रहं प्रत्युपेक्ष्यन्ते, ततो गुरुप्रभृतीनां सत्का उपधयः प्रत्युपेक्ष्यन्ते भक्तार्थिकैः, 'अणुण्णवण'त्ति ततो गुरुमनुज्ञापयन्ति, यदुत 'संदिसह ओहियं पडिलेहेमो'त्ति ततः शेषाणि–गच्छसाधारणानि पात्राणि वस्त्राणि च अपरिभोग्यानि यानि तानि प्रत्युपेक्षन्ते, ततः स्वकीयं पायपुञ्छणगं–रजोहरणं च प्रत्युपेक्षन्ते, भक्तार्थिका एवमनेन क्रमेण प्रत्युपेक्षणं कुर्वन्ति ॥

जस्स जहा पडिलेहा होइ कया सो तहा पढइ साहू। परियट्टेइ व पयओ करेइ वा अन्नवावारं ॥६३२॥

पुनश्च यस्य साधोर्यथैव प्रत्युपेक्षणा भवति 'कृता' परिनिष्ठिता स तथैव पठति परिवर्त्तयति वा–गुणयति वा पूर्वभणितं प्रयतः–

१ °मुपधिं प्रत्युपेक्षन्ते तथा आ पा १ । २ °मपि प्रत्यु° आ । ३ सो चेव आ. । ४ अवधिं पडि° ल १ । ५ °पेक्ष्यन्ते ल १ ।

प्रयत्नेन करोति यावन्यमाधुना मन्यर्थितः सन् व्यापारं–किञ्चिदिति कर्मप्रयोग, यदि वाऽन्य व्यापारं सूर्मनादि करोति।

चउभागवसेसाए चरिमाए पडिक्कमित्तु कालस्स। उच्चारे पासवणे ठाणे चउवीसइ पेहे ॥ ६३३ ॥
अहियासिया उ अतो आसन्ने मज्झि तह य दूरे य। तिन्नेव अणाहियासी अतो छच्छच्च बाहिरओ ॥६३४॥
एमेव य पासवणे बारस चउवीसयं तु पेहित्ता। कालस्सवि तिन्नि भवे अह सूरो अत्थमुवयाति ॥६३५॥

एवं स्वाध्यायादि कृत्वा पुनश्चतुर्भागावशेषायां चरमपौरुष्यां प्रतिक्रम्य कालस्य ततः स्थण्डिलानि प्रत्युपेक्ष्यन्ते, किम र्थम् ?, उच्चारार्थं तथा प्रस्रवणार्थं च स्थानानि चतुर्विंशतिपरिमाणानि प्रत्युपेक्ष्यन्ते। इदानीं कतराः स्थण्डिलभूमयः प्रत्युपेक्षणीयाः ? इत्यत आह–अधिकासिका भूमयो याः सञ्ज्ञावेगेनोत्पीडितः सुखेनैव गन्तुं शक्नोति ता एवंविधाः 'अन्तः' मध्येऽङ्गनस्य तिस्रः प्रत्युपेक्षणीयाः, कथम् ?, एका स्थण्डिलभूमिर्वसतेरासन्ना अन्या मध्ये, अन्या दूरे, एवमेतास्तिस्रः स्थण्डिलभूमयो भवन्ति, तथाऽन्यास्तिस्र एव तद्विभेदाद्ये आसन्नतरे भवन्ति अनधिकासिकाः–सञ्ज्ञावेगेनोत्पीडितः सन् न याति ता अपि तिस्र एव भवन्ति, एका वसतेरासन्नतरे प्रदेशेऽन्या मध्येऽन्या दूरे, एवमेता अन्तः–मध्येऽङ्गनस्य षट् भवन्ति, तथा षट् बाह्यतोऽपि इति–अङ्गनस्य बहिः पदेकमेव भवन्ति। एवमेव 'प्रस्रवणे' कायिकायां द्वादश भूमयः प्रत्युपेक्ष्यन्ते, षडङ्गनमध्ये षट् बाह्यतोऽपि भवन्ति, एवं एताः सर्वा एव उच्चारकायिकाभूमीश्चतुर्विंशतिं प्रत्युपेक्ष्य

१ दो तिनि सो स १ । २ नाहियासि ना पा १ । ३ मेतरन्तः क १ । ४ स्य एव एताः सा ।

पुनश्च कालस्यापि ग्रहणे तिस्र एव भूमयः प्रत्युपेक्षणीया भवन्ति, ताश्च कालभूमयो जघन्येन हस्तान्तरिताः प्रत्युपेक्ष्यन्ते, एवमनेन प्रकारेण कृतेन अथ सूर्यो यथाऽस्तमुपयाति तथा कर्त्तव्यम् ।

जइ पुण निव्वाघाओ आवासं तो करेंति सव्वेवि । सड्ढाइकहणवाघायया य पच्छा गुरू ठंति ॥ ६३६ ॥

एवं सूर्यास्तमयानन्तरं यदि निर्व्याघातो गुरुः-क्षणिक आस्ते ततः सर्व एवाऽऽवश्यकं-प्रतिक्रमणं कुर्वन्ति, अथ श्राद्धधर्मकथनया व्याघातो गुरोर्जातः-अक्षणिकत्वं ततः पश्चाद्गुरुरावश्यकभूमौ संतिष्ठते ।

सेसा उ जहासत्ती आपुच्छित्ताण ठंति सट्ठाणे । सुत्तत्थझरणहेउं आयरिए ठियंमि देवसियं ॥ ६३७ ॥

शेषास्तु साधवो यथाशक्त्याऽऽपृच्छ्य गुरुं स्वस्थाने स्वस्थाने यथारत्नाधिकतयाऽऽवश्यकभूमौ तिष्ठन्ति, किमर्थं ?, 'सूत्रार्थक्षरणहेतोः' सूत्रार्थगुणननिमित्तं तस्यामावश्यकभूमौ कायोत्सर्गेण तिष्ठन्ति, तत्र केचिदेवं भणन्त्याचार्याः-यदुत ते साधवः सामायिकसूत्रं पठित्वा कायोत्सर्गेण तिष्ठन्ति, कायोत्सर्गस्थिताश्च ग्रन्थानर्थान् वा चिन्तयन्तस्तिष्ठन्ति तावद्यावद्गुरुरागतः, ततो गुरुः सामायिकसूत्रमाकृष्य दैवसिकमतिचारं चिन्तयति, तेऽपि गुरौ तथास्थिते तूष्णींभावेन कायोत्सर्गस्था एव दैवसिकमतिचार चिन्तयन्ति । अन्ये त्वाचार्या एवं ब्रुवते, यदुत ते साधवः सूत्रार्थं क्षरन्तस्तावत् तिष्ठन्ति यावद्गुरुरागतः, ततो गुरुः सामायिकसूत्रं पठति, तेऽपि कायोत्सर्गस्था एव सामायिकसूत्रं मनसा पठन्ति, ततः समकं पठित्वा-

१ °ताए पच्छा आ पा १ । २ °कथादिना व्या° आ । ३ °गणणहेउं ल १ । ४ समकं मनसा आ. । ५ सामायिकं प° आ. पा. २ पु. ।

उतिचारं चिन्तयन्ति, आयरिओ अप्पणो अतियारं विगुण चिंतइ, किंनिमित्तं ?, ते साहुणो बहुग हिंडिया ततो ततिएण कालेण चिंतिउ न सक्कंतित्ति ।

जो होज्ज उ असमत्थो बालो वुड्ढो गिलाणपरितंतो । सो आवस्सगजुत्तो अच्छेज्जा निज्जरापेही ॥६३८॥

यस्तु साधुरनागतकायोत्सर्गकरणेऽसमर्थो बालो वृद्धो रोगार्त्तो ज्वरादिना सं आवश्यकयुक्तस्तत्रैव प्रतिक्रमणभूमौ उपविष्टः कायोत्सर्गं करोति, एष निर्जरापेक्षी तिष्ठेत् ।

आवासगं तु काउं जिणोवदिट्ठं गुरूवएसेणं । तिन्नि थुई पडिलेहा कालस्स विही इमो तत्थ ॥६३९॥

एवमनेन क्रमेणावश्यकं 'कृत्वा' परिसमाप्य जिनोपदिष्टं गुरूपदेशेन पुनश्च स्तुतित्रयं पठन्ति स्वरेण प्रवर्द्धमानमक्षरैर्वा, प्रथमा श्लोकेन स्तुतिर्द्वितीया वृत्तच्छन्दोजात्या बृहत्तरा तृतीया बृहत्तमा एवं प्रवर्द्धमानाः स्तुतीः पठन्ति मङ्गलार्थमिति, ततः कालस्य प्रत्युपेक्षणार्थं निर्गच्छन्ति, किं कालस्य ग्रहणवेला वर्तते न वा ? इति, तत्र च–कालवेलानिरूपणे एष विधिरिति वक्ष्यमाणः ।

दुविहो य होइ कालो वाघाइम एयरो य नायव्वो । वाघाओ घंघसालाए घट्टण सड्ढकहणं वा ॥६४०॥

द्विविधो भवति कालो–व्याघातकाल इतरश्च–अव्याघातकालः, तत्र व्याघातकालं प्रतिपादयन्नाह–व्याघातः 'घंघशालायाम्' अनाथमण्डपे दीर्घे 'घट्टना' परस्परेण वैदेशिकैर्वा स्तम्भैर्वा सह निर्गच्छतः प्रविशतो वा तच्चो व्याघातकालः, तथा श्राद्ध

१ अन्ये अतिचारं क । २ अवायम खा । ३ असह कान° क । ४ एव क । ५ आवश्यकां खा वमा° क १ ।

कादीनां यत्राचार्यो धर्मकथां करोति सोऽपि व्याघातकालः, न तत्र कालग्रहणं भवति नापि कालवेलानिरूपणार्थं प्रच्छनं करोति।

वाघाते तइओ सिं दिज्जइ तस्सेव ते निवेयंति[2]। निव्वाघाते दोन्नि उ पुच्छंती काल घेच्छामो ॥ ६४१ ॥

एवं घङ्गशालायां व्याघाते सति तृतीयस्तयोः–कालग्राहिणोः उपाध्यायादिर्दीयते येन तस्यैवाग्रतो व्याहृत एव निवेदयन्ति सन्दिशापयन्ति च। अथ निर्व्याघातं भवति–न कश्चिद् घङ्गशालायां धर्मकथादिर्वा कालव्याघातः वैदेशिकादिव्याघातो वा, ततश्च निर्व्याघाते सति द्वावेव निर्गच्छतः एकः कालग्राहकः अपरो दण्डधारी, पुनश्च तौ पृच्छतः, यदुत 'कालं गृह्णीवः' वेलां निरूपयाव इत्यर्थः, तेषां च निर्गच्छतां यद्येते व्याघाता भवन्ति ततश्च निवर्त्तन्ते–न गृह्णन्ति कालं ॥ के च ते व्याघाताः ?,

आपुच्छण किइकम्मं आवास्सियखलियपडियवाघाए। इंदिय दिसा य तारा वासमसज्झाइयं चेव ॥६४२

जइ पुण वच्चंताणं छीयं जोइं च तो नियत्तंति। निव्वाघाते दोन्नि उ अच्छंति दिसा निरिक्खंता॥ ६४३ ॥

गोणादि कालभूमीए होज्ज संसप्पगा व उट्ठेज्जा। कविहासियवासविज्जुक्कगज्जिए वावि उवघातो ॥६४४॥

आपृच्छना नाम आपुच्छित्ता गच्छन्ति दंडगं गहाय मत्थएण वंदामि खमासमणो कालस्स वेलं -निरूवेमो, एवं च यदि न पृच्छन्ति ततो व्याघातो भवति–न ग्राह्यः कालः, अथाविनयेन वा पृच्छन्ति तथाऽपि व्याघात एव, कृतिकर्म च–वन्दनं यदि न कुर्वन्ति अविनयेन वा कुर्वन्ति, आवासिकां[3] च यदि न करोति अविनयेन वा करोति स्खलनं वा गच्छतां

१ भवति आ पा १ २। २ निवेतित्ति ल १, निवेएत्ति ल २। ३ आवस्सिकां आ ।

यदि स्तम्भादौ भवति पतन वा तेषामन्यतमस्य यदि भवति, एवमेभिर्व्याघातो भवति । तथा 'इंदिय'त्ति श्रवणेन्द्रियादीन्द्रियाणां ये विषयास्ते यदि अननुकूला भवन्ति ततो न गृह्यते, एतदुक्तं भवति—यदि छिन्दि भिन्धीत्येवमादि शृण्वन्ति शुष्क ततो निवर्तन्ते, एवं गन्धमाघ्रातो यदि भवति, यत्र गन्धस्तत्र रस इति, विरूप पश्यन्ति रूपं किञ्चित्, एवं सर्वत्र योजनीयं ततो निर्गच्छन्ति । तथा दिग्मोहश्च यदि भवति ततो न गृह्यते, तारकाश्च यदि पतन्ति वर्षणं वा यदि भवति तत एभिरनन्तरोक्तैर्व्याघातैः कालो न गृह्यते, अस्वाध्यायिकं च यदि भवति, तथा यदि पुनर्भवतां ध्रुव ज्योतिर्वा—अग्निः उद्द्योतो वा भवति ततो निवर्तन्ते, यदा तु पुनरुक्तलक्षणो व्याघातो न भवति तदा निर्व्याघाते सति द्वावेव तिष्ठतो दिशो निरूपयन्तौ क्षणमात्रं । तथा एभिश्च कालभूमौ गतानामुपघातो भवति—यदि तस्मिन् कालमण्डलके गौरुपविष्टो भवति, मार्जारमहामान्महिषादिर्वा उपविष्टो भवति ततो व्याघातः, कदाचिद्वा तस्यां कालभूमौ 'संसर्पणाः' पिपीलिकादय उपविष्टेरन् ततश्च व्याघातः, कदाचिद्वा कपिहसित—विरलवानरमुखहसित भवति रात्रौ, अथवा कपिहसित भवति रात्रौ उद्दिरयं वा दीसइ वैर्षमं वा भवति विद्युद् वा भवति, उल्कापातो वा भवति गर्जितध्वनिर्वा श्रूयते, एभिः सर्वैर्व्याघातः कालस्य, न गृह्यत इत्यर्थः ।

सज्झायमचिंतेंता कणग दट्ठूण तो नियत्तति । वेलाए दंडधारी मा बोल गंडए उवमा ॥ ६४५ ॥

१ अननुकूल आ. । २ °घ्रमो यदि आ पा. १-२ । ३ प निर्ग पा १ । ४ °ध्यायं च क १ । ५ उपविशेरन् आ । ६ अथवा आ । ७ उदित्वरं आ. । ८ वर्षं वा विद्युत् आ ।

एव ते कालवेलानिरूपणार्थं निर्गताः स्वाध्यायमकुर्वाणा एकाग्राः कालवेलां निरूपयन्ति, अथ तत्र कनकं पश्यन्ति ततः प्रतिनिवर्त्तन्ते, कणगपरिमाणं च वक्ष्यति "तिपंचसत्तेव घिंसिसिरवास" इत्येवमादिना, अथ तत्र[1] वर्त्तते कालग्रहणवेला न कनकादिभिरुपघातः कृतस्ततस्तस्यां कालग्रहणवेलायां जातायां दण्डधारी प्रविश्य गुरुसमीपे कथयति, यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते मा [2]रोलं कुरुत अल्पशब्दैरवहितैश्च भवितव्यं, अत्र च गण्डकदृष्टान्तः, यथाहि गण्डकः कस्मिंश्चित्कारणे आपन्ने उत्कुरुटिकायामारुह्य [3]घोषयति ग्रामे-इदं प्रत्यूषसि कर्त्तव्यं, एवमसावपि दण्डधारी भणति यदुत कालग्रहणवेला वर्त्तते ततश्च भवद्भिरपि गर्जितादिषूपयुक्तैर्भवितव्यमिति ।

आघोसिए बहूहिं सुयंमि सेसेसु निवडइ दंडो । अह तं बहूहिं न सुयं दंडिज्जइ गंडओ ताहे ॥६४६॥

एवमाघोषिते सति दण्डधारिणा बहुभिश्च श्रुतं, शेषाश्च स्तोकास्तैर्न श्रुतं ततश्च तेषामुपरि दण्डो निपतति-सूत्रार्थकरणं नानुज्ञायते, अथेदृशं तदा घोषितं यद्बहुभिर्न श्रुतं स्तोकैः श्रुतं ततस्तस्यैव दण्डधारिणो दण्डो निपतति-तस्यैव स्वाध्यायनिरोधः क्रियते, कथं ? गण्डकस्येव, यथा गण्डकेनाघोषिते बहुभिर्ग्रामीणकैः श्रुते सति यैः स्तोकैर्न श्रुतं ते दण्ड्यन्ते, अथाघोषिते स्तोकैः श्रुतं बहुभिर्न श्रुतं ततो [4]गण्डकस्यैव दण्डो निपततीति ।

कालो सञ्झा य तहा दोवि समप्पंति जहा समं चेव । तह तं तुलंति कालं चरिमदिसं वा असञ्झागं ॥६४७

---

१ तत्र वर्त्तते तदा कालग्रहणवेलायां आ. । २ बोल आ । ३ गच्छति ग्रामे ल १ । ४ गण्डके एव दण्डो आ. ।

तौ च प्रत्युपेक्षकौ कालः सन्ध्या च यथा द्वेऽपि समकमेव समाप्तिं व्रजतस्तथा तौ काल तुलयतः-कलयतः, एतदुक्त भवति-यथा कालसमाप्तिर्भवति सन्ध्या च समाप्तिं याति तथा कलयतः प्रत्युपेक्षकौ, 'चरिमदिसं वा असन्झाग'ति चरिमा-पश्चिमा दिग् 'असन्ध्याका' विगतसन्ध्या भवति यथा कालश्च समाप्यते तथा गृह्णन्ति । इदानीं किंविशिष्टेन पुनः कालः प्रतिजागरणीयः ? इत्यत आह—

पियधम्मो दढधम्मो संविग्गो चेवऽवज्जभीरू य । खेयन्नो य अभीरू कालं पडिलेहए साहू ॥ ६४८ ॥

प्रियः-इष्टो धर्मो यस्येति स प्रियधर्मा, तथा दृढः-स्थिरो निश्चलो धर्मो यस्य स तथा, 'संविग्गो' मोक्षसुखाभिलाषी, 'अवद्यभीरुः' पापभीरुः, 'खेदज्ञः' गीतार्थः तथा 'अभीरुः' सत्त्वसंपन्नः एवंविधः 'काल' कालग्रहणवेलां प्रत्युपेक्षते साधुः, एवंविधः कालवेलायाः प्रतिजागरणं करोति । इदानीं दण्डधारिणि घोषयित्वा निर्गते पुनश्च स द्वितीयः कालग्राही काल संदिशनार्थं गुरोः समीपं प्रविशति, कथम् ?—

आउत्तपुव्वभणिए अणपुच्छा खलियपडिय वाघाते । भासंतमूढसंकियइंदियविसए य अमणुन्ने ॥६४९॥

स च प्रविशन् 'आयुक्तः' उपयुक्तः सन् प्रविशति, ऐतच्च प्रविशन पूर्वोक्तमेव द्रष्टव्य यतो निर्गच्छतो यो विधिः प्रविशतोऽपि स एव विधिरित्यत आह-पूर्वभणितमेतत् । अथ त्वनापृच्छयैव गुरुं कालं गृह्णाति ततश्चानापृच्छ्य गृहीतस्य कालस्य

१ ठं पाढ० च प । २ पु । ३ ०रः एतं० आ० । ३ गुञ्जता आ । ४ विसए कय आ । ५ एतस्मिंश्च प्रवेशने पू० आ । ६ विधि-पूर्वोक्तेन भणितमेतत् आ ।

व्याघातः, एतदुक्तं भवति–गृहीतोऽप्यसौ न भवति, तथा स्खलितस्य सतः कालव्याघातः, पतितस्य च व्याघातः कालस्य, एवं संजाते सति कालो न गृह्यते, तथा प्रविष्टस्य गुरुवन्दनकाले केनचित् सह जल्पतः कालो व्याहन्यते, तथा मूढो यदि भवति, आवर्त्तान् विधिविपर्यासेन ददाति तथाऽपि व्याहन्यते कालः, तथा शङ्कया न जानाति किमावर्त्ता दत्ता न वेत्यस्यामवस्थाया व्याहन्यते कालः, इन्द्रियविषयाश्च यद्यमनोज्ञा भवन्ति तथाऽपि कालो व्याहन्यते, छिन्धि भिन्धीत्येवंविधान् शब्दान् शृणोति, गन्धोऽनिष्टो यदि भवति, यत्र गन्धस्तत्र रसोऽपि, विकरालं रूपं पश्यति, स्पर्शो[1] लेष्ट्वभिघातोऽकस्माद्भवति, एवंविधेऽन्यतमेऽपि न गृह्यते कालः[2]। प्रविशंश्चासौ[3] किं करोतीत्यत आह—

निसीहिया नमोक्कारे काउस्सग्गे य पंचमंगलए। पुव्वाउत्ता सव्वे पट्ठवणचउक्कनाणत्तं ॥ ६५० ॥

प्रविशंश्च[4] गुरुसमीपे कालसन्दिशनार्थं यदि निषीधिकां न करोति ततः कालो व्याहन्यते, नमस्कारं च करोति नमो खमासमणाणं, अथैवं न भणति ततः कालव्याघातो भवति, प्राप्तश्चेर्यापथिकाप्रत्ययं 'कायोत्सर्गम्' अष्टोच्छ्वासं करोति, नमस्कारं च चिन्तयति, ईरियावहियं च अवस्सं पडिक्कमति जइ दूराओ जदि आसन्नओ वा आगतो, पुनरसौ नमस्कारेणोत्सारयति–पञ्चमङ्गलकेनेत्यर्थः, पुनश्च संदिशापयित्वा कालग्रहणार्थं निर्गच्छति, निग्गच्छंतो जदि आवस्सियं न करेइ खलति वा पडति वा [5]दीवो वा अंतरे हवेज्जा एवमादीहिं उवहम्मइ। इदानीं कालग्रहणवेलायां किं कर्त्तव्यं साधुभिः? इत्याह—

१ स्पर्शेन आ.। २ सत्यामपि वेलायां न गृह्णाति कालं आ ल. २। ३ °ष्टश्चासौ आ पा १। ४ निर्गच्छंश्च यदि आ पा १। ५ जीवो वा आ। ६ जायते पा. २।

'पुगाउत्ता सवे' पूर्वमेव दण्डधारिघोषणानन्तरमुपयुक्ताः सर्वे गर्भिंगादौ भवन्ति, उपयुक्ताश्च सन्तः कालग्रहणोत्तरकालं सर्वे स्वाध्यायप्रस्थापनं कुर्वन्ति। 'चउकनाणत्तं' कालचतुष्कस्य यथा नानात्वं भवति तथा वक्ष्यामः, कालचतुष्क एकः प्रादोषिकः, अपरोऽर्द्धरात्रिकः, अपरो वैरात्रिक, अपरः प्राभातिकः, एतच्च भाष्यकारो वक्ष्यति। इदानीं काल गृह्णतः को विधिरित्यत आह–

थोमावसेसियाए सञ्झाए ठाइ उत्तराहुत्तो। चउवीसगदुमपुप्फियपुव्वग एक्केकियादिसाए ॥ ६५१ ॥

स्तोकावशेषायां सन्ध्यायां पुणो कालमंडल पमज्जित्ता निषीधिकां कृत्वा कालमण्डलके प्रविशति, ततश्चोत्तराभिमुखः कायोत्सर्गं करोति, तस्मिंश्च पञ्चनमस्कारमष्टोच्छ्वासमानं चिन्तयति, पुनश्च नमस्कारेणोत्सार्य मूक एव चतुर्विंशतिस्तवं लोगस्सुज्जोयगरं पठति मुखमध्ये तथा 'दुमपुप्फियपुव्वग'त्ति द्रुमपुष्पिका–धम्मो मंगल पुव्वगत्ति–श्रामण्यपूर्वकं 'कह नु कुज्जा सामण्णमित्यर्थः, एतदेकस्यां दिशि चतुर्विंशतिस्तवादि श्रामण्यपूर्वकपर्यन्तं कड्ढइ, दण्डधारीवि उत्तराभिमुह संठियस्स वाम पासे पुव्वदिसाहुत्तो अग्गओ तिरिच्छं आगास दण्डग धरेइ उद्धट्ठिओ, पुणो तस्स पुव्वाईसु दिसासु चलंतस्स दण्डधारीवि तहेव भमति। इदानीं स गृह्णन् कालं यदेव गृह्णाति ततो व्याहन्यते, कथमित्यत आह—

भासंतमूढसंकियइंदियविसए य होइ अमणुन्ने। बिंदू य छीयऽपरिणय सगणे वा संकिए तिण्हं ॥६५२

भाषमाणः–ओष्ठसंचारेण पठन् यदि कालं गृह्णाति ततो व्याहन्यते कालः, मूढो दिशि अध्ययने वा यदि भवति ततो

१ सर्वे चैव ल. । २ मुहस्स मज्झे ला । ३ दंडगं ला ।

व्याहन्यते कालः, शङ्कितो वा—न जानाति किं मया द्रुमपुष्पिका पठिता न वेत्येवंविधायां शङ्कायां व्याहन्यते कालः, इन्द्रियविषयाश्च 'अमनोज्ञाः' अशोभनाः शब्दादयो यदि भवन्ति ततो व्याहन्यते कालः, सोइंदिए छिंद भिंद मारेह विस्सरं बालाईणं रोवणं वा रूवं वा पिच्छति पिसायाईणं वा[1] रूवं वा पिच्छति बीहावणयं, गंधे य दुरभिगंधे, रसोवि तत्थेव, जत्थ गंधो तत्थ रसो, फासो बिंदुलेट्ठुपहारेहिं[3], एवमेतेष्वमनोज्ञेषु विषयेषु सत्सु व्याघातो भवति, तथा बिन्दुर्वा यद्युपरि पतति शरीरस्योपधेर्वा कालमण्डलके वा ततो व्याहन्यते, तथा क्षुतं यदि भवति ततो व्याहन्यते, 'अपरिणत' इति कालग्रहणभावोऽपगतोऽन्यचित्तो वा जातस्ततश्च व्याहन्यते कालः, तथा शङ्कितेनापि गर्जितादिना व्याहन्यते कालः, कथं ?, यद्येकस्य साधोर्गर्जितादिशङ्का भवति ततो न व्याहन्यते[4] कालः, द्वयोरपि शङ्किते न भज्यते कालः, त्रयाणां तु यदि शङ्का गर्जितादिजनिता भवति ततो व्याहन्यते, तच्च 'स्वगणे' स्वगच्छे त्रयाणां यदि शङ्कितं भवति, न परगणे, ततो व्याहन्यते। इदानीमस्या एव गाथाया भाष्यकारः किञ्चिद्व्याख्यानयन्नाह—

मूढो व दिसऽज्झयणे भासंतो वावि गिण्हइ न सुज्झे। अन्नं व दिसज्झयणं संकंतोऽणिट्ठविसए[5] वा॥ ३०९

मूढो यदा दिशि भवति अध्ययने वा तदा व्याहन्यते, भाषमाणो वा ओष्ठसञ्चारेण यदि गृह्णाति कालं ततो न शुद्ध्यति, अन्यां वा दिश संक्रान्तो मोहात्, अध्ययनं वाऽन्यत् संक्रान्तः[6] द्रुमपुष्पिकां मुक्त्वा सामन्नपुव्वए गओ उत्तराए

1 बीहा° आ पा १ २. पु, । २ विहाव° ल १ । ३ °ठुपहाराई, एव° आ. पा १–२ पु । ४ भज्यते काल. ल १–२ । ५ °विसयं वा आ. । ६ सकान्तं द्रुम° आ ।

दिसाए दक्खिणं गतो, पश्चाऽन्यां दिशं व्रजमानः, अन्यथाऽध्ययनं कुर्वाणो यदा भवति तदा न शुध्यति, 'अनिट्टे वा' अशोभन वा शब्दादिविषयमभिधाने व्याहन्यते कालः, ततो आवस्सिय काऊण नीसरति कालमण्डलाओ, एवं गृहीतेऽपि काले यदि कालमण्डलाभिर्गच्छन्नावेश्यकादि न करोति ततो व्याहन्यत एव काल इति । किञ्च—

जो वच्चतमि विही आगच्छंतमि होइ सो चेव । जं एत्थ नाणत्त तमहं वुच्छं समासेण ॥ ६५३ ॥

य एव प्रथमं व्रजतोर्भवतो विधिरुक्तस्तद्यथा—यदि कथितस्य वा उच्चा वा पतति भवति वा,एवमाईहिं उवघाओ गहियस्सवि कालस्स होइ आगच्छंतस्स वसहिं, ततश्च यो विधिर्भवतः कालभूमावुक्तः आगच्छतोऽपि पुनर्वसतौ स एव विधिर्भवति, यत्पुनरत्र वसतिं प्रविशतो नानात्वं—भेदस्तदहं नानात्वं वक्ष्ये 'समासतः' संक्षेपेण । इदानीं तन्नानात्वं प्रतिपादयन्नाह—

निसीहिया नमोक्कार आसज्जावडणपडणजोइक्खे। अपमज्जियभीए वा छीए छिन्नेव कालवहो ॥ ६५४ ॥

कालं गृहीत्वा गुरुसकाशे प्रविशन् यदि निषीधिकां न करोति ततः कालव्याघातः, तथा 'नमोक्कारं' नमो खमासमणाणंति एवं यदि प्रविशन् न भणति ततो गृहीतोऽपि कालो व्याहन्यते, तथा आसज्जासज्जमेव तु यदि न करोति ततो व्याहन्यते गृहीतोऽपि, तथा साधोः करपतितादण्डके—आभिमुख्येन कालो व्याहन्यते पतन लेष्ट्वादेरारमनो वा, ज्योतिःस्पर्शे वा व्याहन्यते,

१ नरिकणीए व. २ 'वसियमीए क. १ । २ 'भूमिमुवक्क पा २ । ३ 'नाणत्ति एवं व १ भार्य इत्येवं वा । ४ 'वसे वा पा ११
५ सर्वमेव पा व. १ पा २ ।

तथा यदि प्रमार्जयन् न प्रविशति ततश्च व्याहन्यते कालः 'भीतः' त्रस्तो वा यदि भवति तथाऽपि व्याहन्यते, क्षुते वा व्याहन्यते, छिन्नेत्ति वा–यदि मार्जारश्वादिस्तिरश्चीनं[1] छिन्दन् व्रजति, ततश्चैभिरनन्तरोदितैः कालस्य वधो–भङ्गो भवतीति ।

ओगम्म[2] इरियावहिया मंगल आवेयणं च मरुनायं । सव्वेहिवि पट्ठविए[3] पच्छा करणं अकरणं वा ॥६५५॥

आगत्य च गुरुसमीपमीर्यापथिकां प्रतिक्रामति, कायोत्सर्गे[4] चाष्टोच्छ्वासं पञ्चनमस्कारं चिन्तयति, तेनैव चोत्सारयति, मङ्गलमिति पञ्चनमस्कार उच्यते, तत ईर्यापथिकां प्रतिक्रम्य गुरोः 'आवेदयति' निवेदयति कालमित्यर्थः । अत्र मरुओ–बंभणो तेनैव ज्ञातं दृष्टान्तः, तंजहा–कम्हिवि पट्टणे धिज्जाइआणं दाणं राइणा दिन्नं, तेसिं च घोसावियं–जो सामन्नो सो गेण्हउ आगंतूणं भागं तत्थ, एवं हक्कारिए जो आगतो तेण लद्धो भागो, जो पुण गामाईसु गतो सो चुक्को, एवं साहूवि दंडधारिणा घोसिए जे उवउत्ता ठिया णिवेदिए य काले जेहिं सज्झाओ पट्ठविओ ताणं सज्झाओ दिज्जइ, जे पुण विकहादिणा ठिया ताणं सज्झायकरणं न दिज्जइ । एतदेवाह–सर्वैः साधुभिः स्वाध्याये प्रस्थापिते सति पश्चात्तेभ्यः[5] स्वाध्यायकरणं दीयते । ये तु पुनः कालग्रहणवेलायामुपयुक्ता न स्थिताः न च स्वाध्यायप्रस्थापनवेलायां सन्निहिता आसन् तेभ्यः स्वाध्यायकरणं न दीयते । इदानीं मरुककथानकमुपसंहरन्नाह—

सन्निहियाण वडारो पट्ठविय पमाइ नो दए कालं । बाहिट्ठिए पडियरए पविसइ ताहे य दंडधरो ॥६५६॥

१ °स्तिर्यक् छि° आ पा १–२ । २ आगम इ° आ, आगम्मिरि° ल २ । ३ °एहि पच्छा आ । ४ °त्सर्गे चा° पा १ । ५ भूतास्तेभ्य. आ. पा. १–२ ।

समभिहितानां त्रैविद्यमावनानां 'वचारो' चष्टकः आकारय—आह्वान यथा समभिहितानां, ये तु नागतास्तेषां न चष्टको- निभागो जातः, एवमत्रापि 'पट्ठविय'त्ति स्वाध्यायप्रस्थापन यैः कृत तेभ्यो दीयते स्वाध्याय, ये तु पुनः प्रमादिनस्तेभ्यो न दीयते काल इति, काले गृहीते स्वाध्यायो भवति, पुनश्च निषेधिते सति काले पुनर्बहिरन्यः प्रतिजागरकः प्रेष्यते, पुनश्च तत्र बहिःस्थित प्रतिजागरके सति ततो दण्डधारी प्रविशतीति।

पट्ठविय वदिए तोहे पुच्छती किं सुय भंते!। तेवि य कहति सव्व ज जेण सुय व दिट्ठ वा ॥ ६५७ ॥

पुनश्चासौ प्रस्थापितस्वाध्यायो वन्दितगुरुश्च सन् तदा साधून् पृच्छति दण्डधारी, यदुत हे भदन्त ! भवतां मध्ये केन किं श्रुत ?, तेऽपि च साधवः कथयन्ति सर्वे यथेन श्रुत गर्जितादि दृष्ट वा कपिहसितादि । पुनश्च तत्र यदि केषाञ्चिद्गर्जिता दिशङ्का भवति ततश्च को विधिरित्यत आह—

एक्कस्स दोण्ह वा सकियमि कीरइ न कीरए तिण्ह । सगणमि सकिए परगणमि गतु न पुच्छाति ॥६५८

एकस्य गर्जितादिशङ्किते क्रियते स्वाध्यायः, द्वयोर्वा शङ्किते क्रियते स्वाध्यायः, त्रयाणां पुनर्गर्जितायाशङ्कायां न क्रियते स्वाध्यायः, एव यदि स्वगणे शङ्का भवति ततश्चैनविचारायां स्वगणे शङ्कायां सत्यां 'परगणे' अन्यगच्छे गत्वा, न पृच्छन्ति, किं कारण ?, यत इह कदाचित्स कालग्राहकः साधू रुधिरादिनाऽऽयुक्त आसीत् ततश्च देवता काल ग्रोघयितु न ददाति

१ सा तदो पुच्छेइ किं सा। २ पुच्छंति किं पा. १। ३ भत। है क १ पु। ४ वैया खा क. १। ५ प्रयाणां क। ६ नाऽऽयुक्त पा.।

तत्र परगणे नैवं, अथवा परगण एव कदाचिद्[1]युक्तः कश्चिद्भवति इह तु नैवं, तस्मात्परगणो न प्रमाणमिति। इदानीं यदुक्तमासीत् 'कालचतुष्के नानात्वं वक्ष्यामः' तत्प्रदर्शयन्नाह—

कालचउक्के नाणत्तयं तु पा[2]दोसियंमि सव्वेवि। समयं पट्ठवयंती सेसेसु समं व विसमं वा ॥६५९॥

कालानां चतुष्कं·कालचतुष्कं तत्रैकः प्रादोषिकः द्वितीयोऽर्द्धरात्रिकः तृतीयो वैरात्रिकः चतुर्थः प्राभातिकः काल इति, एतस्मिन् कालचतुष्के नानात्वं प्रदर्श्यते, तत्र प्रादोषिककाले सर्व एव समकं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति, शेषेषु तु त्रिषु कालेषु समकं-एककालं स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति विषमं वा—न युगप[3]त् स्वाध्यायं प्रस्थापयन्तीति। इदानीं चतुर्णामपि कालादीनां कनकपतने सति यथा व्याघातो भवति तथा प्रदर्शयन्नाह—

इंदियमाउत्ताणं हणंति कणगा उ सत्त उक्कोसं। वासासु य तिन्नि दिसा उउबद्धे तारगा तिन्नि ॥६६०॥

इन्द्रियैः—श्रवणादिभिरुपयुक्तानां '[4]ध्नन्ति' व्याघातं कुर्वन्ति कालस्य कनका उत्कृष्टेन सप्त, एतच्च वक्ष्यति, 'वासासु य तिन्नि दिस'त्ति 'वर्षासु' वर्षाकाले प्राभातिके काले गृह्यमाणे तिसृषु दिक्षु यद्यालोकः शुद्ध्यति चक्षुषो न कुड्यादिभिरन्तरितस्ततो गृह्यत एव कालः, अन्यथा व्याघात इति, एतद्विशेषविषयं द्रष्टव्यं, शेषेषु त्रिष्वाद्येषु कालेषु चतसृष्वपि दिक्षु चक्षुष आलोको यदि शुद्ध्यति ततो गृह्यते कालो नान्यथा, एतच्च प्रकटीकरिष्यति। 'उउबद्धे तारगा तिण्णि'त्ति ऋतुबद्धे—

१ °दनायुक्त आ। २ पाउसियाय स° ल १। ३ °पद्वा स्वा° आ.। ४ कति व्या° ल १। ५ वर्षाकाले ना° आ, वर्षासु कालो पा.१–२. पु.।

शीतोष्णकालयोराद्येषु त्रिषु कालेषु यदि मेघच्छन्नेऽपि तारकात्रयं दृश्यते ततः शुद्ध्यति कालग्रहणं, यदि पुनस्तिस्रोऽपि न दृश्यन्ते ततो न ग्राह्यः, प्राभातिकस्तु कालः ऋतुत्रये मेघैरदृश्यमानायामप्येकस्यामपि तारकायां गृह्यते कालः, वर्षाकाले त्वेकस्यामपि तारकायामदृश्यमानायां चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकृद्व्याख्यानयति—

कणगा हणंति कालं तिपंचसत्तेव घिंसिसिरवासे। उक्का उ सरेहागा रेहारहितो भवे कणगो।२१०।(भा.)

कनकाः घ्नन्ति यथाक्रमं त्रयः पञ्च सप्त यथासङ्ख्येन 'घिंसिसिरवासे' ग्रीष्मकाले त्रयः कनकाः कालं व्याघ्नन्ति शिशिरकाले पञ्च घ्नन्ति कालं वर्षाकाले सप्त घ्नन्ति कालम्। इदानीमुल्काकनकयोर्लक्षणं प्रतिपादयन्नाह—उल्का सरेखा भवति, एतदुक्तं भवति—निपततो ज्योतिष्पिण्डस्य रेखायुक्तस्य उल्केत्याख्या, स एव च रेखारहितो ज्योतिष्पिण्डः कनकोऽभिधीयते।

सव्वेसि पढमजामे दोण्णि उ वसभाण आइमा जामा। तइओ होइ गुरूणं चउत्थओ होइ सव्वेसिं॥६६१॥

तस्मिंश्च प्रादोषिके काले गृहीते सति सर्व एव साधवः प्रथमयामं यावत्स्वाध्यायं कुर्वन्ति, द्वौ त्वाद्यौ यामौ वृषभाणां भवतो गीतार्थानां, ते हि सूत्रार्थं चिन्तयन्तस्तावत्तिष्ठन्ति यावत्प्रहरद्वयमतिक्रान्तं भवति तृतीया च पौरुष्यवतरति, ततस्ते चैव कालं गृह्णन्ति प्रभुरवितय, ततश्चाचार्येण संदिसाविया ततो कालं घेत्तूण आयरियं उट्ठवेंति, पच्छा य दाऊण भणति—सुद्धो कालो, आयरिया भणंति—तहत्ति, पच्छा ते चेव वसभा सुयंति, आयरियोऽवि चितियं उट्ठावेत्ता कालं पडिय

1 कम्मेऽपि इ. 1 1 2 भा उ आइमा भा.।

रावेइ, ताहे एगचित्तो सुत्तत्थं चिंतेइ जाव वेरत्तियस्स कालस्स बहुदेसकालो, ताहे तइयपहरे अतिकंते सो कालपडिलेहगो आयरियस्स पडिसंदेसावेत्ता वेरत्तियं कालं गेण्हइ, आयरिओवि कालस्स पडिकमित्ता सुवति, ताहे जे [1]सुयिछया साहू आसी ते उट्ठेऊण वेरत्तिय सज्झायं करेंति जाव पाभाइकालगहणवेला जाया, ततो एगो साहू उवज्झायस्स वा [2]अण्णेसिं वा संदिसावेत्ता पाभाइयं कालं गेण्हइ, जहा नवण्हं कालगहणाणं वेला पहुच्चति सज्झाए आरतो चेव पुणो ताहे साहुणो सवे उट्ठेंति, किह पुण नव काला पडिलेहिज्जंति, पढमो उवट्ठिओ कालग्गाहो तस्स तिन्नि वारा कालो उवहओ एकंमि मंडलए, तओ पुणो बितिओ उट्ठेइ सो बितिए मंडलए तिन्नि वारा लेइ, लितस्स जदि न सुज्झति ततो तइओ साहू उट्ठेइ, सोवि ततिए मंडलए तिण्णि वारा लेइ, लितस्स जदि न सुज्झति ताहे भग्गो कालो, एत्थ लिंताण साहूण नववारावसाणे पभा फुटति, ततो तीए वेलाए पडिक्कमन्तित्ति । अह तिन्नि कालगाहिणो नत्थि किन्तु दुवे चेव, ततो इक्को पढमं पढमकाल-मंडलए तिण्णि वारा उ [3]लेति । पुणो बिइओ साहू बिइए एव कालमण्डले तिन्नि वारा लेऊण पुणो तइए कालमण्डले तिन्नि वारा लेइ, एवं चेव नव वारा हवंति । अहवा पढमो पढमे चेव कालमण्डले तिन्नि वारा लेऊण ततो बितिए दो वारा गिण्हइ ततो बिइओ साहू बि[4]इए चेव कालमण्डलए एकं वारं लेऊण ततो तइए मण्डले तिन्नि वाराओ गिण्हइ एवं चेव नव वारा हवंति । [5]अहवा पढमो पढमे कालमंडलए तिन्नि वाराओ लेऊण बिइए मंडलए एकं वारं गिण्हइ तओ पुणो बिइओ

---

१ सोइयल्लया आ । २ अण्णस्स आ पा १–२ । ३ लेऊण ततो बितिए आ । ४ बीयए आ. ५। अहवा पढमे चेव कालमंडलए एगो चत्तारि वाराओ लेइ, बितिओ पुण बितिए कालमडलए दो वाराओ लेइ, ततिए तिन्नि वाराउ लेइ सो चेव बितिओ, एवं वा दोण्हं साहूणं नव वाराओ भवंति, अह एक्को आ. ।

बिइए चेव मंडलए दो धारे लेइऊण तइए मंडलए तिन्नि धारा लेइ एवं नव धाराओ हवंति । अह एक्को चेव कालग्गाही ताहे अवणाएण सो चेव पढमे तिन्नि धारा लेइ पुणो सो चेव बिइए मंडले तिन्नि धारा लेइ, पुणो सो चेव तइए मंडलए तिन्नि धाराओ लेइ । एसो पाभाइयकालस्स विही । एवं च सति कालस्स परिकमिता सुज्झति, एगो न परिकमति, सो अवणाएण काल निवेदिस्सइ ॥ इदानीं यदुक्तं ' वासासु य तिण्णि दिसा 'त्ति व्याख्यानयन्नाह—

वासासु य तिण्णि दिसा हवंति पाभाइयम्मि कालम्मि । सेसेसु तीसु चउरो उडुम्मि चउरो चउद्दिसिंपि ॥

वर्षासु तिस्रो दिशो यदि अभ्रादिभिस्तिरोहिता न भवन्ति ततः प्राभातिककालग्रहणं क्रियते, शेषेषु त्रिषु कालेषु चतस्रोऽपि दिशो यदि अभ्रादिभिस्तिरोहिता न भवन्ति ततो गृह्यन्ते कालाः, नान्यथा, 'उडुम्मि चउरो चउद्दिसिंपि'त्ति ऋतुबद्धे काले चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते यदि चतस्रोऽपि दिशोऽतिरोहिता भवन्ति नान्यथा, एतदुक्तं भवति—चतसृष्वपि दिक्षु यथालोके भवति ततश्चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते । इदानीं "उउबद्धे तारका तिण्णि"त्ति व्याख्यानयन्नाह—

तिसु तिण्णि तारगाओ उडुम्मि पाभाइए अदिट्ठेवि । वासासु अतारागा चउरो छन्ने निविट्ठोवि ॥२१२॥

'त्रिषु' आद्येषु कालेषु घनसंछादितेऽपि ऋतुबद्धे काले यदि तारकास्तिस्रो दृश्यन्ते ततस्त्रयः काला आद्या गृह्यन्ते इति, 'पाभाइए अदिट्ठेवि'त्ति प्राभातिके काले गृह्यमाणे ऋतुबद्धे घनाच्छादिते यदि तारकत्रितयमपि न दृश्यते तथाऽपि

१ चउदिसम्मि क. १-२ । २ चउदिसम्मि 'त्ति ख. १-२ । ३ अतारगाओ मु. १ ।

गृह्यते काल इति। वर्षाकाले पुनर्घनाच्छादितेऽपि अदृष्टतारका एव चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। छन्ने न सावकाशे एते चत्वारोऽपि काला गृह्यन्ते। 'निविट्ठोवि'त्ति प्राभातिके त्वयं विशेषः—उपविष्टोऽपि छन्ने स्थाने ऊर्द्ध्वस्थानस्यासति गृह्णाति। एतदेव व्याख्यानयन्नाह—

ठाणासति बिंदूसु य[1] गेण्हइ बिट्ठोवि पच्छिमं कालं। पडियरइ बहिं[2] एक्को एक्को अंतट्ठिओ गिण्हे॥६६२॥

स्थानस्यासति, एतदुक्तं भवति—यद्यूर्द्ध्वस्थितो न शक्नोति ग्रहीतुं कालं ततः स्थानाभावे सति तोयबिन्दुषु वा पतत्सु सत्सु गृह्णात्युपविष्टः पश्चिमं—प्राभातिकं कालं,[3] तथा प्रतिजागरणं करोति एको द्वारस्थितः ओलिकापातादेरधस्तात्स्थितः साधुः, एकश्च साधुरन्तः—मध्ये स्थितो गृह्णाति कालमिति। इदानीं कः कालः कस्यां दिशि प्रथमं गृह्यते ?, इत्येतत् प्रदर्शयन्नाह—

पाओसियअड्ढरत्ते उत्तरदिसि पुव पेहए कालं। वेरत्तियंमि भयणा पुव्वदिसा पच्छिमे काले॥६६३॥

प्रादोषिकः अर्द्धरात्रिकश्च कालः द्वावप्येतावुत्तरस्यां दिशि 'पूर्वं' प्रथमं प्रत्युपेक्ष्यते,[4] वैरात्रिके—तृतीयकाले भजना—विकल्पः कदाचित् उत्तरस्यां दिशि[5] प्रथमं गृह्णाति कदाचिच्च पूर्वस्यां दिशि व्यवस्थितो गृह्णाति इति, पश्चिमे तु प्राभातिके काले पूर्वस्यामेव दिशि प्रथमं गृह्णाति पुनर्दक्षिणादाविति।

---

१ गेण्हइ आ। २ वावि एक्को ल १। ३ °क्षते—गृह्णाति ततः पूर्वादिदिक्षु, वैरा° आ.। ४ पूर्वं पूर्वस्यां वा, पुनः पश्चिमे—प्राभा° आ.। ५ करोति कायोत्सर्गं तत पुन° औ।

सज्झाय काऊण पढमबितियासु दोसु जागरण । अह वावि गुणती सुणति झायति वाऽसुत्ते ॥६६४॥

एव यदि सुप्यति प्रादोषिकः कालस्ततः स्वाध्याय कृत्वा प्रथमद्वितीयपौरुष्योर्जागरण कुर्वन्ति साधवः । अथासौ प्रादोषिकः कालो न शुद्धस्ततः 'अन्यत्' उत्कालिक गुणयन्ति शृण्वन्ति ध्यायन्ति वाऽसुप्ते सति, इर्ष्टि अथवाओ मन्नइ जति पाओसिओ सुद्धो तओ अड्ढरत्तिओ जावि न सुज्झइ तहवि त चेव पवेयइत्ता सज्झाय कुणति, एव जइ वेरत्तिओ न सुज्झइ तओ अणुग्घइत्तं जइ अड्ढरत्तिओ सुद्धो तओ त चेव पवेयइत्ता सज्झाय कुणति, एव जइ न पाभाइओ सुद्धो तओ जइ वेरत्तिओ सुद्धो तओ तं चेव निवेयइत्ता सज्झाय कुणति, एव द्रव्यक्षेत्रकालभावा ज्ञातव्या इति ।

जो चेव अ सुवणविही णेगाण वण्णिओ वसहिदारे । सो चेव इहपि भवे नाणत्त नवरि सज्झाए ॥६६५॥

य एव शयितव्यविधिः पूर्वमेकानेकानां प्रत्युपेक्षकाणां व्यावर्णितो वसतिद्वारे स एवात्रापि द्रष्टव्यः, नानात्व यदि परमिद, बहुत स्वाध्याय कृत्वा स्वपन्तीति ।

एसा सामायारी कहिया मे ! धीरपुरिसपन्नत्ता । एत्तो उवहिपमाण वोच्छ सुद्धस्स जह धरणा ॥६६६॥

(पिंडदारं समत्त)

सुगमा ॥ उक्तं पिण्डद्वारं, इदानीमुपधिद्वारप्रतिपादनायाह—नवरं ग्रहस्य यथावेर्यथा परम भवति तथा वक्ष्ये । तत्र

१ चेव पयर्व पु । २ अणुग्घइत्ते सति आ. । ३ तओ तं चेव पवेयइत्ता आ. । ४ नवरि आ ।

'तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्ये'ति न्यायात् पर्यायान्प्रतिपादयन्नाह—

उवही उवग्गहे संगहे य तह पग्गहोग्गहे चेव। भंडग उवगरणेवि य करणेवि य होंति एगट्ठा ॥ ६६७ ॥

उपदधातीत्युपधिः, किमुपदधाति ?, द्रव्यं भावं च, द्रव्यतः शरीरं भावतो ज्ञानदर्शनचारित्राणि उपदधाति, उपगृह्णातीत्युपग्रहः, संगृह्णातीति संग्रहः, प्रकर्षेण गृह्णातीति प्रग्रहः, अवगृह्णातीत्यवग्रहः, तथा भण्डकमुच्यते उपधिः, तथा 'उपकरणं' उपकरोतीत्युपकरणं, तथा करोतीति करणमुच्यत उपधिरिति, एते एकार्थाः। इदानीं भेदतः प्रतिपादयन्नाह—

ओहे उवग्गहंमि य दुविहो उवही उ होइ नायव्वो। एक्केक्कोवि य दुविहो गणणाए पमाणतो चेव ॥६६८॥

उपधिर्द्विविधः–ओघोपधिः उपग्रहोपधिश्चेति, एवं द्विविधो विज्ञेयः, इदानीं स एवैकैको द्विविधः, कथं ?, गणनाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणतश्च, एतदुक्तं भवति–ओघोपधेर्गणनाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन च द्वैविध्यं, अवग्रहोपधेरपि गणनाप्रमाणेन प्रमाणप्रमाणेन च द्वैविध्यं, तत्र ओघोपधिर्नित्यमेव यो गृह्यते, अवग्रहावधिस्तु कारणे आपन्ने संयमार्थं यो गृह्यते सोऽवग्रहावधिरिति, ओघोपधेः गणनाप्रमाणेन प्रमाणमेकद्व्यादिभेदं वक्तव्यं प्रमाणप्रमाणं च वैक्तव्यं दीर्घपृथुतया, तथाऽवग्रहोपधेरपि एकद्व्यादिगणनाप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च दीर्घपृथुत्वद्वारेण वक्तव्यमिति। तत्र ओघोपधिर्जिनकल्पिकानां प्रतिपाद्यते, तत्रापि गणनाप्रमाणतः प्रतिपादयन्नाह—

---

१ करणमु° आ.। २ कर्त्तव्य आ.।

सज्झाय काऊण पढमबितियासु दोसु जागरण । अह यावि गुणती सुणति झायति वाऽसुत्ते ॥६६४॥

एवं यदि शुध्यति प्रादोषिकः कालस्ततः स्वाध्यायं कृत्वा प्रथमद्वितीयपौरुष्योर्जागरणं कुर्वन्ति साधवः । अथासौ प्रादोषिकः कालो न शुद्धस्ततः 'अन्यत्' उत्कालिकं गुणयन्ति शृण्वन्ति ध्यायन्ति वोऽशुद्धे सति, इहिं अयवाओ मण्णइ जति पाओसिओ सुद्धो तओ अड्ढरत्तिओ जइवि न सुज्झइ तहवि तं चेव पवेयइत्ता सज्झाय कुणति, एवं जइ वेरत्तिओ न सुज्झइ ततो अड्ढरत्तिओ जइ अड्ढरत्तिओ सुद्धो तओ तं चेव पवेयइत्ता सज्झाय कुणति, एवं जइ न पाभाइओ सुद्धो तओ जइ वेरत्तिओ सुद्धो तओ तं चेव निवेयइत्ता सज्झाय कुर्वंति, एवं द्रव्यक्षेत्रकालभावा ज्ञातव्या इति ।

जो चेव अ सुवणविही णेगाण वसिओ वसाहिदारे । सो चेव इहपि भवे नाणत्त नवरि सज्झाए ॥६६५॥

य एष शयितव्यविधिः पूर्वमेकानेकानां प्रत्युपेक्षकाणां व्यावर्णितो वसतिद्वारे स एवात्रापि द्रष्टव्यः, नानात्वं यदि परमिदं, यदुत स्वाध्यायं कृत्वा स्वपन्तीति ।

एसा सामायारी कहिया मे ! धीरपुरिसपन्नत्ता । एत्तो उवहिपमाणं वोच्छं सुविहस्स अह चरणा ॥६६६॥

(पिंडदारं समत्तं)

सुगमा ॥ उक्तं पिण्डद्वारं, इदानीमुपधिप्रमाणप्रतिपादनायाह—नवरं सुविहस्य यथा यथादेयेषा चरणं भवति तथा वक्ष्ये । तत्र

१ होइ जाम पु । २ जवऽसुद्धे सति वा । ३ तओ तं चेव पवेयइत्ता आ. । ४ नवरि आ ।

चिदुत्तमान्यङ्गानि कानिचिज्जघन्यानि कानिचिन्मध्यमानि, तत्र जिनकल्पिकानां तावत्प्रतिपादयन्नाह—

तिन्नेव य पच्छागा पडिग्गहो चेव होइ उक्कोसो। गोच्छगपत्तगठवणं मुहणंतगकेसरि जहन्नो ॥६७३॥

[1]त्रयः प्रच्छादकाः कल्पा इत्यर्थः पतद्ग्रहश्चेत्येष जिनकल्पिकोपधिमध्ये उत्कृष्ट उपधिः प्रधानश्चतुर्विधोऽपि, अत्रामूनि प्रधानान्यङ्गानीत्यर्थः, गोच्छकः पात्रकस्थापनं मुहणन्तकं–मुखवस्त्रिका पात्रकेसरिका–पात्रकमुखवस्त्रिका चेति, एष जिनकल्पिकावधिमध्ये जघन्यः–अप्रधानश्चतुर्विध उपधिरिति, पात्रकबन्धः पटलानि रजस्त्राणं रजोहरणमित्येष चतुर्विधोऽप्यवधिर्जिनकल्पिकावधिमध्ये मध्यम उपधिः–न प्रधानो नाप्यप्रधान इति। उक्तो जिनकल्पिकानामुत्कृष्टजघन्यमध्यमोपधिरिति। इदानीं स्थविरकल्पिकानां प्रतिपादयति, तत्रापि प्रथमं मध्यमावधिं प्रतिपादयन्नाह—

पडलाइं रयत्ताणं पत्ताबंधो [2]तहेव रयहरणं। मत्तो य पट्टगो वि य थेराणं छव्विहो [3]मज्झो ॥ ६७४ ॥

पटलानि रजस्त्राणं पात्रकबन्धश्च चोलपट्टकश्च रजोहरणं मात्रकं चेत्येष स्थविरावधिमध्ये षड्विधो मध्यमावधिः नोत्कृष्टो नापि जघन्य इति। पात्रकं प्रच्छादककल्पत्रयं, एष चतुर्विधोऽप्युत्कृष्टः–प्रधानः स्थविरकल्पिकावधिमध्ये, पात्रकस्थापनकं पात्रकेसरिका गोच्छको मुखवस्त्रिकेत्येष जघन्योपधिः स्थविरकल्पिकावधिमध्ये चतुर्विधोऽपि। इदानीं आर्यिकाणामोघोपधिं गणनाप्रमाणेन प्रतिपादयति—

---

१ तत्र ये प्र° आ । २ य चोलपट्टो य। रयहरणं मत्तओऽवि य आ पा १। ३ नवरिं ळ. १।

पत्त पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिया। पडलाइं रयत्ताणं च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥ ६६९ ॥
तिन्नेव य पच्छागा रयहरणं चेव होइ मुहपोत्ती। एसो दुवालसविहो उवही जिणकप्पियाण तु ॥६७०॥
एए चेव दुवालस मत्तग अइरेगचोलपट्टो य। एसो चउद्दसविहो उवही पुण थेरकप्पम्मि ॥६७१॥

पात्रकं पात्रकबन्धस्तथा पात्रकस्थापनं 'पात्रकेसरिका' पात्रकमुखवस्त्रिका तथा पटलानि रजस्त्राणं गोच्छकः अयं 'पात्रनिर्योग' पात्रकपरिकर इत्यर्थः। त्रयः 'प्रच्छादकाः' कल्पा इत्यर्थः, तथा रजोहरणं मुखवस्त्रिका चेति, एष द्वादशविध उपधिर्जिनकल्पिकानां भवति। इदानीं स्थविरोपधिं गणनाप्रमाणतः प्रतिपादयन्नाह-एत एव द्वादश जिनकल्पिकसत्काः पात्रकाद्या मुखवस्त्रिकापर्यन्ता उपध्यवयवा भवन्ति स्थविराणां, स्थविरकल्पे अतिरिक्तस्तु मात्रकं चोलपट्टकश्च भवति, एष चतुर्दशविध उपधिः स्थविरकल्पे भवति। इदानीं सङ्ग्रहगाथया सर्वमेवोपधिमुपसंहरन्नाह—

जिणा बारसरूवाइं थेरा चउद्दसरूविणो। अज्जाण पन्नवीसं तु अओ उड्ढं उवग्गहो ॥ ६७२ ॥

जिनानां-जिनकल्पिकानां 'द्वादश रूपाणि' उपकरणानि भवन्ति, स्थविराणां 'चतुर्दश रूपाणि' उपकरणानि भवन्ति 'आर्याणां' भिक्षुणीनां पञ्चविंशत्यवयव उपधिरोघतः, स च वक्ष्यमाणः, 'अत ऊर्ध्वं' उक्तप्रमाणात् सर्वेषामेव य उपधिर्भवति स औपग्रहिको वेदितव्यः। इदानीं स जिनकल्पिकोपधिः स्थविरकल्पोपधिश्च सर्व एव त्रिविधो भवति, तस्योपधेर्मध्ये कानि-

१ भेत्ता, ख। २ °पात्रबन्धक° क्त ख पा १। ३ रूपमङ्गो ?° खा. पा १-२।

छाएइ अणुक्कुइए[1] उरोरुहे कंचुओ य असीविओ[2] य। एमेव य ओकच्छिय सा नवरं दाहिणे पासे ॥३१७

वेकच्छिया उ पट्टो कंचुयमुक्कच्छियं च छाएइ। संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयंमि ॥३१८॥ (भा.)

दोण्णि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एग एग उच्चारे। ओसरणे[3] चउहत्था णिसन्नपच्छायणी मसिणा ॥३१९॥

खंधकरणी उ चउहत्थवित्थडा वायविहुयरक्खट्ठा। खुज्जकरणी उ कीरइ रूववईणं कुडहहेउं ॥ ३२० ॥

तत्थ जा सा दुहत्थिया पिहुत्तेणं सा खोमिया होइ, एयाओ संघाडीओ पडियागारेण होंति, अद्धोरुगो पीडएहिं कीरइ [4]तालुनिभागारोत्ति।

*अयं चार्यिकाणां संबन्धी अवधिस्त्रिप्रकारो भवति, एकोऽपि सन् उत्तममध्यमजघन्यभेदेन, तत्र तस्यार्यिकावधिमध्ये उत्कृष्टः-प्रधानोऽष्टविधः, एतदेवाह—

उक्कोसो अट्ठविहो मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ। जहन्नो चउव्विहोवि य तेण परमुवग्गहं जाण ॥६७९॥

उत्कृष्टोऽष्टविधस्तद्यथा-पात्रकं संघाडीओ चउरो खंधकरणी अंतोनियंसणी बाहिणियंसणी य, अयमष्टविध उत्कृष्टः-प्रधानः। पत्ताबधो १ पडलाइं २ रयत्ताणं ३ रयहरणं ४ मत्तयं ५ उवग्गहणंतयं ६ पट्टओ ७ अद्धोरुगं ८ चलणी

१ °क्कमइ उरो° आ। २ असिव्विय। पु। ३ ओसरणा चउ° आ पा १। ४ तालुगागारोत्ति आ। * संघाडमेयरो वा सव्वो वेसो समासओ उवही। पासगवंधमझुसिरो जं चाइन्न तयं नेय॥ (गाथेयं अव्याख्याता निर्युक्तौ)

पत्त पत्ताबंधो पायट्ठवण च पायकेसरिया। पडलाइ रयत्ताण च गोच्छओ पायनिज्जोगो ॥ ६७५ ॥
तिन्नेव य पच्छागा रयहरण चेव होइ मुहपोत्ती। तत्तो य मत्तगो खलु चउदसमो कमढगो चेव ॥६७६॥
उग्गहणतगपट्टो अद्धोरुग चलणिया य बोद्धव्वा। अब्भिंतर बाहिनियंसणीय तह कंचुगे चेव ॥६७७॥
उक्कच्छिय वेकच्छिय संघाडी चेव खंधकरणी य। ओहोवहिंमि एए अज्जाण पन्नवीसं तु ॥ ६७८ ॥

तत्र गाथाद्वय पूर्ववद्व्याख्यात द्रष्टव्य, नवरं आर्यिकाणां कमढकमेतदर्थं भवति यतस्तासां प्रतिग्राहको न भवति तुच्छस्वभावत्वात्, कमढक एव भोजनक्रियां कुर्वन्तीति। इदानीं भाष्यकारो गाथाद्वय व्याख्यानयन्नाह—

+नावानिभो उग्गहणतगो उ सो गुज्झदेसरक्खट्ठा। सो उ पमाणेणेगो घणमसिणो देहमासज्ज ॥ २१३ ॥
पट्टोवि होइ एक्को देहपमाणेन सो उ भइयव्वो। छायतोग्गहणत कडिबंधो मल्लकच्छा वा ॥ २१४ ॥
अद्धोरुगो उ ते दोवि गेण्हिउ छायए कडिविभाग। जाणुपमाणा चलणी असीविया लंखियाएव ॥२१५॥
अतो नियंसणी पुण लीणतरी जाव अद्धजंघाओ। बाहिं खलुगप्पमाणा कडी य दोरेण पडिबद्धा ॥२१६॥

१ बाहिरिवं वत्थिं आ. स. १-२। २ नवरं आ। + तिण्णउग परिमाह सेवाविभज्जणी य कजेवा। धेरसरिसो बद्धो पेल्ले मज्झो य नायव्वो ५ (मयेवं भ्याख्याना निर्युक्ति) ३ "बद्धो माह" क १। ४ बाहिरयालुपमाणा आ., बाहिरयहुगण्ण क २ प १।

छाएइ अणुक्कुंइए[1] उरोरुहे कंचुओ य असीविओ[2] य। एमेव य ओकच्छिय सा नवरं दाहिणे पासे ॥३१७
वेकच्छिया उ पट्टो कंचुयमुक्कच्छियं च छाएइ। संघाडीओ चउरो तत्थ दुहत्था उवसयंमि ॥३१८॥ (भा.)
दोण्णि तिहत्थायामा भिक्खट्ठा एग एग उच्चारे। ओसरणे[3] चउहत्था णिसन्नपच्छायणी मसिणा ॥३१९॥
खंधकरणी उ चउहत्थवित्थडा वायविहुयरक्खट्ठा। खुज्जकरणी उ कीरइ रूववईणं कुडहहेउं ॥ ३२० ॥

तत्थ जा सा दुहत्थिया पिहुत्तेणं सा खोमिया होइ, एयाओ संघाडीओ पडियागारेण होंति, अद्धोरुगो पीडएहिं कीरइ [4]तालुनिभागारोत्ति।

*अयं चार्यिकाणां संबन्धी अवधिस्त्रिप्रकारो भवति, एकोऽपि सन् उत्तममध्यमजघन्यभेदेन, तत्र तस्यार्यिकावधिमध्ये उत्कृष्टः—प्रधानोऽष्टविधः, एतदेवाह—

उक्कोसो अट्ठविहो मज्झिमओ होइ तेरसविहो उ। जहन्नो चउव्विहोवि य तेण परमुवग्गहं जाण ॥६७९॥

उत्कृष्टोऽष्टविधस्तद्यथा—पात्रकं संघाडीओ चउरो खंधकरणी अंतोनियंसणी बाहिणियंसणी य, अयमष्टविध उत्कृष्टः—प्रधानः। पत्ताबंधो १ पडलाइं २ रयत्ताणं ३ रयहरणं ४ मत्तयं ५ उवग्गहणंतयं ६ पट्टओ ७ अद्धोरुगं ८ चलणी

१ °क्कमइ उरो° आ। २ असिव्विय। पु। ३ ओसरणा चउ° आ पा १। ४ तालुगागारोत्ति आ। * संघाइमेयरो वा सव्वो वेसो समासओ उवही। पासगबंधमझुसिरो ज चाइन्न तयं नेय॥ (गाथेय अव्याख्याता निर्युक्तौ)

९ कप्पुगो १० उक्कच्छिया ११ वेकच्छिया १२ कमढगो १३, अयमार्यिकाणामिमध्ये त्रयोदशविधो मध्यमावधिरिति। पायद्धणम १ पायकेसरिया २ गोच्छओ ३ सुहपोत्तिया चेति अयमार्यिकात्रयेभ्ये जघन्यः—अशोमनमद्धप्रकार इति। अतः परं पात्रे कारणे सति संयमार्थं गृह्यते सोऽप्यप्रमाणमिरित्येव जानीहि॥

एग पाय जिणकप्पियाण थेराण मत्तओ बीओ। एय गणणपमाण पमाणपमाण अओ वुच्छ ॥६८०॥

एकमेव पात्रकं जिनकल्पिकानां भवति, स्थविरकल्पिकानां तु मात्रको द्वितीयो भवति, इदं तावदेकत्वादिकं गणना प्रमाणम्, इत ऊर्ध्वं प्रमाणप्रमाणं वक्ष्ये, तत्र पात्रकस्य प्रमाणप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

तिण्णि विहत्थी चउरंगुलं च भाणस्स मज्झिमपमाण। एत्तो हीण जहन्न अइरेगतर तु उक्कोस ॥६८१॥

इणमण्ण तु पमाण नियगाहाराउ होइ निप्फन्न। कालपमाणपसिद्ध उदरपमाणेण य वयंति ॥६८२॥

उक्कोसतिसामासे दुगाउअद्धाणमागओ साहू। चउरंगुलूणमरिय ज पज्जत्त तु साहुस्स ॥ ६८३ ॥

एय चेव पमाण सविसेसयर अणुग्गहपवत्त। कतारे दुब्भिक्खे रोहगमाईसु भइयव ॥ ६८४ ॥

समचउरंसं वट्टं दोरएण भविज्ज तिरिच्छय उड्ढाहो य, सो य दोरओ तिण्णि विहत्थीओ चत्तारि अंगुलाइ जति होइ

---

१ मेरो मध्य आ.। २ मनि अ° ब १-२।

ततो एयं माणस्स मज्झिमं पमाणं, 'इतः' अस्मात्प्रमाणाद्धद्धीनं तज्जघन्यं प्रमाणं भवति, अथातिरिक्तप्रमाणं मध्यमप्रमाणाद्भवति ततस्तदुत्कृष्टं[1]—उत्कृष्टप्रमाणमित्यर्थः, तथेदमपरं प्रमाणान्तरं प्रकारान्तरेण वा पात्रकस्य भवति—इदमन्यत्प्रमाणं निजेनाहारेण निष्पन्नं वेदितव्यं, एतदुक्तं भवति—काञ्जिकादिद्रवोपेतस्य भक्तस्य चतुर्भिरङ्गुलैरूनं पात्रकं तत्साधोर्भक्षयतो यत्परिनिष्ठितिं याति तत्तादृग्विधं मध्यमप्रमाणं पात्रकं, तच्चैवंविधं कालप्रमाणेन ग्रीष्मकाले प्रमाणसिद्धं पात्रकं भणन्ति, उदरप्रमाणेन च सिद्धं तदित्थं[2] प्रकारं कालप्रमाणसिद्धं पात्रकमुदरप्रमाणसिद्धं च 'वदन्ति' प्रतिपादयन्ति। कालप्रमाणसिद्धं पात्रं उदरप्रमाणसिद्धं च पात्रकं प्रतिपादयन्नाह—उत्कृष्टा तृड् मासयोः—ज्येष्ठाषाढयोर्यस्मिन् काले स उत्कृष्टतृण्मासः कालस्तस्मिन्नुत्कृष्टतृण्मासकाले द्विगव्यूताध्व[3]मात्रादागतः साधुश्चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूनं भृतं सद् यत्पर्याप्त्या साधोर्भवति तदित्थंभूतं कालप्रमाणोदरप्रमाणप्रसिद्धं पात्रकं मध्यमं भवति। 'एतदेव' पूर्वोक्तं प्रमाणं यदा 'सविशेषतरम्' अतिरिक्ततरं भवति तदा तदनुग्रहार्थं प्रवृत्तं भवति, एतदुक्तं भवति—बृहत्तरेण पात्रकेणान्येभ्यो दानेनानुग्रह आत्मनः क्रियते तच्च कान्तारं[4] महतीमटवीमुत्तीर्यान्येभ्योऽप्यर्थं अनुग्रहाय भवति येन बहूनां भवति, तथा दुर्भिक्षेऽलभ्यमानायां भिक्षायां बह्वटित्वा बालादिभ्यो ददाति, तच्चातिमात्रे भाजने सति भवति दानं, तथा रोधके कोट्टस्य जाते सति कश्चिद्भोजनं श्रद्धया दद्यात्तत्र तत् नीयते येन बहूनां भवति, एतेषु 'भजनीयं' सेवनीयं तदतिमात्रं पात्रकम्। इदानीमेतदेव भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह—

---

१ °ष्टप्रमा° आ ल १–२। २ 'वदन्ति' आ. पा. /१। ३ °ध्वानमात्रादागतो यो भिक्षुश्च° आ. पा. १–२ पु। ४ कान्तारे मह° आ. ल. १–२ पा १। ५ गृहीत्वा व्रजति येन आ पा. २ पु।

वेयावच्चगरो वा नंदीभाण धरे उवग्गहियं। सो खलु तस्स विसेसो पमाणजुत्तं तु सेसाणं ॥३२१॥(भा)

वैयावृत्त्यकरो वा नन्दीपात्रं धारयत्यौपग्रहिकमाचार्येण समर्पितं नित्यं वा, स खलु तस्यैव वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः, एतदुक्तं भवति–यदतिरिक्तमात्रपात्रधारणमत्र तस्यैवैकस्य वैयावृत्त्यकरस्य विशेषः क्रियते, शेषाणां तु साधूनां प्रमाणयुक्तमेव मात्रकं भवति, उदरप्रमाणयुक्तमित्यर्थः।

देज्जाहि भाणपूरं तु रिद्धिमं कोइ रोहमाईसु। तत्थावि तस्सुवभोगो सेस कालं तु पडिकुट्ठो ॥६८५॥

एवं तेन प्रमाणातिरिक्तेन पात्रकेण प्रयोजनं भवति, यदा कश्चिदावनपूरकं कश्चिद्धिमान् पात्रभरणं कश्चिदीश्वरः कुर्यात्, कदाचित्, पर्वतरोधकादौ, तत्र पात्रकभरणे तस्य नन्दीपात्रकस्योपयोगः शेषकालमुपयोगस्तस्य 'प्रतिकुष्टः' प्रतिषिद्धः कारणमन्तरेणेत्यर्थः। तच पात्रकं लक्षणोपेतं ग्राह्यं नालक्षणोपेतम्, एतदेवाह–

पायस्स लक्खणमलक्खणं च भुज्जो इमं वियाणित्ता। लक्खणजुत्तस्स गुणा दोसा य अलक्खणस्स इमे ॥

वट्टं समचउरंसं होइ थिरं थावरं च वण्णं च। हुंडं वायाइद्धं भिन्नं च अधारणिज्जाइं ॥ ६८७ ॥

संठियंमि भवे लाभो पइट्ठा सुपतिट्ठिए। निव्वणे कित्तिमारोग्गं वण्णड्ढे नाणसंपया ॥ ६८८ ॥

हुंडे चरित्तभेदो सबलंमि य चित्तविब्भमं जाणे। दुप्पुए खीलसंठाणे गणे च चरणे च नो ठाणं ॥६८९॥

१ इच्चते कंक' का।

पउमुप्पले अकुसलं सव्वणे वणमादिसे । अंतो बाहिं च दड्ढे मरणं तत्थ निद्दिसे ॥ ६९० ॥
अकरंडगम्मि भाणे हत्थो उट्ठं जहा न घट्टेइ । एयं जहन्नयमुहं वत्थुं पप्पा विसालं तु ॥ ६९१ ॥

पात्रकस्य लक्षणं 'ज्ञात्वा' विज्ञाय अपलक्षणं च बुद्ध्वा 'भूयः' पुनर्लक्षणोपेतं ग्राह्यं, यतो लक्षणोपेतस्यामी गुणाः, अपलक्षणस्य चैते दोषाः-वक्ष्यमाणा भवन्ति तस्माल्लक्षणोपेतमेव ग्राह्यं नालक्षणोपेतं ॥ तच्चेदं-'वृत्तं' वर्तुलं तत्र वृत्तमपि कदाचित्समचतुरस्रं न भवत्यत आह-समचतुरस्रं सर्वतस्तथा स्थिरं च यद्भवति-सुप्रतिष्ठानं तद्गृह्यते नान्यत्, तथा स्थावरं च यद्भवति न परकीयोपस्करवद् याचित कतिपयदिनस्थायि, तथा 'वर्ण्यं' स्निग्धवर्णोपेतं यद्भवति तद् ग्राह्यं, नेतरत्। उक्तं लक्षणोपेतम्, इदानीमपलक्षणोपेतमुच्यते-'हुण्डं' क्वचिन्निम्नं क्वचिदुन्नतं यत्तदधारणीयं, 'वायाइद्धं'ति अकालेनैव शुष्कं सङ्कुचितं वलीभूतं तदधारणीयं, तथा 'भिन्नं' राजियुक्तं सच्छिद्रं वा, एतानि न धार्यन्ते-परित्यज्यन्त इत्यर्थः। इदानीं लक्षणयुक्तस्य फलं प्रदर्शयन्नाह-संस्थिते पात्रके-वृत्तचतुरस्रे ध्रियमाणे लाभो भवति, प्रतिष्ठा गच्छे भवति सुप्रतिष्ठिते-स्थिरे पात्रके, 'निर्व्रणे' नखक्षतादिरहिते कीर्तिरारोग्यं च भवति, वर्णाढ्ये ज्ञानसंपद्भवति। इदानीमपलक्षण[2]युक्तफलं प्रदर्शयन्नाह-'हुण्डे' निम्नोन्नते चारित्रस्य भेदो भवति वि[3]नाशो भवति, 'शबले' चित्तले 'चित्तविभ्रमः' चित्तविप्लु[4]त्तिर्भवति, 'दु[5]प्पुए' अधोभागाप्रतिष्ठिते-प्रतिष्ठानरहिते, तथा 'कीलसंस्थाने' कीलवद्दीर्घमुच्चं गतं तस्मिंश्च एवंविधे 'गणे' स्व[6]गच्छे 'चरणे'

१ दड्ढंमि म° आ पा १। २ °णयुक्तस्य दोषानाह-पा २, °णफलयुक्तिं प्रद° ल १। ३ विनाश इत्यर्थः, 'श° आ पा १। ४ °विलुप्तिर्भ° आ.। ५ 'दुप्पए' आ। ६ गच्छे च 'च° आ।

चारित्रे वा न प्रतिष्ठान भवति। पक्षोऽस्य-देहे भाजनागारे पात्रकेऽकृते भवति, समये पात्रके सति प्रभो भवति पात्रक स्वामिनः, तथा अन्यः-अभ्यन्तरे परिणां दग्धे सति मरण तत्र निर्दिशेत्। इदानीं मुखलक्षण प्रतिपादनायाह-करण्डको- पञ्चप्रथितः समवलका, करण्डकस्येवाकारो यस्य तत्करण्डकं न करण्डकम् अकरण्डकं वृत्तसमचतुरस्रमित्यर्थः, तस्मिन्नेवंविधे 'भाजने' पात्रके मुखं किंप्रमाणं क्रियते? अत आह-हस्तः प्रविशन् ओष्ठ-कर्णे यथा 'न घट्टयति' न स्पृशति एतावत्प्रमाण कस्माद्भाजनग्रहणं क्रियते?, आचार्यस्त्वाह-

छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहणं जिणेहिँ पन्नत्तं। जे य गुणा संभोए हवंति ते पायगहणेवि ॥ ६९२ ॥

अतरंतबालवुड्ढासेहाएसा गुरू असहुवग्गो। साहारणोग्गहाऽलद्धिकारणा पादगहणं तु ॥ ६९३ ॥

षट्कायरक्षणार्थं, पात्ररहितः साधुर्भोजनार्थी यदपि कायान् व्यापादयति यस्मात्तस्मात्पात्रग्रहणं जिनैः 'प्रज्ञप्त' प्रज्ञप्तं, ये एव गुणा मण्डलीसंभोगे व्यावर्णिता भवन्ति त एव गुणाः पात्रग्रहणेऽपि भवन्ति, अतो ग्राह्य पात्रमपि। के च ते गुणाः? इत्यत आह-ग्लानकारणात् बालकारणात् वृद्धकारणात् शैक्षककारणात् प्राघूर्णककारणात् गुरुकारणात् असहिष्णुः- राजपुत्रः कश्चित् प्रव्रजितस्तत्कारणात् साधारणोऽवग्रहः-अवष्टम्भोऽनेन पात्रकेण क्रियते एतेषां सर्वेषामतः साधारणा-

१ असहिष्णु आ.।

वग्रहाद्धेतोः, अलब्धिमांश्च कश्चिद्भवति तस्यानीय दीयते एतच्च पात्रकेण विना दातुं न शक्यतेऽस्मात्कारणात् पात्रकग्रहणं भवति । उक्तं पात्रकप्रमाणप्रमाणम्, इदानीं पात्रबन्धप्रमाणप्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

पत्ताबंधपमाणं भाणपमाणेण होइ कायवं । जह गंठिंमि कयंमि कोणा चतुरंगुला हुंति ॥ ६९४ ॥

पात्रबन्धप्रमाणं भाजनप्रमाणेन भवति विज्ञेयं सर्वथा, यथा ग्रन्थौ 'कृते' दत्ते सति कोणौ चतुरङ्गुलप्रमाणौ भवतस्तथा कर्त्तव्यं । इदानीं पात्रकस्थापनकगोच्छकपात्रकप्रत्युपेक्षणिकानां प्रमाणप्रमाणप्रतिपादयन्नाह—

पत्तट्ठवणं तह गोच्छगो य पायपडिलेहणिआ य । तिण्हंपि ऊ[1] पमाणं विहत्थि चउरंगुलं चेव ॥६९५॥

पात्रकस्थापनकं गोच्छकः 'पात्रकप्रत्युपेक्षणिका' पात्रकमुखवस्त्रिका एतेषां त्रयाणामपि वितस्तिश्चत्वारि चाङ्गुलानि प्रमाणं चतुरस्रं द्रष्टव्यं, अत्र च पात्रस्थापनकं गोच्छकश्च एते द्वेऽपि ऊर्णामये वेदितव्ये, मुखवस्त्रिका खोम्मिया । इदानीमेषामेव प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

रयमादिरक्खणट्ठा पत्तट्ठवणं विऊ[2] उवइसंति । होइ पमज्जणहेउं तु[3] गोच्छओ भाणवत्थाणं ॥ ६९६ ॥

पायपमज्जणहेउं केसरिया पाए पाए एक्केका । गोच्छगपत्तट्ठवणं एक्केक्कं गणणपमाणेणं ॥ ६९७ ॥

रजआदिरक्षणार्थं पात्रस्थापनकं भवति एवं विद्वांसो व्यपदिशन्ति, भवति प्रमार्जननिमित्तं गोच्छको भाजनवस्त्राणां,

१ यप्पमाणं आ. पा. १ । २ जिणेहिं पन्नत्तं । होइ आ । ३ गोच्छओ ल १ पा. १ ।

एवमुक्तं भवति गोच्छकेन हि पटलानि प्रमृज्यन्ते । तथा 'केसरिकाऽपि' पात्रकमुखवस्त्रिकाऽपि पात्रकप्रमार्जननिमित्तं भवति पात्रे पात्रे एकैका पात्रकेसरिका भवति गणनया, तथा गोच्छकः पात्रस्थापनकं च एकैकं गणनामानेनेति । इदानीं पटलानां गणनाप्रमाणप्रतिपादनायाह—

जेहिं सविया न दीसइ अंतरिओ तारिसा भवे पडला । तिन्नि व पंच व सत्त व कयलीगब्भोवमा मासिणा ॥
गेम्हासु तिन्नि पडला चउरो हेमंते पंच वासासु । उक्कोसगा उ एए एत्तो पुण मज्झिमे वुच्छं ॥ ६९९ ॥
गिम्हासु होंति चउरो पंच य हेमंते छच्च वासासु । एए खलु मज्झिमया एत्तो उ जहन्नओ वुच्छं ॥७००॥
गिम्हासु पंच पडला छप्पुण हेमंते सत्त वासासु । तिविहम्मि कालछेए पायावरणा भवे पडला ॥७०१॥

यैः पटलैस्त्रिभिरेकीकृतैः सद्भिः सविता न दृश्यते तिरोहितस्तथा पञ्चभिरेकीकृतैः सविता नोपलभ्यते तिरोहितः सन्, सप्तभिर्वा पटलैरेकीकृतैः सद्भिः सविता न दृश्यत इति, किमुक्तं भवति ? रवेः संबन्धिनो रश्मयो नोपलभ्यन्ते तादृशानि पटलानि भवन्ति, किंविशिष्टानि ?—कदलीगर्भोपमानि कोमलानि श्लक्ष्णानि मसृणानि घनानि सूक्ष्माणि चेति, तत्र यदुक्तं त्रीणि पटलानि पञ्च वा सप्त वा पटलानि भवन्तीत्येतदेव कालभेदेन विशेषेण प्रदर्शयन्नाह—'ग्रीष्मे' उष्णकाले त्रीणि पटलानि

---

१ चूर्ण पु. घ. । २ हितः सन् पञ्च आ. पा १–२ पु. । ३ पञ्चभिः सप्तभिर्वा आ. पा १–२ पु. । ४ सविता नोपलभ्यत इति आ. पा १–२ पु । ५ चेति आ. ।

गृह्यन्ते यदि[1] तानि दृढानि मसृणानि च भवन्ति उत्कृष्टानीत्यर्थः, 'हेमन्ते' शिशिरे च चत्वारि गृह्यन्ते घनानि मसृणानि च शोभनानि यदि भवन्ति, स हि मनाक् स्निग्धतरः कालः, पञ्च पटलानि वर्षासु गृह्यन्ते यद्युत्कृष्टानि घनानि मसृणानि च भवन्ति, स ह्यत्यन्तस्निग्धकालो यत उत्कृष्टान्येतानि उक्तलक्षणानि प्रधानान्येतानि। अत ऊर्द्ध्वं 'मध्यमानि न शोभनानि नाप्यशोभनानि वक्ष्य इति। 'ग्रीष्मे' उष्णकाले चत्वारि मध्यमानि पटलानि गृह्यन्ते, तानि मनाग् जीर्णानि, हेमन्ते पञ्च गृह्यन्ते मध्यमानि, वर्षासु षड् गृह्यन्ते[2], एतानि 'मध्यमानि' न प्रधानानि नाप्यप्रधानानि, तत्र ग्रीष्मो रूक्षः कालः हेमन्तो मध्यमः वर्षा स्निग्धस्तेन पटलानां वृद्धिरुक्ता, इत ऊर्द्ध्वं जघन्यानि वक्ष्य इति। ग्रीष्मे पञ्च पटलानि जघन्यानि जीर्णप्रायाणि गृह्यन्ते, षट् पुनः हेमन्ते जघन्यानि जीर्णप्रायाणि, वर्षासु[3] वर्षाकाले सप्त पटलानि[4] जघन्यानि संगृह्यन्ते जीर्णप्रायाणि, एवमुक्तेन प्रकारेण त्रिविधेऽपि 'कालच्छेदे' कालपर्यन्ते अन्यानि चान्यानि च 'पात्रावरणानि' स्थगनानि पटलानि भवन्ति। इदानीमेषामेव प्रमाणप्रमाणं[5] प्रतिपादनायाह—

अड्डाइज्जा हत्था दीहा छत्तीस अंगुले रुंदा[6]। बितियं पडिग्गहाओ ससरीराओ य निप्फन्नं ॥ ७०२ ॥

अर्द्धतृतीयहस्तदीर्घाणि भवन्ति, षट्त्रिंशदङ्गुलानि विस्तीर्णानि भवन्ति, द्वितीयमेषां प्रमाणं पतद्ग्रहाच्छादनेन शरीरस्कन्धाच्छादनेन च निष्पन्नं भवति, एतदुक्तं भवति–भिक्षाटनकाले स्कन्धः पात्रकं चाच्छाद्यते यावता तत्प्रमाणं पटलानामिति। इदानीं किं तैः प्रयोजनमित्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायाह—

१ यानि तानि आ। २ एतानि आ पा. १–२। ३ वर्षाकाले आ.। ४ जघ° आ पा. १–२ पु.। ५ °प्रतिपा° आ पा. २। ६ रुद्दा आ।

कायुक्ता निपया यथा वाषन्मात्र पूरयति तथा कर्तव्यम्, 'त्रिपासित' त्रीणि वेष्टनानि दवरकेन दत्त्वा पासित पाशबन्धनेन। किञ्च अमुमेव श्लोक भाष्यकारो व्याचष्टे—

अप्पोछ मिउ पेम्ह च पडिपुन्न हत्थपूरिम । रयणिप्पमाणमित्तं कुज्जा पोरपरिग्गह ॥१२२॥ (भा०)

'मप्पोछ' रक्षेष्टनाद् मनवेष्टनात् कारणात्, मृदु पक्ष्म च कर्तव्य–मृदूनि दशिकापक्ष्माणि क्रियन्ते। 'प्रतिपूर्णं' सद् पादेन निषद्यारूपेन युक्त सत् हस्त पूरयति यथा तथा कर्तव्यम्। तथा 'रत्निप्रमाणमात्रं' यथा दण्डो हस्तप्रमाणो भवति तथा कर्तव्यम्। 'कुज्जा पोरपरिग्गह'त्ति पोरम्–अङ्गुष्ठपर्व तस्मिन्नङ्गुष्ठपर्वणि कयया प्रदेशिन्या यत्प्रयाति छिद्र तयया पूर्यते तेन दण्डकेन सनिषद्यारूपसहितेन तथा कर्तव्य, एवंविध 'पोरपरिग्गह' अङ्गुष्ठपर्वप्रदेशिनीकुण्डलिकापूरण कर्तव्यमिति। इदानीं समुदायरूपस्यैव प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

बत्तीसङ्गुलदीह चउवीस अङ्गुलाइ दडो से । अट्ठङ्गुला दसाओ एगयर हीणमहिय वा ॥ ७०९ ॥

द्वात्रिंशदङ्गुलानि सर्वमेव दैर्घ्येण प्रमाणतो भवति, तत्र च 'अस्य' रजोहरणस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलानि दण्डका, अष्टाङ्गुलप्रमाणाश्च दशिका भवन्ति, 'एगतरं हीणमहियं वा' एकतरं दण्डकस्य दशिकानां वा न्यूनाधिकत्वेन प्रमाणतो भवति यथा–

१ एतामेव गाथां भाष्यकृद्व्याख्यानयति–क १–२। २ पोर्वं क. २। ३ "रत्नीपमाण" आ.। ४ किञ्चिदाधिक्यं भवति तथा पा १। ५ तथा अङ्गुष्ठपर्वणि प्रतिष्ठिता या प्रदेशिनी तत्परिमाणं कुर्या च १।

चिचाधिकं भवति, सर्वथा समुदायतस्तद्द्वात्रिंशदङ्गुलं कर्त्तव्यम् । तच्च किम्मयं भवति ? इत्यत आह—

उण्णियं उट्टियं वावि कंबलं पायपुच्छणं । तिपरियल्लमणीसट्ठं रयहरणं धारये इक्कं ॥ ७१० ॥

तद्रजोहरणं कदाचिदूर्णामयं भवति कदाचिच्चोष्ट्रौर्णामयं भवति कदाचित्कम्बलमयं भवति, पादपुञ्छनशब्देन रजोहरणमेव गृह्यते, तदेवंगुणं भवति, 'तिपरियल्लं'ति त्रिःपरिवर्त्त–त्रयः परावर्त्तकाः–वेष्टनानि यथा भवन्ति तथा कर्त्तव्यम्, 'अणीसट्ठं'ति मृदु कर्त्तव्यं, तदेवंगुणं रजोहरणं धारयेदेकमेवेति । तेन च किं प्रयोजनमित्यत आह—

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयण तुयट्टसंकोए । पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ७११ ॥

आदानं–ग्रहणं तत्र प्रमार्जनार्थं रजोहरणं गृह्यते निक्षेपो–न्यासः स्थानं–कायोत्सर्गः निषीदनम्–उपविशनं तुयट्टणं–शयनं सङ्कोचनं–जानुसंदंशकादेः, एतानि पूर्वं प्रमृज्य क्रियन्ते अतः पूर्वं प्रमार्जनार्थं रजोहरणग्रहणं क्रियते । लिङ्गमिति च कृत्वा रजोहरणधारणं क्रियते इति । इदानीं मुखवस्त्रिकाप्रमाणप्रतिपादनायाह—

चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उ पमाणं । बितियं मुहप्पमाणं गणणपमाणेण एक्केक्कं ॥७१२॥

चत्वार्यङ्गुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्रं मुखानन्तकस्य प्रमाणम्, अथवा इदं द्वितीयं प्रमाणं, यदुत मुखप्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंतयं, एतदुक्तं भवति–वसतिप्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते कृकाटिकापृष्ठतश्च यथा ग्रन्थिर्दातुं शक्यते तथा कर्त्तव्यं,

१ °णिस्सट्ठं आ., °णीसिट्ठं ल २ । २ 'अणिसिट्ठं' आ. ।

पु॰ ...मिया यथा यावन्मात्र पूरयति तथा कर्तव्यम्, 'त्रिपासित' त्रीणि वेष्टनानि दवरकेन दत्त्वा पासित पाशबन्धनेन।
...मेव स्रोक भाष्यकारो व्याचष्टे—

...ाढ मिउ पैम्ह च पडिपुन्न हत्थपूरिम । रैयणिप्पमाणमित्त कुज्जा पोरपरिग्गह ॥३२२॥ (भा०)

'अप्पोढ' दवेष्टनाद् घनवेष्टनात् कारणात्, मृदु पक्ष्म च कर्तव्य—मृदूनि दशिकापक्ष्माणि क्रियन्ते । 'प्रतिपूर्णं' सद् भावेन निष्पादयेन युक्त सत् हस्त पूरयति यथा तथा कर्तव्यम् । तथा 'रत्निप्रमाणमात्रं' यथा दण्डो हस्तप्रमाणो भवति तथा कर्तव्यम् । 'कुज्जा पोरपरिग्गहं'ति पोरम्—अङ्गुष्ठपर्व तस्मिन्नङ्गुष्ठपर्वणि अथवा प्रदेशिन्या यद्भवति छिद्रं तदप्यन्न पूर्यते तेन दण्डकेन अशनिपाद्यमहितेन तथा कर्तव्य, एवंविधं 'पोरपरिग्गह' अङ्गुष्ठपर्वप्रदेशिनीकुण्डलिकापूरण कर्तव्यमिति । इदानीं महुरापरूपस्यैव प्रमाण प्रतिपादयन्नाह—

बत्तीसङ्गुलदीह चउवीस अङ्गुलाइ दंडो से । अट्ठंगुला दसाओ एगयर हीणमहियं वा ॥ ७०९ ॥

द्वात्रिंशदङ्गुलानि सर्वमेव दैर्घ्येण प्रमाणतो भवति, तत्र च 'अस्य' रजोहरणस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलानि दण्डकः, अष्टाङ्गुल प्रमाणाश्च दशिका भवन्ति, 'एगतरं हीणमहियं वा' एकतरं दण्डकस्य दशिकायो वा कयाचिदोने प्रमाणतो भवति कदा—

१ एतामेव गाथां भाष्यकारव्याख्यानमिति—भा ... । २ ... । ३ ... । ४ ... । ५ ... अङ्गुलेनेति प्रतिस्थिता वा ... ।

च्चाधिकं भवति, सर्वथा समुदायतस्तद्द्वात्रिंशदङ्गुलं कर्त्तव्यम् । तच्च किम्मयं भवति ? इत्यत आह—

उण्णियं उट्टियं वावि कंबलं पायपुच्छणं । तिपरियल्लमणीसट्ठं रयहरणं धारये इक्कं ॥ ७१० ॥

तद्रजोहरणं कदाचिदूर्णामयं भवति कदाचिच्चोष्ट्रौर्णामयं भवति कदाचित्कम्बलमयं भवति, पादपुञ्छनशब्देन रजोहरणमेव गृह्यते, तदेवंगुणं भवति, 'तिपरियल्लं'ति त्रिःपरिवर्त्त—त्रयः परावर्त्तकाः—वेष्टनानि यथा भवन्ति तथा कर्त्तव्यम्, 'अणीसट्ठं'ति मृदु कर्त्तव्यं, तदेवंगुणं रजोहरणं धारयेदेकमेवेति । तेन च किं प्रयोजनमित्यत आह—

आयाणे निक्खेवे ठाणानिसीयण तुयट्टसंकोए । पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ७११ ॥

आदानं—ग्रहणं तत्र प्रमार्जनार्थं रजोहरणं गृह्यते निक्षेपो—न्यासः स्थानं—कायोत्सर्गः निषीदनम्—उपविशनं तुयट्टणं—शयनं सङ्कोचनं—जानुसंदंशकादेः, एतानि पूर्वं प्रमृज्य क्रियन्ते अतः पूर्वं प्रमार्जनार्थं रजोहरणग्रहणं क्रियते । लिङ्गमिति च कृत्वा रजोहरणधारणं क्रियते इति । इदानीं मुखवस्त्रिकाप्रमाणप्रतिपादनायाह—

चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उ पमाणं । बितियं मुहप्पमाणं गणणपमाणेण एक्केक्कं ॥७१२॥

चत्वार्यङ्गुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्रं मुखानन्तकस्य प्रमाणम्, अथवा इदं द्वितीयं प्रमाणं, यदुत मुखप्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंतयं, एतदुक्तं भवति—वसतिप्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते कृकाटिकापृष्ठतश्च यथा ग्रन्थिर्दातुं शक्यते तथा कर्त्तव्यं,

१ °णिस्सट्ठ आ., °णीसिट्ठं ल २ । २ 'अणिसिट्ठं' आ ।

पुप्फफलोदयरयरेणुसउणपरिहाररयापरक्खट्ठा । लिंगस्स य संवरणे वेदोदयरक्खणे पडला ॥ ७०३ ॥

मस्तमिते पात्रके पुष्पं निपतति तत्संरक्षणार्थं पटलानि गृह्यन्ते, तथा फलपातरक्षणार्थमुदकपातसंरक्षणार्थं च पटलग्रहण तथा रजः–सचित्तपृथिवीकायस्तत्संपातरक्षणार्थं च, रेणुः–धूलिस्तत्संपातसंरक्षणार्थं, शकुनपरिहारः–शकुनपुरीष तद् कदाचि दाकाशान्निपतति तत्पातसंरक्षणार्थं, लिङ्गसंवरणार्थं लिङ्गस्थगन च [1]वैस्तमुदीर्णैर्भवति, तथा पुरुषवेदोदये सति तस्यैव स्तम्भता भवति तत्संरक्षणं स्थगन तदर्थं च पटलानि भवन्तीति । इदानीं रजस्त्राणप्रमाणप्रतिपादनायाह—

माणं तु रयत्ताणे भाणपमाणेण होइ निप्फन्नं । पायाहिणं करेंत मज्झे चउरंगुलं कमइ ॥ ७०४ ॥

'मान' प्रमाणं रजस्त्राणस्य 'भाजनप्रमाणेन' पात्रकप्रमाणेन भवति–'निष्पद्यते, एवदुक्तं भवति–पात्रकानुरूपं रजस्त्राणं भवति, तच्च रजस्त्राणं पात्रके[3] कथं दीयते ? अत आह–प्रदक्षिणां कुर्वाणं मध्ये तिर्यग् दीयते, 'मध्ये' प्रपूरकेन चत्वार्यङ्गुलानि 'क्रामति' गच्छति प्रदक्षिणां कुर्वाणमिति । इदानीमस्यैव प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

मूसयरयउक्केरे वासे सिण्हा रए य रक्खट्ठा । होंति गुणा रयत्ताणे पादे पादे य एक्केक्कं ॥ ७०५ ॥

तच्च रजस्त्राणं दीयते मूषिकरजउत्करसंरक्षणार्थं वर्षोदकसंरक्षणार्थं, [4]सिण्हा–अवश्याय स्तत्संरक्षणार्थं रेजः सचित्तः पृथिवी कायः तत्संरक्षणार्थं [5]भवन्ति गुणा रजस्त्राणस्यैते, तच्च पात्रे पात्रे चैकैकं भवतीति । इदानीं कल्पप्रमाणप्रमाणप्रतिपादनायाह–

१ वैर्मवति आ पा. । २ एतदुं आ., निष्पद्यं एत" क. २ पा ३ । ३ पात्रकस्य कथं आ । ४ सीहः–आ म २ । ५ भवन्ति आ ।

कप्पा आयपमाणा अड्ढाइज्जा उ वित्थडा हत्था। दो चेव सोत्तिया उन्निओ य तइओ मुणेयव्वो ॥७०६॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः, एतदुक्तं भवति–यावन्मात्राः प्रावृताः स्कन्धे[1] प्रक्षिप्ताः तिष्ठन्ति, एतावदात्मप्रमाणमर्द्धतृतीयांस्तु विस्तृता हस्तान्, तत्र द्वौ सौत्रिकौ भवतः और्णिकश्च तृतीयो विज्ञेयः। इदानीं तत्प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

तणगहणानलसेवानिवारणा धम्मसुक्कझाणट्ठा। दिट्ठं कप्पग्गहणं गिलाणमरणट्ठया चेव॥ ७०७ ॥

तृणग्रहणनिवारणार्थं गृह्यन्ते, अनलः–अग्निस्तत्सेवानिवारणार्थं च, एतदुक्तं भवति–कल्पाग्रहणे तृणग्रहणमग्निसेवनं च भवति, तन्निवारणार्थं कल्पग्रहणं क्रियते, तथा धर्मशुक्लध्यानार्थं कल्पग्रहणं भवति, एतदुक्तं भवति–शीतादिना बाध्यमानो धर्मशुक्लध्याने ध्यातुमसमर्थो भवति यदि कल्पग्रहणं[2] न करोति, अत एवमर्थं दृष्टं कल्पग्रहणं, तथा ग्लानसंरक्षणार्थं मरणार्थं च मृतस्योपरि दीयते कल्पः एतदर्थं च ग्रहणमिति। इदानीं रजोहरणस्वरूपप्रतिपादनायाह—

घणं मूले थिरं मज्झे अग्गे मद्दवजुत्तया। एगंगियं अज्झुसिरं पोरायामं तिपासियं॥ ७०८ ॥

मूले दण्डपर्यन्ते 'घनं' निबिडं भवति 'मध्ये' मध्यप्रदेशे स्थिरं कर्त्तव्यम् 'अग्गे' दसिकापर्यन्ते 'मार्दवयुक्तं' मृदु कर्त्तव्यम्, 'एकाङ्गिकं' तज्जातदसिक सदसिकाकम्बलीखण्डनिष्पादितमित्यर्थः। 'अज्झुसिरं' अग्गंथिला दशिका निषद्या च यस्य तदशुषिरम्, 'पोरायामं'ति अङ्गुष्ठपर्वणि प्रतिष्ठितायाः प्रदेशिन्या यावन्मात्रं शुषिरं भवति तदापूरकं कर्त्तव्यं, दण्डि[3]-

१ स्कन्धस्योपरि प्रक्षि° आ पा १ पु। २ कल्पान्न गृह्णाति, अत आ पा १ २ पु.। ३ दशिका° ल. १ पु.।

कापुका निषया यथा तावन्मात्र पूरयति तथा कर्त्तव्यम्, 'त्रिपासित' त्रीणि वेष्टनानि दवरकेन दत्त्वा पासित पाशबन्धनेन। किम अमुमेव स्लोक भाष्यकारो व्याचष्टे—

अप्पोछ्छ मिउ पेम्ह च पडिपुत्र हत्थपूरिम । रयणिप्पमाणमित्त कुज्जा पोरपरिग्गह ॥४२२॥ (भा०)

'अप्पोछ्छ' स्वेष्टनात् घनवेष्टनात् कारणात्, मृदु पक्ष्म च कर्त्तव्य–मृदूनि दशिकापक्ष्माणि क्रियन्ते। 'प्रतिपूर्ण' सद् वायेन निषयाद्वयेन प्रक्त सत् हस्त पूरयति यथा तथा कर्त्तव्यम्। तथा 'रत्निप्रमाणमात्रं' यथा दण्डो हस्तप्रमाणो भवति तथा कर्त्तव्यम्। 'कुज्जा पोरपरिग्गह'ति पोरम्–अङ्गुष्ठपर्व तस्मिन्नङ्गुष्ठपर्वणि तथा प्रदेशिन्या यद्भवति छिद्रं तथया पूर्यते तेन दण्डकेन पादनिषयाद्वयमवितेन तथा कर्त्तव्य, एवंविध 'पोरपरिग्गह' अङ्गुष्ठपर्वप्रदेशिनीकुण्डलिकापूरण कर्त्तव्यमिति। इदानीं मुखदापरूपस्यैव प्रमाणं प्रतिपादयन्नाह—

बत्तीसङ्गुलदीह चउवीस अङ्गुलाइ दडो से । अट्ठङ्गुला दसाओ एगयर हीणमहिय वा ॥ ७०९ ॥

द्वात्रिंशदङ्गुलानि सर्वमेव दैर्घ्येण प्रमाणतो भवति, तत्र च 'अस्य' रजोहरणस्य चतुर्विंशत्यङ्गुलानि दण्डका, अष्टाङ्गुल प्रमाणकाश्च दशिका भवन्ति, 'एगयरं हीणमहिय वा' एकतरं दण्डकस्य दशिकानां वा कदाचिद्धीनं प्रमाणतो भवति कदा–

१ एतामेव गाथा भाष्यकृद्व्याख्यातवति–क १–२। २ पोमे घ. २। ३ "रयणीपमाण" आ.। ४ किमित्याकिर्के भवति तथा पा १। ५ तथा अङ्गुष्ठेति प्रतिशिना वा प्रदेशिनी तत्परिग्गह कुज्जा क १।

चिचाधिकं भवति, सर्वथा समुदायतस्तद्द्वात्रिंशदङ्गुलं कर्त्तव्यम् । तच्च किम्मयं भवति ? इत्यत आह—

उण्णियं उट्टियं वावि कंबलं पायपुञ्छणं । तिपरियल्लमणीसट्ठं रयहरणं धारये इक्कं ॥ ७१० ॥

तद्रजोहरणं कदाचिदूर्णामयं भवति कदाचिच्चोष्ट्रौर्णामयं भवति कदाचित्कम्बलमयं भवति, पादपुञ्छनशब्देन रजोहरणमेव गृह्यते, तदेवंगुणं भवति, 'तिपरियल्लं'ति त्रिःपरिवर्त्त-त्रयः परावर्त्तकाः-वेष्टनानि यथा भवन्ति तथा कर्त्तव्यम्, 'अणीसट्ठं'ति मृदु कर्त्तव्यं, तदेवंगुणं रजोहरणं धारयेदेकमेवेति । तेन च किं प्रयोजनमित्यत आह—

आयाणे निक्खेवे ठाणनिसीयण तुयट्टसंकोए । पुव्वं पमज्जणट्ठा लिंगट्ठा चेव रयहरणं ॥ ७११ ॥

आदानं-ग्रहणं तत्र प्रमार्जनार्थं रजोहरणं गृह्यते निक्षेपो-न्यासः स्थानं-कायोत्सर्गः निषीदनम्-उपविशनं तुयट्टणं-शयनं सङ्कोचनं-जानुसंदंशकादेः, एतानि पूर्वं प्रमृज्य क्रियन्ते अतः पूर्वं प्रमार्जनार्थं रजोहरणग्रहणं क्रियते । लिङ्गमिति च कृत्वा रजोहरणधारणं क्रियते इति । इदानीं मुखवस्त्रिकाप्रमाणप्रतिपादनायाह—

चउरंगुलं विहत्थी एयं मुहणंतगस्स उ पमाणं । बितियं मुहप्पमाणं गणणपमाणेण एक्केक्कं ॥७१२॥

चत्वार्यङ्गुलानि वितस्तिश्चेति, एतच्चतुरस्रं मुखानन्तकस्य प्रमाणम्, अथवा इदं द्वितीयं प्रमाणं, यदुत मुखप्रमाणं कर्त्तव्यं मुहणंतयं, एतदुक्तं भवति-वसतिप्रमार्जनादौ यथा मुखं प्रच्छाद्यते कृकाटिकापृष्ठतश्च यथा ग्रन्थिर्दातुं शक्यते तथा कर्त्तव्यं,

---

१ °णिस्सट्ठ आ., °णीसिट्ठं ल २ । २ 'अणिसिट्ठं' आ ।

भ्यसं कोणद्वये गृहीत्वा यथा कृकाटिकायां ग्रन्थिर्शतु बध्यते तथा कर्तव्यमिति, एतद्वितीय प्रमाण, गमनाप्रमाणेन पुन स्तदेकैकमेव मुखानन्तकं भवतीति। इदानीं तत्प्रयोजनप्रतिपादनायाह—

संपातिमरयरेणूपमज्जणट्ठा वयंति मुहपोत्तिं। नासं मुहं च बंधइ तीए वसहिं पमज्जंतो ॥ ७१३ ॥

संपातिमसत्त्वरक्षणार्थं जल्पद्भिर्मुखे दीयते, तथा रजः—सचित्तपृथिवीकायस्तत्प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिका गृह्यते, तथा रेणु प्रमार्जनार्थं मुखवस्त्रिकाग्रहणं प्रतिपादयन्ति पूर्वर्षयः। तथा नासिकां मुखं च बध्नाति तया मुखवस्त्रिकया वसतिं प्रमार्जयन् येन न मुखादौ रजः प्रविशतीति। इदानीं मात्रकप्रमाणप्रतिपादनायाह—

जो मागहओ पत्थो सविसेसतरं तु मत्तयपमाणं। दोसुवि दव्वग्गहणं वासावासासु अहिगारो ॥७१४॥

यो मागधिकः प्रस्थस्तत्सविशेषतरं मात्रकं भवति, स च मागधिकप्रस्थः दो असईओ पसई दो पसतिओ सेतिया चउसेइयाहिं कुलवो मागहओ पत्थो सो जारिसो तु पमाणेन तारिसं सविसेसतरं मत्तयं हवति। तेन च किं प्रयोजनमित्यत आह—'दोसुवि' द्वयोरपि वर्षावर्षयोर्भदाऽऽचार्यादिप्रायोग्यद्रव्य ग्रहणं क्रियते प्रथमाधिकारस्तस्य मात्रकस्येति, इद प्रयोजन मित्यर्थः। अथवेदमन्यत्प्रमाणमुच्यते—

सूवोदणस्स भरियं दुगाउ अद्धाणमागओ साहू। भुंजइ एगट्ठाणे एयं किर मत्तयपमाणं ॥ ७१५ ॥

१ यति का. ख १ २। २ मागहो पत्थो का। ३ "वर्षासु—वर्षाकालऋतुबद्धकालयोरेवं" का. पा. २। ४ भरिय दु° का।

सूपस्य ओदनस्य च भृतं द्विगव्यूताध्वानादागतः साधुर्भुङ्क्ते यदेकस्मिन् स्थाने तदेतत् किल मात्रकस्य द्वितीयं प्रमाणमुक्तं । आह–कस्मादुक्तप्रमाणाल्लघुतरं न क्रियते ?, उच्यते, लघुतरे दोषा भवन्ति—

संपाइमतसपाणा धूलिसरक्खे[1] य परिगलंतंमि । पुढविदगअगणिमारुयउद्धंसणखिंसणा डहरे ॥७१६॥

अतिलघुनि मात्रके च आहारेण भृते सति यदि तदाच्छादनमुत्क्षिप्यते ततः शुषिरेण संपातिमत्रसप्राणा धूलिश्च सरजस्कः–छारः, एते प्रविशन्ति, तथा परिगलमाने च तद्द्रव्यसंपातेन पृथिव्युदकाग्निमारुतानां वधः संभाव्यते, उद्धंसणो–वधो भवति, तथा 'खिंसणा' परिभवो भवतीति, यदुतानेन प्रव्रजितेन अतृप्तेनैतावद्गृहीतं येनैतद्भक्तमितश्चेतश्च विक्षिपन् प्रयातीति, ततश्च डहरके मात्रके एते दोषा यतो भवन्तीति ततः पूर्वोक्तप्रमाणयुक्तमेव ग्राह्यमिति । इदानीमाचार्यादिप्रायोग्यग्रहणनिमित्तं मात्रकस्यानुज्ञां प्रतिपादनायाह—

आयरिए य गिलाणे पाहुणए दुल्लभे सहसदाणे । संसत्तभत्तपाणे मत्तगपरिभोगणुण्णाओ ॥७१७॥

आचार्यप्रायोग्यग्रहणे तथा ग्लानप्राघूर्णकप्रायोग्यग्रहणे तथा दुर्लभघृतादिद्रव्यग्रहणे सहसादानग्रहणे तथा संसक्तभक्तपानग्रहणे च मात्रकस्य परिभोगोऽनुज्ञातो नान्यदेति, तस्य च मात्रकस्यानेन क्रमेण परिभोगः कर्त्तव्यः, यद्याचार्यस्य तस्मिन् क्षेत्रे ध्रुवः लम्भः प्रायोग्यस्य तदा एक एव सङ्घाटकः प्रायोग्यं गृह्णाति न सर्वे[2] । तत्र एकस्य सङ्घाटकस्याचार्य-

[1] °रिक्खे य आ ल १–२ । [2] एते आ. ।

प्रायोग्य गृहतः को विधिरित्यत आह—

एक्कमि उ पाउग्गं गुरुणो वितिओग्गहे य पडिकुट्ठं। गिण्हइ संघाडेगो धुवलंभे सेस उभयंपि ॥७१८॥

एकस्मिन् प्रतिग्रहके प्रायोग्यं गुरोर्गृह्णाति 'बितिओग्गहे य'त्ति द्वितीयप्रतिग्रहके 'पडिकुट्ठ'त्ति प्रतिषिद्ध पर्त्संसक्तादि गृह्णाति, अथवा 'पडिकुट्ठ' विरुद्ध पक्काम्लिकाअम्लिलादि तद्द्वितीयप्रतिग्रहके गृह्णाति एक एव संघाटकः। कदा पुनरय विधिरित्यत आह—' धुवलम्भे' ध्रुवे-अवश्यम्भाविनि प्रायोग्यलाभे सत्ययं विधिः, 'सेस उभयंपि'त्ति शेषा-येऽन्ये संघाट कास्ते आत्मार्थमुभयमपि-भक्तं पानकं च गृह्णन्ति, एकः पानकमेकस्मिन् प्रतिग्रहके गृह्णाति द्वितीयश्च भक्तं गृह्णाति, एवं सर्वेऽपि संघाटका भिक्षामटन्तीति, तत्रैव मात्रकग्रहणं न संजातमिति। अथ ध्रुवलम्भः प्रायोग्यस्य न तस्मिन् क्षेत्रे ततः को विधिरित्यत आह—

असई लाभे पुण मत्तएसु सव्वे गुरूण गिण्हंति। एसेव कमो नियमा गिलाणसेहाइएसुंपि ॥७१९॥

असति लम्भे पुनः प्रायोग्यस्य सर्व एव संघाटका मात्रकेषु गुरोः प्रायोग्यं गृह्णन्ति, यतो न ज्ञायते कः[1] किं लप्स्यते आहोस्वित्[2] सर्व एव गृह्णन्ति, एष एव क्रमो[3] नियमत एव ग्लानशैक्षकादिष्वपीति। अथवा—

दुल्लभदव्वं व सिया घयाइ तं मत्तएसु गिण्हंति। लद्धेवि [illegible] पज्जत्ते असथरे सेसगट्ठाए ॥ ७२० ॥

---

1 ऐ न लम्भे ना. पा. । 2 "पीति ना. । 3 विपक्षिण्यते क्व [illegible] । 4 गृह्णन्ति ना. । 5 'नियमत' [illegible]

दुर्लभं वा द्रव्यं स्याद् घृतादि तन्मात्रकेषु गृह्णन्ति । तथा लब्धेऽपि भक्ते पर्याप्तेऽपि भक्ते आत्मार्थं तथाऽपि यदि न संस्तरति ग्लानवृद्धादीनां ततोऽसंस्तरणे सति–न सरति ग्लानादिभक्तार्थं तावत्पर्यटन्ति यावत्पर्याप्तं भक्तं ग्लानादीनां भवतीति । अथवाऽनेन प्रकारेण मात्रकग्रहणं संभवति—

संसत्तभत्तपाणेसु वावि देसेसु मत्तए गहणं । पुव्वं तु भत्तपाणं सोहेउ छुहंति इयरेसु ॥ ७२१ ॥

यत्र देशेषु स्वभावेनैव संसक्तभक्तपानं संभाव्यते, तेषु संसक्तभक्तपानेषु देशेषु सत्सु प्रथमं मात्रके ग्रहणं क्रियते, पुनश्च तत्पूर्वमेव भक्तपानं शोधयित्वा प्रक्षिपन्ति इतरेषु प्रतिग्रहकेषु, ततश्चैवं वा मात्रकग्रहणं संभवति । इदानीं चोलपट्टकप्रमाण-प्रतिपादनायाह—

दुगुणो चउग्गुणो वा हत्था चउरंसचोलपट्टो उ । थेरजुवाणाणट्ठा सण्हे थुल्लंमि य विभासा ॥७२२॥

द्विगुणश्चतुर्गुणो वा कृतः सन् यथा हस्तप्रमाणश्चतुरस्रश्च भवति तथा चोलपट्टकः कर्त्तव्यः, कस्यार्थमित्यत आह–'थेरजुवाणाणट्ठा' स्थविराणां यूनां चार्थाय कर्त्तव्यः, स्थविराणां द्विहस्तो यूनां च चतुर्हस्त इति भावना, 'सण्हे थुल्लंमि य विभास'त्ति, यदि परमयं विशेषः, यदुत स्थविराणां श्लक्ष्णोऽसावेव चोलपट्टकः क्रियते यूनां पुनः स्थूल इति । किमर्थं पुनरसौ चोलपट्टकः क्रियते ?, इत्यत आह—

१ पर्याप्ते आत्मा॰ आ । २ न सरति ग्ला॰ आ पा १–२ । ३ ग्लानवृद्धादिशेषार्थं तावत्॰ आ. पा. १–२ । ४ सम्भाव्यते, आ । ५ विसेसो'त्ति ल १–२ ।

वेउव्व वाउडे वातिए हिए खद्धपजणणे चेव। तेसिं अणुग्गहट्ठा लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ ७२३ ॥

यस्य साधोः प्रजनन वैक्रिय भवति विकृतमित्यर्थः, यथा दाक्षिणात्यपुरुषाणां वोधार्थं विध्यते प्रजनन तच्च विकृत भवति ततश्च तत्प्रच्छादनार्थमनुग्रहाय चोलपट्टकः क्रियते, तथाऽप्रावृते कश्चिद् वातिको भवति वातेन तत्प्रजननमुच्छून भवति ततश्च तदनुग्रहायानुग्रहः, तथा 'ह्रीकः' लज्जालुः कश्चिद् भवति तदर्थं, तथा 'खद्ध'ति बृहत्प्रमाण स्वभावेनैव कस्य चित्प्रजनन भवति तदर्थमेतेषामनुग्रहार्थं, तथा लिङ्गोदयार्थं च, कदाचित्स्त्रिय दृष्ट्वा लिङ्गस्योदयो भवति, अथवा तस्या एव स्त्रिया लिङ्ग दृष्ट्वा उदयः स्वलिङ्गस्य भवति—स प्रत्यभिलाषो भवतीत्यर्थः, तदर्थमेतेषामनुग्रहार्थं चोलपट्टकग्रहणमुपदिष्टमिति। उक्त ओघोपधिः, इदानीमौपग्रहिकोपधिप्रतिपादनायाह—

सयारुत्तरपट्टो अड्ढाइज्जा य आयया हत्था। दोण्हपि य वित्थारो हत्थो चउरंगुलं चेव ॥ ७२४ ॥

संस्तारकस्तथोत्तरपट्टकश्च एतौ द्वावप्येकैकोऽर्धतृतीयहस्तौ दैर्घ्येण प्रमाणतो भवतः, तथा द्वयोरप्यनयोर्विस्तारो हस्त चत्वारि चाङ्गुलानि भवतीति। आह—किं पुनरेभिः प्रयोजन संस्तारकादिभिः पट्टकैः ?, उच्यते—

पाणादिरेणुसारक्खणट्ठया होंति पट्टगा चउरो। छप्पइयरक्खणट्ठा तत्थुवरिं खोमियं कुज्जा ॥ ७२५ ॥

प्राणिरेणुसंरक्षणार्थं पट्टका गृह्यन्ते, प्राणिनः पृथिव्यादयः, रेणुश्च—रजश्च शरीरे लगति अतस्तद्रक्षणार्थं पट्टकग्रहणं,

१ वेउव्विवाउडे आ. पु.। २ वैकुर्वं आ० वैकार्यं पा० १-२ वोधार्थं च २।

ते चत्वारो भवन्ति, द्वौ संस्तारकोत्तरपट्टकावुक्तावेव, तृतीयो रजोहरणबाह्यनिषद्यापट्टकः पूर्वोक्त एव, चतुर्थः क्षौमिक एवाभ्यन्तरनिषद्यापट्टको वक्ष्यमाणकः, एते चत्वारोऽपि प्राणिसंरक्षणार्थं गृह्यन्ते, तत्र षट्पदीरक्षणार्थं तस्य कम्बलीसंस्तारकस्योपरि खोमियं–संस्तारकपट्टकं कुर्याद् येन शरीरकम्बलीमयसंस्तारकसंघर्षेण षट्पदा न विराध्यन्त इति । इदानीमभ्यन्तरक्षौमनिषद्याप्रमाणप्रतिपादनायाह—

रयहरणपट्टमेत्ता अदसागा किंचि वा समतिरेगा । एक्कगुणा उ निसेज्जा हत्थपमाणा सपच्छागा॥ ७२६॥

स रजोहरणपट्टकोऽभिधीयते यत्र दशिका लग्नाः, तत्प्रमाणा 'अदशागा' दशिकारहिता क्षौमा रजोहरणाभ्यन्तरनिषद्या भवति, 'किंचि वा समतिरेग'त्ति किञ्चिन्मात्रेण वा समधिका तस्य रजोहरणपट्टकस्य भवतीति, 'एकगुण'त्ति एकैव सा निषद्या भवतीति, हस्तप्रमाणा च पृथुत्वेन भवति, 'सपच्छाग'त्ति सह बाह्यया निषद्यया हस्तप्रमाणया भवतीति, एतदुक्तं भवति बाह्याऽपि निषद्या हस्तमात्रैव ।

वासोवग्गहिओ पुण दुगुणो उवही उ वासकप्पाई । आयासंजमहेउं एक्कगुणा सेसओ होइ ॥७२७॥

वर्षासु—वर्षाकाले औपग्रहिकः उपधिर्द्विगुणो भवति, कश्चासौ ?–वर्षाकल्पादिः, आदिग्रहणात् पटलानि, जो जो बाहिरे हिंडंतस्स तिम्मति सो सो दुगुणो होइ, एक्को[1] तिन्नो पुणो अन्नो घेप्पइ, स च वर्षाकल्पादिर्द्विगुणो भवति, आत्मरक्षणार्थं

1 एकोत्ति पुणो आ. ।

संयमरक्षणार्थं च, तत्रात्मसंरक्षण यथोक्तगुणा एव कल्पादयो भवन्ति ततश्च तेहिं तिभेहिं पोट्टलछेप्पं भरति, संयमरक्खणत्थ नइ एक चेव कप्प अवमइल ओढेऊण नीहरइ तो तस्स कप्पस्स जं पाविय पढइ तिभस्स तेण आउकाओ विराहिज्जइ, शेष स्त्वधिरेकगुण एव भवति न द्विगुण इति। किञ्च—

ज पुण सपमाणाओ ईसिं हीणाहिय व लब्भेज्जा। उभयपि अहाकडय न सधणा तस्स छेदो वा ॥७२८॥

यत्पुनः कल्पादिकमकरण स्वप्रमाणादीषद्धीनमधिक वा लभ्येत, तदुभयमिति—ओहियस्स उवग्गहियस्स वा यद्विना उभय वदेव हीनमधिकं वा लब्ध तत् 'अहाकडं' यथाकृतमल्पपरिकर्म यल्लभ्यते तस्य न सन्धना क्रियते हीनस्य तथा न छेदः क्रियतेऽधिकस्य। किञ्च—

दडए लट्ठिया चेव चम्मए चम्मकोसए। चम्मछेदेण पट्टे चिलिमिली धारए गुरू ॥ ७२९ ॥

अयमपर औपग्रहिकोपधिः साधोः, साधोभावधिर्दण्डको भवति, दण्डकश्च यष्टिश्च वैतस्ब्वाद्यपिहिमेति, अय सर्वेषामेव पृथक् पृथगोपग्रहिकः, अयमपरो गुरोरेवौपग्रहिका, कथासौ ?—'चम्मए'त्ति चर्मकृतिः छवविया चर्मकोशकः यस्य नहरणाई छुन्मति, तथा 'चर्मछेदनक' वध्रपट्टिका, यदि वा 'चर्मच्छेदनकं' पिप्पलकादि, तथा 'पट्टे'त्ति योगपट्टकः चिलिमिली चेति,

१ रक्षणार्थं ख्रा पा १ २. पु.। २ भिल्लवाड ख्रा पा १। ३ लमए वधि त्ति ख १। ४ हिमे भवति पा खा.। ५ वेतस्व्वादि' खा. पा. १-२। ६ 'च्छेदनं' बदौप ख्रा पा. १-२।

एतानि चर्मादीनि गुरोरौपग्रहिकोऽवधिर्भवतीति ।

जं चण्ण एवमादी तवसंजमसाहगं जइजणस्स । ओहाइरेगगहियं ओवग्गहियं वियाणाहि ॥७३०॥

यच्चान्यद्वस्तु, एवंमादि उपानहादि तपःसंयमयोः साधकं यतिजनस्य ओघोपधेरतिरिक्तं गृहीतमौपग्रहिकं तद्वि-जानीहि । इदानीं यदुक्तं 'यष्ट्यादि औपग्रहिकं भवति साधूनां' तत्स्वरूपं प्रतिपादनायाह—

लट्ठी आयपमाणा विलट्ठि चउरंगुलेण परिहीणा । दंडो बाहुपमाणो विदंडओ कक्खमेत्तो उ ॥७३१॥

यष्टिरात्मप्रमाणा, वियष्टिरात्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूना भवति, दण्डको 'बाहुप्रमाणः' स्कन्धप्रमाणः, विदण्डकः कक्षा-प्रमाणोऽन्या नालिका भवति आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैरतिरिक्ता, तत्थ नालियाए जलं ओत्थग्घिज्जइ[1], लट्ठीए जवणिया बज्झइ, विलट्ठी कहंचि उवस्सयबारघट्टणी होइ, दंडओ रिउबद्धे घेप्पति भिक्खं भमंतेहिं, विदंडओ वरिसाकाले घेप्पइ, जं सो लहुओ[2] होइ कप्पस्स अब्भिंतरे कियओ[3] निज्जइ जेण आउकाएण न फुसिज्जइत्ति । इदानीं यष्टिलक्षणप्रतिपादनायाह—

एक्कपव्वं पसंसंति, दुपव्वा कलहकारिया । तिपव्वा लाभसंपन्ना, चउपव्वा मारणंतिया ॥ ७३२ ॥

पंचपव्वा उ जा लट्ठी, पंथे कलहनिवारणी । छव्वपव्वा य आयंको सत्तपव्वा निरोगिया ॥ ७३३ ॥

चउरंगुलपइट्ठाणा, अट्ठंगुलसमूसिया । सत्तपव्वा उ जा लट्ठी मत्तगयनिवारिणी ॥ ७३४ ॥

१ जलयाओ गिज्झइ आ. । २ °हुयरओ होइ आ. पा. १, हुयदडओ कप्पस्स पा २ । ३ कयओ आ. ।

संयमरक्षणार्थं च, तत्रात्मसंरक्षणं यथैकगुणा एव कल्पादयो भवन्ति ततश्च तेहिं तिभेहिं पोट्टमलेण मरति, संयमरक्खणत्थ मइ एक्क चेव कप्प अहमइल ओढेऊण नीहरइ तो तस्स कप्पस्स य पाणिय पडइ तिमस्स तेण आउक्काओ विणासिज्जइ, शेष स्वतन्त्रिरेकगुण एव भवति न द्विगुण इति। किञ्च—

न पुण सपमाणाओ इसिं हीणाहिय च लब्भेज्जा। उभयपि अहाकडय न सघणा तस्स छेदो वा ॥७२८॥

यस्तुनः कल्पादिकमुपकरणं स्वप्रमाणादीषद्धीनमधिकं वा लभ्येत, तदुभयमिति—ओहियस्स उवग्गहियस्स वा यदिवा उभयं तदेव हीनमधिकं वा लब्धं सत् 'यथाकृतं' यथाकृतमल्पपरिकर्म यल्लभ्यते तस्य न सन्धना क्रियते हीनस्य तथा न छेदः क्रियतेऽधिकस्य। किञ्च—

दण्डए लट्ठिया चेव चम्मए चम्मकोसए। चम्मछेदेण पट्टे चिलिमिली धारए गुरू ॥ ७२९ ॥

अपमपर औपग्रहिकोपधिः साधोः, साधोश्चापधिर्दण्डको भवति, दण्डकश्च यष्टिश्च चैवशब्दाद्वियष्टिश्चेति, अयं सर्वेषामेव पृथक् पृथगौपग्रहिकः, अयमपरो गुरोरेवौपग्रहिकः, कथमसौ ?—'चम्मए'त्ति चर्मकृतिः तलिका चर्मकोशकः यस्य नहरणादि छुब्भति, तथा 'चर्मछेदनकं' वध्रपट्टिका, यदि वा 'चर्मच्छेदनकं' पिप्पलकादि, तथा 'पट्टे'त्ति योगपट्टकः चिलिमिली चेति,

१ एवमर्थ वा. पा १ २. पु. । २ विभस्स वा पा १ । ३ दणए चेवे त्ति क १ । ४ हिमे भवति पा वा । ५ चेवमन्नाहिं° वा पा १–२। ६ °चोरा' वर्चस' वा पा. १–२।

एतानि चर्मादीनि गुरोरौपग्रहिकोऽवधिर्भवतीति ।

जं चण्ण एवमादी तवसंजमसाहगं जइजणस्स । ओहाइरेगगहियं ओवग्गहियं वियाणाहि ॥७३०॥

यच्चान्यद्वस्तु, एवमादि उपानहादि तपःसंयमयोः साधकं यतिजनस्य ओघोपधेरतिरिक्तं गृहीतमौपग्रहिकं तद्विजानीहि । इदानीं यदुक्त 'यष्ट्यादि औपग्रहिकं भवति साधूनां' तत्स्वरूपं प्रतिपादनायाह—

लट्ठी आयपमाणा विलट्ठि चउरंगुलेण परिहीणा । दंडो बाहुपमाणो विदंडओ कक्खमेत्तो उ ॥७३१॥

यष्टिरात्मप्रमाणा, वियष्टिरात्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैर्न्यूना भवति, दण्डको 'बाहुप्रमाणः' स्कन्धप्रमाणः, विदण्डकः कक्षाप्रमाणोऽन्या नालिका भवति आत्मप्रमाणाच्चतुर्भिरङ्गुलैरतिरिक्ता, तत्थ नालियाए जलं ओत्थग्घिज्जइ, लट्ठीए जवणिया बज्झइ, विलट्ठी कहंचि उवस्सयबारघट्टणी होइ, दंडओ रिउबद्धे घेप्पति भिक्खं भमंतेहिं, विदंडओ वरिसाकाले घेप्पइ, जं सो लहुओ होइ कप्पस्स अब्भिंतरे कीयओ निज्जइ जेण आउकाएण न फुसिज्जईत्ति । इदानीं यष्टिलक्षणप्रतिपादनायाह—

एक्कपव्वं पसंसंति, दुपव्वा कलहकारिया । तिपव्वा लाभसंपन्ना, चउपव्वा मारणंतिया ॥ ७३२ ॥

पंचपव्वा उ जा लट्ठी, पंथे कलहनिवारणी । छच्चपव्वा य आयंको सत्तपव्वा निरोगिया ॥ ७३३ ॥

चउरंगुलपइट्ठाणा, अट्ठंगुलसमूसिया । सत्तपव्वा उ जा लट्ठी मत्तगयनिवारिणी ॥ ७३४ ॥

१ जलयाओ गिज्झइ आ । २ हुयरओ होइ आ पा १, हुयदडओ कप्पस्स पा २ । ३ कयओ आ. ।

अट्ठपवा असपत्ती, नवपद्मा जसकारिया । दसपवा उ जा लट्ठी, तद्दिय सव्वसपया ॥ ७३५ ॥
चका कीडक्खइया चित्तलिया पोल्लडा य दड्ढा य । लट्ठी य उब्भसुक्का वज्जेयव्वा पयत्तेण ॥ ७३६ ॥
विसमेसु य पव्वेसु अनिप्फन्नेसु अच्छिसु । फुडिया फरुसवन्ना य निस्सारा चेव निंदिया ॥ ७३७ ॥
तणूई पव्वमज्झेसु, थूला पोरेसु गठिला । अथिरा असारजरढा साणपाया य निंदिया ॥ ७३८ ॥
घणवद्धमाणपव्वा निद्धा वन्नेण एगवन्ना य । घणमसिणवट्टपोरा लट्ठि पसत्था जइजणस्स ॥ ७३९॥

चत्वार्यङ्गुलान्यष्टौ प्रतिष्ठान यस्या यष्टेः सा तथोच्यते, अष्टौ अङ्गुलानि पर्वोपरि उच्छ्रिता या सा अष्टाङ्गुलोच्छ्रिता । शेषं सुगमं । विषमेषु पर्वसु सत्सु यष्टिर्न ग्राह्या, एतदुक्तं भवति–एकं पर्व लघुप्रमाणं पुनर्ह्रस्वप्रमाणं पुनर्लघु पुनर्ह्रस्वमानमित्येवं या विषमपर्वा सा न शस्ता, तथाऽनिष्पन्नानि चाक्षीणि–बीजप्रदेशस्थानानि यस्याः सा निन्दिता, तथा स्फुटिता 'परुषवर्णा' रूक्षवर्णेत्यर्थः, तथा 'निःसारा' प्रधानगर्भरहितेत्यर्थः सैवंविधा निन्दितेति । तथैव च निन्दिता–तन्वी पर्वमध्येषु पौरमध्येषु च 'स्थूला' ग्रन्थियुक्ता, तथा 'अस्थिरा' अदृढा, तथा 'असारजरठा' अकालशुष्केत्यर्थः, तथा 'शणपादा' च अधः शणपादरूपा वर्तुला या यष्टिः सा निन्दितेति । इयं च प्रशस्ता घनानि वर्द्धमानानि च पर्वाणि यस्याः सा तथोच्यते, एवंविधा तथा स्निग्धा वर्णेन एकवर्णा च, तथा घनानि–निबिडानि मसृणानि वर्तुलानि च पोराणि यस्याः सा

१ विलम्बा खा. । २ पञ्चपुरा खा. पा १ पु. । ३ जहन्नेनं क १–२ । ४ पर्वो खा. । ५ पध्ये च खा. । ६ घनानि खा पा १ । ७ तथा ख पा. १ ।

तथोच्यते, एवंविधा यष्टिर्यतिजनस्य प्रशस्तेति । आह—किं पुनरनया कारणम् ?, उच्यते—

दुट्ठपसुसाणसावयविं[1]ज्जलविसमेसु उदगमं[2]ज्झेसु। लट्ठी सरीररक्खा तवसंजमसा[3]हिया भणिया ॥७४०॥

दुष्टाश्च ते पशवश्च श्वानश्च श्वापदाश्च तेषां संरक्षणार्थं यष्टिर्गृह्यते, तथा 'विंज्जलः' सकर्दमः प्रदेशः तथा विषमेषु रक्षार्थं, तथोदकमध्येषु च रक्षार्थं यष्टिग्रहणं क्रियते, तथा तपसः संयमस्य च साधिका यष्टिर्भणितेति । कथं तपःसंयमसाधिका ? इत्यत आह—

मोक्खट्ठा नाणाई तणू तयट्ठा तयट्ठिया लट्ठी। दिट्ठो जहोवयारो कारणतक्कारणेसु तहा ॥ ७४१ ॥

मोक्षार्थं ज्ञानादीनि इष्यन्ते, ज्ञानादीनां चार्थाय तनुः—शरीरमिष्यते, तदर्था च यष्टिः शरीरार्था यष्टिरित्यर्थः यतः शरीरं यष्ट्याद्युपकरणेन प्रतिपाल्यते, अत्र च कारणतत्कारणेषूपचारो दृष्टो यथा घृतं वर्षति अन्तरिक्षमिति, एवं मोक्षस्य ज्ञानादीनि कारणानि ज्ञानादीनां च तनुः कारणं शरीरस्य च यष्टिरिति । किञ्च—न केवलं ज्ञानादीनां यष्टिरुपकरणं वर्त्तते, अन्यदपि यज्ज्ञानादीनामुपकरोति तदेवोपकरणमुच्यते, एतदेवाह—

जं जुज्जइ उ[6]वगारे उवगरणं तं सि होइ उवगरणं। अतिरेगं अहिगरणं अज तो अजयं परिहरंतो ॥७४२॥

यदुपकरणं पात्रकादि उपकारे ज्ञानादीनामुपयुज्यते तदेवोपकरणं 'से' तस्य साधोर्भवति, यत्पुनरतिरेकं—ज्ञानादीनामुप-

१ °चिक्खलविस° आ. । २ °मग्गेसु ल १ । ३ °साहणी ल १–२ । ४ °चिक्खल.' आ । ५ °रार्येत्यर्थ. शरीरं यत यष्ट्या° आ पा १–२ पु. ।
६ उवकरणे उवगरणं आ. ।

धाराय न भवति तत्सर्वमधिकरण भवति, किं विशिष्टस्य सतः ?—'अयतः' अयत्नवान् 'अयतं' अयत्नया 'परिहरन्' प्रतिसेवमानस्तदुपकरणमधिकरण भवतीति। 'परिहरंतो'त्ति इय सामयिकी परिभाषा प्रतिसेवनार्थे वर्तत इति। किञ्च—

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं। उवहिं धारए भिक्खू, पगासपडिलेहणं ॥ ७४३ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं। उवहिं धारए भिक्खू, जोगाण साहणट्ठया ॥ ७४४ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं। उवहिं धारए भिक्खू, अप्पदुट्ठो अमुच्छिओ ॥ ७४५ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं। उवहिं धारए भिक्खू, सदा अज्झत्थसोहिए ॥ ७४६ ॥

अज्झत्थविसोहीए उवगरणं बाहिरं परिहरंतो। अप्परिग्गहीत्ति भणिओ जिणेहिं तेलुक्कदंसीहिं ॥७४७॥

एवंगुणविशिष्टामुपधिं धारयेद्भिक्षुः, किंविशिष्टमित्यत आह—'पगासपडिलेहणं' प्रकाशे—प्रकटप्रदेशे प्रत्युपेक्षणं क्रियते यस्या उपधेस्तामेवगुणविशिष्टामुपधिं धारयेत्, एतदुक्तं भवति—यस्याः प्रकटमेव कल्पाद्युपधेः प्रत्युपेक्षणा क्रियते न तु भरार्थमौरपाचौरभयादभ्यन्तरे या क्रियते सा तादृशी उपधिर्धारणीयेति। सुगमा, नवरं योगाः—संयमास्त्वा गृह्यन्ते तेषां साधनार्थमिति। सुगमा, नवरं अप्रद्विष्टः अमूर्च्छितश्च सन् धारयेत् साधुरिति। सुगमा, नवरम्—अध्यात्मविशुद्ध्या हेतुभूतया

१ सा॰ 'कर्म' म॰। २ ८। २ 'कर्म मन' आ॰। २ पा॰ पान्तु' आ॰।

धारयेत् । किञ्च–अध्यात्मविशुद्ध्या उपकरणं बाह्यं–पात्रकादि 'परिहरंतो' प्रतिसेवयन्नपरिग्रहिको भणितो जिनैस्त्रैलोक्यदर्शिभिः अतो यत्किञ्चिद्धर्मोपकरणं तत्परिग्रहो न भवति । अत्राह कश्चिद् बोटिकपक्षपाती–यद्युपकरणसहिता अपि निर्ग्रन्था उच्यन्ते एवं तर्हि गृहस्था अपि निर्ग्रन्थाः, यतस्तेऽपि उपकरणसहिता वर्त्तन्ते, अत्रोच्यते—

अज्झप्पविसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए । देसियमहिंसगत्तं जिणेहिं तेलोक्कदंसीहिं ॥ ७४८ ॥

नन्विदमुक्तमेव यदुताध्यात्मविशुद्ध्या सत्युपकरणे निर्ग्रन्थाः साधवः, किञ्च यद्यध्यात्मविशुद्धिर्नेष्यते ततः 'जीवनिकाएहिं संथडे लोए'त्ति जीवनिकायैः' जीवसङ्घातैरयं लोकः संस्तृतो वर्त्तते, ततश्च जीवनिकायसंस्तृते व्याप्ते लोके कथं नग्नकश्चङ्क्रमन् वधको न भवति यद्यध्यात्मविशुद्धिर्नेष्यते, तस्मादध्यात्मविशुद्ध्या देशितमहिंसकत्वं जिनैस्त्रैलोक्यदर्शिभिरिति । क्व प्रदर्शितं तदित्यत आह—

उच्चालियंमि पाए ईरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥ ७४९ ॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिओ समए । अणवज्जोउ पओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥७५०॥

'उच्चालिते' उत्पाटिते पादे सति ईर्यासमितस्य साधोः सङ्क्रमार्थमुत्पाटिते पादे इत्यत्र संबन्धः, व्यापद्येत संघट्टनपरितापनैः, कः ?–'कुलिङ्गी' कुत्सितानि लिङ्गानि–इन्द्रियाणि यस्यासौ कुलिङ्गी–द्वीन्द्रियादिः, स परिताप्येत उत्पाटिते पादे सति,

१ उपकरणं आ । २ ॰प्रहो भ॰ आ पा १ २ पु । ३ ॰त्यवि॰ पा १ पु । ४ ॰ट्टनादिना परिताप्येत, क ल. १ ।

धाराय न भवति तत्सर्वमधिकरणं भवति, किं विशिष्टस्य सतः ?—'अयतः' अयत्नवान् 'अयत' अयतनया 'परिहरन्' प्रतिसेवमानस्तदुपकरणमधिकरणं भवतीति । 'परिहरंतो'त्ति इयं सामयिकी परिभाषा प्रतिसेवनार्थे वर्तत इति । किञ्च—

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू, पगासपडिलेहणं ॥ ७४३ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू, जोगाणं साहणट्ठया ॥ ७४४ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू, अप्पदुट्ठो अमुच्छिओ ॥ ७४५ ॥

उग्गमउप्पायणासुद्धं एसणादोसवज्जियं । उवहिं धारए भिक्खू, सदा अज्झत्थसोहिए ॥ ७४६ ॥

अज्झत्थविसोहीए उवगरणं बाहिरं परिहरंतो । अप्परिग्गहीत्ति भणिओ जिणेहिं तेलुक्कदंसीहिं ॥७४७॥

एवंगुणविशिष्टामुपधिं धारयेद्भिक्षुः, किंविशिष्टामित्यत आह—'पगासपडिलेहणं' प्रकाशे—प्रकटप्रदेशे प्रत्युपेक्षणं क्रियते यस्या उपधेस्तामेवगुणविशिष्टामुपधिं धारयेत्, एतदुक्तं भवति—यस्याः प्रकटमेव कल्पाद्युपधेः प्रत्युपेक्षणा क्रियते न तु महार्घमौल्यामौरभयादभ्यन्तरे वा क्रियते सा तादृशी उपधिर्धारणीयेति । सुगमा, नवरं योगाः—संयमात्मका गृह्यन्ते तेषां साधनार्थमिति । सुगमा, नवरं अप्रद्विष्टः अमूर्च्छितश्च सन् धारयेत् साधुरिति । सुगमा, नवरम्—अध्यात्मविशुद्ध्या हेतुभूतया

१ मन 'बाहरं' अ. १-२. । २ बाह्यं मत° आ. । ३ ता बाहु° आ. ।

धारयेत् । किञ्च–अध्यात्मविशुद्ध्या उपकरणं बाह्यं–पात्रकादि 'परिहरंतो' प्रतिसेवयन्नपरिग्रहिको भणितो जिनैस्त्रैलोक्यदर्शिभिः अतो यत्किञ्चिद्धर्मोपकरणं तत्परिग्रहो न भवति । अत्राह कश्चिद् बोटिकपक्षपाती–यद्युपकरणसहिता अपि निर्ग्रन्था उच्यन्ते एवं तर्हि गृहस्था अपि निर्ग्रन्थाः, यतस्तेऽपि उपकरणसहिता वर्त्तन्ते, अत्रोच्यते—

अज्झप्पविसोहीए जीवनिकाएहिं संथडे लोए । देसियमहिंसगत्तं जिणेहिं तेलोक्कदंसीहिं ॥ ७४८ ॥

नन्विदमुक्तमेव यदुताध्यात्मविशुद्ध्या सत्युपकरणे निर्ग्रन्थाः साधवः, किञ्च यद्यध्यात्मविशुद्धिर्नेष्यते ततः 'जीवनिकाएहिं संथडे लोए'त्ति जीवनिकायैः' जीवसङ्घातैरयं लोकः संस्तृतो वर्त्तते, ततश्च जीवनिकायसंस्तृते व्याप्ते लोके कथं नग्नकश्चङ्क्रमन् वधको न भवति यद्यध्यात्मविशुद्धिर्नेष्यते, तस्मादध्यात्मविशुद्ध्या देशितमहिंसकत्वं जिनैस्त्रैलोक्यदर्शिभिरिति । क प्रदर्शितं तदित्यत आह—

उच्चालियंमि पाए ईरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज ॥ ७४९ ॥
न य तस्स तन्निमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिओ समए । अणवज्जोउ पओगेण सव्वभावेण सो जम्हा ॥७५०॥

'उच्चालिते' उत्पाटिते पादे सति ईर्यासमितस्य साधोः सङ्क्रमार्थमुत्पाटिते पादे इत्यत्र संबन्धः, व्यापद्येत संघट्टनपरितापनैः, कः ?–'कुलिङ्गी' कुत्सितानि लिङ्गानि–इन्द्रियाणि यस्यासौ कुलिङ्गी–द्वीन्द्रियादिः, स परिताप्येत उत्पाटिते पादे सति,

१ उपकरणं आ । २ °म्रहो भ° आ पा १ २ पु । ३ °त्थवि° पा १ पु । ४ °ट्टनादिना परिताप्येत, क ल. १ ।

म्रियते प्राणी कुलिङ्गी, 'च' व्यापादनयोगम् 'आसाद्य' प्राप्य । न च तस्य तन्निमित्तो व्यापादननिमित्तो बन्धः सूक्ष्मो ऽपि देशितः 'समये' सिद्धान्ते, किं कारणं ? यतोऽनवद्योऽसौ साधुस्तेन 'व्यापादनप्रयोगेण' व्यापादनव्यापारेण, कथं ?— 'सर्वभावेन' सर्वात्मना मनोवाक्कायकर्मभिरनिन्द्योऽसौ यस्मात्तस्माच्च सूक्ष्मोऽपि बन्धस्तस्येति । किञ्च—

नाणी कम्मस्स खयट्ठमुट्ठिओऽणुट्ठिओ य हिंसाए । जयइ असढं अहिंसत्थमुट्ठिओ अवहओ सो उ ॥
तस्स असंचेअयओ संचेययतो य जाइं सत्ताइं । जोगं पप्प विणस्संति नत्थि हिंसाफलं तस्स ॥७५२॥
जो य पमत्तो पुरिसो तस्स य जोगं पडुच्च जे सत्ता । वावज्जंते नियमा तेसिं सो हिंसओ होइ ॥७५३॥
जेवि न वावज्जंती नियमा तेसिंपि हिंसओ सो उ । सावज्जो उ पओगेण सव्वभावओ सो जम्हा ॥७५४॥

ज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी—सम्यग्ज्ञानयुक्त इत्यर्थः, कर्मणः क्षयार्थं चोत्थित उद्यत इत्यर्थः, तथा हिंसायामनवस्थितः प्राणिव्यपरोपणे न व्यवस्थित इत्यर्थः, तथा यतते कर्मक्षपणे प्रयत्नं करोतीत्यर्थः, 'असढं'ति शठभावरहितो यत्नं करोति, न पुनर्मिथ्याभावेन, सम्यग्ज्ञानयुक्त इत्यर्थः । तथा 'अहिंसत्थमुट्ठिओ'त्ति अहिंसार्थं 'उत्थितः' उद्युक्तः किन्तु सहसा कथमपि प्रयत्नं कुर्वतोऽपि प्राणिवधः संजातः स एवंविधः अवधक एव साधुरिति । तत्रानया गाथया भङ्गका अष्टौ सूचितास्तद्यथा— नाणी कम्मस्स खयट्ठ उट्ठिओ हिंसाए अणुट्ठिओ १, नाणी कम्मखयट्ठमुट्ठिओ हिंसाए य ठिओ २, नाणी कम्मस्स खयट्ठ

१ कथा भा. । २ 'लसङ्' भा. । ३ 'आजि' भो ।

णवि ठिओ हिंसाए पुण पमत्तोऽवि नवि ठिओ, देवजोगेण कहवि तप्पएसे पाणिणो नासी, एस तइओ असुद्धो य ३, नाणी कम्मस्स खयट्ठं नो ठिओ हिंसाए य ठिओ ४, तथा अन्नानी मिथ्याज्ञानयुक्त इत्यर्थः कम्मस्स खयट्ठमुट्ठिओ हिंसाए न ठिओ ५, अन्नाणी कम्मखयट्ठमुट्ठिओ हिंसाए य ठिओ ६, अन्नाणी कम्मस्स खयट्ठं नोट्ठिओ हिंसाए य णोट्ठिओ एस सत्तमो, अन्नाणी कम्मस्स खयट्ठं णोट्ठिओ हिंसाए य ठिओ एस अट्ठमो, तत्र गाथाप्रथमार्द्धेन शुद्धः प्रथमो भङ्गकः कथितः, पश्चार्द्धेन च द्वितीयभङ्गकः सूचितः, कथं ?, जयतित्ति कर्मक्षपण उद्यतः, 'अमढं'ति सम्यग्ज्ञानसंपन्नः 'अहिंसत्थमुट्ठिओ'त्ति अहिंसायां 'उत्थितः, अभ्युद्यतः, किंतु सहसा प्रयत्नं कुर्वतोऽपि प्राणिवधः संजातः स चैवंविधोऽवधकः शुद्धभावत्वात्। स्थापना

III
IIS
ISI
ISS
SSI
SIS
SII
SSS

चेयं-'तस्य एवंप्रकारस्य ज्ञानिनः कर्मक्षयार्थमभ्युद्यतस्य 'असंचेतयतः' अजानानस्य, किं ?, सत्त्वानि, कथं ?- प्रयत्नवतोऽपि कथमपि न दृष्टः प्राणी व्यापादितश्च, तथा 'संचेतयतः' जानानस्य कथमस्त्यत्र प्राणी ज्ञातो दृष्टश्च न च प्रयत्नं कुर्वतोऽपि रक्षितुं पारितः, ततश्च तस्यैवंविधस्य यानि सत्त्वानि 'योगं' कायादि प्राप्य विनश्यन्ति तत्र नास्ति तस्य साधोर्हिंसाफलं-साम्परायिकं संसारजननं दुःखजननमित्यर्थः, यदि परमीर्याप्रत्ययं कर्म भवति, तच्चैकस्मिन् समये बद्धमन्यस्मिन् समये क्षपयति। यश्च प्रमत्तः पुरुषस्तस्यैवंविधस्य संबन्धिनं 'योगं' कायादिकं 'प्रतीत्य' प्राप्य ये सत्त्वा व्यापाद्यन्ते 'तेषां' सत्त्वानां 'नियमाद्' अवश्यं 'सः' पुरुषो हिंसको भवति तस्मात्प्रमत्ताज्जनितानि कर्मबन्धकारणानि। येऽपि सत्त्वा न व्यापाद्यन्ते तेषामप्यसौ नियमाद्धिंसको[2] भवति, कथं ?,

१ °भाजि कर्म° आ। २ °सक, कथं ?, आ।

'सावज्जो उ पओगेण' महावयेन वर्तत इति सावद्यः—सपाप इत्यर्थः, ततश्च सावद्यो यतः 'प्रयोगेण' कायादिना 'सर्वभावेन' सर्वैः कायवाङ्मनोभिः, अत अव्यापादयन्नपि व्यापादक एवासौ पुरुषः सपापयोगत्वादिति । यतश्चैवमतः—

आया चेव अहिंसा आया हिंसत्ति निच्छओ एसो। जो होइ अप्पमत्तो अहिंसओ हिंसओ इयरो॥७५५॥

आत्मैवाहिंसा आत्मैव हिंसा इत्यय निश्चयः परमार्थ इत्यर्थः। कथमसावहिंसकः कथ वा हिंसकः ? इत्यत आह—'जो होइ' इत्यादि, यो भवति 'अप्रमत्तः' प्रयत्नवानित्यर्थः स सत्त्वेष्वपि योऽहिंसको भवति, 'हिंसओ इयरो'त्ति 'इतरः' प्रमत्तो यः स हिंसको भवतीत्यय परमार्थः । अथवाऽनेनाभिप्रायेणेयं गाथा व्याख्यायते, तत्र नैगमस्य जीवेष्वजीवेषु च हिंसा, तथा च वक्तारो लोके दृष्टाः, यदुत जीवोऽनेन हिंसितो—विनाशितः, तथा घटोऽनेन हिंसितो—विनाशितः, ततश्च सर्वत्र हिंसाशब्दा तुमनात् जीवेष्वजीवेषु च हिंसा नैगमस्य, अहिंसाप्येवमेवेति, सङ्ग्रहव्यवहारयोः षट्सु जीवनिकायेषु हिंसा, सङ्ग्रहमात्र देश ग्राही द्रष्टव्यः सामान्यरूपश्च नैगमान्तर्भावी, व्यवहारश्च स्थूलविशेषग्राही लोकव्यवहारपरश्चेत्यभिप्रायं तथा चाह—लोको बाहुल्येन षट्स्वेव जीवनिकायेषु हिंसामिच्छतीति, ऋजुसूत्रस्य प्रत्येक प्रत्येक जीवे जीवे हिंसां व्यतिरिक्तामिच्छतीति, शब्दसमभिरूढैवम्भूताश्च नया आत्मैवाहिंसा आत्मैव हिंसेत्यिच्छन्ति, एतदभिप्रायेणैवाह—'आया चेव' इत्यादि आत्मैवाहिंसा इत्यय निश्चय नयाभिप्रायः, कुतः ?, यो भवत्यप्रमत्तो जीवः स खल्वहिंसकः, इतरश्च प्रमत्तः, ततश्च स एव हिंसको भवति, तस्मादात्मैवाहिंसा आत्मैव हिंसा, अयं निश्चयः—परमार्थ इति । इदानीं प्रकारान्तरेण तथाविधपरिणामविशेषात् हिंसाविशेषं प्रतिपादयन्नाह—

१ सर्वैः का. । २ हिंसित, ख का. पा. १ २-ह. । ३ सर्वेण का पा. १. २. पु. ।

जो य पओगं जुंजइ हिंसत्थं जो य अन्नभावेणं। अमणो य जो पउंजइ इत्थ विसेसो महं वुत्तो ॥७५६॥

हिंसत्थं जुंजंतो सुमहं दोसो अणंतरं इयरो। अमणो य अप्पदोसो जोगनिमित्तं च विन्नेओ ॥ ७५७ ॥

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा जं पउंजइ पओगं। हिंसावि तत्थ जायइ तम्हा सो हिंसओ होइ ॥ ७५८ ॥

न य हिंसामित्तेणं सावज्जेणावि हिंसओ होइ। सुद्धस्स उ संपत्ती अफला भणिया[3] जिणवरेहिं ॥७५९॥

यश्च जीवप्रयोगं मनोवाक्कायकर्मभिर्हिंसार्थं युनक्ति–प्रयुङ्क्ते यश्चान्यभावेन, एतदुक्तं भवति–लक्ष्यवेधनार्थं काण्डं क्षिप्तं यावताऽन्यस्य मृगादेर्लग्नं, ततश्चान्यभावेन यः प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्यानन्तरोक्तात् पुरुषविशेषात् महान् विशेषः। तथा 'अमनस्कश्च' मनोरहितः–संमूर्च्छन[6] इत्यर्थः स च यं प्रयोगं कायादिकं प्रयुङ्क्ते, अत्र विशेषो महानुक्तः, एतदुक्तं भवति–यो जीवो मनोवाक्कायकर्मभिर्हिंसार्थं प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्य महान् कर्मबन्धो भवति, यश्चान्यभावेन प्रयुङ्क्ते तस्याल्पतरः कर्मबन्धः, यश्चामनस्कः प्रयोगं प्रयुङ्क्ते तस्याल्पतमः कर्मबन्धः, ततश्चात्र विशेषो महान् दृष्ट इति। एतदेव व्याख्यानयन्नाह–हिंसार्थं प्रयोगं प्रयुञ्जतः सुमहान् दोषो भवति, इतरश्च योऽन्यभावेन प्रयुङ्क्ते तस्य मन्दतरो दोषो भवत्यल्पतर इत्यर्थः, तथा 'अमनस्कश्च' संमूर्च्छनप्रयोगं युञ्जन् अल्पतमदोषो भवति। अतो 'योगनिमित्तं' योगकारणिकः कर्मबन्धो विज्ञेय इति। किञ्च–'रक्तः'

---

१ अहं ल १ २। २ विह्रो ल १। ३ जं देसिया समये पा १। ४ °क्तेन पुरु° आ पा. १–२ पु.। ५ °वेग सद म° आ पा. १–२ पु। ६ °ज इत्य° आ पा १। ७ °यैर्हिंसा° आ पा १–२ पु.। ८ °न र ग्र° आ.। ९ समन्तरो पा. १–२ पु.। १० °तस्य प्रयो° आ. पा. १।

भावरायर्थे सिंहादिः, 'द्विष्ट' सर्पादिः 'मूढः' वेदिकादिः, स एवंविधो रक्तो वा द्विष्टो वा मूढो वा य 'प्रयोगं' कायादिकं प्रयुङ्क्ते तत्र हिंसाऽपि जायते, अपिशब्दादनृतादि चोपजायते, अथवा हिंसाऽप्येव रक्तादिभावेनोपजायते न तु हिंसामात्रे णेति वक्ष्यति, तस्मात्स हिंसको भवति यो रक्तादिभावयुक्त इति, न तु हिंसयैव हिंसको भवति, तथा चाह–न च हिंसा मात्रेण सावद्येनापि हिंसको भवति, कुतः ? शुद्धस्य पुरुषस्य कर्मसंप्राप्तिरफला भणिता जिनवरैरिति । किञ्च—

जा जयमाणस्स भवे विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स। सा होइ निज्जरफला अज्झत्थविसोहिजुत्तस्स ॥
परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडगझरितसाराणं। परिणामियं पमाणं निच्छयमवलंबमाणाणं ॥७६१॥
निच्छयमवलंबंता निच्छयओ निच्छयं अयाणंता। नासंति चरणकरणं बाहिरकरणालसा केइ ॥७६२॥

या विराधना यतमानस्य भवेत्, किंविशिष्टस्य सतः ?–सूत्रविधिना समग्रः प–युक्तस्य गीतार्थस्येत्यर्थः, तस्यैवंविधस्य या भवति विराधना सा निर्जराफला भवति, एतदुक्तं भवति–एकस्मिन् समये यद् कर्मान्यस्मिन् समये क्षपयतीति, किंवि शिष्टस्य ?–'अध्यात्मविशोधियुक्तस्य' विशुद्धभावस्येत्यर्थः । किञ्च,–परम–प्रधानमिदं रहस्य–तत्त्वं, केषाम्–'ऋषीणां' सुविहि- तानां, किंविशिष्टानां ?–समग्रं च तद् गणिपिटकं च समग्रगणिपिटकं तस्य क्षरितः–प्रेठितः सारः–भावार्थो यैस्ते समग्रगणि पिटकक्षरितसारास्तेषामिदं रहस्यं, यदुत 'पारिणामिकं प्रमाणं' परिणामे भवं पारिणामिकं, क्षयोपशम चित्तपरिणाम

1 पश्चिता भा. । 2 नास्मेन सर्वं ध. ।

इत्यर्थः, किं विशिष्टानां सतां पारिणामिकं प्रमाणं ?–निश्चयनयमवलम्बमानानां, यतः शब्दादिनिश्चयनयानामिदमेव दर्शनं, यदुत–पारिणामिकमिच्छन्तीति । आह–यद्ययं निश्चयस्ततोऽयमेवावलम्ब्यतां किमन्येनेति ? उच्यते–निश्चयमवलम्बमानाः पुरुषाः–'निश्चयतः' परमार्थतो निश्चयमजानानाः सन्तो नाशयन्ति चरणकरणं, कथं ?–'बाह्यकरणालसाः' बाह्यं–वैयावृत्त्यादिकरणं तत्र अलसाः–प्रयत्नरहिताः सन्तश्चरणकरणं नाशयन्ति, केचिदिदं चाङ्गीकुर्वन्ति यदुत परिशुद्धपरिणाम एव प्रधानो न तु बाह्यक्रिया, एतच्च नाङ्गीकर्त्तव्यं यतः परिणाम एव बाह्यक्रियारहितः शुद्धो न भवतीति, ततश्च निश्चयव्यवहारमतमुभयरूपमेवाङ्गीकर्त्तव्यमिति । उक्तमुपधिद्वारम्, इदानीमायतनद्वारव्याचिख्यासया संबन्धं प्रतिपादयन्नाह–

एवंमिणं उवगरणं धारेमाणो विहीएं परिसुद्धं । हवति गुणाणायतणं अविहि असुद्धे अणाययणं ॥७६३॥

'एवम्' उक्तन्यायेन उपकरणं धारयन् विधिना 'परिशुद्धं' सर्वदोषवर्जितं, किं भवति ?–गुणानामायतनं–स्थानं भवति। अथ पूर्वोक्तविपरीतं क्रियते यदुताविधिना धारयति अविशुद्धं च तदुपकरणं, ततोऽविधिनाऽशुद्धं ध्रियमाणं तदेवोपकरणं 'अनायतनम्' अस्थानं भवतीति । इदानीमनायतनस्यैव पर्यायशब्दान् प्रतिपादयन्नाह—

सावज्जमणायतणं असोहिठाणं कुसीलसंसग्गी । एगट्ठा होंति पदा एते विवरीय आययणे ॥७६४॥

सावद्यमनायतनमशोधिस्थानं कुसीलसंसग्गी, एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति, एतान्येव च विपरीतानि आयतने

१ °सुपरि° आ ल १–२ पा १–२ ।

भवन्ति, कथ ?–असाधयमायतन क्षोधिस्थान सुसीलसंसग्गीति। अत्र चानायतन वर्ज्जयित्वाऽऽयतन गवेषणीयम् , एतदेवाह–

वज्जेतु अणायतण आयतणगवेसण सया कुज्जा। त तु पुण अणाययण नायव्व दव्वभावेण ॥ ७६५ ॥

दव्वे रुद्दाइघरा अणायतण भावओ दुविहमेय। लोइय लोगुत्तरिय तहिय पुण लोइय इणमो ॥ ७६६ ॥

सरिया तिरिक्खजोणी तालायर समण माहण सुसाणे। वग्गुरिय वाह गुम्मिय हरिएस पुलिंद मेच्छया

खणमवि न खम कोउ अणायतणसेवणा सुविहियाण। जग्गध होइ वण तग्गधो मारुओ वाइ ॥७६८ ॥

जग्गध होइ वण तग्गधो तस्थ मारुओ वाइ। कुसुमेहिं सह वसता तिलावि त गधिआ हुति ॥ (प्रक्षि०)

जे अन्ने एवमादी लोगमि दुगुछिया गरहिया य। समणाण व समणीण व न कप्पई तारिसे वासो ॥७६९॥

अह लोउत्तरिय पुण अणायतण भावतो मुणेयव्व। जे सजमजोगाण करेंति हाणिं समस्थावि ॥ ७७० ॥

अवस्स य निंवस्स य दोण्हपि समागयाइ मूलाइ। ससग्गीए विणट्ठो अबो निंबत्तण पत्तो ॥ ७७१ ॥

सुचिरपि अच्छमाणो नलथबो उच्छुवाडमज्झमि। कीस न जायइ महुरो जइ ससग्गी पमाण ते ?॥७७२॥

---

१ नीच्चत्त पा. ११ २ मंदु सर्ह बा. [illegible] । २ हाणी षम पा १।

सुचिरंपि अच्छमाणो वेरुलिओ कायमणियंओमीसे । न उवेइ कायभावं पाहन्नगुणेण नियएण ॥७७३॥
भावुगअभावुगाणि य लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि । वेरुलिओ तत्थ मणी अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥७७४॥
ऊणगसयभागेणं बिंबाइं परिणमंति तब्भावं । लवणागराइसु जहा वज्जेह कुसीलसंसग्गिं ॥ ७७५ ॥

वर्जयित्वाऽनायतनमायतनस्य गवेषणं 'सदा' सर्वकालं कुर्यात्, तत्पुनरनायतनं द्रव्यतो भावतश्च विज्ञेयम् । तत्र द्रव्यानायतनं प्रतिपादयन्नाह-'द्रव्ये' द्रव्यविषयमनायतनं रुद्रादीनां गृहम् । इदानीं भावतोऽनायतनमुच्यते, तत्र भावतो द्विविधमेव-लौकिकं लोकोत्तरं च, तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्त्तते-'खरिय'त्ति द्व्यक्षरिका यत्रास्ते तदनायतनं, तथा तिर्यग्योनयश्च यत्र तदप्यनायतनं, तालायरा-चारणास्ते यत्र तदनायतनं, श्रमणाः-शाक्यादयस्ते यत्र तदनायतनं, तथा ब्राह्मणा यत्र तदनायतनं, श्मशानं चानायतनं, तथा वागुरिका-व्याधा गुल्मिका-गोत्तिपाला हरिएसा पुलिन्दा मत्स्यबन्धाश्च यत्र तदनायतनमिति, एतेषु चानायतनेषु क्षणमपि न गन्तव्यम्, तथा चाह-क्षणमपि न 'क्षमं' योग्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवना चानायतनस्य सुविहितानां कर्त्तुं 'न क्षमं' न युक्तं, यतोऽयं दोषो भवति-जग्गंधं होइ वणं तग्गंधो मारुओ वाति'त्ति सुगमम् । येऽन्ये एवमादयो लोके जुगुप्सिता गर्हिताश्च द्व्यक्षरिकाद्यनायतनविशेषास्तत्र श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते तादृशे वास इति । उक्तं लौकिकं भावानायतनम्, इदानीं लोकोत्तरं भावानायतनं प्रतिपादयन्नाह-अथ लोकोत्तरं पुनरना-

१ °यउम्मीसो पा १ पु. । २ °दव्वेणं आ पा १ । ३ °ससग्गीं आ १. । ४ तथा आ. पा १-२ पु. ।

यतन मावत इदं प्रावर्ष्यं, ये प्रमजिताः संयमयोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्था अपि सन्तस्तच्छोकोपरमनायतनम्। वैवैव विधैः संसर्गी न कर्तव्या, पर आह–'अंबे' त्यादि सुगमा॥ पर आह–'सुइर' मित्यादि सुगमा॥ तथा पुनरपि पर एवाह–'सुइर' मित्यादि सुगमा। आचार्य आह–द्रव्याणि द्विविधानि भवन्ति–भावुकानि अभावुकानि च, तत्राम्रद्रुमो भावुको वनने नलस्तम्बश्चाभावुकः, ततश्चाभावुकमङ्गीकृत्यैतद् द्रष्टव्यमिति, यानि पुनर्भावुकानि द्रव्याणि तेषां न्यूनो यः स्ततमो भाग स यदि लवणादिना व्याप्यते ततस्तद्रूप्य चर्मादि लवणभावेन परिणमति। एतदेवाह–न्यूनश्चासौ ततसमभागश्च न्यूनशततमभागस्तेन न्यूनशततमभागेन लवणादिव्याप्तेन 'बिम्बानि' चर्मकाष्ठादीनि तानि लवणेन–न्यूनशततमभागस्पृष्टेन 'नक्षार' लवणभाव परिणमन्ति लवणाकरादिषु यथा, एतदुक्त भवति–काष्ठादिबिम्बस्य शततमो यो विभागोऽभावपि न्यूनः स एवविधो लवणाकरादिषु यदि स्पर्शं प्राप्नोति ततस्तत्काष्ठ सर्वं लवणरूप भवति, तस्मात् स्तोकोऽपि कुशीलसंसर्गो बहुमपि गाधुमतान दूषयति यस्मात्तस्माद्वर्जयेत् कुशीलसंसर्गमिति। तथा—

जीवो अणाइनिहणो तब्भावणभाविओ य ससारे। खिप्प सो भाविज्जइ मेलणदोसाणुभावेण ॥७७६

जह नाम महुरसलिल सागरसलिल कमेण सपत्त। पावइ लोणियभाव मेलणदोसाणुभावेण ॥७७७

एम सुसीलवतो असीलवतेहिँ मेलिओ सतो। पावइ गुणपरिहाणीं मेलणदोसाणुभावेण ॥ ७७८ ॥

१ पर एवाह का.। २ स्तोकऽपि कुशी मसंसर्गमिवेद्' खा। ३ "हेर्न तस्मा" पा २। ४ कर्तसर्गमिति प १ मसंसर्गमिति पा १। ५ एव माया ल. १ प २ पु. भवितु भावित। ६ हाणी ल १ हाणि ल २ पा १ पु।

सुगमाः ॥ यस्मादेवं तस्मात्,

णाणस्स दंसणस्स य चरणस्स य जत्थ होइ उवघातो। वज्जेज्जऽवज्जभीरू अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥७७९

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च 'यत्र' अनायतने भवत्युपघातस्तद्वर्जेतावद्यभीरुः-साधुः, किंविशिष्टः ?-अनायतनं वर्जयतीति अनायतनवर्जकः, स एवंविधः क्षिप्रमनायतनमुपघात इति मत्वा वर्जयेदिति। इदानीं विशेषतोऽनायतनं प्रदर्शयन्नाह—

जत्थ साहम्मिया बहवे भिन्नचित्ता अणारिया। मूलगुणपडिसेवी अणायतणं तं विआणाहि ॥ ७८० ॥

जत्थ साहम्मिया बहवे भिन्नचित्ता अणारिया। उत्तरगुणपडिसेवी अणायतणं तं विआणाहि ॥ ७८१ ॥

जत्थ साहम्मिया बहवे भिन्न[2]चित्ता अणारिया। लिंगवेसप[3]डिच्छन्ना अणायतणं तं विआणाहि ॥ ७८२ ॥

सुगमा, नवरं-मूलगुणाः प्राणातिपातादयस्तान् प्रतिसेवन्त इति मूलगुणप्रतिसेविनस्ते यत्र निवसन्ति तदनायतनमिति। सुगमा, नवरम्-उत्तरगुणाः "पिण्डस्स जा विसोही" इत्यादि, तत्प्रतिसेविनो ये। सुगमा, नवरं लिङ्गवेषमात्रेण प्रतिच्छन्ना बाह्यतोऽभ्यन्तरतः पुनर्मूलगुणप्रतिसेविन उत्तरगुणप्रतिसेविनश्च ते यत्र तदनायतनमिति। उक्तं लोकोत्तरभावानायतनं, तत्प्रतिपादनाच्चोक्तमनायतनस्वरूपम्, इदानीमायतनप्रतिपादनायाह—

१ °द्वर्जयेदवद्य° आ पा. १ २ पु। २ चित्तमता पा १। ३ परिच्छिन्ना. ल. १।

यतन मावत इदं ज्ञात्वा, ये प्रव्रजिताः संयमयोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्था अपि सन्तस्तच्छोकोपरमनायतनम् । तैर्मेवं विधैः संसर्गो न कर्तव्या, यत आह–'अंबे' त्यादि सुगमा ॥ पर आह–'सुरर' मित्यादि सुगमा ॥ पर आह–'सुरर' मित्यादि सुगमा । आचार्य आह–द्रव्याणि द्विविधानि भवन्ति–भावुकानि अभावुकानि च, तत्राम्रवृक्षो भावुको पर्यन्ते नलस्तम्बसामावुकः, तवभावुकमशीकस्यैतत् द्रष्टव्यमिति, यानि पुनर्भावुकानि द्रव्याणि तेषां न्यूनो यः क्षततमो भागः स यदि लवणादिना व्याप्यते ततस्तद्रूप चर्मादि लवणभावेन परिणमति । एतदेवाह–न्यूनश्चासौ क्षततमभागश्च न्यूनक्षततमभागस्तेन न्यूनक्षततमभागेन लवणादिव्याप्तेन 'विम्बानि' चर्मकाष्ठादीनि तानि लवणेन–न्यूनक्षततमभागस्पृष्टेन 'वक्राम' लवणभावं परिणमन्ति लवणाकरादिषु यथा, एतदुक्तं भवति–काष्ठादिबिम्बस्य क्षततमो यो विभागोऽमावपि न्यूनः स एवंविधो लवणाकरादिषु यदि स्पर्शं प्राप्नोति ततस्तत्काष्ठ सर्वं लवणरूपं भवति, तस्मात् स्तोकोऽपि कुशीलसंसर्गो बहुमपि साधुमत्रात दूषयति यस्मात्तस्माद्वर्जयेत् कुशीलसंसर्गमिति । तथा–

जीवो अणाइनिहणो तब्भावणभाविओ य संसारे । खिप्पं सो भाविज्जइ मेलणदोसाणुभावेण ॥७७६

जह नाम महुरसलिलं सागरसलिलं कमेण संपत्तं । पावइ लोणियभावं मेलणदोसाणुभावेण ॥७७७

एवं खु सीलवंतो असीलवंतेहिं मेलिओ संतो । पावइ गुणपरिहाणीं मेलणदोसाणुभावेण ॥ ७७८ ॥

१ पर एवाह आ. । २ स्तोकोऽपि इति मन्यमानैर्मेषु° आ । ३ °वेदं तस्मां' प २ । ४ °मन्यमिति क १ मन्यमानमिति प १ ।
५ एवं गाथा क १ प २ पु. प्रतिषु नास्ति । ६ हाणी क १ हाणिं क २ पा १ पु ।

दिर्यस्या उत्तरगुणप्रतिसेवनायाः सा तथाविधा, आदिग्रहणात्समितयो भावना तपो[1] द्विविधो इत्येवमादीनि । इदानीं मूलगुणान् व्याख्यानयन्नाह—

हिंसालियचोरिक्के मेहुन्नपरिग्गहे य निसिभत्ते । इय छट्ठाणा मूले उग्गमदोसाइया[2] इयरा ॥ ७८८ ॥

हिंसालीकं चौर्यं मैथुनं परिग्रहः तथा निशिभक्तं चेति, एवं षट्स्थाना मूलगुणप्रतिसेवना द्रष्टव्या, उद्गमदोषादिका चेतरा उत्तरगुणप्रतिसेवना द्रष्टव्या आदिग्रहणादुत्पादनैषणादयः परिगृह्यन्ते इति । इदानीं प्रतिसेवनाया एव एकार्थिकानि[3] प्रतिपादनायाह—

पडिसेवणा मइलणा भंगो य विराहणा य खलणा य । उवघाओ य असोही सबलीकरणं च एगट्ठा ॥७८९

प्रतिषेवणा, मइलणा भङ्गो विराधना खलना उपघातः अशोधिः, शबलीकरणं चेत्येकार्थिकाः शब्दा इति । उक्तं प्रतिसेवनाद्वारम्, इदानीमालोचनाद्वारसंबन्धप्रतिपादनायाह—

छट्ठाणे[4] तिगठाणे[5] एगतरे दोसु वावि छलिएणं । कायव्वा य[6] विसोही सुद्धा दुक्खक्खयट्ठाए ॥ ७९० ॥

'षट्स्थाने' प्राणातिपातादिके उद्गमादिके च त्रिके, अनयोरेकतरे द्वयोर्वा 'छलितेन' स्खलितेन सता साधुना कर्त्तव्या विशुद्धिः, किंविशिष्टा ?–'शुद्धा' निष्कलङ्का दुःखक्षयार्थं कर्त्तव्येति, सा च विशुद्धिरालोचनापूर्विका भवतीतिकृत्वाऽऽलोचनां

१ तपो द्विविधमित्येव° आ. पा. १–२ पु । २ °सा य इयरंमि आ. । ३ °कानां प्रति° आ. । ४ °णा ति° आ. । ५ °णा ए° आ. पा । ६ उ वि° आ पा १ पु ।

आययणपि य दुविहं दव्वे भावे य होइ नायव्वं । दव्वंमि जिणघराई भावंमि य होइ तिविहं तु ॥ ७८३ ॥
जत्थ साहम्मिया बहवे सीलवंता बहुस्सुया । चारित्तायारसंपन्ना आययणं तं वियाणाहि ॥ ७८४ ॥

आयतनमपि द्विविध—द्रव्यविषये भावविषये च ज्ञातव्यं, तत्र द्रव्ये जिनगृहादि, भावे भवति त्रिविधं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपमायतनमिति । 'जत्थे' त्यादि सुगमा ।

सुंदरजणसंसग्गी सीलदरिद्दंपि कुणइ सीलड्ढं । जह मेरुगिरीजायं तणंपि कणगत्तणमुवेइ ॥ ७८५ ॥

सुगमा । उक्तमायतनद्वारम्, इदानीं प्रतिसेवनाद्वारव्याचिख्यासया सम्बन्धं प्रतिपादनायाह—

एवं खलु आययणं निसेवमाणस्स होई साहुस्स । कंटगपहे व छलणा रागद्दोसे समासज्ज ॥ ७८६ ॥

'एवम्' उक्तन्यायेन आयतनं सेवमानस्यापि साधोर्भवेत् कण्टकपथ इव छलना, किमाश्रित्य ?, अत आह—रागद्वेषौ समाश्रित्य । सा च रागद्वेषप्रतिसेवना द्विविधा भवति, एतदेवाह—

पडिसेवणा वि दुविहा मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य । मूलगुणे छट्ठाणा उत्तरगुणे होइ तिगमाई ॥७८७॥

प्रतिसेवनाऽपि द्विविधा—मूलगुणे उत्तरगुणे च, तत्र मूलगुणविषये प्रतिसेवना 'षट्स्थाना' प्राणातिपातादिलक्षणा वक्ष्यति च, उत्तरगुणविषया—च प्रतिसेवना भवति त्रिकादिका, तथेदं त्रिकम्—उद्गम उत्पादना एषणा च, एतदेव त्रिकमा

१ भवति मम आ. पा १ २. । २ °ज्ञानं तं पा. १ । ३ इत्य मा आ । ४ °नामी प्रति ख्या पा १—२ । ५ प्रभि हो आ ।

आलोयणा वियडणा सोही सब्भावदायणा चेव। निंदण[1] गरह विउट्टण सल्लुद्धरणं[2] च एगट्ठा ॥७९२॥

आलोचना विकटना शोधिः[3] सद्भावदायणा णिंदणा गरहणा[4] विउट्टणं सल्लुद्धरणं चेत्येकार्थिकानीति। आलोचनाद्वारं समाप्तम्, इदानीं विशुद्धिद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह—

एत्तो सल्लुद्धरणं वोच्छामी धीरपुरिसपन्नत्तं। जं नाऊण सुविहिया करेंति दुक्खक्खयं धीरा ॥ ७९३ ॥

दुविहा य होइ सोही दव्वसोही य भावसोही य। दव्वंमि वत्थमाई भावे मूलुत्तरगुणेसु ॥ ७९४ ॥

छत्तीसगुणसमन्नागएण तेणवि अवस्स कायव्वा। परसक्खिया विसोही सुट्ठुवि ववहारकुसलेणं ॥७९५॥

जह सुकुसलोऽवि वेज्जो अन्नस्स कहेइ अप्पणो वाही। सोऊण तस्स विज्जस्स सोवि परिकम्ममारभइ ॥

एवं जाणंतेणावि पायच्छित्तविहिमप्पणो सम्मं। तहवि य पागडतरयं आलोएतव्वयं होइ ॥ ७९७ ॥

गंतूण गुरुसकासं काऊण य अंजलिं विणयमूलं। सव्वेण अत्तसोही कायव्वा एस उवएसो ॥७९८॥

न हु सुज्झई ससल्लो जह भणियं सासणे धुयरयाणं। उद्धरियसव्वसल्लो सुज्झइ जीवो धुवकिलेसो ॥

सहसा अण्णाणेण व भीएण व पेल्लिएण व परेण। वसणेणायंकेण व मूढेण व रागदोसेहिं ॥८००॥

---

१ गरिह आ. । २ °रणंति ए° आ, °रणे य ए°ल १ २ । ३ शुद्धि आ पा १ २. पु. । ४ गरिहणा ल १, गरहा पा २ ।

प्रतिपादनायाह—

आलोयणा उ दुविहा मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य । एक्केक्का चउकन्ना दुवग्ग सिद्धावसाणा य ॥ ७११ ॥

आलोचना च द्विविधा–मूलगुणालोचना उत्तरगुणालोचना चेति, सा द्विविधाऽप्येकैका–मूलगुणालोचना उत्तरगुणालोचना च चतुष्कर्णा भवति 'दुवग्ग'त्ति द्वयोरपि साधुसाध्वीवर्गयोरेकैकस्य चतुष्कर्णा भवति, एक आचार्यो द्वितीयश्चालोचकः साधुः एवं साधुवर्गे चतुष्कर्णा भवति, साध्वीवर्गेऽपि चतुष्कर्णा भवति, एका प्रवर्तिनी, द्वितीया तस्या एव या आलोचयति साध्वी, एवं साध्वीवर्गे चतुष्कर्णा भवतीति, अथवा एकैका मूलगुणे उत्तरगुणे च चतुष्कर्णा भवतीति द्वयोश्च साधुसाध्वीवर्गयोर्मिलितयोरष्टकर्णा भवति, कथम् ?, आचार्य आत्मद्वितीयः प्रवर्तिनी चात्मद्वितीया आलोचयति यदा तदाऽष्टकर्णा भवति, सा मा पर्यायूना वा यदाऽऽलोचयति तदाऽप्यष्टकर्णैव भवति, अथवा छकन्ना होज्जा जदा बुड्ढो आयरिओ हवइ तदा एगागिणी साहुणीदुगं आलोएइ एवं छकन्ना हवति, सव्वहा साहुणीए अप्पबितियाए आलोएअव्व न उ एगागिणीएत्ति । एवं तावदुत्सर्गत आचार्याय आलोचयितव्यं, तदभावे सर्वदेशेषु निरूपयित्वा गीतार्थायालोचयितव्यं, एवं तावद्यावत्सिद्धानामप्याऽऽलोच्यते साधूनामभावे, तदर्थं सिद्धानां साधुनाऽऽलोचना दातव्येति । इदानीमालोचनाया एकार्थिकानि प्रतिपादयन्नाह–

---

१ साधुवर्गे साध्वीवर्गे च चतु क्ष । २ इत्येव आ पा १ २ पु । ३ साध्वी वा आ पु । ४ भवति तत्र आ पा १ २ पु । ५ यथासार्थे आ. पा १ २ पु ।

प्रतिकर्म आरभते। एवं जानताऽपि प्रायश्चित्तविधिमात्मनः सम्यक्करणेन तथाऽपि प्रकटतरमालोचयितव्यमवश्यमिति। किञ्च– सुगमा। 'न हु' नैव शुद्ध्यते सशल्यः पुरुषः, कथं पुनः शुद्ध्यते ?, यथा भणितं धुतरजसां शासने तथा शुद्ध्यते, कथं पुनः शुद्ध्यते ? अत आह–उद्धृतसर्वशल्यो जीवः शुद्ध्यति धुतक्लेश इति, तस्माद्यद्यपि कथमपि किञ्चिदकार्यं कृतं ततस्तदालोचयितव्यम्। कथं पुनस्तत्कृतं भवतीत्यत आह–'सहसा' अप्रतर्कितमेव प्राणिवधादिकमकार्यं यदि कृतं ततस्तस्मात्प्रतिक्रमितव्यमित्येतत् द्वितीयगाथायां वक्ष्यति, अज्ञानेन च कृतं, न तत्र प्राणी ज्ञातो व्यापादितश्च, भीतेन–आत्मभयात् मा भूदयं मां मारयिष्यतीत्यतः प्राणव्यपरोपणं यदि कृतं, [3]प्रेरितेन वा परेण यदि कृतं, व्यसनेन वा आपदा यदि कृतं आतङ्केन वा–ज्वराद्युपसर्गेण यदि कृतं मूढेन वा–रागद्वेषैर्यदि कृतं किञ्चिदकार्यं ततः यत्किञ्चित्कृतमकार्यं तत्पुनः 'न हु' नैव समाचरितुं लभ्भा–उपलभ्येत यथा तथा प्रतिक्रमितव्यं, एतदुक्तं भवति–किञ्चिदकार्यं कृत्वा पुनर्यथा त[4]न्नैव भवति तन्नैव क्रियते तथा तस्य प्रतिक्रमितव्यं, न पुनस्तदकार्यं हृदयेन वोढव्यं, सर्वमालोचयितव्यमित्यर्थः। कथं पुनस्तदालोचयितव्यमित्यत आह–तस्य च साधोर्यत्प्रायश्चित्तं मार्गविदो गुरव उपदिशन्ति तत्प्रायश्चित्तं 'तथा' तेनैव विधिनाऽऽचरितव्यम्, कथम् ?, अनवस्थाप्रसङ्गभीतेन सताऽऽचरितव्यम्, अनवस्था नाम यद्यकार्यसमाचरणात्प्रायश्चित्तं न दीयते न क्रियते वा ततोऽन्योऽपि एवमेव समाचरति यदुत प्राणिव्यपरोपणादौ न किञ्चित्प्रायश्चित्तं भवति ततश्च समाचरणे न कश्चिद्दोष इति, एवमनवस्थाप्रसङ्गभीतेन साधुना प्रायश्चित्तं समाचरितव्यमिति। इतश्चालोचयितव्यम्–न तत्करोति दुःखं शस्त्रं नापि विषं नापि 'दुःप्रयुक्तः' दुःसाधितो

१ तथाप्यालो° आ. पा. १–२। २ मामयं मार° पा. १ पु। ३ तस्मात्प्रतिक्रमितव्यं, प्रे° पा. १–२। ४ नैव क्रियते आ.। ५ °लोचयितव्यम्, आ।

जं किंचि कयमकज्जं न हु तं लब्भा पुणो समायरिउं। तस्स पडिक्कमियव्वं न हु तं हियएण वोढव्वं ॥८०१॥
जह बालो जपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ। तं तह आलोएज्जा मायामयविप्पमुक्को उ ॥८०२॥
तस्स य पायच्छित्तं जं मग्गविऊ गुरू उवइसंति। तं तह आयरियव्वं अणवत्थपसंगभीएण ॥८०३॥
नवि तं सत्थं व विसं व दुप्पउत्तो व कुणइ वेयालो। जंतं व दुप्पउत्तं सप्पो व पमाइणो कुद्धो ॥८०४॥
जं कुणइ भावसल्लं अणुद्धियं उत्तिमट्ठकालंमि। दुल्लभबोहीयत्तं अणंतसंसारियत्तं च ॥ ८०५ ॥

अत ऊर्ध्वं धर्म्योद्धरणं वक्ष्ये धीरपुरुषप्रज्ञप्तं, 'यत्' धर्म्योद्धरणं ज्ञात्वा सुविहिताः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीरा इति। द्विविधा भवति शुद्धिः-द्रव्यशुद्धिः भावशुद्धिश्च, तत्र 'द्रव्ये' द्रव्यविषया शुद्धिर्वस्त्रादीनामवगन्तव्या, भावे तु मूलोत्तरगुणेषु शुद्धिर्ज्ञातव्या, एतदुक्तं भवति-मूलगुणोत्तरगुणालोचनया भावशुद्धिर्भवतीति। एवं तावन्मूलगुणोत्तरगुणेषु स्खलितेनालोचना दातव्या। इदानीं यस्मै आलोचना दीयते तेनाप्यालोचयितव्यमिति, एतदेव प्रदर्शनयन्नाह-चारित्रसत्कपादिषट्त्रिं शद्गुणसमन्वितेनाप्यन्यस्य परसाक्षिकी विशुद्धिः कर्तव्या सुष्ठ्वपि ज्ञानक्रियाव्यवहारकुशलेन सुविहितेनेति। अत्रोदाहरणं क्रियते-यथा सुकुशलोऽपि वैद्योऽन्यस्मै वैद्याय कथयति आत्मव्याधिं, श्रुत्वा च तस्य वैद्यस्य सोऽपि वैद्यो यस्मै कथितं स

१ यत्ता आ०। २ दिवंति आ. च १-२ ड०।

'उत्कृष्टतः' अतिशयेन सम्यगाराधनां कृत्वा त्रीन् भवान् गत्वा 'निर्वाणं' मोक्षमवश्यं प्राप्नोतीति, एतदुक्तं भवति—यदि परमसमाधानेन सम्यक् कालं करोति ततस्तृतीये भवेऽवश्यं सिद्ध्यतीति। आह परः—उत्कृष्टतोऽष्टभवाभ्यन्तरे सामायिकं प्राप्य नियमात्सिद्ध्यतीति, जघन्यतः पुनरेकस्मिन्नेव भवे सामायिकं प्राप्य सिद्ध्यतीत्युक्तं ग्रन्थान्तरे, ततश्च यदुक्तं त्रीन् भवानतीत्य सिद्ध्यतीति तदेतन्नाप्युत्कृष्टं नापि जघन्यं ततश्च विरोध इति, उच्यते, अनालीढसिद्धान्तसद्भावेन यत्किञ्चिदुच्यते, यत्तदुक्तं जघन्यत एकेनैव भवेन सिद्ध्यतीति तद्वज्रर्षभनाराचसंहननमङ्गीकृत्योक्तं, एतच्च छेवट्ठिकासंहननमङ्गीकृत्योच्यते, छेवट्ठिकासंहननो हि यद्यतिशयेनाराधनां करोति ततस्तृतीये भवे मोक्षं प्राप्नोति, उत्कृष्टशब्दश्चात्रातिशयार्थे द्रष्टव्यो न तु भवान[1]ङ्गीकृत्य, भवाङ्गीकरणे पुनरष्टभिरेवोत्कृष्टतो भवे[2]षु छेवट्ठिकासंहननो[3] सिद्ध्यतीति।

[4]एसोहसामायारी कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता। संजमतवड्ढगाणं निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ ८१० ॥

[5]एयं सामायारिं जुंजंता चरणकरणमाउत्ता। साहू खवंति कम्मं अणेगभवसंचियमणंतं ॥ ८११ ॥

एसा अणुग्गहत्था फुडवियडविसुद्धवंजणाइन्ना[6]। एक्कारसहिं सएहिं [7]एगुणवन्नेहिं सम्मत्ता ॥ ८१२ ॥

सुगमाः ॥

---

१ भवमङ्गी° आ पा. १। २ भवे छेव° आ. पा. २। ३ ने हि सि° पा १–२। ४ एसा सामा° आ.। ५ एसा ओहसामायारी जुं° ल. १, एसोघसामायारी जुं° पा. २। ६ °णा इणमो। ल. १। ७ सट्ठिहिं अहिएहिं संगहिआ ल १. २.।

वेतालः मन्त्र वा दुष्प्रयुक्त सर्पो वा क्रुद्धः प्रमादिनः पुरुषस्य दुःखं करोति यत्करोति भावशल्यमनुद्धृतम् 'उत्तमार्थकाले' अनशनकाले, किं करोत्यत आह–'दुर्लभबोधिकत्वं अनन्तसंसारिकत्वं चेति, एतत् महादुःखं करोति भावशल्यं अनुद्धृत शस्त्रादि दुःखानि पुनरेकभव एव भवन्ति, अतः ज्ञात्वा सेयत्नेन सर्वमालोचयितव्यम्।

तो उद्धरति गारवरहिता मूलं पुणब्भवलयाण। मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं नियाणं च ॥ ८०६ ॥

उद्धरियसव्वसल्लो आलोइयनिंदिओ गुरुसगासे। होइ अतिरेगलहुओ ओहरियभरोव्व भारवहो ॥८०७॥

उद्धरियसव्वसल्लो भत्तपरिन्नाए धणियमाउत्तो। मरणाराहणजुत्तो चंदगविज्झं समाणेइ ॥ ८०८ ॥

आराहणाइ जुत्तो सम्मं काऊण सुविहिओ कालं। उक्कोसं तिन्नि भवे गंतूण लभेज्ज निव्वाणं ॥८०९॥

तत एवमालोच्य गारवरहिता मुनयः 'उद्धरन्ति' उत्पाटयन्ति मूलं पुनर्भवलतानां येन मिथ्यादर्शनशल्यं मायाशल्यं निदानशल्यं चोद्धरन्तीति। सुगमा, नवरं–अतिरेक–अत्यर्थं लघुर्भवति, 'ओहरियभारो' उत्तारितभारः 'भारवहः' गर्दभादिः स यथा लघुर्भवति एवमालोचिते सति कर्मलघुत्वं भवतीति। यथैवंविधः स उद्धृतसर्वशल्यः 'भत्तपरिन्नाए' भक्तप्रत्याख्याने 'धणियम्' अत्यर्थम् 'आयुक्तः' प्रयत्नपरो मरणाराधनयुक्तः, स एवंविधश्चन्द्रकवेधं 'समानयति' करोतीत्यर्थः। अत्र च कथानकं राधावेधमल्लीकस्य आवश्यकादवसेयमिति। किञ्च–आराधनया युक्तः सम्यक् कृत्वा सुविहितः कालं पुनश्च

१ पि भार आ भा. १-२ पृ.। २ प्रक्षालय० धम्म आ. पु.।

॥ इति श्रीमद्द्रोणाचार्यविरचिता श्रीओघनिर्युक्तिटीकामूलसूत्रालङ्कृता समाप्ता ॥

टीकायां अक्षरगणनया ग्रन्थाग्रं ६८२५ तथा सूत्रेण गाथाप्रमाणेन

ग्रन्थाग्रं २४६० उभयोर्ग्रन्थाग्रं ८२८५ शुभं भवतु ।